गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज

श्री श्रवणकुमार जैन, जतीगली, लोहामंडी, आगरा के सौजन्य से साभार उपलब्ध

गुरुदेव
श्री रत्नमुनि
स्मृति - ग्रन्थ

गुरुदेव
श्री रत्न मुनि
स्मृति-ग्रन्थ

●

सम्पादक-समिति

●

डा० डी० एस० कोठारी
डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी
श्री सेठ गोविन्द दास
श्री जनेन्द्र कुमार
पण्डित दलसुख मालवणिया
डा० राजकुमार जैन
श्री अक्षयकुमार जैन
प्रो० बाबूराम गुप्त

प्रकाशक

●

गुरुदेव स्मृति-ग्रन्थ-समिति

ग्रन्थ

*

गुरुदेव श्री रत्न मुनि स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक

*

विजय मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
डा० हरिशंकर शर्मा कविरत्न

प्रकाशक

*

गुरुदेव स्मृति-ग्रन्थ-प्रकाशक-समिति, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा

सन्

*

१९६४, २६ मई, विक्रम संवत् २०२१ वैशाख पूर्णिमा

प्रथम प्रवेश

*

५०० प्रतियाँ

मूल्य

*

१५)

मुद्रक

*

एजुकेशनल प्रेस, आगरा

निर्देशक

●

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज

प्रधान सम्पादक

●

डा० हरिशंकर शर्म्मा
कविरत्न

विजय मुनि
शास्त्री, साहित्यरत्न

संयोजक

★

सेठ कल्याणदास जैन
(नगर प्रमुख, आगरा)

सदस्य

★

श्री रामगोपाल जैन
श्री सरोजकुमार जैन
श्री ओमप्रकाश जैन
श्री जगदीशप्रसाद जैन

निर्देशक-प्रवचन

युग पुरुष वह होता है, जो अपने युग को जीवन का नया सन्देश सुनाता है। उनके विचार में युग का विचार मुखर होता है, उनकी वाणी में युग बोलता है और उनकी क्रिया-शक्ति से युग को नयी चेतना, नयी स्फूर्ति और नयी प्रेरणा मिलती है। वह अपने युग की जन-चेतना का साधिकार प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने युग की जनता को सही दिशा की ओर प्रयाण करने की प्रेरणा ही नहीं देता, राह भूले राही को आगाह भी करता है कि तेरा रास्ता यह नहीं है जिस पर तू आँखें बन्द करके चला जा रहा है, यह रास्ता तुझे तेरी मंजिल पर न ले जा कर इधर उधर भटका देगा। जरा सँभल और विवेक के विमल आलोक में अपने गन्तव्य पथ का निश्चय कर ले। यह क्या बात है कि आज इधर चल पड़ा और कल उधर मुड़ पड़ा? इस प्रकार भटकने में क्या कभी तू अपनी मंजिल पर पहुँचने की आशा रखता है? ना भाई! अपनी इस भूल भरी आदत को छोड़ दे। सही राह पर और सही दिशा में चलने का ही नहीं, आगे बढ़ने का अपने दिल और दिमाग से मजबूत इरादा कर ले। बस यदि तू अपने मन की दुविधा को दूर न कर सके तो आ, मेरे चरणों पर अपने कदम धरता आ। तू अपना मन, अपना वचन, अपनी काया मुझे अर्पित कर दे 'मामेकं शरणं व्रज।' फिर तुझे कोई खतरा नहीं।

युग-पुरुष कृष्ण ने अपने युग की भोली जनता को इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और अर्पणा का पाठ पढ़ाया था। बिना श्रद्धा और भक्ति के जीवन सत्य, सुन्दर और शिव नहीं बन सकता। बाल की खाल निकालने वाले तर्कशील तार्किक लोग कभी कुछ पा नहीं सकते। प्याज का छिलका उतार कर अन्दर से कुछ पाने की आशा रखने वालों के हाथ में आखिर शून्य बिन्दु ही शेष रहता है। गुरु के वचनों पर आस्था, श्रद्धा और भक्ति रखने वालों के हाथ में ही जीवन का दिव्य अमृत कलश रहता है। कृष्ण स्वयं अमृत भोजी थे। अतः उन्होंने अपने भक्तों को भी उन्मुक्त भाव से अमृत पान किया था। वह अमृत था जिसे युग-पुरुष ने अपने युग की जन चेतना को खुलकर बाँटा—सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचार।

वह युग-पुरुष आज नहीं रहा, परन्तु उसका दिव्य उपदेश आज भी अमर है और युग-युग तक अमर रहेगा। जो अमृत भोजी है, क्या वह कभी मरा है? कभी मर सकता है? मैं तो यह विश्वास करता हूँ कि वह युग पुरुष आज से सौ-साल पहले भी था, आज भी है और अनन्त भविष्य में भी रहेगा। क्योंकि जो अमर है, वह कभी मर नहीं सकता। मैं उस अमृत-भोगी दिव्य-पुरुष के चरणों में, उस अमर-पुरुष के अमर दिव्यगुणों में अपनी अमर आस्था अर्पित करता हूँ—मन से, वचन से और तन से उस युग-पुरुष के दिव्यगुणों को नमस्कार।

एक बात और, जो कहते-कहते शेष रह गई है, और वह है—"गुरुदेव श्री रत्नमुनि-स्मृति ग्रन्थ की। इस युग-पुरुष की पुण्यशताब्दी मनाने का विचार उठा, लम्बी चर्चा चली—इतनी लम्बी कि आगरा से कानपुर होकर कलकत्ता पहुँची, जैन-संस्कृति की अमर नगरी राजगृही के गिरि गह्वरों में गूँजी और फिर मेरे साथ ही आगरा लौट आई। अब की बार योजना बनी और कार्य प्रारम्भ हो गया। विघ्न बाधाएँ आती रहीं, और साथ में मिटती रहीं।" स्मृति-ग्रन्थ" के प्रकाशन का रास्ता लम्बा और विकट तथा साथ ही अति श्रम-साध्य था। मेरा स्वास्थ्य साथ नहीं देता था, फिर समाज के मिलन-सम्मेलन का चक्र भी तेजी से घूम रहा था। यह सब कुछ होने पर भी गुरुदेव की दिव्य-शक्ति का ही यह प्रभाव था, कि कार्य पूरा हो गया।

दिशा-निर्देश मेरा होने पर भी इस महान् कार्य में प्रारम्भ से अन्त तक विजयमुनि जी ने निष्ठा के साथ जो श्रम किया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। मेरी अनुपस्थिति में भी इस कार्य को उन्होंने निरन्तर प्रगति पर रखा है। अतः इस कार्य की पूर्ति में विजयमुनि जी का श्रम विशेष उल्लेखनीय रहा है। साथ ही जिन महानुभाव लेखकों ने अपने महत्वपूर्ण लेख भेजकर मेरी भावना का आदर किया है, उनके प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करता हूँ, और उनके सहयोग का आदर करता हूँ।

जैन भवन
लोहामंडी, आगरा
१५-३-६४

—उपाध्याय अमर मुनि

★

सम्पादक-सकथन

इस विराट और विशाल विश्व में कौन किस का सस्मरण करता है। काल के महासिंधु में मनुष्य के जीवन बिंदु का मूल्य भी क्या है? अनुदिन ससार में हजारों लाखों और करोड़ों मनुष्य जन्म धारण करते हैं और मरते रहते हैं। इनमें से कितनों को हम याद रख पाते हैं? अनन्त काल के अनन्त जीवन बिन्दुओं को याद रखना तो किसी प्रकार भी सम्भवित नहीं है। अपने वर्तमान जीवन के प्रिय स्नेही साथियों को भी हम दो-चार साल में विस्मृति के गहन गर्त में डाल देते हैं। जिन माता पिताओं की सुखद गोद में मनुष्य ने किलकारियाँ भरीं उन्हें भी वह भूल बैठता है। पति-पत्नी की सुख-दुख की कहानी, कहानी बनकर निःशेष हो जाती है। जिन प्यारे नन्हे मुन्नों को मनुष्य ने अपने प्यार की दुलार में पाला-पोषा उनके दारुण वियोग की कचोट को भी जीवन यात्रा की कुछ दूरी के बाद मनुष्य भूल जाता है। मतलब, मनुष्य अपनों को और स्वयं अपने आपको रात दिन भूलता ही चला आया है।

फिर भी क्या कारण है कि कुछ महापुरुष इन्सान के दिल और दिमाग पर इतनी गहनता और घनता के साथ अंकित हो जाते हैं कि उन्हें भुलाना भी सम्भव नहीं रह पाता। ज्यों-ज्यों इंसान उन्हें भूलने की चेष्टा करता है त्यों-त्यों वे और भी अधिक उभर उभर कर उसकी चेतना पर छा जाते हैं। अपने स्वभाव के कारण मनुष्य उन्हें भी भूलना तो चाहता है किन्तु फिर भी भूल नहीं पाता। दर्शन शास्त्र की भाषा में इस तथ्य को महापुरुषों के जीवन का अनुभाव प्रभाव और जादू ही कहना चाहिए।

गुरुदेव के पावन और पवित्र जीवन का अनुभाव और प्रभाव भी कुछ ऐसा ही अद्भुत था कि आज पूरे सौ-सालों के बाद भी जन-चेतना उन्हें अपनी स्मृति पर से उतार नहीं सकी। उन्होंने समाज पर जो अनन्त उपकार किए थे उन्हीं का यह प्रतिफल है कि आज भी समाज की चेतना उन्हें विस्मृत नहीं कर सकी। और अनन्त भविष्य में भी उनके उपकारों को विस्मृत नहीं किया जा सकेगा? उनकी पुण्य शताब्दी मनाकर उनकी स्मृति में स्मृति ग्रन्थ निकाल कर हम उन पर किसी प्रकार का उपकार नहीं करते बल्कि हम स्वयं उपकृत होते हैं। जो कुछ हमने उनसे पाया है उसका अनन्तवाँ भाग भी लौटाने की हममें क्षमता नहीं है। मुक्ति से पराङ्मुख करके उन्होंने हमें मुक्ति के उन्मुख किया यही उनके जीवन का हमारे दिल और दिमागों पर अनुभाव प्रभाव चमत्कार और जादू है जो उन्हें हमारी चेतना-स्मृति पर से विस्मृत और विलुप्त नहीं होने देता है। धन देने वाले माता पिता से, स्नेह देने वाले भाई-बहनों से और प्रणय देने वाले पति-पत्नियों से शास्त्रकारों ने अनन्त गुणा अधिक उपकार उस गौरवमय गुरु का स्वीकार किया है जिसने भव जन्म के विभाव भावों से विमुक्त करने की ज्ञान-कला का

वोध-पाठ दिया था। यही कारण है कि भारतीय सस्कृति मे सवको भुला कर भी गुरु को भूलने की भूल नही की जाती।

जिस गुरु ने हम सव को विमल विवेक और विचार दिया, जिसने पवित्र आचार और व्यवहार दिया तथा जिसने अडिग और अडोल आस्था एव निप्ठा दी, उसी गौरवमय गुरु गुरुदेव श्रद्धेय रतनचन्द्र जी महाराज की इस पुण्यवती शती के शुभ अवसर पर हम अपने मन के कण-कण से श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हे। महान् भाग्यशाली हैं, हम कि हमे इस शुभ अवसर पर "स्मृति-ग्रन्थ" के सम्पादन और सकलन का सौभाग्य मिला।

जितनी और जैसी गुरुदेव के जीवन पर सामग्री अपेक्षित थी, वैसी उपलव्ध नही हो सकी। प्रयत्न चालू रखना है। गुरुदेव के जीवन पर खोज अनुसन्धान और अन्वेपण चालू रखना है। आगरा के श्रावक प्रभुदयाल जी के प्राचीन भण्डार मे से जो सामग्री उपलव्ध हो सकी है, उसका उपयोग किया गया है। पूज्यपाद मन्त्री श्री पृथ्वीचन्द्र जी महाराज से जो सामग्री मिली, उसे कभी भुलाया नही जा सकता है। आगरा के वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध श्रावक श्री वावूराम जी शास्त्री से सम्प्रदाय की वहुत-सी प्राचीन वाते जानने को मिली है। स्मृति-ग्रन्थ के निर्देशक पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री जी महाराज ने तो हमारे मार्ग को कदम-कदम पर सरल और सीधा वनाया है। आपकी महती कृपा का ही यह फल है, कि 'स्मृति-ग्रन्थ' इतना सुन्दर वन सका। ग्रन्थ-प्रकाशन समिति के सयोजक सेठ कल्याणदास जी जैन और वर्तमान मे आगरा के नगर प्रमुख ने वडी उदारता के साथ अपना पूरा सहयोग दिया है। श्री सोनाराम जैन के सहयोग को भी विस्मृत नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त स्मृति-ग्रन्थ के प्रूफ सशोधन मे श्री शैलेन्द्र कुमार जैन, एम० कॉम ने, सुमतकुमार जैन, वी० एस सी ने, प्रभातकुमार जैन वी० एस सी. ने और विजय कुमार जी ने जो सहयोग दिया है, उसे भुलाया नही जा सकता।

प्रस्तुत स्मृति-ग्रन्थ की सम्पादक समिति के समस्त सदस्यो को हम धन्यवाद देते हैं, जिनका सुन्दर सहयोग हमे मिला। विशेपत आगरा कालेज के सस्कृत-विभाग के अध्यक्ष श्री डा० राजकुमार जी जैन एम० ए० साहित्याचार्य से भी इस स्मृति-ग्रन्थ मे पर्याप्त सहयोग मिला है। स्मृति ग्रन्थ के उन महान् लेखको के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त करते है, जिन्होने अपने व्यस्त जीवन मे से समय निकालकर अपने सुन्दर लेख और श्रद्धाञ्जलि भेज कर ग्रन्थ को समृद्ध और सुशोभित वनाया है।

अनेक महानुभाव लेखको के लेखो को हम स्थानाभाव के कारण प्रकाशित नही कर सके है। कुछ लेखको के लेख वहुत विलम्व मे आए, तव तक ग्रन्थ का अधिकाश भाग छप चुका था। अत जिन महानुभावो के लेख छपने से रह गए हैं उनसे हम क्षमा-याचना करते है।

डा० हरिशकर शर्मा
कविरत्न
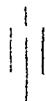
विजय मुनि
शास्त्री, साहित्यरत्न

सयोजक-सयोजन

किसा महापुरुप के दिव्य गुणा का स्मरण और कीतन करना किसी महान् भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। वास्तव म महापुरुप के गुणो का चिन्तन जीवन के विकास और उत्थान का साधन होता है। *दिव्य पुरुपा के ध्यान से और चितन स ध्याता का जीवन भी दिव्य बन जाता है।* दिव्य पुरुपा क स्वरूप के ध्यान से नाम के जप स और आचरण के अनुसरण स महान लाभ प्राप्त होता है।

गुरुदेव श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपन युग के सुप्रसिद्ध विद्वान मधुर प्रवक्ता परम तपस्वी और प्रखर योगी थ। उनकी योग-साधना के चमत्कार जन-चेतना की स्मति पर आज भी सौ साल के बाद भी अकित हैं और उनकी दिव्यता का प्रभाव उस युग की जन चेतना पर इतना गहरा और व्यापक पडा था युगा क युग बीत जान पर भी लोग उन्ह भूले नहीं हैं और भविष्य म भी नही भूलेंगे। उनका त्याग उनका सयम, उनका वराग्य और उनकी आराधना-साधना महान थी। उस दिव्य पुरुप और युग-पुरुप के पावन चरणो म इस पुण्य शताब्दी के अवसर पर मैं हार्दिक भावना के साथ श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हू।

श्रद्धय गुरुदेव का आगरा पर विशप अनुग्रह था। आगरा वाल कभी उनके उपकारो का भूल नही सकते। यहाँ के जन-जन के मन मन्दिर के कण कण म गुरुदेव का दिव्य छवि अकित है। आध्यात्मिक दृष्टि से उनकी शिक्षा और उनके उपदेश ही उनकी पुण्य-स्मति है। फिर भी भौतिक दृष्टि म भी आगरा म अनक सस्थाएँ और स्मति चिन्ह उनकी पावन स्मति म बन हैं। जस गुरुदेव की समाधि लोहामडी मे मजूमल के बगीचे म गुरुदेव के चरण चिन्ह सेठ के बाग म गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज के चरण चिन्ह और एक छोटा सा समाधि भवन बना हुआ है। शिक्षा के क्षत्र म श्री रत्न मुनि जन इन्टर कालज श्री रत्नमुनि जन गल्स इन्टर कालज श्री रत्नमुनि जन बाल शाला और श्री वीर पुस्तकालय प्रसिद्ध हैं। आगरा नगर महापालिका न श्री रत्नमुनि माग का उद्घाटन करके गुरुदेव क प्रति अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त की है।

गुरुदेव की पुण्य शताब्दी मनान की और एक स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करन की बात जब मर सामन आई तब मुझे बडी प्रसन्नता का अनुभव हुआ। पूज्य गुरुदेव उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज क आदेश स तथा समाज के वयोवृद्ध लोगो का प्ररणा से और साथियो के कहन स मैंन स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का काय अपन हाथ म ले लिया। मुझे परम प्रसन्नता है कि वह काय अब बडी सुन्दरता के साथ परिपूण हो चुका है।

उन दिव्य-पुरुष के प्रभाव से, उपाध्याय श्री जी महाराज की कृपा से और श्री विजय मुनि जी महाराज के श्रम से और लगन से एक बहुत बडा कार्य सम्पन्न हो गया है, जिसकी पूर्ति की इतनी शीघ्रता से आशा नही की जा सकती थी। अत श्री विजयमुनि जी के हम बहुत आभारी है। अन्य जिन-जिन महानुभावो ने इस कार्य मे हमारा सहयोग किया है, उन्हे हम धन्यवाद देते है।

"स्मृति-ग्रन्थ" के प्रकाशन और मुद्रण मे एजुकेशनल प्रेस के मालिक बाबू श्री जगदीश प्रसाद जी अग्रवाल और प्रेस मैनेजर श्री सत्यनारायण अग्रवाल को हम धन्यवाद देते है, जिनके श्रम से यह ग्रन्थ सुन्दर बन सका है। ग्रन्थ का अँग्रेजी विभाग प्रेम प्रेस मे छपा है। अत प्रेम प्रेस वालो का भी हम धन्यवाद करते हैं।

"स्मृति-ग्रन्थ" की सम्पादक-समिति, सयोजक-समिति और लेखक महानुभावो का भी मैं धन्यवाद करता हूँ, जिन्होने अपने सुन्दर लेख भेजकर हमे सहयोग दिया है।

जैन भवन
लोहामण्डी, आगरा

कल्याणदास जैन
स्मृति-ग्रन्थ-सयोजक

आगरा के वर्तमान नगर-प्रमुख व गुरुदेव श्री रत्नमुनि स्मृति-ग्रन्थ के संयोजक
सेठ कल्याणदासजी जैन

विषय रेखा

१

जीवन और श्रद्धाञ्जलि

२

आगम और व्याख्या साहित्य

३

धर्म और दर्शन

: ४ .

समाज और सस्कृति

: ५ :

साहित्य और कला

६

इतिहास और पुरातत्त्व

★

णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आयरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं
एसो पंच णमोक्कारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलम्॥

पूव इतिवृत्त

उपाध्याय अमर मुनि जी

भगवान् ऋषभदेव

वतमान अवसर्पिणी काल चक्र म जब कि अकम भूमि युग समाप्त हो रहा था, भगवान ऋषभ देव का जन्म चत्र कृष्णा अष्टमी को कौशल प्रदेश म हुआ। आपके पिता नाभि कुलकर और माता मरु देवी थी। जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति और कल्पसूत्र म वणन है कि ऋषभदेव भारतवष के प्रथम राजा, प्रथम मुनि, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीथकर और प्रथम धम-चक्रवर्ती थ। आपके समय म अकम भूमि कालीन वनवासी सभ्यता समाप्त हुई। कल्प वक्ष जो तत्कालीन जनता की भोजनादि आवश्यकता-पूर्ति क साधन थे, कम पड गए। जनता उक्त तगी के कारण परस्पर झगडने लगी। कलह और द्वन्द्व का सूत्रपात हो गया। भगवान् ऋषभदेव न अभावग्रस्त जनता का नतत्व किया, कम भूमि युग के रूप म नवीन समाज व्यवस्था की नीव डाली। लोगो को खेती वस्त्र पात्र, भवन, भोजन, लेखन आदि आवश्यक उद्योग धधो एव कलाओ का शिक्षण दिया, प्रकृति के भरोसे चले आए जन समूह को अपने पुरुषाथ एव कम के केन्द्र पर लाकर खडा कर दिया। भागवत म भी उल्लेख है कि एक साल वष्टि न होने के कारण जब लोग भूखो मरने लगे, सवत्र 'त्राहि त्राहि मचगई तो ऋषभदेव जी न अपन योगबल से पानी बरसाकर उस भयकर अकाल-जन्य सकट को दूर किया।[1] उक्त घटना म भी ध्वनित होता है कि एक समय भारतीय जनता पर अभाव की काली घटाएँ घिरी थी और उन्हें दूर करन का श्रेय भगवान् ऋषभदेव को है।

---

[1] श्रीमद् भागवत, स्कन्ध ५ अ० ४ कण्डिका ३

भगवान ऋपभदेव के भरत, बाहुबली आदि सौ पुत्र थे तथा ब्राह्मी एव सुन्दरी नामक दो कन्याएँ थी। बडे पुत्र भरत, भारत के प्रथम चक्रवर्ती हुए और उन्ही के नाम से भागवतकार की दृष्टि से हमारे देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।[1]

भगवान् ऋपभदेव का महत्व केवल जैन-परपरा मे ही नही, वैदिक-परपरा मे भी उनको विष्णु का अवतार मान कर पूजा की गई है। भागवत के पचम स्कन्ध मे उनकी एक बहुत सुन्दर जीवन-रेखा अकित है। कूर्म, मार्कण्डेय, अग्नि आदि पुराणो मे भी उनकी जीवन-गाथा के कुछ महत्वपूर्ण अश उपलब्ध है। वैदिक विद्वान् प्रो० विरुपाक्ष एम० ए०, वेदतीर्थ और आचार्य विनोबाभावे आदि बहुश्रुत मनीषी ऋग्वेद आदि मे भी ऋपभदेव की वन्दना के स्वर सुनते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् ऋपभदेव भारत की अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल से चली आने वाली श्रमण और ब्राह्मण दोनो ही सास्कृतिक परम्पराओ मे आदि महापुरुष के रूप मे मान्य हैं।

सामाजिक क्रान्ति के पश्चात् भगवान् ऋपभदेव ने धर्म-क्रान्ति का पथ प्रशस्त किया। जैन धर्म के अनुसार भारत की सर्व प्रथम नगरी विनीता (अयोध्या) का विशाल साम्राज्य त्यागकर ऋपभदेव मुनि बन गए, उग्र तपश्चरण किया, वनो मे ध्यान-साधना की, आत्म-दर्शन की भूमिका पर आरूढ होते हुए, केवल ज्ञान प्राप्त किया। अनन्तर भारतवर्ष को भोग से योग की ओर उन्मुख करने के लिए धर्म प्रचार किया और अन्त मे अष्टापद पर्वत पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

अरिष्ट नेमि और पार्श्वनाथ

भगवान् ऋपभदेव के पश्चात् अजितनाथ से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त बाईस तीर्थकर हुए। अर्हन्त अरिष्ट नेमि २२ वें, और पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर थे। अरिष्ट नेमि यदुकुल मे से थे। कृष्ण के पिता वसुदेव और अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय दोनो सहोदर—सगे भाई थे। मासार्थ मारे जाने वाले प्राणियो की रक्षा के लिए उन्होने उग्रसेन नरेश की सुपुत्री राजीमती के साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया। गृह त्याग कर मुनि बन गए, केवल ज्ञान प्राप्त कर अन्त मे रैवताचल (सौराष्ट्र का गिरनार पर्वत) पर मुक्त हुए। आपके द्वारा जन-जीवन मे आहार-शुद्धि का आन्दोलन काफी प्रगतिशील हुआ। मासाहार के विरोध मे आपका करुणा-सन्देश जैन इतिहास मे उल्लेखनीय स्थान रखता है। अरिष्टनेमि का वर्णन कल्प-सूत्र, अन्तकृद्दशा आदि जैन-सूत्रो और वैदिक महाभारत[2] आदि मे है। वेदो के कुछ मन्त्रो मे भी आपके नाम का सकेत है।[3]

---

[1] येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठ श्रेष्ठ-गुण आसीद् येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति।

—भागवत ५, ४, ९

[2] वनपर्व १८४,८ और शान्तिपर्व २८८, ५-४६

[3] ऋग्वेद १०, ६३, १३

पूर्व इतिवृत्त

भगवान् पार्श्वनाथ वाराणसी के राजकुमार थे। पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। आपका जन्म ई० पूर्व ८५० में पौष कृष्णा दशमी को हुआ था। आपके युग में तापस परंपरा के अनेकविध विवेकशून्य क्रियाकाण्डों का प्राबल्य था। गृहस्थ दशा में आपने पंचाग्नि-तापस कमठ को अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और धूनी के लक्कड़ में से जलते हुए सर्प का उद्धार किया। मुनि दीक्षा लेने के पश्चात् आपने उग्र साधना का कवच पाया और विवेक मूलक धर्म साधना का प्रचार कर अन्त में सम्मेद शिखर (बिहार प्रान्त) पर सदा के लिए अजर, अमर मुक्त हो गए।

पौर्वात्य और पाश्चात्य प्रायः सभी विद्वान् आपके ऐतिहासिक अस्तित्व के सम्बन्ध में एक मत हैं। बौद्ध साहित्य में भी पार्श्वनाथ के अस्तित्व के मौलिक संकेत हैं। अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा के अनुसार गौतम बुद्ध के चाचा वप्प—निर्ग्रन्थ श्रावक थे। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी तो कहते हैं कि तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व जीवन में पार्श्वनाथ परंपरा का अनुसरण किया था। उत्तराध्ययन भगवतीसूत्र, कल्प सूत्र आदि में भगवान् पार्श्वनाथ और उनकी शिष्य परंपरा के प्रचुर उल्लेख मिलते हैं। स्वयं भगवान् महावीर ने उन्हें पुरुषादानीय कहकर उनके प्रति बहुमान प्रकट किया है। उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ १ में उनको लोक पूजित, सम्बुद्धात्मा सर्वज्ञ और लोक प्रदीप जैसे महत्वपूर्ण विशेषणों से स्मरण किया है।

भगवान् महावीर

भगवान् पार्श्वनाथ के ढाई सौ वर्ष पश्चात् जैन-परंपरा के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। वर्तमान बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में जो आज छोटा सा बसाढ़ नामक गांव है वह पहले कभी (ई० पूर्व ६००) इतिहास प्रसिद्ध वैशाली नगरी था। वैशाली में गणतन्त्र राज्य था जो लिच्छवी वज्जी और ज्ञात आदि आठ गण राज्यों का सुसंगठित संयुक्त गणराज्य था। इन गणराज्य से सम्बन्धित चेटक उक्त संयुक्त गणतन्त्र के मनोनीत अध्यक्ष थे जो भगवान् महावीर के नाना होते थे।

वैशाली के निकट ही क्षत्रियकुण्ड नगर था जो ज्ञात-क्षत्रियगण की राजधानी था। भगवान् महावीर के पिता ज्ञात वंशीय सिद्धार्थ ज्ञातगण राज्य के प्रमुख थे जिन्हें राजा भी कहा जाता था। महावीर का जन्म इसी सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशला के गर्भ से चैत्र सुदी त्रयोदशी को शुभ बेला में हुआ।

वैशाली का वैभव विकास के चरम बिन्दु पर पहुँचा हुआ था। तथागत बुद्ध ने वैशाली-वासियों की तुलना देवताओं से की थी। वैशाली का चातुर्मास समाप्त कर अन्तिम निर्वाण यात्रा पर जाते हुए बुद्ध ने वैशाली को वापस मुड़कर देखा था और कहा था आनन्द! यह तथागत का अन्तिम वैशाली दर्शन है। महावीर का बाल्य काल इसी सुख-समृद्धि की स्वर्गोपम नगरी वैशाली में गुजरा। परन्तु उनका चित्त उस राजप्रासाद के वैभव में रमा नहीं। तीस वर्ष के कुसुमित यौवन में उन्होंने गृहवास त्याग दिया निर्ग्रन्थ मुनि बन गए। साढ़े बारह वर्ष तक लगातार वन पर्वत में अकेले और असहाय दशा में

जाकर निर्मल सयम-साधना की, आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि की, वैशाखशुक्ला १० को बिहार राज्यान्तर्गत ऋजुवालुका, आज की बराकर, नदी के तट पर, शाल वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा मे कैवल्य ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् महावीर की तप. साधना के सुनहले चित्र आचारांग और कल्प-सूत्र मे अकित है। बौद्ध साहित्य मे भी उन्हे दीर्घ तपस्वी कहा है। आवश्यक-चूर्णि, महावीर चरित्र आदि प्राकृत सस्कृत ग्रन्थो मे उनके जीवन की प्रेरणादायक विविध सामग्री का अधिकाश भाग आज भी सुरक्षित है।

भगवान महावीर के समय मे, भारतीय जनता, बडे ही विचित्र अंध विश्वासो से ग्रस्त थी। देव-वाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यज्ञ, याग आदि के विधिविधानो मे पशुहत्या, यहाँ तक कि नर हत्या भी प्रचुर मात्रा मे होती थी। वर्ण-व्यवस्था की पवित्रता के नाम पर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की छाया तक को अस्पृश्य मानकर चल रहा था। स्त्री जाति केवल भोग की वस्तु बन कर रह गई थी, उसे सामाजिक जीवन मे कुछ भी अधिकार प्राप्त नहीं था। तापसो की परपरा भी विकृत हो चुकी थी। तापस पचाग्नि तप करते, वृक्ष की शाखाओ से अधोमुख उल्टे लटके रहते, हाथों को ऊँचा करके घूमते, कदमूल, शैवाल और सूखी घास खाते, भयकर सर्दी मे सारी रात जल मे पड़े रहते। औप-पातिक आदि जैन सूत्रो एव बौद्ध साहित्य मे इनके अनेकविध कठोर क्रियाकाण्डो का उल्लेख है। भौतिक वादी घोर नास्तिको का भी कुछ कम प्रभाव नही था। भगवान् महावीर ने कैवल्य प्राप्त कर उक्त परपराओ की विवेक-हीन जड मान्यताओ पर मूलघाती प्रहार किया। जिज्ञासु जनता को धर्म के मूल-सत्य का दर्शन कराया। अहिंसा मूलक जीवन-क्रान्ति का सन्देश एक छोर से दूसरे छोर तक जन-मानस मे विद्युत्गति से प्रकाशमान होता चला गया। भगवान् महावीर ने इस प्रकार सामाजिक और धार्मिक उभयमुखी क्रान्ति की। महाश्रमण केवल जैनेतर परपराओ मे ही सुधार का शखनाद फूंक कर नही रह गए। अपितु उन्होंने पार्श्व-परपरा से समागत जैन श्रमणाचार को भी देशकालानुसार कसा। पार्श्वनाथ परपरा मे वस्त्र, प्रतिक्रमण, एक स्थानीयवास आदि के कुछ नियम अधिक कसे हुए नही थे। अत उक्त नियम धीरे-धीरे शिथिल पडते गए। भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ परपरा को भी कुछ कसकर और कुछ समन्वय कर, अपने सघ में मिला लिया।

भगवान् महावीर तर्क-प्रधान व्याख्याता थे। उनकी तर्क-पद्धति इतनी प्रभावोत्पादक थी कि मध्यम पावापुरी के महासेनवन वाले प्रथम प्रवचन मे ही इन्द्रभूति गौतम आदि भारतवर्ष के मूर्धन्य चार हजार चार सौ यज्ञ पक्षपाती ब्राह्मण विद्वानो ने, जैन श्रमणत्व की दीक्षा ग्रहण कर ली। उनमे से इन्द्र भूति गौतम आदि ११ विद्वान मुख्य थे, जिनके अधिकार मे सघ का शासन सौंपा गया, फलस्वरूप वे गण-धर के नाम से प्रसिद्ध हुए।

तीर्थ का अर्थ है सरोवर और नदी आदि जलधाराओ का वह घाट, जहाँ सर्व साधारण सकुशल उनमे अवगाहन या उन्हे पार कर सकते है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का धर्मतीर्थ भी ऐसा ही है। उक्त चतुर्विध धर्मसाधना से साधक धर्म रूपी सरोवर में अवगाहन कर सकता है, या उक्त घाटो से ससार नदी को सकुशल पार कर सकता है। भगवान् चतुर्विध तीर्थ रूप धर्म संघ की स्थापना करने के

गुरुदेव के अनन्य भक्त और अनेक संस्थाओं के संस्थापक
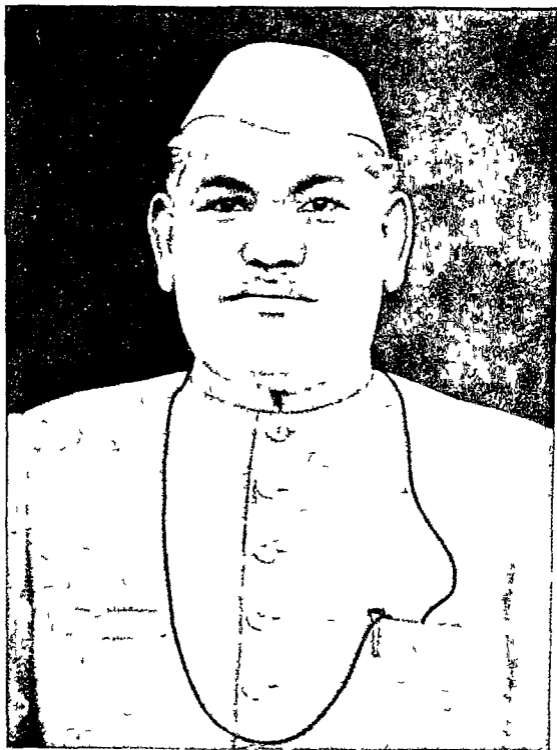
स्वर्गीय सेठ श्री रतनलालजी जैन मित्तल

फलस्वरुप तीथकर कहलाए। उन्हान स्त्री पुरुष, ब्राह्मण शूद्र आय अनाय आदि सभी को बिना किसी भेदभाव के अपन धम-तीथ म स्थान दिया और अखिल विश्व मानव के लिए धम साधना का मगल द्वार खाल दिया।

भगवान् महावीर ३० वप गृहवास म रह साढे १२ वप छद्मस्थ और ३० वप तीथकर पद से धम प्रचार करत रह। राजगृह और वशाली उनके दो प्रमुख धम प्रचार केन्द्र थे। इसी लिए राजगृह नालदा म १४ और वशाली वाणिज्य म १२ वर्षावास किए। अन्तत पावापुरी म हस्तीपाल राजा की रज्जुक सभा म कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रात काल ७२ वप की आयु म निर्वाण लाभ कर मुक्त हो गए। निर्वाण के समय नौ मल्ल और नौ लिच्छवी—इस प्रकार १८ गणराजा उपस्थित थे जिन्होंने कल्प सूत्र के अनुसार द्रव्य उदद्योत (दीपावली) का प्रारम्भ किया।[1]

गणधर इन्द्रभूति गौतम

भगवान् महावीर के ११ गणधरों म, इन्द्र भूति गौतम प्रमुख थे। अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित और महावादी भगवान् के चरणा म दीक्षित हुए तब उनके पास ५०० छात्र वदाध्ययन कर रहे थ जो उनक साथ ही श्रमण बन गए थे। आप मगध की राजधानी राजगृह के पास गोवर ग्राम के रहन वाल थ, जा आज नालदा का ही एक भाग माना जाता है। भगवती सूत्र १, १ के अनुसार गौतम घोर तपस्वी, चौदह पूव के ज्ञाता, चतुर्ज्ञानी, सर्वाक्षर सन्निपाती तजस लब्धि के धर्ता और एक राजस्थानी सत की भाषा मे अगूठे अमत बसे, लब्धितणा भडार" थ। उनके वज्र शरीर का रग कसौटी पर कसी हुई स्वण रेखा के समान चमकदार स्वण प्रभा वाला था।[2]

अग और उपाग आगम साहित्य का अधिकाश भाग महावीर और गौतम के सवाद रुप म है। गौतम प्रश्नकर्ता है और महावीर उत्तरदाता। जो स्थान कृष्ण के समक्ष अजुन का है बुद्ध क समक्ष आनन्द का है और उपनिषत्कालीन उद्दालक के समक्ष श्वतकेतु का है वही स्थान महावीर के समक्ष गौतम का है। गौतम के प्रश्न क्या है ज्ञान-गगा के मूल उद्गम के उद्घाटक हैं। गौतम को माध्यम बना कर भगवान् महावीर ने जो विश्व साधको का अप्रमत्त भाव का सतत जागरण का सदेश दिया है वह उत्तराध्यन के दशम अध्ययन म आज भी मुखरित है कि समय गोयम ! मा पमायए। गौतम ! एक क्षण के लिए भी प्रमाद, आलस्य कतव्य के प्रति उदासीनता मत कर।

भगवान् महावीर और गौतम की आत्माओ का मिलन इसी जन्म से ही नही अनक पूव जन्मा से चला आ रहा था। भगवान् के प्रति गौतम का अनन्य अनुराग जन कथा साहित्य म भावुकता का

---

[1] गए से भावुज्जोए दव्वुज्जोय करिस्सामो

—कल्प-सूत्र, पचम व्याख्यान १२८ सूत्र

[2] कणगपुलगनिघसपम्हगोरे'—भगवती सूत्र १, १ ८

एक बहु चर्चित सरस परिपाक है। उक्त अनुराग की कडी भगवान् के निर्वाण होने पर ही टूटी और उन्हे कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के सूर्योदय मे केवल ज्ञानोदय हुआ। यह प्रतिपदा जैन पर्वो मे गौतम प्रतिपदा के नाम से सुप्रसिद्ध है।

गणधर गौतम समग्र श्रमण सघ के अधिष्ठाता, अतएव सर्वोपरि महान् यशस्वी होते हुए भी इतने विनम्र कि उनकी सत्य-ग्राहिणी विनम्रता के सम्मुख आज भी शत-सहस्र मस्तक श्रद्धा से झुक जाते है। उपासकदशा सूत्र के अनुसार वाणिज्य ग्राम के आनन्द श्रावक को अन्तिम साधना में अवधि ज्ञान हुआ। यथाप्रसग चर्चा होने पर गौतम ने उनसे कहा कि 'श्रावक को इतना बृहत् अवधि ज्ञान नहीं हो सकता, तुम मिथ्या कहते हो।' बात उलझ गई, परन्तु भगवान महावीर के पास जाने पर ज्यो ही उन्हे अपनी भूल मालूम हुई, तो तत्काल वापस लौट कर आनन्द से क्षमा-याचना की। वस्तुत गौतम सत्य की साक्षात् मूर्ति थे। यह तो क्या, अपने वश परम्परागत धार्मिक विश्वास को भगवान् मे सत्य दृष्टि मिलते ही, उन्होने उसी क्षण छोड दिया। गौतम मे हम अनाग्रह बुद्धि का चरम उत्कर्ष देखते है।

गौतम की प्रतिबोध देने की शक्ति भी विलक्षण थी। पृष्ठचपा के गागील नरेश को प्रतिबोध देने के लिए भगवान् महावीर ने उन्हे भेजा था। अष्टापद पर्वत से उतरते हुए उन्होंने पदरह सौ तीन तापसो को सहज ही श्रमण धर्म मे दीक्षित किया। भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी कुमार श्रमण को पाच सौ शिष्यो के साथ महावीर-सघ मे सम्मिलित करने का श्रेय भी गौतम की समन्वयात्मक विचारशैली को ही प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र का केशीगौतमीय सवाद उक्त तथ्य का साक्षी है।

भगवान् महावीर के सघ का समग्र शासन भार गौतम के हाथो मे था। परन्तु केवलज्ञान होते ही उन्होने सघ-शासन पचम गणधर सुधर्मा को सौंप दिया। पूर्ण वीतराग केवली होने पर, जैन धर्म की मान्यता के अनुसार, सघ-सचालन का दायित्व वहन नही किया जाता। अस्तु, निस्सग भाव से १२ वर्ष तक भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट एव स्वय के द्वारा साक्षादनुभूत सत्य धर्म का प्रचार कर अन्त मे राजगृह नगर के वैभारगिरि पर मुक्त हुए। गौतम ५० वर्ष की आयु मे दीक्षा लेते है, ३० वर्ष छद्मस्थ रहते है और १२ वर्ष जीवन-मुक्त केवली।

१. गणधर सुधर्मा स्वामी

सुधर्मा कोल्लाक सनिवेश के निवासी अग्नि वैश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपका जन्म विक्रम के ५५१ वर्ष पूर्व हुआ था। आप अपने युग के समर्थ वेदाभ्यासी विद्वान थे। आपके पास ५०० छात्र अध्ययन करते थे। आप भी गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति के साथ पावापुरी मे सोमिल भट्ट के यहाँ यज्ञ मे भाग लेने गए थे और भगवान् महावीर के उपदेश से प्रभावित होकर गौतम के साथ ही अपने ५०० शिष्यो सहित श्रमण धर्म मे दीक्षित हो गए थे। ग्यारह गणधरो मे आप का स्थान पाँचवा है।

गौतम को केवल ज्ञान होने पर समग्र सघ के सचालन का नायकत्व आप पर ही आया। ग्यारह मे से अग्निभूति आदि ९ गणधर तो भगवान् के सामने ही निर्वाण को प्राप्त हो गए थे। अस्तु, सुधर्मा ने

ही गण का नतृत्व किया यही कारण है कि भगवान् महावीर के पश्चात् जो गणधर वंशीय स्थविर परपरा प्रारम्भ होती है, उसमें आपका नाम ही सब प्रथम आता है।

आचारांग आदि द्वादशागी आगम साहित्य के आप हा पुरस्कर्ता मान जाते हैं आगम साहित्य के अभ्यासी स्पष्टत देख सकते हैं कि भगवान् महावीर से गौतम आदि प्रश्न पूछते हैं और भगवान उत्तर देते हैं और सुधर्मा जसे पास ही तन्मय श्रोता के रूप में सुनते हैं। अपने शिष्य जम्बू स्वामी को आगम वाचना देते हुए व बराबर स्थान व्यक्ति, घटना और प्रश्नोत्तरों का वणन करते हैं और ऐसा करते समय वे जम्बू से स्पष्ट कहते हैं कि 'सुय मे आउस तेण भगवया एवमक्खाय"—हे आयुष्मन! मैंने भगवान् महावीर का ऐसा कहते सुना है। इस प्रकार सवत्र श्रवण का स्वर मुखरित होने से जनागमों के लिए श्रुत शब्द ही रूढ़ हो गया।

आगम वाचना में सुधर्मा ने अपने आप को सवथा तटस्थ रखा है। यह नहीं कि बीच-बीच में अपने व्यक्तित्व को भी सामने लाएँ। आश्चर्य है समग्र आगम साहित्य में अपनी ओर से पूछे गए एक प्रश्न का भी उल्लेख नही है। इसका यह अथ तो नही कि उन्होंने भगवान् से कभी कुछ पूछा ही न होगा? सम्भवत पूछने पर भी उन्होंने अपने को विनम्र एव निस्संगभाव से अलग ही बनाए रखा।

सुधर्मा ने ५० वष की आयु में दीक्षा ग्रहण की और सवत् १३ में अर्थात् अपनी आयु के ९३ वें वष में कवल्य प्राप्त किया और वीर सवत २० में सौ वष की आयु पूण कर राजगृह वभारगिरि पर मासिक अनशन-पूवक मुक्त हुए। दिगम्बर परपरा सुधर्मा स्वामी का निर्वाण विपुलाचल पर होना मानती है।

२ आय जम्बू स्वामी

भगवान् महावीर के निर्वाण से १६ वष पूव राजगृह में जम्बू कुमार का जन्म हुआ। जम्बू चरित्र के अनुसार मगध नरेश बिम्बसार श्रेणिक के समक्ष स्वय भगवान् महावीर ने जम्बू कुमार के जन्म लेने की घोषणा की थी।[1] जम्बू के पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी था। ऋषभदत्त की गणना, मगध के धनकुबेर श्रेष्ठियों में की जाती थी। जम्बू अपने माता पिता के इकलौते पुत्र थे।

कथा-सूत्रों में वणन है कि जम्बू का १६ वष की आयु में आठ कन्याओं के साथ विवाह हुआ। ९९ करोड़ की सम्पत्ति दहेज में मिली। परन्तु सुधर्मा स्वामी का उपदेश श्रवण करने के पश्चात् वे इतने वराग्य रग में रग गए कि सुहाग रात बिना मनाए ही सुधर्मा के चरणों में भिक्षु बन गए। अकेले नहीं जंबू के वराग्य से प्रभावित हुए स्वय के माता पिता आठों पत्नी और उनके माता पिता तथा लूटने के लिए आए हुए दस्युराज प्रभव और उसके ५०० अन्य साथी चोर इस प्रकार जंबू के साथ ५२७ विरक्त आत्माओं ने भी आर्हती दीक्षा धारण की। कोटि-कोटि द्रव्य का त्याग के पथ

[1] गुणपालकृत प्राकृत जंबुचरिय—४ २७४

पर अर्पण कर दिया गया। यह कितना अद्भुत दृश्य रहा होगा। वैराग्य की निर्मल गगा का यह प्रचण्ड प्रवाह साधको के लिए युग-युग तक वैराग्य की प्रेरणा का स्रोत रहा है, और रहेगा। जबू जैन-इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो पर वैराग्य का वह दैदीप्यमान प्रतीक है, जो आज तक भी महाकाल की छाया मे धुंधला नही पडा है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, मारवाडी, पजाबी और हिन्दी आदि मे जबू स्वामी के जीवन-चरित्रो की एक बहुत लबी शृखला है, जो उनके त्याग वैराग्य की गौरव-गाथा के सुनहले तारो को जन-मानस मे से टूटने नही देती है।

वर्तमान मे जो भी आगम-साहित्य उपलब्ध है, उसका अधिकाश भाग सुधर्मा स्वामी के द्वारा जबू को सुनाया हुआ है। जंबू एक दिव्य श्रोता प्रतीत होते हैं। ज्ञानार्जन के प्रति उनकी उत्कट जिज्ञासा का ही यह प्रतिफल है कि हमे भगवान् महावीर की पवित्र वाणी का कुछ अश मिल सका।

जैन परपरा का इतिहास जम्बू स्वामी को वर्तमान अवसर्पिणी काल चक्र का अन्तिम केवली मानता है। इनके बाद न कोई केवल ज्ञानी हुआ और न किसी को मोक्ष प्राप्त हुआ। इतना ही नही, विचार और आचार की सहज निर्मलता के क्षीण हो जाने के कारण उनके पश्चात् निम्नोक्त दस बातें विच्छिन्न हो गई—

मन-पर्यय ज्ञान, परमावधिज्ञान, पुलाक-लब्धि, आहारक शरीर, क्षपक-श्रेणी, उपशमश्रेणी, जिन कल्प, संयमत्रिक (परिहार विशुद्ध चरित्र, सूक्ष्मसपराय चरित्र, यथाख्यात चरित्र) केवलज्ञान और सिद्ध-पद।

जबू स्वामी ने वीर सवत् १ मे, १६ वर्ष की खिलती हुई तरुणाई मे, दीक्षा धारण की। विवाह होने पर भी बाल ब्रह्मचारी रहे। बारह वर्ष तक सुधर्मा स्वामी से गभीर ज्ञानाभ्यास किया, आगम-वाचना ग्रहण की। वीर संवत् १३ मे सुधर्मा स्वामी के केवली होने के बाद आचार्य बने। आठ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। वीर सवत् २० मे केवल ज्ञान पाया और ४४ वर्ष जीवन मुक्त केवली के रूप मे धर्म प्रचार करते रहे। वीर सवत् ६४ मे ८० वर्ष की आयु पूर्ण कर मथुरा नगरी[1] मे निर्वाण प्राप्त किया।

३. आर्य प्रभव स्वामी

आर्य प्रभव विन्ध्याचल की पर्वत शृखला के निकट जयपुर नगर के निवासी थे। वे विन्ध्य-राजा[2] के पुत्र, कात्यायन गोत्रीय क्षत्री थे। पिता से अनबन हो जाने के कारण अपने पांच-सौ युवक

---

[1] प्राकृत 'जबू चरिय' मे बलाहक पर्वत पर निर्वाण बताया है—१६, ७, ८५। बहुश्रुत दिगबर विद्वान पं० राजमल्ल अपने जम्बू चरिय (१२, १२१) मे विपुलाचल पर निर्वाण कहते हैं।

[2] प्राकृत जंबू चरियं (७, १७—१८) मे विश्वसेन नाम है।

साथियो को साथ म नकर राज्य मे निकन प" और बगावत का भडा बुलद कर दिया । "घर-उधर लूटमार का बाजार गम हो गया । उस युग के सेठ साहूकार, आर तो क्या, बडे बड राजा महाराजा भी प्रभव के जादूभर भयकर आक्रमण स आतकित रहते थे । घूमता घामता प्रभव मगध म आ पहुँचा । जबू कुमार क घर, उनके विवाह क िन डाका डालन आया, परतु उनकी प्रशान्त-मुद्रा का देखा और उनके वराग्य रस स परिप्लावित प्रवचन का सुना तो हृदय पलट गया ससार से उदासीन हो गया। फलस्वरूप अपन पाच सौ साथियो सहित जबू कुमार क साथ ही सुधर्मा के चरणो म दीक्षित हो गए प्रभव दस्युराज से ऋषिराज हो गए । प्रभव अपन युग क प्रकाण्ड तपस्वी, निमल-हृदय साधक और सुप्रसिद्ध आगमाभ्यासी ! कितना विलक्षण परिवतन ? प्रभव का जीवन ठीक वैदिक ऋषि वाल्मीकि स मिलता है । प्रथम चोर डाकू हत्यारा और पश्चात् वही महान् योगी तपस्वी एव आत्मद्रष्टा ज्ञानी ! जबू स्वामी क मालव नरेश अवतीवधन जसे अनक प्रमुख शिष्य थे, परतु उनके पट्टधर का गौरव प्रभव को ही मिला, दूसरा का नही ।

दीक्षा के समय प्रभव ३० वष के तेजस्वी तरुण थे । दीक्षा के २० वष पश्चात् ५० वष की आयु म आचाय पद पर प्रतिष्ठित हुए और १०५ वष की आयु पूण कर वीर सवत ७५ म अनशन-समाधि पूवक स्वगवासी हुए ।[१]

४ आय शय्यभव

प्रभव स्वामी क पश्चात आय शय्यभव आचाय पद पर आसीन हुए । आप राजगृह क निवासी वत्सगोत्री ब्राह्मण थ वदिक साहित्य के धुरधर विद्वान यज्ञ कर रहे थ प्रभव स्वामी के उपदेश से प्रभावित हो कर जैन मुनि बन गए । मेधावी मुनि न गुरु चरणो म शीघ्र ही श्रुत साहित्य का अध्ययन किया और चतुदश पूवधर श्रुत केवली बन गए ।

आप जब दीक्षित हुए पत्नी गभवती थी पश्चात् अवतरित हुए मनकपुत्र न बचपन म ही चपा नगरी म आपस भेंट की और मुनि हो गया । अपन ज्ञान म पुत्र को अल्प-छह महीने का अल्पजीवी जानकर आत्म प्रवाद आदि पूव साहित्य म दशवकालिक आचार-सूत्र का सकलन किया ताकि मनक अल्पकाल म ही जन साध्वाचार म भली भाति परिचित हो सके । दशवैकालिक का रचनाकाल वीर सवत् ८२ क आसपास है । यह एक प्रमुख आचार ग्रन्थ है जो आज भी प्रत्यक दीक्षार्थी मुमुक्षु को सब प्रथम पढाया जाता है ।

शय्यभव स्वामी २८ वष की वय म दीक्षा लेते हैं ३४ वष मुनि जीवन म बिताते हैं, २३ वष युग प्रधान आचाय रहते हैं । इस प्रकार ८५ वष की आयु पूण कर वीर सवत् ९८ म स्वगस्थ होते हैं ।

---

[१] दिगबर विद्वान प० राजमल्ल जी अपने सस्कृत जम्बू चरित्र (१३, १६६) में प्रभव स्वामी का उल्लेख करते हैं और उनका स्वगवास मथुरा म बताते हैं ।

५. आर्य यशोभद्र

आर्य यशोभद्र आचार्य शय्यभव के शिष्य थे। यशोभद्र तुंगियायन गोत्र के निराकाण्डी ब्राह्मण थे, और प्रकाण्ड वेदाभ्यासी। उनके जीवन के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी उपलब्ध नही होती। तत्कालीन नद राजवश और उसके मंत्री वग पर आपका अच्छा प्रभाव था। विदेह, मगध और अग आदि देशों मे आपके द्वारा अहिसा धर्म की विजय-दुन्दुभि शान के साथ वजती रही। महाप्रभावक आचार्य संभूति विजय और भद्रवाहु स्वामी आपके प्रधान शिष्य थे।

यशोभद्र जी २२ वर्ष गृहस्थ दशा मे ६४ वर्ष सयमी जीवन मे और इसी मे से ५० वर्ष युग प्रधान आचार्य पद मे रहे। अन्तत ८६ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर स० १४८ मे स्वर्गवासी हुए।

६. आर्य संभूति विजय

आचार्य यशोभद्र के आचार्य पद पर सभूति विजय जी आसीन हुए। संभूति विजय माठर गोत्रीय प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान थे। इनका शिष्य मडल वहुत वडा था। जैन इतिहास गगन के उज्जवल नक्षत्र स्थूलभद्र आपके ही शिष्य थे। कल्प-सूत्र स्थविरावली मे १२ प्रमुख शिष्यो के नाम इस प्रकार है—१. नन्दनभद्र, २ उपनन्दनभद्र, ३ तिष्यभद्र, ४ यशोभद्र, ५. स्वप्नभद्र, ६. मणिभद्र, ७ पूर्णभद्र, ८ स्थूलभद्र, ९ ऋजुमति, १० जम्बू, ११ दीर्घभद्र, १२ पाण्डुभद्र।

स्थूलभद्र की सात वहनें भी सभूति विजय जी के द्वारा ही श्रमण धर्म मे दीक्षित हुई थी। महामत्री शकटार की पुत्रियाँ और स्थूलभद्र की ये सात वहने इस प्रकार हैं—१ यक्षा, २. यक्षदत्ता, ३ भूता ४. भूतदत्ता, ५ सेना, ६ वेणा ७ और रेणा।

सभूति विजय जी ४२ वर्ष गृहस्थ जीवन मे, ४८ वर्ष साधु जीवन मे, ८ वर्ष युग-प्रधान आचार्य पद मे रहे। वीर स० १५६ मे ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

७. आर्य भद्रवाहु

आर्य भद्रवाहु स्वामी जैन सघ के समर्थ ज्योतिर्धर आचार्य थे। आप सभूति विजय के लघु गुरुभ्राता थे। सभूति विजय के पश्चात् आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। परन्तु कल्पसूत्र के स्थविरावली प्रकरण मे सभूति विजय के पट्ट पर स्थूलभद्र को आचार्य माना है, आपको नही। पट्टावलीकार भी यह कहते है कि यशोभद्र के पश्चात् उनके दोनो शिष्य पट्टधर वने। यदि उन के आचार्य काल पर विचार किया जाए, तो उनका आचार्यत्व सभूति विजय जी के स्वर्गारोहण के पश्चात् ही प्रमाणित होता है।

भद्रवाहु स्वामी प्राचीन गोत्री ब्राह्मण थे। दर्शन शास्त्र के उद्भट विद्वान और ज्योतिष शास्त्र के भी पारगत मनीषी थे। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर माना जाता है। कौन-सा प्रतिष्ठान ? उत्तर भारत का

प्रयाग (इलाहबाद) के पास का गगातटवर्ती प्रतिष्ठान जिसको आजकल भूसी कहते हैं अथवा दक्षिण भारत का आन्ध्र देशीय प्रतिष्ठान ? कथासूत्र दक्षिण प्रतिष्ठान (पठन) का उल्लेख करते हैं।

भद्रबाहु प्रभव से प्रारम्भ होने वाली श्रुत केवली परम्परा में पचम श्रुत केवली हैं चतुदश पूवधर हैं। इनके पश्चात् अन्य कोई चतुर्दश पूर्वी नहीं हुआ, अत यह अन्तिम श्रुत केवली माने जाते हैं। भद्रबाहु स्वामी का श्रुतज्ञान अतीव निर्मल और व्यापक था। दशाश्रुत स्कन्ध चूर्णि में आपको दशाश्रुत बृहत् कल्प और व्यवहार सूत्र का निर्माता बताया है। आजकल कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध पर्युषण कल्पसूत्र भी आपके द्वारा ही रचित है। मुनि रत्न सूरि अपने अमम चरित्र के मगलाचरण में भद्रबाहु को समुद्र *विजयादि दश पुत्रों के पिता यदुवंशी नरेश शौरिका उपमा देते हैं और उनको आवश्यक आदि दश* निर्युक्तियों का कर्ता मानते हैं। आचार्य मुनि सुन्दर अपनी गुर्वावली ग्रन्थ में भद्रबाहु को उपसर्गहर स्तोत्र के रचयिता के रूप में भी उल्लेख करते हैं। बृहत्कल्प आदि छेद सूत्रों में उन्होंने उत्सर्ग और अपवाद विधियों का गम्भीर विश्लेषण करके आदर्श और यथार्थ में योग्य समन्वय प्रस्तुत किया है। आचार संहिता का इतना यथार्थवादी एवं व्यवहार में आने वाला चिन्तन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। निर्युक्तियाँ आगमसाहित्य पर सब प्रथम अर्ध मागधी प्राकृत में पद्यबद्ध टीकाएँ हैं। निर्युक्तियों में आगम के मूल भावों का रहस्योद्घाटन बड़ा ही विद्वतापूर्ण शैली में किया है। वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों में कुछ उत्तर कालीन घटनाओं का भी उल्लेख है उस पर से सिद्ध होता है कि निर्युक्तियों की रचना भद्रबाहु ने प्रारभ की, और बाद में वे देशकालानुसार पल्लवित एव परिवर्धित होती गई।

भद्रबाहु केवल सूत्रकार, निर्युक्ति-व्याख्याकार और स्तोत्रकार ही नहीं थे वे एक सुधन्य कथा साहित्यकार भी थे। उन्होंने प्राकृत भाषा में सपादलक्ष गाथाबद्ध (सवा लाख गाथा में) वसुदेव चारित्र भी लिखा था। यह ग्रन्थ आजकल नहीं मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के गुरुदेव पूर्णतलगच्छीय श्री देवचन्द्र ने अपने प्राकृत 'सतिनाह चरिय' में, उस ग्रन्थ का अतिरसिक एव बहुकसाकलित विशेषणों के साथ उल्लेख किया है।

अनुश्रुति है कि भद्रबाहु ने प्राकृत भाषा में भद्रबाहु संहिता नामक एक महत्त्वपूर्ण ज्योतिषग्रन्थ भी लिखा था, जिसके आधार पर उत्तरकालीन द्वितीय भद्रबाहु ने संस्कृत में भद्रबाहु संहिता का निर्माण किया। मूल प्राकृत भद्रबाहु संहिता उपलब्ध नहीं है।

वराहमिहिर संहिता का निर्माता वराहमिहिर आपका छोटा भाई था जो आपके ही साथ दीक्षित भी हुआ था परन्तु उसको आचार्य पद न देकर जब स्थूलभद्र को आचार्य पद देना निश्चित हुआ तो वह साधुपद त्यागकर गृहस्थ बन गया और भद्रबाहु की प्रतिद्वन्द्विता करने लगा। विद्वानों का मत है कि वर्तमान में उपलब्ध वराहमिहिर संहिता भद्रबाहु के समय की नहीं है। अत प्रस्तुत वराहमिहिर (विक्रम सं० ५६०) से भद्रबाहु का भ्राता वराहमिहिर भिन्न है।

पाटलीपुत्र में आगमों की प्रथम वाचना आपके द्वारा ही पूर्ण हुई। उक्त वाचना का आभाय हरिभद्र अपने उपदेश पद प्राकृत ग्रन्थ में स्मरण करते हैं कि उस समय में १२ वर्ष का भयकर दुष्काल

पडा। साधु सघ समुद्र तट पर (सभवत कलिग मे) चला गया। दुष्काल के समाप्त होने पर साधु सघ पाटलीपुत्र (पटना) मे एकत्र हुआ और एकादश अगो का व्यवस्थित रूप मे सकलन किया।"

विचारक विद्वान् उक्त दुष्काल वीर स० १५५ के आस पास बताते है, क्योकि इसी समय के आस पास नन्द साम्राज्य का उन्मूलन होकर मोर्य चन्द्र गुप्त के नेतृत्व मे मौर्य-साम्राज्य स्थापित हुआ था। जब राज्य परिवर्तन होता है, तो युद्ध के कारण कृषि आदि की व्यवस्था सब अस्त व्यस्त हो जाती है, जिसका परिपाक अतत दुष्काल के रूप मे ही होता है। अस्तु १२ वर्ष के बाद शासन व्यवस्था ठीक ठीक होने पर, दुष्काल की समाप्ति पर, वीर स० १६० के लगभग पाटलीपुत्र मे श्रमण-सघ की यह इतिहास प्रसिद्ध परिषद् हुई। स्थूलभद्र की अध्यक्षता मे उक्त परिषद् ने यथास्मृति ११ अगो का सकलन तो कर लिया, परन्तु १२ वे दृष्टिवाद का पूर्णरूपेण ज्ञाता कोई मुनि नही था, अत. उनके सकलन का प्रश्न अटक गया। दृष्टिवाद के पूर्ण ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे, और वे दुष्काल पडने पर ध्यान-साधना के लिए नैपाल चले गए थे। वहाँ वे महाप्राण ध्यान की सिद्धि मे सलग्न थे। पाटलीपुत्र मे उपस्थित श्रमण सघ ने उन्हे दृष्टिवाद के सकलनार्थ बुलाने के लिए दो मुनि भेजे। भद्रबाहु के यह कहने पर कि मै महाप्राण ध्यान की साधना कर रहा हूँ, अत मे नही आ सकता, तो दोनो मुनि वापस लौट आए। सघ ने पुन दूसरे दो मुनि भेजे और कहलवाया कि सघ की आज्ञा न मानने का क्या दण्ड आता है? भद्रबाहु ने कहा—"जो सघ की आज्ञा नही माने, उसे सघ से बहिष्कृत कर देना चाहिए। मै उक्त दण्ड का भागी हूँ। परन्तु कृपा करके सघ दृष्टिवाद के अभ्यासार्थ मेधावी मुनियो को यहा भेज दे, तो सघ की आज्ञा का पालन भी हो जाए, और उधर मेरी महाप्राण ध्यान की साधना भी क्रमश प्रगतिशील होती रहे। आगत मुनियो को मै प्रतिदिन सात वाचना देता रहूगा। एक वाचना गोचर चर्या के पश्चात् तीन वाचना तीनो काल-वेला मे और शेष तीन सध्या प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि मे। यदि सघ अभ्यासी मुनियो को न भेजना चाहे, ता म स्वय आने के लिए तैयार हू।' उक्त विनम्र उत्तर मिलने पर सघ ने स्थूलभद्र आदि ५०० साधुओ को भेजा। अन्य मुनि बीच-बीच मे अध्ययन से श्रान्त होते गए, आखिर मे स्थूलभद्र अकेले रह गए। स्थूलभद्र ने आठ वर्ष मे आठ पूर्वो का अध्ययन कर लिया। अन्त मे उनका भी उत्साह मन्द पडने लगा, तो भद्रबाहु के पूछने पर कहा कि "भगवन्! अभी और कितना अध्ययन शेष है।" भद्रबाहु ने कहा—"वत्स! तू अभी तक एक बिन्दु जितना पढ पाया है, समुद्र जितना अध्ययन शेष है।" महामुनि स्थूलभद्र अब जरा और सजग होकर अध्ययन करने लगे, दो वस्तु न्यून दशवे पूर्व तक पहुँच गए। परन्तु इससे आगे वे भी नही पढ सके। कथा-सूत्र है कि स्थूलभद्र ने १० पूर्व तक तो अर्थ सहित अध्ययन किया, और अग्रिम-चार पूर्व मात्र मूल ही पढ पाए, अर्थ नही। और भी कोई १४ पूर्व का सर्वार्थरूप से अध्ययन नही कर सका। अस्तु भद्रबाहु स्वामी ही अर्थ-सहित चौदह पूर्व के पूर्ण ज्ञाता, अन्तिम श्रुत केवली माने जाते है।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु स्वामी के अनन्य भक्त थे। डा० हर्मन जेकोबी, डा० राइश, डा० स्मिथ, डा० काशीप्रसाद जायसवाल प्रभृति विद्वान चन्द्रगुप्त को जेन सम्राट मानते है। प्राचीन प्राकृत ग्रथ तिलोयपण्णत्ति मे चन्द्रगुप्त के दीक्षित होने का उल्लेख भी है। सम्राट चन्द्रगुप्त के द्वारा देखे

गए १६ स्वप्ना का फल भद्रबाहु स्वामी के द्वारा बताया गया था, जिसम पचमकाल की भविष्य कालान स्थिति वणन है। उक्त अनुश्रुति श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परपरा म माय है।

कल्प सूत्र स्थाविरावली म भद्रबाहु स्वामी के चार प्रमुख शिष्यों का उल्लख है—स्थविर गोदास अग्निदत्त यज्ञदत्त और सोमदत्त। उक्त शिष्या म स गोदास की श्रमण चार शाखाए प्रारभ हुई— १ तामलित्तिया २ कोडी वरिसिया ३ पन्दवद्धणिया, और ४ दासी खब्बडिया। इसका अथ यह ह कि य श्रमण ताम्रलिप्ति (बगाल का तामलुक प्रदेश) कोटि वष, और पौण्ड्र वधन प्रदेश[1] (पहाडपुर) म अधिक विचरण करत रह। पहाडपुर स प्राप्त ताम्रपत्र भी वहाँ जन धम के प्रचार का प्रमाणित करता है। दासी ख बडिया एक विचित्र शब्द है इसका मूलाथ अभी विद्वानो का विचार दृष्टि म नहीं आ पाया है।

आचाय भद्रबाहु की पूर्वागत पट्ट परपरा क सम्बध म श्वेताम्बर दिगम्बर मायताए परस्पर अतर रखती है। श्वेताम्बर जम्बू स्वामी क पट्ट पर प्रभव शय्यभव यशाभद्र सभूति विजय क पश्चात् भद्रबाहु का मानत हैं। जब कि दिगम्बर परपरा जबू स्वामी के पश्चात् विष्णु नन्दी मित्र अपराजित, गोवद्धन और भद्रबाहु को स्वीकार करती है। दोन क्रम म भी अतर ह। श्वेताम्बर भद्रबाहु का कार सवत् १७० म स्वगगमन मानत है जब कि दिगम्बर वीर स० १६२ म। दोनो की कालगणना मे ८ वष का अतर है। कुछ विद्वान उपयुक्त पट्ट परपरा के अन्तर को महत्त्वपूण मान कर यह कल्पना करत हैं कि दिगबर श्वेताम्बर मतभेद का मूल जब स्वामी क बाद स ही पड गया था जो आग चल कर भद्रबाहु क युग म पल्लवित हुआ। परन्तु गहन विचार म यह केवल शिष्य परपरा का शाखाभेद हा मालूम होता है। यदि यह कोई वास्तविक भद जसा बात होता तो चार-चार आचार्यों क काल म बद्धमूल हुआ भेद भद्रबाहु क युग म सब एकाएक समाप्त होता और कस दोनो ही परपराए आचाय भद्रबाहु को पचम श्रुत केवली क रूप म एक स्वर स स्वीकार करता।

दुष्काल क समय भद्रबाहु साधु सघ क साथ दक्षिण म गए और वहा अनशन पूवक स्वगस्थ हुए। भद्रबाहु क साथ जान वाला मुनि सघ शुद्धाचारी रहा और वहा दिगबर परपरा का मूल स्रोत है। स्थूलभद्र मुनिसघ क साथ इधर पूव भारत म ही रह गए और दुष्काल के कारण क शिथिलाचारी हो गए। श्वेताम्बर परपरा का मूल इसी दूसर पक्ष म है। कुछ विद्वान उक्त चर्चा पर काफी ऊहा-पोह करत है, घूम फिर कर यही दिगम्बर श्वेताम्बर क मतभेद-सबन्धी बीज तलाश करत हैं परन्तु यदि उक्त चर्चा की गहराई म उतरा जाए तो कुछ उल्लखनीय सार नहीं मिलता। श्वेताम्बर हिमवत स्थविरावली म भद्रबाहु का स्वगवास कलिंग (उडीसा) म कुमारगिरि पर बताया है। दिगम्बर जनाचाय

---

[1] पौण्ड्र देश का एक अनाय देश क रूप म उल्लेख महाभारत म आता है। बगाल म बोगरा जिले क ई० बी० आर० नमासगज स्टेशन से ३ मील दूर पहाडपुर गांव है। इतिहासकार इसी को पौण्ड्र प्रदेश कहते हैं।

हरिषेण सूरी (विक्रम स० ६८९) अपने वृहत्कथाकोष[1] मे भद्रबाहु का स्वर्गवास, उज्जयिनी के पार्श्ववर्ती प्रदेश मे बताते है, दक्षिण मे नही। दिगम्बर ब्रह्मचारी नेमिदत्त जी भी उज्जायनी मे वटवृक्ष के नीचे भद्रबाहु के स्वर्गवासी होने का उल्लेख करते है।[2] श्रुत केवली भद्रबाहु का स्वर्गवास श्वेताम्बर वीर स० १७० मानने हे, और दिगम्बर १६२ मे, जब कि दिगबर आचार्य देवसेन वीर स० ६०६ मे दिगबर श्वेताम्बर मतभेद का होना बताते है, और श्वेताम्बर वीर स० ६०९ मे। श्वेताम्बर दिगबर मतभेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे केवल तीन वर्ष का ही अन्तर है, दोनो की मान्यताओ मे उक्त सदर्भ से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम भद्रबाहु दक्षिण मे नही गए, और न उनके युग मे कोई उल्लेखनीय श्वेताम्बर दिगबर मतभेद उत्पन्न हुआ। अस्तु श्रवण वेलगोला (चन्द्रगिरि) का भद्रबाहु सम्बन्धी शिलालेख, जो उनके दक्षिण आने की चर्चा करता है, प्रथम भद्रबाहु का न होकर द्वितीय भद्रबाहु का होना चाहिए। जैन सिद्धान्त भास्कर, किरण १ पृ० २५ मे भी दक्षिणापथ के यात्री भद्रबाहु को द्वितीय भद्रबाहु ही माना है, प्रथम नही। द्वितीय भद्रबाहु के पश्चात् ही श्वेताम्बर दिगबर मतभेद होने की मान्यता अधिक तर्क-सगत है।

भद्रबाहु स्वामी ने अपने जीवन के ४५ वे वर्ष मे आर्हती दीक्षा ग्रहण की। ६२ वे वर्ष मे युग प्रधान आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। भगवान् महावीर के १७० वर्ष के पश्चात् ७६ वर्ष के आयु मे स्वर्गवासी हुए।

भद्रबाहु जैन परपरा के क्षितिज पर सर्वत प्रकाशमान सूर्य है। क्या श्वेताम्बर और क्या दिगवर, उत्तरकालीन सभी आचार्य उनके श्री चरणो मे अखड भाव भक्ति के साथ श्रद्धा सुमन अर्पित करते आए है। महाकाल की कालिमा मे कभी न धूमिल होने वाली अद्भुत ज्ञान प्रभा, तत्कालीन दर्शनो का तलस्पर्शी परिशीलन, अनेकविध देश विदेश का मौलिक परिज्ञान, इतिहास का यथार्थवादी स्पष्ट दृष्टिकोण, जिन वाणी के प्रति अक्षुण्ण निष्ठा, आगम साहित्य के गूढार्थो की सरल एव गभीर व्याख्या-पद्धति, अनेकान्तवाद का तर्क प्रधान आगमलक्षी अनुचिन्तन, आचार-सहिता के उत्सर्ग और अपवाद मार्गो का युक्ति सगत विश्लेपण—उनका सब कुछ ऐसा निर्मल, उज्जवल और समुज्ज्वल है कि प्रतिभामूर्ति भद्रबाहु के चरणारविन्द मे हम सब का चित्त चचरीक आज भी कोटि-कोटि वन्दना के साथ सहसा श्रद्धावनत हो जाता है। आगम साहित्य के मर्मज्ञ व्याख्याता आचार्य मलयगिरि के शब्दो मे, समग्र जैन जगत् युगयुग तक उन्हे श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता रहेगा।

श्रीकल्पसूत्रममृत विबुधोपयोग-
योग्य जरामरणदारुण-दु खहारि ।
येनोद्धृत मतिमता मथितात् श्रुताब्धे.
श्रीभद्रबाहु--गुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥

—पिण्डनिर्युक्ति टीका

[1] कथा १३१, श्लो० ४३-४४

[2] आराधना कथा-कोष, कथा ६१, श्लो० २६-२७

८ आचार्य स्थूलभद्र

आचार्य भद्रबाहु के पट्ट पर महाप्रतापी कामविजेता स्थूलभद्र आसीन हुए। स्थूलभद्र जैन जगत का वह उज्ज्वल तेजोमूर्ति नक्षत्र है जिसकी प्रभा जन-जीवन पर आज भी आलोकित है। उनके जीवन रत्न का हर कोना अद्भुत है स्वर्णिम आभा से जगमगाता है। मंगलाचरण श्लोकों में भगवान महावीर और गौतम के बाद तृतीय मंगल के रूप में स्थूलभद्र का उल्लेख उनकी गौरव गरिमा का द्योतक चिह्न है।

मगध की विश्व विश्रुत राजधानी पाटलीपुत्र! नन्द साम्राज्य का वैभव अंतिम कोटि पर! सोने की नौ-नौ पहाड़ियां खड़ी कर दी गईं इतनी विपुल धनराशि! गौतम गोत्रीय ब्राह्मण शकटार इसी नन्द साम्राज्य के महामंत्री थे। चतुर मेधावी और सुदक्ष राजनीतिज्ञ जब तक रहे नन्द साम्राज्य की विजय पताका कौशल अवन्ती वत्स अंग और लिच्छवीगण राज्यों पर सुदूर एवं सुदीर्घ भू मंडल पर फहराती रही। आपके दो पुत्र थे। बड़े स्थूलभद्र और छोटे श्रीयक। यक्षा आदि सात पुत्रियां थीं जिनकी स्मरण शक्ति की चमत्कारपूर्ण गाथाएं जैन साहित्य में अंकित हैं।

स्थूलभद्र सहृदय भावुक तरुण। यौवन के द्वार पर पहुंचा तो बहक गया। उस युग की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कोशा वेश्या के रूप-जाल में बंध गया। कोशा के विलास मन्दिर में गया, तो बारह वर्ष लंबा काल यों ही क्षण जैसा बीतता चला गया, घर नहीं लौटा। तत्कालीन महापंडित वररुचि का षड्यंत्र शकटाल की अपने ही पुत्र श्रीयक के हाथों रहस्यमय मृत्यु! स्थूलभद्र के समक्ष नन्द साम्राज्य के महामंत्री पद को ग्रहण करने की अभ्यर्थना। किन्तु पितृ वियोग से एक ही झटके में सहसा वैराग्य का निर्मल स्रोत फूट पड़ा और स्थूलभद्र आचार्य संभूतिविजय के चरणों में दीक्षित हो गए।

जीवन नाटक का दूसरा पर्दा उठता है। प्रथम वर्षा-वास (चातुर्मास) का आगमन। सब मुनि अपने-अपने संकल्पित स्थानों की आज्ञा ले रहे हैं। एक सिंह गुफा में अखण्ड उपवास पूर्वक चातुर्मास करने की आज्ञा लेकर चला, तो दूसरा दृष्टि विष सर्प की बांबी पर और तीसरा कुए के कोठे पर चार मास का दीर्घ तप स्वीकार कर कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रस्तर प्रतिमा की भांति निश्चेष्ट खड़ा हो गया। स्थूलभद्र ने गुरुदेव से कोशा वेश्या के यहां वचन पूर्ति के लिए वर्षावास की आज्ञा ली। श्रुतकेवली संभूति विजय के ज्ञान-दर्पण में भविष्य झलक गया— वत्स! तुम्हारा यह महाभिनिष्क्रमण विश्व इतिहास की अमर घटना होगी। कामदेव के दुर्जय दुर्ग में जाकर भी काम को जीतना अक्षत लौट आना वस्तुतः असाधारण चमत्कार है। हृदय के कण-कण का आशीर्वाद है— जाओ विजयी होकर लौटो भविष्य के साधकों के लिए ज्वलन्त आदर्श उपस्थित करो —गुरुदेव के श्री मुख से अन्तर्भावों की निर्मल विचार-गंगा बह निकली।

कोशा वेश्या की चित्रशाला चित्रशाला क्या कामदेव का साक्षात् मधुशाला! सब ओर कण-कण में मादक वासना का उद्दाम प्रवाह एक से एक बढ़कर कामोत्तेजक चित्रों की शृंखला। कोशा स्वर्गलोक से उतरी हुई मानों अप्सरा! नीलगगन में उमड़ती घुमड़ती काली घटाएं वर्षा का सुहावना शीतल बयार।

कोशा का सगीत-कला की चिर-साधना से मँजा-निखरा गान और नृत्य, ऐसा कि एक वार तो जड पत्थर भी द्रवित हो जाए—ठुनक जाए ! परन्तु स्थूल भद्र पद्मासन लगाए ध्यान मुद्रा मे अन्तर्लीन ! तन, मन दोनो ही अचल, अकम्प ! आत्मदर्शन के अतिरिक्त "सर्वं शून्य-शून्य क्षणिक-क्षणिकम् ।" स्वरूप चिन्तन की अन्तर्वीणा के हजार-हजार, लाख-लाख, कोटि-कोटि तार झकृत हैं। अन्तर मे चल रहे सगीत के महास्वर मे आखिरकार वाहर के सगीत का क्षीण-कण्ठ डूब गया, निर्माल्य हो गया। कोशा आत्म-प्रतिवोध की आध्यात्मिक जागरण की भूमिका मे, स्थूलभद्र के आदेश का जादू काम कर गया। कोशा जैसी वेश्या भी भगवान महावीर के चतुर्विध सघ मे, एक श्राविका के रूप मे सम्मिलित हो गई।

वर्षावास की मर्यादा पूर्ण होने पर मुनि लौट आए। गुरु ने प्रथम तीनो का "दुष्करकारक" तपस्वी के रूप मे स्वागत किया। परन्तु जव स्थूलभद्र लौटे, तो गुरुदेव खडे हो गए। आठ मात कदम सम्मुख गए, हर्ष गद्गद वाचा मे "दुष्कर-दुष्कर कारक" तपस्वी कहकर उनका भावभीना स्वागत किया। सिंह गुफावासी मुनि क्षुब्ध ! गुरुदेव ने समझाया, ब्रह्मचर्य की दुष्करता का सजीव चित्र खीचकर प्रतिबोध दिया। परन्तु आवेश, आवेश है। यह कभी कभी निरकुश पागल हाथी हो जाता है। दूसरे वर्ष चातुर्मास करने के लिए सिंह गुफावासी, कोशा-सिहनी की गुफा मे। परीक्षा के लिए प्रयुक्त नृत्य गान की एक ही चोट से घायल, व्रत भग के लिए प्रस्तुत। कोशा ने धर्म रक्षा के लिए मार्ग वदला। नैपाल नरेश के यहा से रत्न कम्वल की माग। भान भूला हुआ साधु चातुर्मास मे नैपाल पहुँचता है। रत्न कम्वल लाता है। मार्ग मे चोरो द्वारा पकडा जाता है—पिटता है, वडी कठिनाई से छुटकारा पाकर पाटली पुत्र वापस लौटता है। कोशा को रत्न कम्वल देता है, परन्तु कोशा रत्न कम्वल लेकर गन्दे पानी की नाली मे फैंक देती है। "यह क्या" ? साधु क्रोध की भाषा मे गर्जता है—"कठोर परिश्रम से प्राप्त बहुमूल्य रत्न कम्वल को कही यो नाली मे फैंका जाता है ?" कोशा का एक ही छोटा सा उत्तर है—"क्या आपके सयम रूपी अनमोल चिन्तामणि रत्न से भी यह कपडे का चिथडा रत्न कम्वल अधिक मूल्यवान है ? कामवासना की क्षणिक तृप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का भग, क्या यह अनमोल ब्रह्मचर्य रत्न को गन्दी नाली मे डालना नही है ?" कोशा का यह उपक्रम और उपसहार का काम कर गया। सिंह गुफावासी सिंह से शृगाल बनते-बनते रह गए। गुरुचरणो मे पहुँचकर आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण और फिर वही कठोर साधना, तप एव त्याग !

स्थूलभद्र के जीवन-प्रासाद का यह कक्ष वहुत ही सुन्दर है, मनोहारी है। ससार-वासना ज्यो ही किसी साधक के हृदय को गुदगुदाए, त्यो ही यदि जागृत साधक काम विजेता स्थूलभद्र को स्मरण कर लेता है, तो अवश्य ही वह काम-विजेता हो सकता है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश और अन्य राष्ट्र-भाषाओ मे स्थूलभद्र का जीवन वृत्त शत-शत धाराओ से प्रवहमान होता आया है, महोपाध्याय धर्मसागर गणी द्वारा उद्धृत शब्दावली मे, हम भी, श्री स्थूलभद्र के चरणकमलो मे नतमस्तक होते है—

श्रीनेमितोऽपि शकटालसुत विचार्य,
मन्यामहे वयमम् भटमेकमेव ।

पूर्व इतिवृत्त

देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिघाय मोह,
यन्मोहनालयमय तु यमी प्रविश्य ॥

स्थूलभद्र एक ऊँचे साधक ही नहीं वस्तुत बडे प्रभावशाली ज्ञानी भी थे। पाटलिपुत्र की प्रथम आगम-वाचना में आचाराग आदि ११ अगो का सकलन उनकी ही अध्यक्षता में हुआ था। दृष्टिवाद के अध्ययन में भी वही अग्रगामी थे। नेपाल में जाकर भद्रबाहुस्वामी से इन्होंने महासमुद्र के समान सुविस्तृत विराट १० पूर्वों का सार्थ अध्ययन किया था और सूत्र रूप में तो चौदह ही पूर्व अधिगत कर लिए थे।

स्थूलभद्र योग विद्या के भी आचार्य थे। अनुश्रुति है कि एक बार यक्षा आदि उनकी सात बहनें जो साध्वी हो चुकी थीं दर्शनार्थ जीर्णोद्यान में पहुँची। स्थूलभद्र ने चमत्कार दिखाया विकराल सिंह का रूप धारण करके बैठ गए। बहनें डर कर लौट गई। पता लगने पर भद्रबाहुस्वामी ने आगे का अध्ययन यह सूचना देते हुए बंद कर दिया कि— वत्स! अभी तक तुम बहुत ही नगण्य अध्ययन कर पाए हो। यदि तुम इतना भी अपने अन्दर पचा नहीं सके सिंह विद्या का चमत्कार दिखाने लगे तो अग्रिम ज्ञान राशि को कैसे पचा पाओगे। कथासूत्र का उल्लेख है कि स्थूलभद्र का अध्ययन बौद्धिक दुर्बलता के कारण नहीं किन्तु इस कारण से अवरुद्ध हो गया और वह अग्रिम चार पूर्व सार्थ अध्ययन नहीं कर पाए। स्थूलभद्र के पश्चात् पूर्वों का ज्ञान उत्तरोत्तर विलुप्त होता चला गया। उन जैसा मेधावी बहुश्रुत भविष्य में और कोई नहीं हुआ।

स्थूलभद्र के युग में उनकी यक्षा आदि बहनों के द्वारा चूलिका सूत्रों के रूप में आगम साहित्य की श्री वृद्धि हुई। चार चूलिकाओं में से भावना और विमुक्ति आचाराग सूत्र के तथा रतिवाक्या और विविक्त चर्या दशवैकालिक सूत्र के परिशिष्ट रूप में जोड़ दी गई जो आज भी साधना-जीवन में प्रकाश किरणें विकीर्ण कर रही हैं।

स्थूलभद्र ने श्रावस्ती के धनदेव श्रेष्ठी को जैन धर्म में दीक्षित किया। आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती आप के प्रधान श्रमण शिष्य थे। स्थूलभद्र दीर्घायु थे। आपके युग में मगध में राज्य क्रान्ति हुई नन्द साम्राज्य का उच्छेद और मौर्य साम्राज्य की स्थापना। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त बिन्दुसार अशोक और कुणाल भी आपके समय थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र का निर्माता महामन्त्री चाणक्य भी आपके दर्शन लाभ से गौरवान्वित हुआ है। परिशिष्ट पर्व मरणसमाधि और सस्तारपइन्ना आदि में चाणक्य के दीक्षित होने का और अंतिम समय में बिन्दुसार के अमात्य सुबन्धु मन्त्री द्वारा ईर्ष्यावश जलाए जाने पर भी समाधि पूर्वक मरकर देवलोक में जाने का उल्लेख है। वीर स० २१४ में होने वाला आषाढ भूति शिष्य तीसरा अव्यक्तवादी निन्हव भी स्थूलभद्र के समय में हुआ।

वीर नि० सं० ११६ में स्थूलभद्र का जन्म १४६ में ३० वर्ष की आयु में दीक्षा १६० के लगभग पाटलीपुत्र में प्रथम आगम वाचना १६८ के लगभग चूलिका सहित आगमसंकलन प्रतिष्ठा १७० में आचार्य पद और वीर स०२१५ में वैभारगिरि पर्वत पर १५ दिन का अनशन करके स्वर्गारोहण हुआ।

९-१०. आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती

आर्य महागिरि और सुहस्ती अपने युग के परम प्रभावक युग-पुरुष थे। आर्य स्थूलभद्र जी के शिष्य रत्न और पट्टधर। बाल्यकाल मे स्थूलभद्र जी की बहन यक्षा साध्वी द्वारा मूलत प्रतिबुद्ध हुए थे। दोनो की आयु मे लगभग ४५ वर्ष जितना अन्तर पडता है। दोनो ही आचार्य सर्वश्रेष्ठ, मेधावी, बहुश्रुत, त्यागी और सयमी थे। अत्यन्त निष्ठा के साथ ११ अग और १० पूर्व तक का कण्ठस्थ अध्ययन दोनो ही आचार्यो ने किया था।

आर्य महागिरि साधनापथ के उग्र यात्री थे। आपने जम्बू स्वामी के युग से विच्छिन्न जिनकल्प जैसी कठोर साधना अपनाई और आर्य सुहस्ती को सघ का नेतृत्व सौंपकर एकान्त वनवासी बन गए। आर्य सुहस्ती स्थविरकल्पी रहे और विशेषत' नगर एव ग्राम वसतियो मे ही उनका निवास रहा।

एक बार दोनो आचार्य कौशाम्बी मे गए और वहाँ दुष्काल से पीडित एक द्रमक (भिखारी) को दीक्षा दी। कथाकार कहते हैं कि यही द्रमक कुणालपुत्र सम्प्रति हुआ। अवन्ती (उज्जयिनी) नगरी मे आर्य सुहस्ती को देखकर युवराज सम्प्रति को जातिस्मरण हुआ और उनका उपदेश श्रवण कर जैनधर्मा-वलम्बी बना। सम्प्रति बडा ही दयालु और भद्र प्रकृति का नरेश था। दरिद्र जनता के हितार्थ ७०० दानशालाएँ खोली और मुक्त मन से दीन दुखी निराधार लोगो के लिए राज-कोष अर्पण कर दिया। सम्प्रति, जैन धर्म का द्वितीय अशोक है। बृहत्कल्प सूत्र के भाष्य मे लिखा है कि सम्प्रति ने साधुवेश मे अपने समर्थ अधिकारी पुरुषो को भेजकर आन्ध्र आदि सुदूर प्रदेशो मे जैन धर्म का प्रचार किया।[1]

आर्य महागिरि और सुहस्ती की शिष्य-परम्परा बहुत विशाल थी। आर्य महागिरि के शिष्य-समूह से कौशाम्बी, चन्द्र नागरी आदि अनेक शाखाएँ प्रचलित हुई। आर्य महागिरि के शिष्य कौशिक गोत्रीय रोहगुप्त ने त्रैराशिक निन्हवमत का प्रचलन किया। रोहगुप्त साक्षात् शिष्य नही, किन्तु परम्परा-शिष्य प्रतिभासित होता है, क्योकि उसका काल वीर सवत् ५४४ निर्दिष्ट है।

समयसुन्दरगणी कल्प-सूत्र की कल्प लता-टीका मे इसी को कल्पसूत्र वर्णित षडलूक और कौशिक विशेषणो के कारण वैशेषिक मत का प्रवर्तक भी कहते हैं।

आर्य महागिरि का वीर स० १४५ मे जन्म, १७५ मे दीक्षा, २१५ मे आचार्य पद और २४५ मे १०० वर्ष की आयु पूर्ण कर दशार्ण (मालव-मन्दसौर प्रदेश) देश के गजेन्द्रपदतीर्थ मे स्वर्ग गमन हुआ।

आर्य सुहस्ती के भी आर्य रोहण, यशोभद्र, मेघ, कामर्धि, सुस्थित और सुप्रतिबद्ध आदि अनेक शिष्य थे, जिनसे उदिज्जिया, भद्दज्जिया, काकदिया, विज्जाहरी, बभदीविया आदि अनेक गण और कुलो

---

[1] बृहत्कल्पभाष्य १, ५० गा० ३२७५ से ३२८९

का प्रारम्भ हुआ । आय रोहण क उद्दह गण और नागभूत कुल का एक शिलालेख, कनिष्क स० ७ का प्राप्त हुआ है जो उक्त गण एव कुना की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालता है ।

आय सुहस्ती से गणवश, वाचकवश और युग प्रधानवश—तीन श्रमण परपराए प्रचलित हुइ । गणधर-वश गच्छाचायपरपरा है, वाचकवश विद्यागुरुपरपरा है और युगप्रधान विभिन्न गण एव कुलो क प्रभावशाली आचार्यों की क्रमागत परपरा है ।

आय सुहस्ती का वीर स० १९१ म जन्म २१५ म दीक्षा २४५ म युग प्रधान आचायपद और २९१ म १०० वप की आयु पूण कर उज्जयिनी म स्वगवास हुआ ।

११ १२ आय सुस्थित और आय सुप्रतिबद्ध

आय सुहस्ती क उपर्युक्त दोना ही शिष्य युग प्रभावक आचाय थे । कल्प सूत्र स्थविरावली में दोना का साथ-साथ उल्लख है और दोना के ही एक पट्टधर इन्द्र दिन्न शिष्य का होना बताया है । दोना क लिए काटिक-काकदक विशेषण हैं । दोनो काकदी नगरी के रहने वाले राजकुल म उत्पन्न हुए व्याघ्रापत्य गोत्रीय सग भाई थ । दोना आचार्यों ने भुवनश्वर (उडीसा) क निकट कुमारगिरि पवत पर कठोर तपश्चरण किया । आय सुस्थित गच्छनायक थ, तो आय सुप्रतिबद्ध वाचनाचाय । हिमवन्त स्थविरावली क अनुसार इनक युग म भी कुमारगिरि पवत पर एक लघु श्रमण सम्मेलन हुआ था और द्वितीय आगम वाचना का सूत्रपात । कलिंग (उडीसा) म उस समय वशाली गणतन्त्र के अधिनायक राजा चेटक के सुपुत्र शोभनराज का जो पिता की मत्यु के बाद कलिंग चल आए थ राजवश का शासन चल रहा था । हिमवन्त स्थविरावली क मतानुसार इसी वश म आगे चलकर यवन विजता महामेघवाहन खारवल हुए जो सम्राट भिक्षुराज क नाम से सुप्रसिद्ध थे शुद्ध जन धर्मावलबी और प्रजापालक नरेश । इन्हान कुमारगिरि (भुवनश्वर निकटवर्ती उदयगिरि) पर अनेक जन गुफाओ का निमाण कराया । हाथी गुफा म ब्राह्मीलिपि म अंकित मागधी भाषा का शिलालेख, आज भी खारवल की दिग्दिगन्तव्यापिनी कीर्ति-गाथा का उद्घोष कर रहा है । उदयगिरि की गुफाओ का वातावरण बडा ही शान्त भव्य और अलौकिक है । सन् १९६२ में इन पक्तियो का लेखक कुछ समय गुफाओ म रहा है ध्यान साधना की है । अद्भुत शान्ति निश्चल एकाग्रता और चिज्ज्योति की विलक्षण अनुभूति । आज भी वह सब स्मृति को गुदगुदा जाता है ।

आचाय सुस्थित ३१ वप गृहस्थ दशा म १७ वप सामान्य व्रत-पर्याय म और ४८ वप आचाय पद म रहकर ९६ वप का सर्वायु पूण कर वीर स० ३३९ म कुमारगिरि पवत पर स्वर्गवासी हुए ।

१३ आय इन्द्र दिन्न

आचाय इन्द्रदिन्न का सस्कृत रूपान्तर इन्द्रदत्त होता है । आप कौशिक गोत्री ब्राह्मण थे । आपका विशेष परिचय उपलब्ध नही है । आपके गुरुभ्राता आय प्रियग्रन्थ महाप्रभावक मुनि हुए हैं चित्तौड म

पास माध्यमिका, जो कालान्तर मे हर्षपुर के रूप मे परिवर्तित हो गई, अपने युग की सुप्रसिद्ध नगरी है। आर्य प्रिय ग्रन्थ ने हर्षपुर मे होने वाले अजमेध का निवारण किया और ब्राह्मण विद्वानो को अहिंसा धर्म की शिक्षा दी।

१४ आर्य दिन्न (दत्त)

आचार्य इन्द्रदत्त सूरी के पट्ट पर गौतम गोत्री आर्य दिन्न आसीन हुए। आपके सम्बन्ध मे भी विशिष्ट जानकारी नही मिलती है। आपके शिष्य-मडल मे दो प्रमुख मुनिराज है—आर्य शान्तिश्रेणिक और आर्य सिहगिरि।

आर्य शान्तिश्रेणिक के शिष्य समूह ने उनका नागर, सेणिया, तापसी आदि शाखाओ का विकास हुआ। उच्चानागर[1] शाखा मे ही तत्त्वार्थ सूत्र के प्रणेता आचार्य उमास्वाति हुए है, जो जैन साहित्य के इतिहास मे सर्वप्रथम दर्शन-शैली के सूत्रकार माने जाते है। आर्य दिन्नसूरी ने दक्षिण मे कर्नाटक पर्यन्त सुदूर प्रदेशो मे विहार करके धर्म प्रचार किया था। आपके ही युग मे थोडे बहुत आगे-पीछे आर्यकालक, आर्य खपुटाचार्य, इन्द्रदेव, श्रमणसिह, वृद्धवादी और सिद्धसेन प्रभृति और महान् आचार्यो का होना माना जाता है।

आर्य कालक के नाम से चार आचार्य प्रसिद्ध है। श्यामाचार्य प्रथम कालक है, जिन्होने प्रज्ञापना सूत्र की रचना की। आप द्रव्यानुयोग के प्रकाण्ड ज्ञाता एव व्याख्याता थे। अनुश्रुति है कि सौधर्मेन्द्र ने महाविदेह क्षेत्र मे सीमन्धर स्वामी से निगोद का वर्णन सुना और जब उनके कथनानुसार भरत क्षेत्र मे कालकाचार्य के पास आए तो उनसे भी ठीक वैसा ही वर्णन सुनने को मिला। प्रभावक चरित्र के उल्लेखा-नुसार प्रथम कालकाचार्य युग प्रधान गुणाकर (आचार्य मेघगणी) सूरि के शिष्य थे। आपका वीर स० २८० मे जन्म, ३०० मे दीक्षा, ३३५ मे युग प्रधान पद और ३७६ मे स्वर्ग गमन हुआ।

द्वितीय कालकाचार्य आर्य दिन्न सूरी के आस-पास हुए है। जन्म स्थान धारा नगर, राजावीरसिह पिता, सुरसुन्दरी माता और सरस्वती छोटी बहन। भाई, बहन दोनो ने आर्हती दीक्षा धारण की। यह वही कालकाचार्य है, जो उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजा द्वारा सरस्वती का अपहरण करने पर, उसके साम्राज्य का शको द्वारा उच्छेद कराने वाले माने जाते है। ये सिन्धु नदी को पार करके फारस (ईरान) देश मे भी गए थे। सुवर्णभूमि अर्थात् बर्मा या सुमात्रा जाने का भी उल्लेख है। इन्ही के भानजे राजा बलमित्र और भानुमित्र है, जिन्होने शको को पराजित करके भारतीय स्वतत्रता की पताका को पुन दोधूयमान किया। कुछ इतिहासकार बलमित्र भानुमित्र, को ही प्रसिद्ध विक्रम सवत् के प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य मानते है।

यह द्वितीय कालकाचार्य ही राजा बलमित्र की बहन भानुश्री के पुत्र बलभानु को दीक्षा देने के कारण उज्जयिनी के चातुर्मास मे विहार कर दक्षिण आन्ध्र मे प्रतिष्ठानपुर गए, जहाँ के राजा

---

[1] उत्तर प्रदेश मे बुलन्दशहर का मुगल काल से पहले ऊँचा नगर नाम था। कुछ विद्वानो का अभिमत है कि यह ऊँचा नगर ही उच्चानागर शाखा से सम्बन्धित है।

सातवाहन जनधमावलम्बी थ। यहा पहुँचकर आय कालक न भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पयुषण पव की अराधना की। इसका समय वीर स० ४५८ माना जाता है।

१५ आय सिंहगिरि

आचाय सिंहगिरि क जावन क सम्बन्ध म विशिष्ट सामग्री प्राप्त नहा है। कल्प सूत्र स्थविरावली म इन्हें जातिस्मरण कहा है अथात इह अपन पूव जम का स्मरण था। आप कौशिक गोत्री ब्राह्मण थ। आपके चार प्रमुख शिष्य हुए ह—आय समित आय धनगिरि आय वज्र स्वामी और आय अहद्दत्त।

आय समित (वीर स० ५८४) का जन्म स्थान अवन्ती देश (मालव) का तुम्बवन ग्राम है। पिता का नाम धनपाल है जाति स वैश्य है। आपकी बहन सुनन्दा का विवाह तुम्बवन मे ही धनगिरि से हुआ था। आय समित बडे ही तपस्वी एव योगनिष्ठ साधक थ। आभीर देश क अचलपुर ग्राम म इन्होंने कृष्णा और पूर्णा नदियों का योगबल स पार कर ब्रह्मद्वीपीय पाच सौ तापसों को चमत्कृत किया और उन्ह अपना शिष्य बनाया। दशनविजय जी क मतानुसार यह घटना उत्तर प्रदेश मेरठ जिले म वतमान कृष्णा और हिण्डौन नदियों क बीच बरनावा के टापू म घटित हुई थी।

१६ आय वज्रस्वामी

गौतमगोत्री आय वज्र आय समित क भानज होते ह। पूव कथनानुसार आय समित की बहन सुनन्दा का धनगिरि स विवाह हुआ था। सुनन्दा गभवती थी कि धनगिरि अपन साले समित क साथ आय सिंह गिरि क पास दीक्षित हो गए। पश्चात सुनन्दा न अत्यन्त तजस्वी पुत्र को जन्म दिया यही वज्र हैं। वज्र छह महीने क ही थ कि एक बार धनगिरि भिक्षाथ सुनन्दा के यहाँ पहुँच। ज्यो ही भिक्षा के लिए पात्र आग रखा कि सुनन्दा न आवश म बालक को पात्र म डाल दिया और कहा कि 'आप गए तो इस यहाँ क्यों छोड दिया ? इसको भी ले जाएँ। धनगिरि न समझान का प्रयत्न किया किन्तु वह न समझी। आखिर वज्र को पात्र म लिए गुरुदेव सिंहगिरि के पास पहुँचे। वज्र का श्राविका के यहाँ पालन पोषण होन लगा। कुछ वयस्क होन पर श्राविकाए उपाश्रय म जाती तो साथ ल जाती। होनहार बालक ध्यानपूवक शास्त्र श्रवण करता और उसक हृदय म वराग्य का रस धारा बह जाती। आपको जातिस्मरण ज्ञान भी हो गया था। दीक्षा योग्य होन पर आय सिंहगिरि न वज्र को मुनि दीक्षा द दी। आचाय शिष्यों को आगम वाचना दत तो वह पास बठा सुनता। अपूव मेधा शक्ति थी कि श्रवण मात्र म उसे सब आगम कण्ठस्थ होत चल गए। आय सिंहगिरि न वज्र को वाचनाचाय बना दिया। आय वज्र न दशपुर (मन्दसौर) म आचाय भद्रगुप्त के पास दशपूव का अध्ययन किया। वज्र स्वामी अन्तिम दशपूवधर थ। उनक पश्चात अन्य कोई दशपूर्वी नहा हुआ। कहा जाता है—आपक बाद अध वज्रऋषभ नाराचसहनन का भी विच्छेद हो गया। आपक नाम पर वज्र शाखा प्रारभ हुई।

अवन्ती म जभक देवो न आहार शुद्धि क लिए परीक्षा ली वज्र खरे उतरे। पाटलीपुत्र क धनकुबर धनदेव की पुत्री रुक्मिणा को जो आपके अद्भुत रूप सौन्दय पर मुग्ध हो गई था आपन उप

देश देकर साध्वी बनाया। धनदेव श्रेष्ठी करोड़ो की सम्पत्ति, अनुपम रूपवती पुत्री के विवाह के साथ देना चाहता था, परन्तु स्वरूप साधना के अनन्त पथ का यात्री इन मोहक प्रलोभनो मे कब और कहाँ रुका है ? आप आकाश-गामिनी विद्या के भी ज्ञाता थे। एक बार उत्तर भारत मे भयकर दुर्भिक्ष पडा, तो आप श्रमण-सघ को विद्या के बल पर कलिंग प्रदेश मे ले गए थे। जैन अनुश्रुतियो मे आपके चमत्कारो की अनेक गाथाएँ प्रचलित है।

वज्र स्वामी की शाखा मे वज्र नाम के अनेक आचार्य हुए है। प्राय सबके सब प्रभावशाली, दार्शनिक, भविष्यद्रष्टा और युग-पुरुष। चीनी यात्री हुएनत्साग (६४६ ई०) को भी, जब वह नालन्दा मे वापस चीन लौटने की चिन्ता मे थे, असहाय थे, तत्कालीन जैनाचार्य वज्रस्वामी ने चमत्कृत कर दिया था। उन्होन बताया था कि असम के राजा कुमार और कान्यकुब्ज नरेश श्रीहर्ष आपकी सहायता करेंगे। कुमार का दूत तुम्हे बुलाने के लिए वहाँ से चल भी पडा है। वज्र स्वामी की सभी भविष्य वाणिया शत प्रतिशत प्रमाणित हुई, जिसका उल्लेख स्वय हुएनत्साग ने अपनी भारतयात्रा सम्बन्धी चीनी पुस्तक मे किया है, और उन्हे सुप्रसिद्ध भविष्यद्रष्टा बताया है। राजगृह के वैभारगिरि पर्वत की दक्षिणाभिमुख स्वर्ण भडार गुफा मे ईसा की चौथी शती का एक अभिलेख है, जो अन्य किसी वज्रस्वामी से सम्बन्धित है। यह गुफा वज्रस्वामी का साधना स्थान है, अत्यन्त सुरम्य और भव्य। चट्टान को काट कर एक विशाल भवन का रूप दे दिया गया है। इन पक्तियो के लेखक ने भी राजगृह के गत वर्षावास मे अनेक दिन और रात्रियाँ उक्त गुफा मे बिताई हे। अब भी वहाँ कुछ ऐसा है कि साधना के निर्मल क्षणो मे हृदय के कण-कण से शान्त-रस का अमृत निर्झर बहने लगता है।

वज्रशाखा के प्रवर्तक आर्य वज्रस्वामी वास्तव मे अलौकिक महापुरुष थे।[1] उनका अलौकिकत्व उनकी शिष्य परम्परा मे चिरकाल तक उद्भासित रहा। यह तेजोमूर्ति सूर्य जब अस्ताचल की ओर था, तब एक और भयकर दुष्काल पडा। अपने प्रमुख शिष्य वज्रसेन को साधुसघ के साथ सुभिक्ष प्रधान सोपारक एव कोकण प्रदेश मे भेज दिया और स्वय दक्षिण के रथावर्त पर्वत पर अनशन कर दिवगत हुए। कुछ विद्वान इन्हे ही द्वितीय भद्रबाहु कहते है और इन्ही के शिष्य वज्रसेन के युग मे श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेदो ने शाखा भेद का रूप लिया।

वज्र स्वामी के जन्म, दीक्षा आदि का समय इस प्रकार माना जाता है—

जन्म	—	वीर नि० स०	४९६ (३१ ई० पू०)
दीक्षा	—	,, ,, ,,	५०४ (२३ ई० पू०)
आचार्यकाल	—	,, ,, ,,	३६ वर्ष
स्वर्गवास	—	,, ,, ,,	५८४ (५७ ई०)

---

[1] दिगम्बर हरिवशपुराण (१,३३) मे वज्रर्षि और त्रिलोयपण्णत्ति मे वज्रयशा के नाम से जिन यशस्वी आचार्य का उल्लेख है, सभवत वे यही वज्रस्वामी हो।

१७ आय वज्रसेन

आय वज्र स्वामी क पट्टधर वज्रसेन हैं । वज्रसेन का जम वीर स० ४९२ दीक्षा ५०१ आचायत्व ५८४ और स्वगवास ६२० म १२८ वष की आयु म हुआ । कल्पसूत्र स्थविरावली म, इह वज्र स्वामी का शिष्य बताया है परन्तु यह वज्र स्वामी से दीक्षा म बड है । अत उनक शिष्य कस हो सकते है ? यह प्रश्न उलझ जाता है । और साथ ही इह कल्पसूत्र स्थविरावली की आचाय परपरा म भी नहीं गिना है जब कि नागोरी लोकागच्छीय हस्तलिखित पटटावली म इह आय वज्र का पटटधर माना है । श्रीदशन विजयजी भी इह आय वज्र का उत्तराधिकारी मानते हैं और शिष्य भी । आपने नागेन्द्र चन्द्र निवृत्ति और विद्याधर नामक प्रमुख शिष्यो से जो परस्पर सहोदर बधु थ वीर स० ६०६ के आस पास अपने स्वय क नाम पर चार कुलो का विस्तार हुआ ।[१]

आय वज्रसेन के युग म भी द्वादश वर्षीय भयकर दुष्काल पडा । कथाग्रथ कहते है कि इतना भयकर दुष्काल था कि निर्दोष भिक्षा न मिलन क कारण ७८४ साधु अनशन करक परलोकवासी हो गए । जिनदास श्रेष्ठी न एक लाख स्वण मुद्राओ म एक अजलि अन्न खरीदा और उसमे विष मिलाकर समस्त परिवार सहित मरने जा रहा था कि आचाय वज्रसन न शीघ्र ही सुभिक्ष होने की घोषणा करके सबकी प्राण रक्षा की । अगले दिन अन्न से भरे हुए जहाज समुद्र तट पर आ लगे और जिनदास न सब अन्न खरीदकर सवसाधारण म बिना मूल्य वितरण करना प्रारभ किया । कुछ समय पश्चात् वर्षा भी हो गई और दुर्भिक्ष के प्राणहारी सकट से देश का उद्धार हो गया । यह दयामूर्ति श्रेष्ठी अपनी समस्त सम्पत्ति जनकल्याणाथ अपण कर अत म अपने नागेन्द्रचन्द्र आदि चार पुत्रो के साथ आचाय वज्रसेन के चरणो म दीक्षित हो गया ।

आय वज्रसेन अपने युग के महान तेजस्वी देशकालज्ञ ज्योतिधर महापुरुष थे । आपने दुष्काल क पश्चात शीघ्र ही श्रमण-सघ की छिन्न छिन्न बिखरी कडियो को नए सिर से जोडा और निर्जीव प्राय धम चेतना को पुन प्राणवती बनाया ।

---

[१] प्रभावकचरित्र और पटटावलियों क अनुसार नागेन्द्र कुल मे वलभी वाचनाकार नागाजुन, पउम चरिय के कर्त्ता विमल, गुजरेश्वर वनराज चावडा क गुरु शीलगुणसूरी, महामात्य वस्तुपाल क गुरु विजयसेन आदि प्रभावशाली आचाय हुए हैं ।

चन्द्रकुल मे उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार वादिवेताल शान्ति सूरी नवागी वृत्तिकार अभयदेव सूरी आदि प्रमुख हैं ।

निवृत्तिकुल मे आचाय गर्गाषि, सूराचाय सिद्धर्षि और शीलांक आदि प्रसिद्ध हैं ।

विद्याधर कुल मे आचाय पादलिप्तसूरी नागहस्ती, कालक, वृद्धवादी, सिद्धसेन दिवाकर आदि महान् आचार्यो की परपरा है ।

आर्य धर्म के प्रमुख शिष्यो मे आर्य स्कन्दिल और आर्य जम्बू का उल्लेख मिलता है। आर्य स्कन्दिल युग प्रधान आचार्य है। आप मथुरा के निवासी थे, मूल नाम सोमरथ था, आर्यसिंह के उपदेश से वैराग्य हुआ और आर्य धर्म से दीक्षा ग्रहण की। ब्रह्म द्वीपिका शाखा के वाचनाचार्य आर्यसिंह सूरी के पास आगम और पूर्वो का अध्ययनकर वाचक पद प्राप्त किया। युग-प्रधान यत्र के आधार पर आपका वाचनाचार्यकाल वीर स०८२६ माना गया है। आपके समय भारतवर्ष विचित्र स्थिति मे गुजर रहा था। जैन बौद्ध और वैदिक धर्मो के सघर्ष ने विकट रूप धारण कर लिया था। खास कर सौराष्ट्र मे। भारत मे हूणो और गुप्तो का भयकर युद्ध हुआ और द्वादशवर्षी दुष्काल भी पडा। फलस्वरूप श्रुतधरो की सख्या काफी क्षीण हो गई थी, आगम साहित्य विनाश के कगार पर पहुँच चुका था। इस विकट स्थिति मे वीर स०८३० से ८४०के आसपास आर्य स्कन्दिल ने उत्तरापथ के मुनियो का मथुरा मे विराट् सम्मेलन कर आगमो का पुस्तक रूप मे लेखन किया। उधर आचार्य नागार्जुन ने दक्षिणा पथ के मुनियो का सम्मेलन कर वल्लभी (सौराष्ट्र) मे आगमो का सकलन एव लेखन किया। दूरस्थ होने से कुछ पाठ भेद हो गए, जिनका समन्वय आगे चलकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के द्वारा हुआ। कुछ पाठ भेदो का समन्वय न हो सका, तो स्कदिलाचार्य के पाठ को मान्यता देकर नागार्जुन के पाठो का मूल आगम मे ही पाठान्तर रूप से उल्लेख कर दिया, जिनके सम्बन्ध मे टीकाकार "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" लिखकर स्पष्टीकरण करते हैं। यह चतुर्थ आगम वाचना है।

३९ आर्य जम्बू	गौतम गोत्र
४० आर्य नन्दी	काश्यप गोत्र
४१ आर्य देशी गणी क्षमाश्रमण	माठर गोत्र
४२ आर्य स्थिरगुप्त क्षमाश्रमण	वत्स गोत्र
४३ आर्य कुमारधर्म गणी	

४४ आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण काश्यप गोत्र के क्षत्रिय कुमार थे। आपकी जन्मभूमि वेरावल (सौराष्ट्र) है। आपके पिता का नाम कामर्धि और माता का नाम कलावती है। कितने ही कथाकार इनको भगवान् महावीर कालीन सौधर्मेन्द्र के सेनापति हरिणगमेषी देव का अवतार मानते है। आर्य देवर्धि गणी अपने युग के समर्थ आचार्य थे। आर्य स्कन्दिल की वाचक परपरा के अन्तिम वाचनाचार्य और भारत के अन्तिम पूर्वधर। आपके पश्चात् अन्य कोई पूर्वधर नही हुआ।[1] आपका दूसरा नाम देववाचक भी सुप्रसिद्ध है। नन्दीसूत्र आपके द्वारा ही सकलित एव निर्मित है। आचार्य देवेन्द्र सूरि कर्मग्रन्थ, स्वोपज्ञवृत्ति मे नन्दीसूत्र रचयिता के रूप मे आपको देवर्धि क्षमाश्रमण और देवर्धि वाचक के नाम से स्मरण करते हैं। आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि अपनी नन्दी टीका मे और जिनदासगणी महत्तर नन्दी-सूत्र चूर्णि मे उन्हे

---

[1] जबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए मम एग वाससहस्स पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ।
—भगवती सूत्र २०, ९,६७७

दजवाचक कहत है। नन्दीचूर्णि में उनक गुरु का नाम दुष्यगणी बताया है जब कि कल्पसूत्र-स्थविरावली क अनुसार व कुमार धम गणी क पश्चात पटटधर ह। जन परम्परा क इतिहास म श्री दशनविजय जी देवर्धिगणि जा क गुरु का नाम आचाय लौहित्य सूरि बताते हैं जिनका उल्लख नन्दीसूत्र पट्टावली म आता है। श्री दशनविजय जी क उल्लेखानुसार उपकशगच्छीय आ० दवगुप्त क पास देवर्धिगणी न एक पूव अथ सहित और दूसरा पूव मूलमात्र अध्ययन कर क्षमाश्रमण का महत्त्व पूण पद प्राप्त किया। वलभी (सौराष्ट्र) में वीर स० ९८० क आसपास एक वृहतमुनि सम्मलन का आयाजन हुआ और उस म आचाय देवर्धिगणि क नतत्व म सव-सम्मत पाचवी आगम वाचना सपन्न हुई। प्रस्तुत आगम वाचना म चतुथ कालकाचाय विद्यमान थ जा नागाजुन की चतुथ वलभी वाचना क प्रखर अभ्यासी थ और जिहान वीर स०९९३ आनन्दपुर म वलभी वशीय राजा ध्रुवसन की उपस्थिति में श्रीसघ क समक्ष कल्पसूत्र का वाचन किया था।

आगमा क पुस्तकारूढ का यह महाप्रयास जन इतिहास का वह सुनहरा पष्ठ है जो निर्मलिता ज्ञान-सभारप्रसार दर्वधि वाचक क गम्भीर आगम ज्ञान तटस्थ चितन एव लाक प्रिय निमल यश की चमत्कारपूण गाथा का दिव्य प्रकाश युगयुगान्तर तक विकीण करता रहगा। आज जा कुछ भी जन ससार क पास महाश्रमण महावीर का वचनामत आगमरूप में सुरक्षित है वह सब दर्वद्धिगणी का ही जिन प्रवचन भक्ति का अमर दान है। कल्पसूत्र स्थविरावला का अन्तिम सूत्र जिन शब्दों में पद्रह सौ वर्षों स वीर स० १००० म शत्रुजय पर स्विगत हुए महावाचक दर्वद्धि का वदना कर रहा है हम भी उन्ही श्रद्धासुरभित शब्द-सुमना स उन्ह सादर एव सभक्ति स्मरणाजलि अपण करत हैं—

सुत्तत्थरयण भरिए
खमदम मद्दवगुणेहि सपन्न।
देवड्ढि-खमासमण,
कासवगुत्त पणिवयामि ॥

भगवान ऋषभदेव और भगवान महावीर स लकर आचाय दर्वद्धिगणी क्षमाश्रमण पयन्त अखण्ड प्रवाह स समागत श्रमण परपरा क इतिवत्त का यह सक्षिप्त-सा रेखा चित्र प्रस्तुत किया है। यह इतिहास नही उसकी एक हल्की सी झलक है। प्रस्तुत रखाकन म कल्पसूत्र स्थविरावली, आचाय हमच द्र कृत परि शिष्ट पव प्रभावक चरित्र पटटावली समुच्चय और श्री दशनविजय जी सम्पादित जन-परम्परा ना इतिहास आदि ग्रथा स प्राप्त विचार सामग्री का उपयोग किया है। उक्त ग्रथा म काफी मतभेद है कुछ स्थला पर ता य सब परस्पर इतन अधिक टकरा जात हैं कि एक माग निश्चित करना बहुत ही कठिन हा जाता है। फिर भी यावद् बुद्धि-बलोदय' कुछ जोडतोड लगाया गया है। सभव है इस जाड ताड म कही कुछ विपयय हुआ हा। यह विपयय इतिहास क गम्भीर अभ्यासिया क समाधान की अपक्षा रखता है। आशा है यथावकाश इतिहास क मान्य विद्वान इस पर कुछ स्पष्ट प्रकाश डालन की दिशा म उचित प्रयत्न करेंगे।

✱

नागोरी लोका-गच्छ : श्रीमनोहर-सम्प्रदाय

विजयमुनि साहित्यरत्न

आचार्य देवर्धिगणी के पश्चात्

आचार्य देवर्धिगणी के बाद नागोरी लोका-गच्छ और तन्निश्रित श्री मनोहर-सम्प्रदाय की पट्टावली में अनेक आचार्यों के नाम आते हैं, जिनके सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी के कुछ भी साधन उपलब्ध नहीं हैं। उस नामावली में चन्द्र स्वामी विक्रम, समन्तभद्र, जयदेव तथा देवानन्द आदि कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका उल्लेख उपाध्याय श्री धर्मसागर जी ने स्वरचित तपागच्छ-पट्टावली में भी किया है। परन्तु उसमें भी उल्लेखनीय जीवन-चर्चा नहीं है। अतः इन पृष्ठों में उनका नामांकन ही पर्याप्त होगा।

आचार्य चन्द्र स्वामी
आचार्य समन्तभद्र
आचार्य धर्म घोष
आचार्य जयदेव
आचार्य विक्रम
आचार्य देवानन्द
आचार्य विद्याधर
आचार्य नरसिंह
आचार्य समुद्र
आचार्य परमानन्द
आचार्य विबुध

आचार्य जयानन्द
आचार्य उचित स्वामी
आचार्य प्रौढ स्वामी
आचार्य विमल चन्द्र
आचार्य नागदत्त[1]
आचार्य धर्मघोष
आचार्य रत्नसिंह
आचार्य देवेन्द्र
आचार्य रत्नप्रभ
आचार्य अमरप्रभ
आचार्य ज्ञान चन्द्र
आचार्य शेखर
आचार्य सागर चन्द्र
आचार्य मलयचन्द्र
आचार्य विजय चन्द्र
आचार्य यशवन्त
आचार्य कल्याण
आचार्य शिवचन्द्र

आचार्य हीरागर

श्री हीरागरजी महाराज जाति के सुराना ओसवाल थे नागौर निवासी। आपने नागौर की यति परम्परा के तत्कालीन पट्टधर आचार्य शिवचन्द्र जी के पास दीक्षा ग्रहण की और आगमों का गम्भीर अध्ययन किया। आगम अध्ययन के पश्चात् आपके अन्तर्मन में विचार द्वन्द्व होने लगा कि आगमों में जैन साधु का आचार क्या है और हम यति आज कर रहे हैं कुछ और ही। कहाँ परिग्रह से मुक्त वह निर्मल साधु जीवन और कहाँ परिग्रह पाश से बद्ध आज का यति वर्ग ? दोनों में कहीं भी कुछ भी तो मेल नहीं है। इधर यह अन्दर ही अन्दर विचार ज्वाला जल रहा था कि सौभाग्य से उन्हीं दिनों गुजरात में धर्मवीर लोंकाशाह ने धर्म क्रान्ति का शंख फूँका।

जैन परम्परा में धर्मवीर लोंकाशाह की धर्म क्रान्ति का बहुत बड़ा गौरव है। आपका जन्म अरहट वाडा (सिरोही राज्य) में हुआ। आप जाति के ओसवाल कहे जाते हैं। पिता का नाम हेमजी भाई और माता का नाम गंगा बहन था। तपागच्छीय यति श्री कान्ति विजय जी (विक्रम सं० १६३६)

[1] आप विक्रम संवत् १२८५ के बैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युग प्रधान पद से सुशोभित हुए। अपने विद्वान् शिष्य धर्मघोष सूरी के साथ अपने तत्कालीन मरुधरा के शूर राजाओं को जैनधर्म का प्रतिबोध दिया जिससे ओसवाल जाति में सुराणा गोत्र प्रचलित हुआ।

के मतानुसार आपका जन्म विक्रमाब्द १४८२ कार्तिक पूर्णिमा को हुआ। लोंकाशाह आरम्भ से ही तत्त्व-शोधक और सत्य प्रेमी थे। सत्साहित्य के अध्ययन की उनमें बहुत तीव्र अभिरुचि थी। बुद्धि और प्रतिभा प्रखर होने से जैनागमों का मूल रहस्य समझने में आपको कुछ भी देर न लगी। आपने देखा कि आगम कालीन जैन श्रमण-परम्परा का निर्मल एवं विशुद्ध आचार आज इतना दूषित हो गया है कि साधु और गृहस्थ में भेद रेखा खींचना ही कठिन है। अस्तु अपनी समस्त शक्ति को संचित करके आपने तत्कालीन जैन समाज में बद्धमूल मिथ्या विश्वास, शिथिलाचार और आडम्बर के विरुद्ध सिंह-गर्जना की। साधु-समाज में नया जीवन फूंका, नयी चेतना दी और जन-जन के मन में नयी प्रेरणा भरी। सच्चे और पवित्र साध्वाचार का जयघोष भारत के कोने-कोने में गूंज उठा।

धर्मवीर लोंकाशाह की धर्म-क्रान्ति का प्रभाव राजस्थान में भी पड़ा। श्री हीरागर जी की विचार-क्रान्ति को इससे सजीव प्रेरणा प्राप्त हुई और उन्होंने आगमानुसार क्रियोद्धार करके शुद्धाचार की दुन्दुभि बजा दी। मारवाड़ और मेवाड़ आदि प्रदेशों में आप की धर्म-क्रान्ति का स्वर कुछ इस प्रकार मुखरित हुआ कि यति-परम्परा के सैकड़ों ही यति शुद्धाचार का पालन करने के लिए आपके शिष्य हो गए। आपने अपनी साधु-शाखा का नाम नागौरी लोंकागच्छ रखा, जो आगे चलकर बड़ी तीव्र-गति से दूर-दूर तक फैल गई।

आचार्य रूपचन्द्र

श्री रूपचन्द्र जी महाराज, हीरागर जी के प्रभावक शिष्यों में प्रमुख स्थान रखते थे। आपने नौ लाख जितने पितृ-धन को त्याग कर अठारह वर्ष के उभरते यौवन में दीक्षा ग्रहण की। आपने अपने क्रान्तिकारी प्रवचनों से एक लाख अस्सी हजार जन-समूह को शुद्ध जैन-धर्म का अनुयायी बनाया। आप उग्र तपस्वी और क्रियोद्धारक थे। आपके तप प्रभाव से सहिस शहर में, कहा जाता है, पूर्णभद्र देव धर्मानुरागी हुआ। आपके युग में नागौरी लोंकागच्छ ने काफी विस्तार पाया। कुछ विद्वान और पट्टावलीकार तो आपको ही नागौरी लोंकागच्छ का प्रवर्तक मानते हैं।

आचार्य दीपागर

आप श्री रूपचन्द्र जी के चरणों में दीक्षित हुए। प्रखर आगमाभ्यासी और सुप्रसिद्ध तपोधन। आपने भी अपने प्रभावशाली शुद्ध संयमी जीवन से एक अनुश्रुति के अनुसार, ३६६० परिवारों को आत्म-कल्याण के प्रशस्त पथ पर आरूढ किया। खेद है, आपकी परम्परा में पुनः शनैः शनैः शिथिलाचार प्रवेश पाने लगा, फलस्वरूप धर्म-ज्योति धूमिल होती चली गई।

आचार्य वयरागर
आचार्य वस्तुपाल
आचार्य कल्याणदास

आचार्य भरत स्वामी
आचार्य नेमचन्द्र
आचार्य आसकरण
आचार्य वधमान
आचार्य सदारंगस्वामी

क्रियोद्धारक आचार्य श्री मनोहरदासजी

आप मरुधरा के विख्यात नगर नागौर के निवासी थे। सुप्रसिद्ध ओसवाल जाति में सम्पन्न सुराणा वंश में एक धनी एवं समृद्ध परिवार में आपका जन्म हुआ। गृहस्थ जीवन बहुत सुखी और शानदार रहा। लक्ष्मी के साथ आप को सरस्वती के वरदान स्वरूप विलक्षण प्रतिभा मिली थी। यौवन के मध्य प्रवाह में अन्दर से वैराग्य की लहर उठी और वह लगातार बढ़ती रही, ऊपर उठती रही। एक दिन दृढ़ निश्चय के साथ नागौरी लोंकागच्छ के तत्कालीन सुप्रसिद्ध यतिराज श्री सदारंग जी[1] के पास दीक्षित हो गए। प्राचीन जैनागमों का तलस्पर्शी गम्भीर अध्ययन किया। कुछ ही वर्षों में नव दीक्षित यति के पाण्डित्य की गच्छ में सब ओर यशोदुंदुभि बजने लगी।

श्री मनोहर जी इधर अपने गच्छ में यशस्वी हो रहे थे, उधर उनके अन्तर्मन में एक तीव्र विचार मन्थन चल रहा था। भगवान् महावीर का मूल धर्म क्या है और आज हम क्या हैं? साधुचर्या के सम्बन्ध में आगम कुछ कहता है? और आज हमारा जीवन कुछ और ही दिखाई देता है? लोंकाशाह की धर्म क्रांति के साथ हमारा आज केवल नाम मात्र का सम्बन्ध ही रह गया है। आचरण के क्षेत्र में तो हम उनसे काफी दूर भटक गए हैं। शिथिलाचार के विरोध में चिन्तन के साथ धीरे धीरे आवाज भी साफ होती गई। इधर उधर क्रियोद्धार की चर्चा बल पकड़ने लगी। मनोहरदास जी के चिन्तन की विचारज्वाला सुलगकर प्रकाश फैलने लगी कि यति संघ चौंधिया गया। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकार के विचारों के शिविर बनने लगे।

नागौरी लोंकागच्छ में इधर यह तरुण विचार क्रान्ति के पथ पर बढ़ रहा था, क्रियोद्धार के सकल्पों को साकार कर रहा था और उधर गुजरात, मालवा तथा राजस्थान में पूज्य श्री जीवराज जी, पूज्य श्री लवजी ऋषि जी, पूज्य श्री धर्मसिंह जी, पूज्य श्री धर्मदास जी आदि महापुरुषों ने शिथिलाचार के विरोध में क्रियोद्धार की प्रचण्ड क्रान्ति कर दी थी। तूफानी लहरों की तरह उनके विचार तरंग जनमानस में दूर दूर तक गर्जन कर रहे थे। क्रियोद्धार का यह महाघोष नागौर प्रान्त में भी टकराया। मनोहर जी को अपने उत्थान विचारों के लिए बलवती प्रेरणा मिली। क्रियोद्धार के संकल्पों ने मूर्त रूप धारण किया। जैन इतिहास में विक्रम की १६-१७ वीं शती बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह

---

1 गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० ने अपने स्थानांग सूत्र के लेखन की प्रशस्ति में श्री मनोहरदास जी को श्री वधमान सूरी का शिष्य लिखा है।

शती धर्म-क्रान्ति की शती है, साधु जीवन के दिव्य-रूप-परिवर्तन की शती है। ऐसा मालूम होता है, साधना के महासागर मे सब ओर प्रचण्ड ज्वार आ गया था। यह आचार क्रान्ति स्थानकवासी परपरा के नाम से जैन इतिहास का वह महत्त्वपूर्ण स्वर्ण-पृष्ठ है, जिसमे पूज्य श्री मनोहरजी का नामोल्लेख अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है।

पूज्य श्री मनोहर जी अपने युग के एक महान् तत्वज्ञ, विचारक, एव उग्र क्रियाकाडी मुनि थे। ज्ञान एव क्रिया, आचार एव विचार दोनो की ही आपने उत्कट, कठोर और प्रखर साधना की। शिथिलाचार की घन-घटाएँ छिन्न-भिन्न हो गई। शुद्धाचार का सूर्य पुन गगनागन मे अपने पूर्ण तेज से चमकने लगा। आपने दूर-दूर तक की विहार-यात्रा करके शुद्ध धर्म और शुद्धाचार का व्यापक प्रचार एव प्रसार किया।

आप नागौर से क्रियोद्धार की अमर-ज्योति लेकर अजमेर, कुचामन, जयपुर, खडेला, नारनौल, महेन्द्रगढ, दादरी, भिवानी, खेतडी, सिंघाणा आदि अनेक क्षेत्रो मे पधारे और भव्य आत्माओ को सन्मार्ग का उपदेश दिया। विहार-यात्रा मे अनेकानेक परीषह और उपसर्ग आए, विरोधी पक्ष की ओर से निर्मम यातनाए मिली, परन्तु आप निर्विकार भाव से अपने स्वीकृत पथ पर बढते ही रहे। न कही, लडखडाए, न कही रुके और न कही थके। सिंघाणा (शेखावटी) का गिरिराज अब भी आपकी उस कठोर साधना का साक्षी है, जो आपने चार मास मे केवल चार बार आहार ग्रहण कर पहाड के सबसे ऊँचे शिखिर पर की थी और जिसके प्रभाव से सिंघाणा नगर के तीन सौ के लगभग अग्रवाल परिवार जैन धर्म मे दीक्षित हुए थे। आपके जादूराव, नानक चन्द आदि पैतालीस शिष्य हुए, जिनमे भागचन्द्रजी प्रमुख थे। कुछ विद्वानो का मत है कि आप क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के सम्पक मे भी रहे है। श्री धर्मदास जी महाराज से सम्बन्धित बाईस सम्प्रदाय के प्रवर्तको मे पूज्य मनोहर जी के नाम से आप का भी उल्लेख मिलता है।

पूज्य मनोहरदास जी से स्थानकवासी परम्परा मे मनोहर सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ। मूल मे यह सम्प्रदाय राजस्थान की होकर भी उत्तर प्रदेश तथा पजाब के कुछ भूभागो मे खूब फली-फूली है। इस सम्प्रदाय मे प्रारम्भ से ही विद्वान, कवि, लेखक, प्रवक्ता, त्यागी, तपस्वी और सयमी सतो की पावन धारा प्रवाहित होती रही है। मनोहर सम्प्रदाय के अनेक ज्योतिर्धर मुनिराज ऐसे हुए है, जिन पर एक क्या, अनेक स्वतन्त्र रचनाएँ लिखी जा सकती है।

धर्मवीर लोकाशाह द्वारा प्रेरणा प्राप्त स्थानकवासी परपरा के क्रियोद्धारक मुनिवरो के सम्बन्ध मे प्रसगवश यहाँ एक स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। इन महापुरुषो ने कोई नया धर्म खडा नही किया, और न उनकी ओर से ऐसा कोई दावा ही कभी किया गया है। पुरातन परम्परा मे हीन आचार का उचित सशोधन करना, शिथिल क्रिया को कठोर तथा प्रखर बनाना, समाज मे विशुद्धाचार की नये सिरे से स्फूर्ति, चेतना और जागृति पैदा करना ही उनका एक मात्र ध्येय था। साधुजीवन मे जो एक प्रकार की जडता और आडम्बर-प्रियता उत्पन्न हो गई थी, उन्होने उसी को दूर कर शुद्ध साधुचर्या का पथ प्रशस्त किया। इसी को क्रियोद्धार कहा जाता है। क्रियोद्धार की इस आत्मलक्षी विशुद्ध प्रक्रिया

में न किसी के प्रति द्वेष था और न किसी के प्रति मनोमालिन्य था। न किसी के प्रति पक्षपात की भावना थी और न किसी वर्ग विशेष के प्रति अहित कामना ही। यह तो केवल भगवान् महावीर के विशुद्ध धर्म की एक मात्र पुनर्जागरणा थी।

स्थानकवासी परम्परा स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाती है। वह भौतिकवादी नहीं विशुद्ध अध्यात्ममूलक परम्परा है। त्याग और तप, दम और संयम ही स्थानकवासी परम्परा के मूल तत्व हैं। फलतः वह किसी भी प्रकार की जड़ पूजा में विश्वास नहीं करती। एकमात्र शुद्ध चैतन्य तत्व ही उसकी साधना पद्धति का मुख्य लक्ष्य है। किसी भी प्रकार के बाह्य आडम्बर में, विवेकशून्य क्रियाकाण्ड में उसकी धर्म श्रद्धा नहीं है। उसके विचार में धर्म का आधार भौतिक नहीं, मनुष्य की आन्तरिक अध्यात्म भावना है। अहिंसा और अपरिग्रह स्थानकवासी जैन-संस्कृति के वे मूल स्वर हैं, जिनके उद्घोषकों में पूज्य श्री मनोहरदास जी का भी प्रमुख स्थान है। एतदर्थ आज हम उनके चरणों में सभक्ति भाव वन्दना करते हैं। श्रद्धावनत होते हैं।

आचार्य श्री भागचन्द्रजी

आप बीकानेर के रहने वाले और जाति के ओसवाल थे। आपने दृढ़ श्रद्धा और निर्मल वैराग्य भाव से पूज्य श्री मनोहरदास जी के चरण कमलों में दीक्षा ग्रहण की थी। आपका श्रुतज्ञान गम्भीर था, क्रियाकाण्ड कठोर था और तप साधना उग्र थी। सिंघाणा के पर्वत पर गुरुदेव के साथ आपने भी चार महीने तक मास क्षमण की तप साधना की थी। यमुनापार (उत्तर प्रदेश) के बड़ौत, बिनौली, कांधला आदि अनेक क्षेत्र आपके द्वारा ही प्रतिबोधित हुए थे। अग्रवाल जाति में स्थानकवासी जैन परम्परा के बीजारोपण करने में आपका योगदान चिरस्मरणीय है। धर्म प्रचार यात्रा में आपको अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा, परन्तु आपकी सहज क्षमता, सहिष्णुता और निर्दम्भ धर्मनिष्ठा का यह दिव्य प्रभाव होता था कि अन्ततः सफलता आपके चरण चूमती ही थी।

कांधला प्रतिबोध की घटना है। शरत्काल। भयंकर शीत। पूज्य श्री भागचन्द्र जी अपने योग्य शिष्य सीताराम जी के साथ धर्म प्रचार करते हुए कांधला क्षेत्र में पहुंचते हैं। सन्ध्या के समय सूर्य अस्ताचल की ओर। सर्वथा अपरिचित! कहाँ ठहरें? किसी ने भी ठहरने के लिए स्थान न दिया। एक भद्र वैश्य ने कहा— आप मेरी दुकान के आगे के इस चबूतरे में खड़े रहिए। जरा घर हो आता हूँ। फिर वहाँ ठहरने का ठीक व्यवस्था कर दूंगा। वैश्य जल्दी में घर पर चला गया, किन्तु वापस नहीं लौटा। मुनि युगल रात भर खड़े ही खड़े रहे, न बैठे और न सोए।

प्रातःकाल वैश्य आया तो आश्चर्य से पूछा, महाराज बहुत जल्दी जा रहे हैं?

पूज्य श्री ने प्रसन्न मुख से कहा — भाई, अभी तो आते ही अच्छी तरह से नहीं ठहरा है, जाने की क्या बात?

फिर कमर बाँध कर खड़े क्यों हैं?

जब से आए हैं, खड़े ही हैं, कहाँ?

"ऐसा क्यो ?"

"क्यो कि तुम्हारी आज्ञा जो खडे रहने की थी। जैन साधु प्रदत्त आज्ञा की सीमा मे ही रह सकता है, बाहर नही। आज्ञा से बाहर काम करना भी हमारे यहाँ चोरी है।"

बात होरही थी कि आस-पास के और सज्जन भी आ गए। कहने लगे—'भाई, साधु बडे गजब के हैं। हमने तो इन्हे रात भर यो ही खडे देखा है ? पता नही, क्या बात है ?"

साक्षी मिल गई, तो वैश्य स्तब्ध रह गया। कितना पवित्र निश्चय और निर्मल जीवन। आग्रह हुआ तो महाराज ठहर गए। प्रवचन हुआ और कहा जाता है—दो-सौ से ऊपर परिवार स्थानकवासी जैन धर्म मे दीक्षित हो गए। पूज्य श्री भागचन्द्र जी के जीवन के सम्बन्ध मे इस प्रकार अनेक अनुश्रुतियां हैं, जो उनके कठोर त्याग, तपस्तेज और आगमानुसारी सयम साधना पर स्वर्णिम प्रकाश डालती है।

आचार्य श्री सीतारामजी

आप नारनौल के एक सुप्रसिद्ध अग्रवाल जैन घराने के होनहार युवक थे। सासारिक दृष्टि से जीवन सुखी था, परन्तु आध्यात्मिक शान्ति की तलाश मे पूज्य श्री भागचन्द्र जी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप बहुत ही शान्त और दान्त, विवेकशील और वैराग्य-मूर्ति सन्त थे। अपने तेजस्वी गुरु के समान आपने भी शुद्ध धर्म और सस्कृति का व्यापक प्रसार किया। आपके आचार्य-पद काल मे मनोहर-सम्प्रदाय ने उल्लेखनीय प्रगति की।

आचार्य श्री शिवरामदासजी

आप दिल्ली के रहने वाले और जाति के श्रीमाल थे। आपके समय मे दिल्ली राज्य क्रान्तियो के खौफनाक दौर मे से गुजर रही थी। लूटमार, हत्याकाण्ड, भागदौड, हाहाकार ! पता नही, कब क्या हो जाए ? एक बार आप और आपके परिजन प्राण-रक्षा के लिए तीन दिन तक तलघर मे बन्द पडे रहे, भूखे और प्यासे। सकट की घडियाँ भी कभी मनुष्य की चिर-प्रसुप्त आत्म-चैतन्य को जगा देती है। जीवन की यह दुस्थिति देखकर हृदय मे वैराग्य-रश्मि जगमगा उठी और आपने सकल्प किया कि यदि इस सकट से बच गया, तो दीक्षा ले लूंगा। प्रतिज्ञा के अनुसार दीक्षा ली और पूज्य सीताराम जी के शिष्य हुए। आपने जैनागमो के साथ अन्य धर्म के ग्रन्थो का भी गम्भीर अध्ययन किया था। आपकी प्रवचन शैली बडी ही मधुर एव प्रभावशाली थी।

आपकी शिष्य संख्या बहुत विशाल थी, जिसके द्वारा दूर-दूर तक के प्रदेशो मे अहिसा धर्म का व्यापक प्रचार हुआ। आपके श्री देवकरण जी, श्री रामकृष्ण जी आदि शिष्य मण्डल मे पूज्य श्री नूणकरण जी और तपस्वी श्री हरजीमल जी, जिनका वर्णन आगे की पक्तियो मे होने वाला है, दो प्रधान शिष्य थे।

आचार्य श्री नूणकरणजी

आप सिंघाणा (जयपुर-खेतडी) के रहने वाले अग्रवाल वैश्य थे। उभरती तरुणाई मे, जब माता पिता आपको विवाह सूत्र मे बाधने के लिए प्रयत्नशील थे, वैराग्य ज्योति जगी और झूझनु (राजस्थान) मे

विक्रम स० १८३५ मार्गशीष कृष्णा १० के दिन पूज्य श्री शिव रामदास जी के चरण कमलो म दीक्षित हो गए। आपका नाम नकार और लकार के भेद स दो रूपा म प्रचलित है—नूणकरण जी और लूणकरण जी।

आप आगम शास्त्रो क ममन विद्वान थ। आपकी आगम विषयक धारणाएँ तत्कालीन साधु-सघ में सर्वाधिक प्रामाणिक एव अबाधित मानी जाती थी। जटिल स जटिल प्रश्नो का समाधान बडी शाघ्रता स कर देने की आप म अद्भुत क्षमता थी। आपके द्वारा साधु साध्वियो म ज्ञान प्रचार की उल्लखनीय प्रगति हुई। गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज न भी आपसे आगम-साहित्य का गम्भीर अभ्यास किया था। पूज्य श्री शिवरामदास जी म० के स्वगवास पर आप सव सम्मति स आचाय पद पर आसीन हुए। आचाय पद पर रह कर आपन सघ का सचालन बडी योग्यता स किया। आपकी प्रवचन शली भी सुदर सरस और प्रभावक थी। आप की वचनसिद्धि के चमत्कार की गाथाए यमुनापार एव शेखावाटी म काफी प्रचलित है। आपकी शिष्य परम्परा तब से अब तक इस प्रकार है —
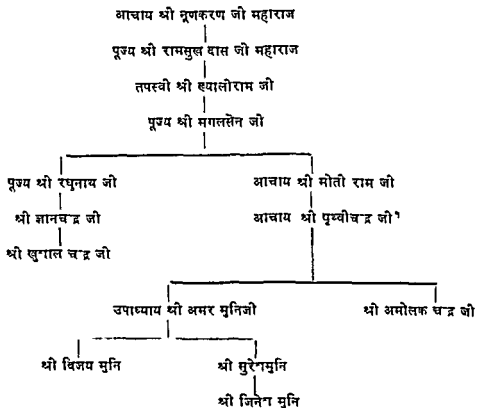
[1] पहले श्री मनोहर सम्प्रदाय के आचाय थे वतमान म विभिन्न सम्प्रदायों के विलीनीकरण से सम्पन्न वद्ध मान स्थानकवासी जन श्रमण सघ के प्रान्त मन्त्री हैं।

तपोमूर्ति श्री हरजीमलजी

आचार्य श्री शिवरामदास जी के द्वितीय शिष्य तपस्वी श्री हरजीमल जी महाराज हैं। आपकी जन्म-भूमि मलकपुर है, जो उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला मे बड़ौत के पास है बाल्यकाल से ही आपकी रुचि धर्म की ओर थी। एक बार पूज्य श्री शिवरामदास जी के गुरु भ्राता श्री मनसुख राम जी म० मलकपुर पधारे और आप के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्री हरजीमल जी ने पूज्य श्री शिवरामदास जी के चरण कमलो मे आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आप उग्र तपस्वी, स्वाध्यायशील, एकान्तप्रिय मुनिराज थे। पिछली आयु मे सात वर्ष तक लगातार बेले-बेले पारणा किया। मास क्षमण आदि उग्र तपश्चरण की सख्या भी बहुत बड़ी है। महामहिम श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्र जी म० और प० श्रीलाल जी म० आदि आपके अनेक शिष्य हैं, जिन्होने जैन धर्म के प्रचार एव प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

भरतपुर (राजस्थान) मे, विक्रम स० १८८८ माघ शुक्ला अष्टमी के दिन डेढ दिन का संथारा-अनशन कर तपस्वीराज स्वर्गवासी हुए। तपस्वी जी की जीवन-ज्योति स्थूलदेह के रूप मे भले ही बुझ गई, परन्तु वह पवित्रता, धीरता एव सहिष्णुता की अमर-ज्योति अब भी साधना के क्षेत्र मे प्रज्वलित है।

जीवन और
पद्धति
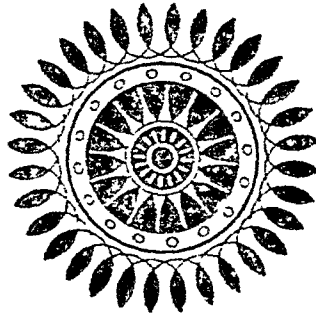
जीवन एक परिचय

विजयमुनि साहित्यरत्न

युग-पुरुषों का जीवन सरिता के उस उद्गम स्थान के समान होता है जो आरम्भ में तो लघु और छोटा होता है किन्तु आगे बढ़कर अन्य जल स्रोतों का सहयोग पाकर विशाल और विराट होकर अन्त में सागर में पहुँच कर असीम और अनन्त हो जाता है। युग-पुरुष भी प्रारम्भ में लघु फिर विराट और अन्त में अनन्त हो जाता है। क्योंकि उनकी वाणी में युग की वाणी बोलती है उनके कर्म में युग का कर्म क्रियाशील बनता है और उनके चिन्तन में युग का चिन्तन चलता है। अत युग पुरुष अपने युग का प्रतिनिधित्व करता है जनता का नेतृत्व करता है।

यहाँ पर मैं एक ऐसे ही युग-पुरुष का एवं जन जगत की विमल विभूति का जीवन परिचय दे रहा हूँ जिसने अपने युग के जन जीवन को नया विचार नयी वाणी और नया कर्म दिया। जिसने अपने युग की जनता को भोग मार्ग से हटा कर योग मार्ग पर लगाया जिसने जन मन के अज्ञान को मिटा कर ज्ञान का विमल प्रकाश दिया और जिसने जन जीवन में संयम और तप की ज्योति जगाई। वह युग-पुरुष कौन थे? वे थे—पूज्यवर श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज।

जन्म भूमि

वीर भूमि राजस्थान के जयपुर राज्य में एक तानाजा ग्राम था जिसमें गुर्जर राजपूतों की काफी आबादी थी। इतिहासकारों की दृष्टि में गुर्जर राजपूत गुर्जर प्रतिहार क्षत्रिय के वंशज हैं। राजस्थान में आज भी इन लोगों की काफी संख्या है। किसी युग में उत्तरी भारत और पूर्वी भारत के कुछ भागों में इनका विशाल साम्राज्य था। परन्तु दसवीं सदी के बाद निरन्तर अरबों की और मुगलों के आक्रमण

होते रहने से अपनी सुरक्षा के लिए ये लोग बहुत बडी सख्या मे राजस्थान मे आकर आवाद हो गए। गुर्जर राजपूत स्वभावत ही शूर, वीर, धीर और गम्भीर होते है।

माता और पिता

गगाराम जी तातीजा ग्राम के रहने वाले गुर्जर राजपूत थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम था—सरूपा देवी। पति और पत्नी दोनो समान स्वभाव के थे। सन्तो की सगति मे विशेष अभिरुचि रखते थे। जैन-सन्तो का जब कभी योग मिलता, तो धर्म-कथा सुनने अवश्य पहुँचते थे। धर्म-चर्चा मे उन्हे विशेष रस था।

गगाराम जी और सरूपा देवी के अन्य भी कई पुत्र और पुत्रियाँ थे। परन्तु उनका सबसे छोटा और सबसे प्यारा पुत्र था—रत्नचन्द्र। बुद्धि मे चतुर, रूप मे सुन्दर और स्वभाव मे मधुर। 'रत्न' का जन्म-विक्रम सवत १८५० मे, भाद्र मास की कृष्णा चतुर्दशी के शुभ मुहूर्त मे हुआ था।

बाल्य-काल

रत्नचन्द्र का जीवन सुखद और शान्त था। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने से बडे भाई-बहिनो का प्रेम उसे खूब मिला था। रूप और बुद्धि की विशेषता के कारण ग्राम के अन्य लोग भी उसकी प्रशसा करते थे। चारो ओर से उसे आदर मिलता था। रत्न सस्कारी बालक था। अत उसमे विनय, विचार-शीलता, मधुर-वाणी और व्यवहार-शीलता आदि गुण खूब विकसित हुए थे। एक गुण उसमे विशिष्ट था—चिन्तन करने का। जीवन की हर घटना पर वह विचार और चिन्तन करता था। अपने साथियो के साथ मे खेल-कूद भी करता था, परन्तु उसकी प्रकृति की गम्भीरता व्यक्त हुए बिना न रहती थी। वह खेलता-कूदता भी था, नाचता-गाता भी था, हँसता-हँसाता भी था, और रूठता-मचलता भी था। बालस्वभाव सुलभ यह सब कुछ होने पर भी उसकी प्रकृति की एक विलक्षणता थी—चिन्तन और मनन। प्रकृति के परिवर्तनो की घटनाओ को वह बडे ध्यान से देखा करता था, और उन पर घटो विचार करता रहता था।

मृत्यु-दर्शन और वैराग्य

रत्नचन्द्र अभी किशोर अवस्था मे ही था। एक दिन उसने अपनी आँखो से मृत्यु का साक्षात्कार कर लिया। उसने देखा, कि जगल मे घूमते-फिरते एक सुन्दर स्वस्थ गोवत्स (बछडे) पर एक क्रूर सिंह ने सहसा आक्रमण कर दिया। कुछ ही क्षणो मे उसे मारकर खा गया। उक्त दारुण घटना रत्नचन्द्र के लिए एक बोध-पाठ बन गई। अभी तक उसने जीवन की सुषमा ही देखी थी। आज जीवन के विपरीत-भाव क्रूर मृत्यु को भी देख लिया।

वह जन्म, जीवन और मरण पर विचार करने लगा। यह जन्म अज्ञात है। यह जीवन सुन्दर है। परन्तु यह मृत्यु क्या है ? यह बहुत क्रूर है, भयकर है। वह गम्भीर होकर जन्म, जीवन और मरण के

प्रसिद्ध जैन मुनि गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म. [illegible]

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी म. का वैराग्य काल - दीक्षा की प्रार्थना
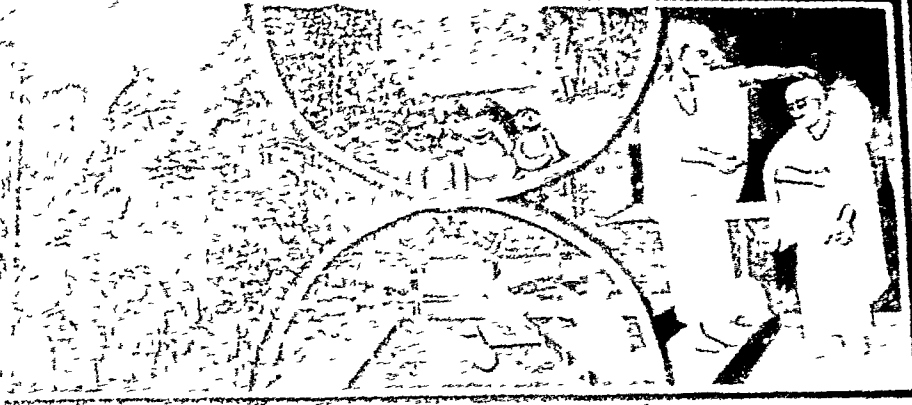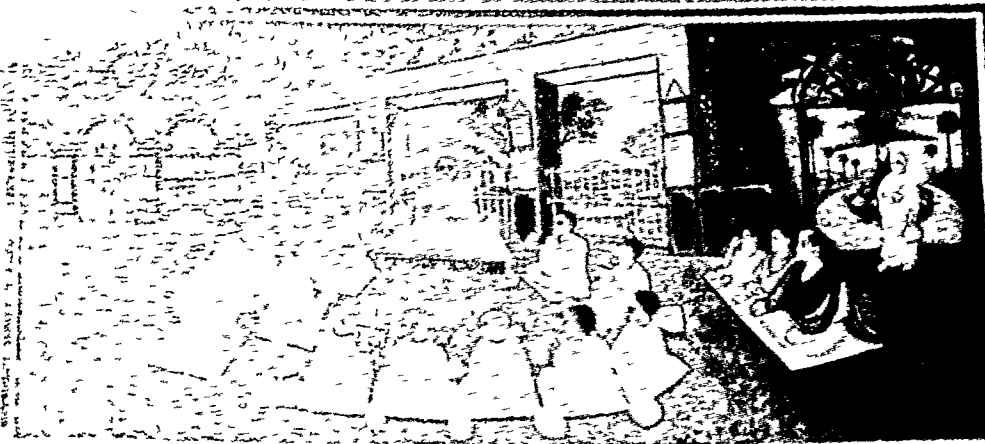
श्रम पर चिंतन और मनन करने लगा। विचार किया—यह ससार कितना क्रूर है ? यहाँ एक जीवन दूसरे जीवन का भक्ष्य है ! यह ससार विचित्र है अदभुत है। यह मृत्यु जिस बछड के जीवन म, मैंने देखा है। क्या कभी मेरे जीवन म भी आएगी ? अन्दर से आवाज आई अवश्य अवश्य ही। रत्न को भव की विरक्ति का बीज मिल गया।

गुरु की खोज मे

रत्न अपने घर नहीं लौटा। वह उस गुरु की खोज म निकल पडा जो उसे मृत्यु के क्रूर पजे से बचा सके। उसने सोचा माता से दुलार मिल सकता है पिता से प्यार मिल सकता है और परिवार एव परिजन से सम्मान मिल सकता है किन्तु क्रूर मृत्यु से सरक्षण इन सब से नही मिल सकता। वह मिलेगा, उस गुरु से जो स्वय मृत्युञ्जयी है। मृत्यु को जीतने के मार्ग पर चल रहा है। वह गुरु कौन है कहाँ पर मिलेगा ? रत्न इन्ही विकल्पो पर विचार करता करता सोचता समझता नारनौल नगर पहुँच गया—जहाँ उसका अपना कोई परिचित नही था।

जिन खोजा, तिन पाइया

जो खोजता है वह पा लेता है। द्वार उसी के लिए खुलते हैं जो खटखटाता है। रत्नचन्द्र जिसकी खोज म था वह गुरु उसे मिल गया। उस समय नारनौल नगर के धर्म-स्थानक म तपस्वी हरजीमल जी महाराज विराजित थे। रोज उनके प्रवचन होते थे। श्रोताओ की भीड म रत्न भी जा बैठा। तपस्वी जी के प्रवचन को सुनकर उसको शांति और सन्तोष मिला। विवेक और वैराग्य की अमृत वर्षा से रत्न को बडा आनन्द मिला। वह जिस वस्तु की खोज म था वह वस्तु उसे मिल गई।

एक दिन अवसर पाकर उसने अपने मन की बात गुरु के चरणो में रखी। बोला— गुरुदेव मैं भी आपके स्वीकृत पथ का यात्री बनना चाहता हूँ। क्या आप मुझे अपने चरणों म शिष्य रूपेण स्वीकार करेंगे। *गुरु ने शिष्य की योग्यता और तीव्र भावना को देखकर कहा — स्वीकार तो मैं कर लूँगा।* परन्तु अपने माता और पिता की अनुमति लेना तेरा काम होगा। गुरु की स्वीकृति पाकर रत्न परम प्रसन्न हो गया।

दीक्षा की अनुमति

राही को राह मिल ही जाती है। दर ईश्वर हो भी जाए यह सम्भव है। किन्तु राह न मिले यह कभी सम्भव नहीं। ससार के अन्य बन्धनो को तोडना आसान है पर माता की ममता का बन्धन तोडना सरल नहीं है। माता की आँखों का खारा पानी बडी ताकत रखता है। किन्तु मेघकुमार और अतिमुक्त कुमार जैसे दृढ सकल्पी बालको के लिए माता की ममता का बन्धन भी बन्धन नहीं रहता। रत्नचन्द्र की राह म दिक्कतें बहुत थी पर उसके मनोबल ने सब पर विजय प्राप्त की। पिता को सहज

समझा लिया, किन्तु माता को जरा देर से समझा पाया। माता और पिता दोनों की ओर से उसे दीक्षा लेने की अनुमति मिल गई।

सागार से अनगार

तपस्वी हरजीमलजी महाराज की सेवा में एक वर्ष तक साधु-जीवन की शिक्षा ग्रहण की। आचार शास्त्र का अध्ययन किया। साधक-जीवन के योग्य मुख्य बातों का अभ्यास किया। जब गुरु ने हर प्रकार से आपके जीवन की परीक्षा कर ली और आप को हर तरह से दीक्षा के योग्य पाया, तो विक्रम सवत् १८६२ मे, भाद्रपद शुक्ला ६ शुक्रवार के दिन, आप को दीक्षा दे दी। अब रत्न चन्द्र गृहस्थ से रत्नचन्द्र मुनि हो गए। दीक्षा के अवसर पर आपके नारनौल नगर मे माता और पिता तथा अन्य परिजन भी वहाँ उपस्थित थे। रत्न परम प्रसन्न था।

संयम और तप

दीक्षा ग्रहण करते ही रत्न मुनि ने सयम और तप की साधना प्रारम्भ कर दी। सयमी जीवन मे वे सदा जागृत रहते थे। जरा-जरा सी बातो मे भी अपने सयम का ध्यान रखते थे। विवेक से चलते विवेक से उठते, विवेक से बैठते, विवेक से बोलते, किंबहुना, अपना हर काम विवेक से करते थे। सयम के साथ तप की भी साधना प्रारम्भ की। क्योकि अपने तपस्वी गुरु से उन्हे तप की विशेष प्रेरणा मिली थी। तप और सयम के साथ-साथ अपने गुरु की सेवा भी उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। तप, सयम और सेवा—ये तीनो साधु-जीवन के विशेष गुण हैं, जिनकी साधना उन्होंने निरन्तर की।

विशेष अध्ययन

अपने दीक्षा-गुरु से अध्ययन करने के बाद उन्हे विशेष अध्ययन करने की भावना जगी। गुरु ने भी अपने शिष्य की तीव्र-जिज्ञासा को देख कर अपनी ही सम्प्रदाय के तत्कालीन विद्वान और प्रखर पण्डित श्रद्धेय लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज से रत्नमुनि को विशेष रूप से अध्ययन कराने की प्रार्थना की, जिसको उन्होने सहर्ष स्वीकार कर लिया। योग्य शिष्य को सुयोग्य गुरु मिल गया। रत्नमुनि जी ने अपनी पैनी बुद्धि से, प्रखर प्रतिभा से और तर्कपूर्ण मेधा-शक्ति से अल्पकाल मे ही अपने कठोर परिश्रम से सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश जैसी प्राचीन भाषाओ को सीख लिया। आगम, दर्शन साहित्य और ज्योतिष आदि शास्त्र का विशेष अध्ययन कर लिया। तत्कालीन आचार्य श्री नूणकरण जी महाराज से भी आपने आगम साहित्य का गभीर तलस्पर्शी अध्ययन करके सैद्धान्तिक ज्ञान क्षेत्र मे प्रौढता प्राप्त की।

धर्म-प्रचार

तप, सयम, सेवा और विशेष अध्ययन से परिपक्व होकर, अपने गुरु की आज्ञा लेकर रत्नमुनि जी ने धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। जन-जीवन मे नैतिक जागरण, धर्म-भावना और सस्कृति का खूब
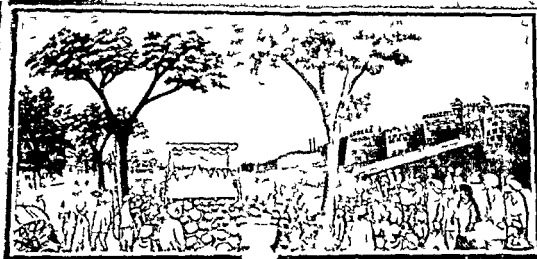
गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र ... दिल्ली में भाषण
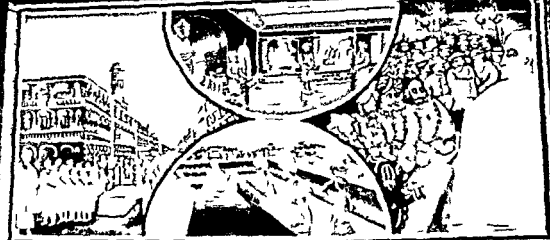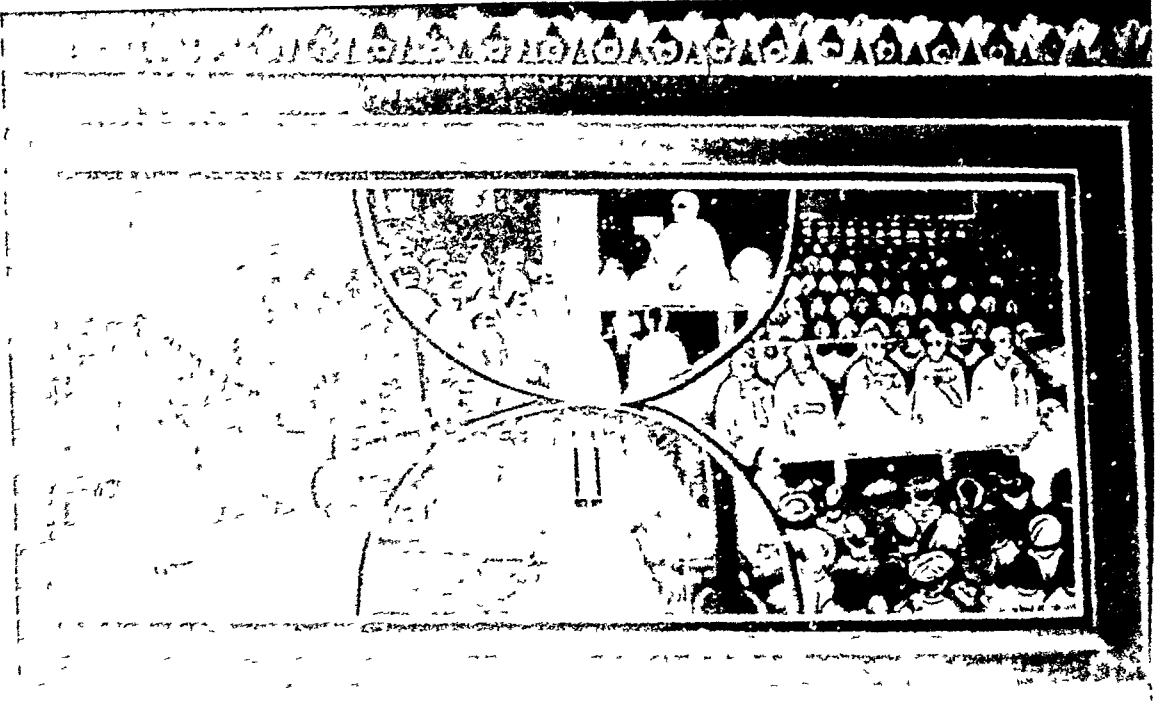
गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी म० का जैपुर, जोधपुर, अलवर और अमृतसर में [illegible]

प्रचार और प्रसार किया। पण्डित मुनि श्री रत्नचन्दजी महाराज ने अपनी विमल ज्ञान राशि का पंजाब, राजस्थान मध्यप्रदेश और विशेषत उत्तर प्रदेश के जन जीवन म महामेघ के समान हजार हजार धाराओ म बरसकर बिखेर दिया। अनेक स्थानो पर बलिप्रथा के रूप म प्रचलित पशुहत्या बन्द कराई। अन्ध विश्वास और अज्ञानता के आधार पर फले हुए वेश्या नृत्य मृत्युभोज जातिवाद और भूतप्रेतवाद का आपने दृढता से उन्मूलन किया। साधुसघ एव श्रावक सघ म आए शिथिलाचार और भ्रष्टाचार पर तो आप केशरी सिंह की तरह झपटते थे। आपकी वाणी म ओज था आप म निर्भयता थी, अन्तर म विवेक का विशुद्ध प्रकाश था, फलत जिस विषय पर भी बोल साध कर बोले, सचाई से बोले। यही कारण था कि आपको धर्म प्रचार के क्षेत्रो म सब ओर सफलता पर सफलता मिलती चली गई।

नवीन क्षेत्र

आप के धर्म प्रचार के परिणामस्वरूप अनेक नवीन-क्षेत्र बने। आगरा म लोहामण्डी और हाथरस, जलसर हरदुआगज लश्कर तथा जमुना पार म लुहारा सराय बिनौली एलम रुठौडा छपरौली दोघट एव लिसाढ-परासोला आदि अनेक क्षेत्र आप के धर्म प्रचारार्थ किए गए दीर्घकालीन परिश्रम के प्रतिफल हैं। यहाँ के लोगो म आज भी आपके प्रति विशेष भक्ति और धर्ममय अनुराग है। आगरा लोहामण्डी पर तो आपकी विशेष कृपा थी। यहाँ पर जो धर्मबीज का वपन हुआ वह आपके सामने ही अकुरित हो चुका था, और आगे चलकर तो वह इतना पुष्पित एव पल्लवित हुआ कि अखिल भारतीय स्थानकवासी जैन सघ म अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

अध्यापन

आपने अपने जीवन-काल म अनेक श्रावक और श्राविकाओ को, तथा साधु और साध्वियो को समय-समय पर शास्त्रो का अध्यापन कराया था। पजाब के सुप्रसिद्ध सन्त पूज्यपाद अमरसिंहजी महाराज महाकवि चन्द्रभानजी और आत्मारामजी महाराज—जो बाद म मूर्तिपूजक परम्परा म सूरीश्वर विजयानन्दजी के नाम से प्रसिद्ध हुए—आप के प्रधान यशस्वी विद्या शिष्य रह चुके थे। इनके सिवा भी प० कवरसेनजी महाराज, प० विनयचन्द्र जी महाराज और प० चतुरभुजजी महाराज आदि आपके अनेक शिष्यो ने भी आपसे ही अध्ययन किया था। अनेक साध्वियो एव श्रावको को भी आपसे ज्ञान-लाभ का सौभाग्य मिला था। आप मानवरूप म साक्षात् बहती हुई ज्ञान गगा थे जिधर भी गए अध्ययन मनन एव चिन्तन के मूल और उजड़े हुए मन हरे भरे हो गए।

स्वर साधना का चमत्कार

गुरुदेव का आगम और दर्शन शास्त्र का ज्ञान तो गुरु गम्भीर था ही अन्य विषयो का परिज्ञान भी अत्यन्त उच्चकोटि का था। आपके सम्बन्ध म अनेक अनुश्रुतियाँ जन समाज म प्रचलित हैं। आपकी स्वर-साधना के सम्बन्ध म एक महत्त्वपूर्ण घटना बहु चर्चित है। एक बार गुरुदेव बडौत (मेरठ) नगर

के उपाश्रय मे विराजमान थे। दश-बीस भक्त श्रावक तत्व-चर्चा कर रहे थे। इसी बीच नीचे बाजार मे से कुछ बहने गीत गाती हुई निकली। गुरुदेव कुछ देर के लिए रुके और बहनो के आगे बढ जाने के बाद प्रसग-चर्चा मे कहा कि गाने वाली बहनो मे वह तार स्वर वाली एक बहन अमुक जाति की है, अमुक रग की है, अमुक वय की है और एक आँख से कानी है। गुरुदेव ने बहनो को देखा नही था और न उनमे किसी प्रकार पूर्व परिचित ही थे। जब उपस्थित सज्जनो ने शीघ्र ही जाकर जाँच की, तो गुरुदेव के कथन का अक्षर-अक्षर सत्य पाया, और सब लोग आश्चर्य-चकित हो गए। स्थानाग और अनुयोगद्वार सूत्र के स्वर-मण्डल प्रकरण मे तथा अन्य अनेक ग्रन्थो मे स्वर-विषयक कितनी ही अद्भुत बातो का वर्णन है। परन्तु शास्त्रीय विषयो का पारायण कर लेना, उन्हे पढ लेना एक बात है, और उनके वास्तविक मर्म को समझ लेना दूसरी बात है। गुरुदेव के जैसा अनुभूति-गाम्भीर्य किसी रहस्य-वेदी योगी पुरुष को ही प्राप्त होता है।

भविष्य-द्रष्टा

गुरुदेव ज्योतिष शास्त्र के भी पारगत विद्वान थे। उनके चिन्तन-चक्षुओ के समक्ष तमसाच्छन्न भविष्य का निगूढ घटना-चक्र करतलामलकवत् स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता था। केवल ज्योतिषशास्त्र ही नही, उसके साथ योग-साधना का चमत्कार भी मिश्रित था। उनकी भविष्य वाणियो के अनेकविध उदाहरण है, जिनमे से कुछ लिखित है और कुछ जनश्रुत है। यहाँ परिचय के लिए कुछ घटनाओ का उल्लेख पर्याप्त होगा।

तपस्वी श्री सेवगरामजी, जो आचार्य श्री शिवरामदासजी के प्रशिष्य, तपस्वी देवकरणजी के शिष्य, एव तत्कालीन आचार्य तुलसीरामजी म० के बडे गुरु भ्राता थे, मनोहर सम्प्रदाय मे बडे ही प्रभावशाली तपोमूर्ति सन्त थे। आपका जन्म भिवानी (हरियाणा प्रान्त) के पास बापोडा ग्राम मे विक्रम स० १८२० मे हुआ और दीक्षा १८६१ पौषमास मे चरखी दादरी मे हुई। आप की तप साधना बडी ही उग्र थी। महीने भर का लम्बा उपवास होता, साथ ही विहार, व्याख्यान एव स्वाध्याय आदि का कार्यक्रम होता, और आप जब देखो तब प्रसन्न। बालक जैसा निर्मल और सरल हृदय! दीर्घावधि तप का भी न कोई प्रदर्शन और न कोई अहम्।

तपस्वीजी सिंघाणा (जयपुर राज्य) मे विराजमान थे। स्वस्थ शरीर, कोई व्याधि नही। कुछ अन्दर से लहर आई और अनुभूति हुई कि माघकृष्णा चौथ रविवार को आलोचना-सलेखना करके सथारा ग्रहण कर लिया, यावज्जीवन के लिए आहार का त्याग कर दिया। कुछ ही दिन पश्चात् पूज्य गुरुदेव दर्शनार्थ सेवा मे पहुँचे। तपस्वी जी और सघ का हृदय प्रेमोल्लास से तरगायित हो गया। कुछ दिन ठहर कर कुचामण (मारवाड) जैन सघ की भावभरी प्रार्थना को लक्ष्य मे रखकर जब विहार करने लगे, तो सघ ने कहा, "महाराजश्री! तपस्वी जी का सथारा है, न मालूम कब पूर्ण हो? आपकी अन्तिम काल मे उपस्थिति आवश्यक है।" भविष्य द्रष्टा गुरुदेव ने शान्तस्वर मे कहा —"अभी तपस्वी जी का

कुछ नही बिगडने वाला है। मैं वृन्दावन जाकर और वहाँ एक मास ठहर कर स्वर्गवास से पहले ही पुन गिंघाणा लौट आऊँगा।' तपस्वी जी मुस्कराए आना मिली। और ठीक स्वर्गवास से पहल तपस्वी जी क चरणा म लौट आए। दोना ही भविष्य द्रष्टा आना लेन वाल और आना दन वाल भविष्य क सम्बन्ध म कुछ इस प्रकार निश्चित थ कि कोई व्याकुलता नही कोई इधर उधर की अस्थिरता नही। तपस्वी जी छप्पन दिन का लम्बा सथारा पूर्ण कर फाल्गुन शुक्ला चतुर्दशी शुक्रवार को स्वर्गवासी हुए।

भविष्य दर्शन का दूसरी घटना पंजाब की है। पंजाब प्रान्त क महामहिम आचार्य पूज्य श्री अमरसिंह जी म० के गुरु भ्राता तपस्वी श्री जयन्ती लाल जी न पटियाला म तीन मास का सुदीर्घ घोर तपश्चरण किया था। बीच म स्वास्थ्य बिगडा, इतना बिगडा कि तपस्वी जी सथारा का तयारी करन लग। पूज्य गुरुदेव न तपस्वी जी स कहा कि अभी सथारा का समय नही आया है। सथारा आपको आएगा परन्तु अब नहीं तब। कहा जाता है, गुरुदेव क बताए समय पर ही तपस्वी जी सथारा प्राप्त कर स्वर्गवासी हुए।

अपने स्वय क स्वर्गवास के सम्बन्ध म भी गुरुदेव न महीनो पहल भविष्यवाणी करदी थी कि वैशाख शुक्ला पूर्णिमा शनिवार को दिन क दो बजन पर स्वर्गवास होगा और गुरुदेव का यह वचन शत प्रतिशत काल के काँटे पर सही निकला।

अनक श्रावक और श्राविकाओ के सथारा क सम्बन्ध म भी इसी प्रकार का तथ्य पूर्ण जनश्रुतियां हैं जो विस्तारभय से नहीं लिखी जा रही हैं।

श्रद्धा की अमर ज्योति

गुरुदेव अपन युग क प्रकाण्ड पण्डित कवि प्रभावक प्रवचनकार और यशस्वी साहित्यकार थ। जन और अजन जनता म उन्ह सवत्र एक दिव्य महापुरुष जसा सत्कार सम्मान प्रतिष्ठा और जयजयकार मिलता था। इतने यशस्वी और महान् होते हुए भी आप अपन पूज्य गुरुजनो क प्रति अटूट श्रद्धा भक्ति रखत थ। आपके समय म प्रथम पूज्य नूणकरण जी आचार्य थे। आप आचार्य श्री के अनुशासन म रहकर उनकी यह उल्लेखनीय भक्ति और सेवा करत थ कि आचार्य श्री गद्‌गद हो जात थे। आचार्य श्री की शुभाशी आपको मुक्त-भाव स मिली और इतनी मिली कि आचार्य न होते हुए भी आपने आचार्य जसा उच्च गौरव प्राप्त किया। आचार्य नूणकरण जी महाराज की स्तुति में आपके द्वारा बनाए गए दोहा कवित्त और अन्य पद्य आपकी सहज निर्मल उत्कृष्ट आचार्य भक्ति का आज भी सप्रमाण शखनाद करते हैं।

आचार्य श्री नूणकरण जी क स्वर्गवास क पश्चात् आपके ही अनुरोध पर सर्वसम्मति से पूज्य श्री तुलसीराम जी आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य श्री की दीक्षा विक्रम सवत् १८६७ आषाढ मास म चरखी दादरी म हुई थी। दीक्षा म आपसे दो ही महीने बड़े थ। फिर भी आप आचार्य श्री

की आज्ञा का शिष्य के समान पालन करते थे। आचार्य श्री की भक्ति का वह आदर्श प्रस्तुत किया, जो समस्त सघ मे अनुशासन का एक महान् चिर-यशस्वी आदर्श ही बन गया।

विनम्रता की प्रतिमूर्ति

गुरुदेव जितने महान् थे, उतने ही विनम्र भी थे। आप एक पुष्पित एव फलित विशाल वृक्ष के समान ज्यो-ज्यो महान् हुए, यशस्वी हुए, प्रख्यात एव प्रतिष्ठित हुए, त्यो-त्यो अधिकाधिक विनम्र होते चले गए। गुरुजनो के प्रति ही नही, अपने से लघु जनो के प्रति भी आपका हृदय प्रेम से छलकता था। छोटे से छोटे साधुओ की भी रोगादि कारण मे आपने वह सेवा की है, जो आज भी यशोगाथा के रूप मे गाई जा रही है।

आप अपने युग के महान् शास्त्राभ्यासी और गम्भीर विद्वान् थे। आपकी प्रतिष्ठा जनता मे सर्वत्र अपने चरम बिन्दु पर पहुँची हुई थी, फिर भी आप अहकार से दूर थे और अपने को एक साधारण जिज्ञासु मात्र समझते थे। केवल समझते ही न थे, अपितु स्वरचित ग्रन्थो मे अपनी लघुता का मुक्तभाव से सर्वथा नि सकोच होकर उल्लेख करते थे। मोक्ष मार्गप्रकाश की प्रशस्ति मे आपने अपने सम्बन्ध मे लिखा है —

बार-बार कर जोड कर गुणवन्त सू अरदास।
अल्प-बुद्धि मोहि जान के मत कीजो उपहास॥
दूषम आरे पाचवें कर्म-जोग अवतार।
मोह मिट्यो नहिं पर थकी, पूरण विषय-विकार॥
मन वच काया वश नही, जिन आज्ञा परमान।
सजम-आराधन कठिन, पड्यो मोहवश जान॥

सत्ता से निर्लिप्त

मानव सत्ता का दास है, अधिकार-लिप्सा का गुलाम है। गृहस्थ-जीवन मे क्या, साधु-जीवन मे भी सत्ता मोह के महारोग से छुटकारा नही हो पाता है। ऊचे से ऊचे साधक भी सत्ता के प्रश्न पर पहुँच कर लडखडा जाते है। जैन धर्म की एक के बाद एक होने वाली शाखा-प्रशाखाओ के मूल मे यही सत्ता-लोलुपता और अधिकार-लिप्सा रही है। आचार्य आदि पदवियो के लिए कितना कलह और कितनी विडम्बना होती है, यह किसी से छुपा नही है।

परन्तु गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी म० इस दोष से मुक्त थे। सत्ता और अधिकार के मोह से सर्वथा निर्लिप्त थे। आपने जहा कही अपने नाम का प्रयोग किया है, केवल रतन या रत्नचन्द्र लिखा है। विक्रम सवत् १९१८ भाद्रपद शुक्ला छठ के दिन सिंघाणा मे जब आचार्य श्री तुलसीराम जी का स्वर्गवास हुआ, तब समग्र सघ ने एक मत होकर आपसे आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। परन्तु आपने
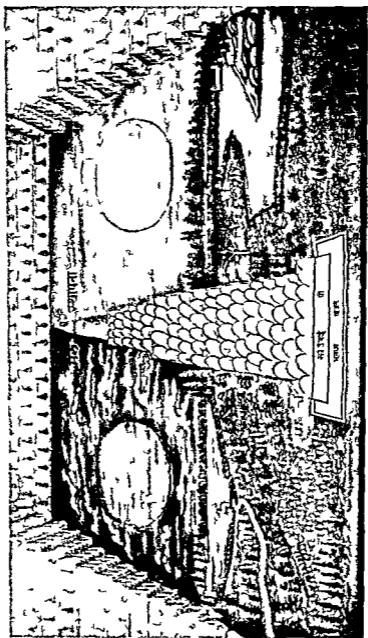
कहा मैं तो सामान्य साधु के रूप में संघ की यथाशक्ति सेवा करना चाहता हूं। आचार्य जैसे गुरुतर पद भार को मैं नहीं वहन कर सकता। कितना सरस विनम्र एवं हृदयस्पर्शी उत्तर है। महापुरुष कर्तव्य में विश्वास रखते हैं किसी पद या पद की सत्ता में नहीं।

लेखन-कला

आपका अक्षर लेख इतना सुन्दर है कि मानो कागज पर यथास्थान मोती जड दिए हों। प्रबुद्ध पाठक बिना कहीं रुके धारा प्रवाह आपका हस्तलेख पढ़ सकता है और साथ ही भावार्थ भी ग्रहण कर सकता है। अक्षर-सौन्दर्य के साथ शुद्धता स्पष्टता और सुवाच्यता भी आपके लेखों के महत्त्वपूर्ण गुण हैं।

कब, कहां और क्या लिखा ?

१ विक्रमाब्द १८६६ सिंघाणा के चौमासे में जीवाभिगम सूत्र।
२ ,, १८७३ माघ, आगरा में काल ज्ञान'।
३ १८७४ जाद के चौमासे में अनुत्तरोपपातिक सूत्र।
४ १८७६ नारनौल के चौमासे में साधु गुण माला और ठाणांग सूत्र।
५ , १८८८ चैत्र अलवर में कलियुगबत्तीसी।
६ ,, १८८८ आषाढ़ लश्कर में तेरह काठिया।
७ १८६३ आगरा में भरत बाहुबली संवाद।
८ १८६८ बिनौला के चौमासे में मार्ग मार्ग प्रकाश।
९ , १८६६ आगरा मोती कटरा के चौमासे में आत्महित सज्झाय।
१० , १६१५ बडौत के चौमासे में सजया।

इनके अतिरिक्त भगवती-सूत्र दशवैकालिक-सूत्र आदि और अन्य फुटकर प्रश्नोत्तर साहित्य भी आपने काफी लिखा है, परन्तु निश्चित जानकारी के अभाव में यहाँ उनके सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं लिखा जा सकता है।

साहित्य साधना

एक बहुश्रुत का कथन है कि अधिकतर जन-समाज के चित्त में चिंतन का प्रकाश ही नहीं होता। कुछ ऐसे भी विचारक होते हैं जिनके चित्त में चिंतन की ज्योति तो जगमगा उठती हैं परन्तु उसे वाणी के द्वारा प्रकाशित करने की क्षमता ही नहीं होती। और कुछ ऐसे भी हैं जो चिन्तन कर सकते हैं अच्छी तरह बोल भी सकते हैं परन्तु अपने चिन्तन एवं प्रवचन को चमत्कार पूर्ण भाषा से लिखकर साहित्य का रूप नहीं दे सकते।

श्रद्धेय गुरुदेव को उक्त तीनो ही भूमिकाओ मे कमाल हासिल था। जहाँ उनका चिन्तन और प्रवचन गम्भीर एव तत्त्वस्पर्शी था, वहाँ उनकी साहित्यिक रचनाएँ भी अतीव उत्तम कोटि की है। गुरुदेव के साहित्य मे गुरुदेव की आत्मा बोलती है। उनकी रचनाएं केवल रचना के लिए रचनाएँ नही है, अपितु उनमे उनके शुद्ध, पवित्र एव सयमी जीवन का अन्तर्नाद मुखरित है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, ठीक है, परन्तु इतना ही नही, वह स्वय लेखक के अन्तर्जीवन का भी दर्पण होता है। गुरुदेव का साहित्य आत्मानुभूति का साहित्य है, व्यक्ति एव समाज के चरित्र-निर्माण का साहित्य है। गुरुदेव की साहित्य गगा मे कही सैद्धान्तिक तत्त्व-चर्चा की गहराई है, तो कही चरित्र ग्रन्थो की उत्तुग तरगे है। कही स्तुति, भजन और उपदेश पदो का भक्ति-प्रवाह है, तो कही आध्यात्मिक भावना का मधुर-घोष है। आपके द्वारा रचित अनेकविध स्फुट अध्यात्मपद आज भी सहस्र जनकण्ठो मे मुखरित होते रहते है।

गुरुदेव के द्वारा लिखित साहित्य का अधिकाश भाग अभी अप्रकाशित पडा है। कुछ भाग उपलब्ध भी नही है। फिर भी, जो कुछ प्राप्त है, जानकारी मे है, उनका सक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

मोक्षमार्ग-प्रकाश

उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वे अध्ययन पर यह एक स्वतन्त्र व्याख्यारूप ग्रन्थ है। इसमे सप्तभगी स्याद्वाद, नय और निक्षेपो का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया है कि गुरुदेव के तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी पाण्डित्य एव बहुश्रुतत्व का पूर्ण दर्शन होता है। निश्चय एव व्यवहार सम्यक्त्व, द्रव्यपूजा एव भावपूजा, धर्मास्तिकाय आदि षड्द्रव्य, गुणस्थान, कर्मवाद आदि का भी यथास्थान गभीर विवेचन किया है। प्रतिपादित सिद्धान्त के समर्थन मे भगवती-सूत्र, स्थानाग, समवायाग, राजप्रश्नीय ज्ञातासूत्र, अनुयोगद्वार आदि आगमो के और तत्वार्थ-सूत्र एव गोमट्टसार आदि तत्त्व ग्रन्थो के प्रचुर उद्धरण दिए है, जो गुरुदेव के शास्त्रीय अध्ययन की व्यापकता प्रमाणित करते है।

ग्रन्थ तत्कालीन हिन्दी गद्य मे लिखा गया है, जिसमे राजस्थानी भाषा का पुट है। विषय गभीर एव दार्शनिक होते हुए भी प्रतिपादन-शैली इतनी सरल एव सुबोध है कि साधारण जिज्ञासु भी उक्त ग्रन्थ के अध्ययन से अपनी तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति कर सकता है।

मोक्षमार्ग प्रकाश का हिन्दी रूपान्तर, गुरुदेव के ही प्रशिष्य प० श्री भरतमुनि जी के द्वारा सपादित होकर लोहामडी सघ से बहुत वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। उसी का द्वितीय सस्करण प० विमलकुमार जी द्वारा सशोधित होकर दोघट (मेरठ) से प्रकाशित हुआ है। हिन्दी रूपान्तर अभी और अधिक परिमार्जन की अपेक्षा रखता है।

तत्त्वानुबोध

जैन-दर्शन मे जीव, अजीव, पाप, पुण्य, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये नव तत्त्व माने गए है। प्राचीन आगमो एव ग्रन्थो मे इनका विस्तार से वर्णन उपलब्ध है। नवतत्त्व के नाम से

प्राकृत संस्कृत राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी में अनेक स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ भी लिखे गए हैं। गुरुदेव ने भी नवतत्त्व पर पाण्डित्यपूर्ण गंभीर विवेचना की है। प्रत्येक स्थल के विषय विवेचन में गुरुदेव का तत्त्व चिन्तन स्पष्ट झलकता है। जो कुछ लिखा है प्रमाण पुरस्सर एवं तर्क संगत लिखा है। नव तत्त्व के गम्भीर अभ्यासियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ गद्य में है। भाषा राजस्थानी मिश्रित तत्कालीन हिन्दी है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के यशस्वी प्रकाशक श्रावक भीमसिंह माणक (बम्बई) द्वारा प्रकरण रत्नाकर नामक संग्रह ग्रन्थ के प्रथम भाग में यह ग्रन्थ बहुत वर्षों पहले प्रकाशित हुआ है। विद्वानों की दृष्टि में नवीन संशोधन एवं सम्पादन पद्धति के साथ उक्त ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन अपेक्षित है।

प्रश्नोत्तर माला

प्रस्तुत ग्रन्थ में धार्मिक और तात्त्विक प्रश्नों का बहुत ही सुन्दर शैली में उत्तर दिया गया है। यद्यपि प्रश्नोत्तर माला ग्रन्थ बहुत बड़ा नहीं है तथापि इस छोटे से ग्रन्थ में ही पूज्य गुरुदेव ने सागर को गागर में भर दिया है। इसके प्रश्न न केवल उस युग के ही नहीं अपितु शास्त्रीय प्रश्नों को भी हल किया गया है। पूज्य गुरुदेव अपने युग के सुप्रसिद्ध तत्त्वदर्शी सन्त थे। अतः इधर उधर से अनेक प्रश्न उनके पास समाधान के लिए आते थे उन्हीं प्रश्न और उत्तरों का यह संकलन है। किन्तु प्रश्नोत्तर माला अभी लिखित रूप में ही है वह प्रकाशित नहीं हो पायी है।

गुण स्थान विवरण

यह ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आगम साहित्य में यत्र तत्र गुण स्थानों की चर्चा और विचारणा उपलब्ध होती है। समवायाङ्गसूत्र में और उसकी अभयदेव वृत्ति में गुणस्थानों का संक्षिप्त वर्णन मिलता है। इसके बाद कर्म ग्रन्थों में गुणस्थानों का बड़े विस्तार से वर्णन आचार्य देवेन्द्रसूरि ने किया है। इस प्रकार आगमेत्तर साहित्य में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से गुणस्थानों का विश्लेषण किया है।

पूज्य गुरुदेव ने उक्त समस्त ग्रन्थों के सारूप में गुणस्थान विवरण लिखा है। इस ग्रन्थ में गुणस्थानों के लक्षण बन्ध सत्व उदय और उदीरणा आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। परन्तु गुण स्थान विवरण भी अभी तक अप्रकाशित ही है।

इसके अतिरिक्त समय-समय पर की गई विचार चर्चाओं पर भी संक्षेप में छोटे छोटे ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें दिगम्बर चर्चा तेरहपंथमत चर्चा और संवत्सरी चर्चा मुख्य हैं।

कविता-साहित्य

पद्य रूप में पूज्य गुरुदेव ने जिन स्तुति, सतीस्तवन प्रार्थना संसार-वैराग्य बारह भावना बारह मासा आदि पर कुछ आध्यात्मिक पद्य लिखे हैं जिनमें कुछ प्रकाशित हो चुके हैं और कुछ अभी तक

अप्रकाशित है। बहुत वर्षों पहले पण्डित रत्न पूज्य श्री रघुनाथजी म० द्वारा सम्पादित 'मनोहर-रत्न ग्रन्थावली" मे गुरुदेव की महत्त्वपूर्ण कविताओ का सक्षिप्त सग्रह प्रकाशित हुआ था। वर्तमान मे तपस्वी श्री श्रीचन्द्रजी म० के सम्पादकत्व मे "रत्न-ज्योति' नाम से भी कुछ विशिष्ट पद्यो का सग्रह दो भागों मे प्रकाशित हो चुका है।

पद्यो के अतिरिक्त उन्होंने कुछ छन्दो बद्ध चरित्र भी लिखे है, जिनमे 'सुगनानन्दमनोरमाचरित्र" विस्तृत है। भाव तथा भाषा की दृष्टि से यह रचना महत्त्वपूर्ण तथा सुन्दर है। यह चरित्र अभी तक प्रकाशित नही हो सका है। किन्तु उनके द्वारा रचित "नगर-चरित्र" और 'इलायची चरित्र" प्रकाशित हो चुके है। उक्त जीवन चरित्रो मे विभिन्न छन्द और विभिन्न स्वर लहरियो का समावेश करके इन्हे जनगेय बना दिया गया है। कथावस्तु के साथ यथाप्रसग दान, शील तप, भाव और वैराग्य आदि का वह विचारोत्तेजक वर्णन भी उपनिबद्ध है, जो पाठक की अन्तरात्मा को जागृत करके उसे जीवन-निर्माण के लिए प्रोत्साहित करता है।

शास्त्र-चर्चा

आपकी तर्क-शक्ति बडी ही विलक्षण थी। शका-समाधान के क्षेत्र मे आपका यश प्रतिष्ठा के केन्द्रबिन्दु पर पहुँच गया था। आपने अपने युग मे अनेक शास्त्र-चर्चाएँ की थी, जिनमे लश्कर और जयपुर की शास्त्र-चर्चा विशेष प्रसिद्ध है। लश्कर मे सवत् १६१८ मे श्री रत्नविजय जी से मूर्ति-पूजा पर और जयपुर मे सवत् १६१० मे तेरापन्थ के आचार्य पूज्य श्री जीतमल जी से दया एव दान पर की गई चर्चा के कुछ लिखित अश अब भी उपलब्ध है, जो आप श्री के अगाध आगमज्ञान, सूक्ष्म तर्क-शक्ति एवं सामयिक सूझ-बूझ का हृदयग्राही परिचय देते है। इसके सिवा तत्कालीन अनेक समस्याओ पर यतियो से और आगरा मे एक ईसाई पादरी से भी ईश्वर के कर्तृत्व पर आप ने शास्त्र-चर्चा की थी।

अन्तिम-साधना

सुन्दरी उषा का प्रत्येक चरण-विन्यास, बहुरगी सन्ध्या मे विलीन होता है। अथ के साथ इति लगी रहती है। विक्रम सवत् १६२१ मे वैशाख शुक्ला द्वादशी बुधवार को सथारा ग्रहण किया और वैशाखी पूर्णिमा शनिवार के दिन जन-जीवन को आलोकित करने वाला वह दिव्य आलोक दिव्य-लोक का यात्री हो गया। विवेक और वैराग्य का प्रखर भास्कर—जो राजस्थान के क्षितिज पर उदय हुआ था वह उत्तर प्रदेश के अस्ताचल पर अस्त हो गया। आगरा लोहामण्डी के जैन भवन मे सथारा की साधना विधिवत् पूर्ण करके पूज्यपाद श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्रजी महाराज ने इस असार ससार को छोडकर अमर पद प्राप्त किया।

अन्तिम-सन्देश

आपने अपने भक्तो को अन्तिम सन्देश देते हुए कहा था। आप सब लोग धर्म की साधना करते रहना। अपनी श्रद्धा को शुद्ध और पवित्र रखना। अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म को जीवन मे उतारने
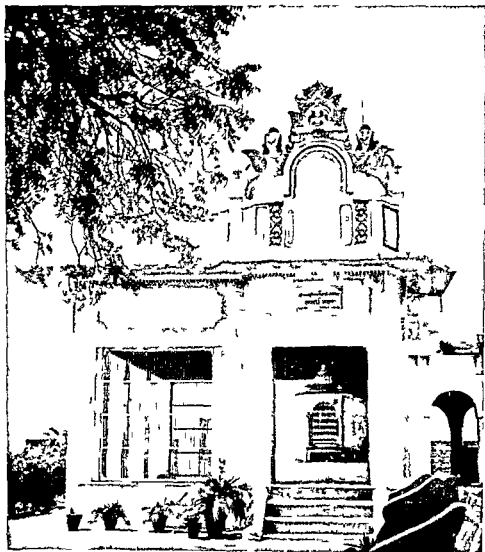
समाधि-भवन

श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

अरिहंताणं
सिद्धाणं
आयरियाणं
उवज्झायाणं
सव्वसाहूणं

छायाकार :—
श्रवण कुमार जैन

जती गली
- आगरा

समाधि

पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

का प्रयत्न करना। परस्पर प्रेम भाव के साथ रहना। अपने धर्म, दान और संस्कृति का प्रसार तथा प्रचार करते रहना। अपनी आत्मा को पावन और पवित्र रखने के लिए वीतराग मार्ग पर अग्रसर होते रहना। तुम अपने धर्म की रक्षा करना और वह धर्म तुम्हारे जीवन की और तुम्हारी संस्कृति की रक्षा करेगा।

पूज्य गुरुदेव की शिष्य-परम्परा तब से अब
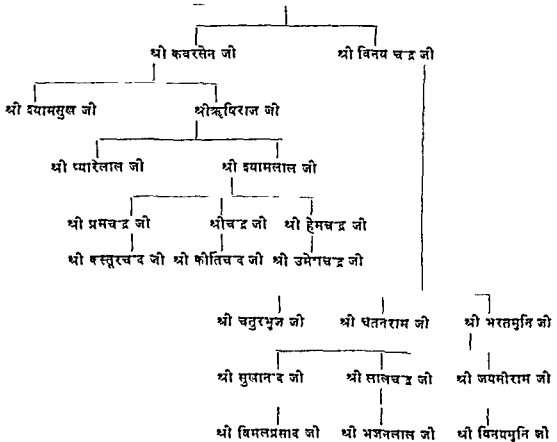
वर्षावास कब और कहाँ?

गुरुदेव विक्रम संवत् १८९२ में दीक्षित हुए हैं और १९२१ में स्वर्गवासी होते हैं। दीर्घकाल तक संयमी जीवन में रहकर दूर-दूर तक के प्रदेशों में धर्म प्रचार किया। अतएव आपका जीवन अनेकविध घटनाओं से पुण्योद्यान-सा समृद्ध रहा है। मध्य युग में महापुरुषों की जीवन घटनाएं प्रायः जन-श्रुति के रूप में चलती रही हैं, लेखन में बहुत ही कम आई हैं। अतएव गुरुदेव के विराट जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ लेखन के अभाव में धीरे धीरे जन जिह्वा पर से भी ओझल होती चली गई। फलस्वरूप आज हम उन सबसे वंचित हो गए हैं। गुरुदेव के वर्षावास (चौमास) कब और कहाँ हुए यह भी स्पष्ट कहीं लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है फिर भी मैं उद्देय मंत्री मुनि श्री पृथ्वीचन्द्र जी म० तपस्वी

श्री श्रीचन्द्र जी और मुनि श्री भजनलाल जी और आगरा के सुश्रावक श्री प्रभुदयाल जी के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उनके सहयोग से मेरा मार्ग काफी प्रशस्त हुआ है। तपस्वी श्री श्रीचन्द्र जी, गुरुदेव के वर्षावासो के सम्वन्ध मे वर्षो से शोध कर रहे हैं और उन्होने वर्षावास की एक निश्चित तालिका तैयार की है। श्री प्रभुदयाल जी के शास्त्र सग्रह से भी महत्त्वपूर्ण जानकारी मिली है। अन्य मुनिराजों द्वारा लिखे गए गुरुदेव के छोटे वडे जीवन चरित्रो से भी कुछ जोड तोड लगाया गया है। इन्ही सव आधारो को लक्ष्य मे रखकर जीवन-रेखा अकित की गई है, और अव यह वर्षावास की तालिका भी प्रस्तुत की जा रही है।

विक्रम सवत्	क्षेत्र	
१८६२	नारनौल	(पजाव)
१८६३	भिवानी	(हिसार)
१८६४	हाँसी	(हिसार)
१८६५	नारनौल	(पजाव)
१८६६	सिंघाणा	(शेखावाटी)
१८६७	कुचामण	(मारवाड)
१८६८	भरतपुर	(राजस्थान)
१८६९	मालेरकोटला	(पजाव)
१८७०	अमृतसर	(पजाव)
१८७१	महेन्द्रगढ	(पजाव)
१८७२	पटियाला	(पजाव)
१८७३	वडौत	(उत्तरप्रदेश)
१८७४	जीद	(पजाव)
१८७५	मालेरकोटला	(पजाव)
१८७६	काधला	(मुजफ्फरनगर)
१८७७	नाभा	(पजाव)
१८७८	पटियाला	(पजाव)
१८७९	नारनौल	(पजाव)
१८८०	सिंघाणा	(शेखावाटी)
१८८१	एलम	(मुजफ्फरनगर)
१८८२	अमृतसर	(पजाव)
१८८३	दादरी	(पजाव)
१८८४	वामनौली	(उत्तर प्रदेश)
१८८५	वडौत	(उत्तर प्रदेश)
१८८६	आगरा	(उत्तर प्रदेश)

विक्रम संवत्	क्षेत्र	
१८८७	दिल्ली शहर	
१८८८	लश्कर	(मध्यप्रदेश)
१८८९	अलवर	(राजस्थान)
१८९०	जयपुर	(राजस्थान)
१८९१	बीकानेर	(राजस्थान)
१८९२	आगरा शहर मानीकटरा	(उत्तर प्रदेश)
१८९३	कुचामण	(मारवाड़)
१८९४	बिनौली	(मेरठ)
१८९५	जोधपुर	(मारवाड़)
१८९६	पटियाला	(पंजाब)
१८९७	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१८९८	बिनौली	(मेरठ)
१८९९	दिल्ली शहर	
१९००	उज्जैन	(मध्य प्रदेश)
१९०१	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१९०२	आगरा लोहामंडी	(उत्तर प्रदेश)
१९०३	अलवर	(राजस्थान)
१९०४	एलम	(उत्तर प्रदेश)
१९०५	जलेसर	(उत्तर प्रदेश)
१९०६	लखनऊ	(उत्तर प्रदेश)
१९०७	हाथरस	(उत्तर प्रदेश)
१९०८	गढ़ा मियावाली	(उत्तर प्रदेश)
१९०९	सुनाम	(पंजाब)
१९१०	आगरा-लोहामंडी	(उत्तर प्रदेश)
१९११	बिनौली-मेरठ	(उत्तर प्रदेश)
१९१२	हरदुआ गंज	(अलीगढ़)
१९१३	डीग	(भरतपुर)
१९१४	आगरा-लोहामंडी	(उत्तर प्रदेश)
१९१५	बड़ौत	(उत्तर प्रदेश)
१९१६	अम्बाला शहर	(पंजाब)
१९१७	लश्कर	(मध्य प्रदेश)
१९१८	आगरा शहर	(उत्तर प्रदेश)
१९१९	दिल्ली शहर	
१९२०	आगरा लोहामंडी	(उत्तर प्रदेश)

उपसंहार

●

भारतीय संस्कृति के मौलिक तत्व हे—त्याग, तपस्या और वैराग्य । भारतीय जन-जीवन के कण-कण मे ये मौलिक तत्व इतने घुल-मिल गए है कि जीवन मे एकमेक हो गए है । भारतीय सस्कृति के मूल मे भोग नही, त्याग है । यह भौतिक नही, आध्यात्मिक है । भारतीय सस्कृति क्या है ? भोगवाद पर त्यागवाद की विजय । तन पर मन का जयघोप । वासना पर सयम का जयनाद और क्या है, वह ? विचार मे आचार, और आचार मे विचार ।

जिस साधु-चरित महापुरुप ने इस शाश्वत सस्कृति की रक्षा की है—उसे भूलकर भी भुलाना कठिन है, शक्य नही है । पूज्यपाद गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज उसी अमर-सस्कृति के उद्‌गाता, सजग प्रहरी और सतेज अधिनेता थे ।

गुरुदेव क्या थे ? ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय । विचार मे आचार, और आचार मे विचार । वे थे, मनोविजेता, अतएव वे थे, जगतो विजेता । उन्होने निर्मल और अगाध ज्ञान पाया, पर उसका अहकार नही किया । उन्होने महान त्याग किया, परन्तु त्याग का मोह उनके मन मे नही था । उन्होने उत्कृष्ट तपस्या की, किन्तु उसका प्रचार नही किया । उन्होने वैराग्य की उत्कट साधना की पर, उसका प्रसार नही किया ।

जन्म, जीवन और मरण—यह कहानी है, मनुज की । परन्तु गुरुदेव का जन्म था कुछ करने के लिए । उनका जीवन था, पर-हित साधन के लिए । उनका मरण था, फिर न मरने के लिए ।

वचपन, जवानी और बुढापा—यह इतिहास है, मानव का । किन्तु उन्होने नया मोड दिया, इस इतिहास को । उनका वचपन खेल-कूद के लिए नही था, वह था ज्ञान की साधना के लिए । उनकी जवानी भोग के लिए नही, वह थी सयम की साधना के लिए । उनका बुढापा अभिशाप नही, वह था एक मगलमय वरदान । पूज्य गुरुदेव ने अपने जीवन का सर्वस्व समर्पित कर दिया था, सर्वजन-हिताय और सर्वजन-सुखाय ।

श्रद्धाञ्जलि

श्री दौलतसिंह कोठारी जी
[अध्यक्ष विश्वविद्यालय अनुदान आयोग]

मुनि श्री रत्नचन्द्र जी महाराज १६ वीं सदी के उच्चकोटि के साधु थे। उनके उच्च आचार और विचार भारतीय सस्कृति के प्रतीक थे। आत्म भावना करते हुए भी उन्होने अपने जीवन को मानवमात्र के उदय और कल्याण के लिए लगा दिया, विशेष रूप से पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश मे उन्होने बडे पमाने पर जन जागरण का काम किया। इस भारतीय विभूति की स्मति को बनाए रखने के लिए 'रत्नमुनि स्मृति ग्रथ' का आयोजन उचित ही है। इस पुनीत अवसर पर मैं मुनि श्री महाराज के प्रति हृदय से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ और इस स्मति ग्रन्थ के आयोजन की सफलता चाहता हूँ।
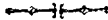
गुरुदेव श्रद्धाञ्जलि

काव्यतीर्थ तर्कमनीषी पण्डित जीतमल्लजी

पञ्चाचार-परायण सुगुणवान् सयत्नवान् योऽभवत्,
य भव्या. समुपाश्रिता शिव-रमा-सौन्दर्य-सौख्याय च ।
दग्ध येन समग्र-दुर्नय-वन मोहारिमल्लो-जित ,
यस्मै च स्मरणाञ्जलि सुविधिना सन्तोऽर्पयन्ति प्रगे ॥
यस्माद् भीतमिवाखिलेन्द्रिय-दलं दीन प्रलीनं कृत
यस्यादेययश सुधां हि सरसा पीत्वा प्रतृप्ता बुधा ।
यस्मिन्सत्यपि वादिभि र्न च कदा लब्धा जयश्री क्वचित्,
तस्मै श्रीयुत-रत्नचन्द्र-मुनये श्रद्धाञ्जलि मे सदा ॥

रागोरगाणो विष-वारणाय,
जानन्ति केचिद् विषहारि रत्नम्
भव्यैकवाञ्छा परिपूरणार्हं,
परे तु चिन्तामणिरत्न-सज्ञम् ॥
दुर्नह्य-माया-मल-शोधनार्थं,
मन्ये जना स्फटिकरत्नमेव ।
प्रगाढमज्ञानतमो निहन्तु-
मालोक-शील मणिरत्नकञ्च ॥
अध्यात्म-कोषस्य नव मनोज्ञ-
ममूल्य-रत्नं च यमामनन्ति ।
भवन्तमप्येकमनेकरूपं;
नमाम्यहं तं मुनिरत्न-रत्नम् ॥

जीयाच्चिरं रत्नमुनीन्द्र-कीर्तिः
ततोऽमरेन्दु-व्रति-सत्प्रयत्न. ।
महोत्सवोऽप्येष शताब्दकल्यो—
ल्लसत्स्थितौ पूर्णतया सहैव ॥

★

गुरु-रत्नाष्टक

आचार्य चन्दनलाल पाराशर पीयूष

पवित्रं दिनं धन्यमेतत्समेभ्यो—
गुरो रत्नचन्द्रस्य पुण्या शताब्दीम् ।
समे सर्वभावेन भूत्वा सहर्षं,
मिमां मानयन्त्यद्य दिव्यं स्थलेऽस्मिन् ।

स पूज्यः स वन्द्यः प्रशस्यः स सेव्यः
स धन्यो वरेण्यः स मान्यः शरण्यः ।
नमस्यः स गण्यो यशस्योऽह्युपास्यः
स सभ्यः स भव्यः स दिव्यः सनम्यः ।

वयं कुर्म आशां सदा सर्वधर्मा,
शुभाशीर्जनेभ्यो विधेयाऽधुनयम् ।
भवेन्न्यायमेतस्य सङ्घस्य पूर्णं
शिवं सुन्दरं सत्यरूपं सदैव ।

इदं तस्य सङ्घस्य सर्वं कुटुम्बं
करोत्यर्चना ते विशेषेण दिव्याम् ।
भवेद् भूतिरेषा जगत्यां समस्या
सदा निश्चला चन्द्रसूर्यौ च यावत् ।७।

स्वरूपा सुतोऽस्य स लक्ष्मी गुरुणां
सुशिष्यः प्रधानः प्रसिद्धः परार्थी ।
पिता गङ्गारामो महान् व वरिष्ठः
सुतो येन लब्धः सुधीरः सुवीरः ।

महाशून्य-मध्ये तमस्तोम भूरि—
निमग्नो जनोऽस्य तत्र दिनेशः ।
प्रकाशः प्रदत्तः पृथिव्यां प्रभूत—
स्त्वया सर्वबन्धो 'गुरो' ज्ञानराशे ।

तव स्नेह राशिं वयं प्राप्य सर्वां
सदा स्याम पूर्णा अपूर्णा इदानीम् ।
ददात्वद्य शक्तिं समस्तां स्वकीयां
जनो जागृतो यन स्यात्सर्वशान्तः ।

शुभाद्यास्ति पुण्या शताब्दी तवैषा
गुरो ! तत्क्षणं श्रद्धया पुण्यमेतत् ।
गृहीत्वा कृपां त्वं जनेषु प्रकृत्य
सुपूर्णं करोत्वद्य सर्वं त्वदायम् ।

भाव-भरित श्रद्धाञ्जलि

पण्डित प्रवर, मुनि श्रीलालचन्दजी
'श्रमण, काव्यतीर्थ न्यायतीर्थ'

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, मणीसु व चिन्तामणी।
पाविअ त मुणि-सघे, मुणीसो रयणो अहू ॥

जिस प्रकार मगलो मे उत्कृष्ट मगल धर्म है और मणियो मे रत्न चिन्तामणि है, उसीप्रकार मुनि सघ मे धर्म को प्राप्त कर मणियो मे रत्न चिन्तामणि के समान रत्नमुनि हुए।

ससमत्ताइ णाणाइ, अहिंसा सजमो तवो।
एएहिं तिहि रयणेहि, राइणिओ हु सो अभू ॥

सम्यक्त्व सहित, ज्ञानादिक से तथा अहिंसा, सयम और तप से—इन तीन रत्नो से वे रत्नत्रयी की भाति रत्नस्वरूप थे।

भद्दवए जाओ गिहे, सघेसु दिक्खिओ तहा।
देवा वि त नमसति, भद्दवए ठिय जो नरो ॥

भाद्रपद मास मे गुरुदेव ने जन्म लिया था। भाद्रपद मे घर मे जन्मे-और भाद्रपद मे ही सघ मे दीक्षित हुए। इस प्रकार जो भाद्रपद यानी भद्रता के पद पर स्थित है, उसे देवता भी नमस्कार करते है।

निग्गच्छिअ किण्हपक्खा, आयाइ सुहे सुक्किले।
वेसाहि गइ प्पपोति, जस्स धम्मे सया मणो ॥

भाव भरित श्रद्धाञ्जलि

कृष्ण पक्ष के बीतने पर शुक्ल पक्ष आता है। इसी प्रकार रत्नमुनि ने अज्ञान तिमिर से निकल कर जन्म के अनन्तर शुक्ल पक्ष में शुभ एवं शुक्ल ध्यान ध्यान में प्रवेश किया। जिसका मन सदा धर्म में रत रहता है वह ऊर्ध्वगामी गति को प्राप्त करता है। गुरुदेव का जीवन वृक्ष शाखाहीन (सन्तान विहीन) था और उन्होंने पवित्र गति को यानी दिव्यलोक को प्राप्त किया था।

जहा दुमस्स पुप्फेसु, आमोआइआ ज गुणा।
सोह वड्डावेन्ति तहा सघस्स मुणीस गुणा॥

जिस प्रकार पुष्पों में बसने वाले सुगन्धादिक गुण वृक्ष की श्री बढ़ाते हैं उसी प्रकार मुनियों में रहने वाले गुण संघ की शोभा बढ़ाते हैं। गुरुदेव के गुण इसी प्रकार मुनि संघ की श्री बढ़ाने वाले थे।

समणो सावओ चेव भमरो आवियइ रस।
भमरो वि रयण सो, रस वाईअ सव्वओ॥

श्रमण और श्रावक भ्रमर (मधुकरी) वृत्ति धारण कर भ्रमणशील होने पर ही रस का ग्रहण करते हैं। किन्तु रत्न मुनि श्री भ्रमर यानी भ्रमणशील होने पर भी रस को स्वयं ग्रहण न कर सभी लोगों को प्रदान करते थे। (दशवैकालिक सूत्र के अनुसार भ्रमरवृत्ति युक्त मुनि और नन्दीसूत्र के अनुसार भ्रमर वृत्ति वाले श्रावक कहे गए हैं।)

तह निरुविअ तत्त जय पडिवाई जए।
न य पुप्फ किलामेइ अली वकपि माणस॥

जिस प्रकार भंवरा फूल को कष्ट नहीं देता उसी प्रकार मुनिवर ने प्रतिवादी जन का मन पीड़ित किए बिना तत्व का (वास्तविकता सत्य का) निरूपण कर विजय को प्राप्त किया था।

जो को वि सद्धालु, जणो तस्स ग्रन्थ समूहओ।
पर रजेइ वरग्गे सो य पीणइ अप्पय॥

आज भी श्रद्धालु जन उनके रचे हुए नवतत्व मोक्षमार्ग प्रकाश आदि ग्रंथों का पठन श्रवण कर अपना तथा दूसरों का मन वैराग्य रंग में रंग लेता है एवं आत्मतृप्ति प्राप्त करता है।

धम्मोह थुणमि तम धम्मो य वइराहणो।
एसो समो जेण युहा थोयव्व थुणति इह॥६॥

मैं (श्रमण-लाल) धन्य हूँ, जो आप की स्तुति कर रहा हूँ। और कविराज (उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी म०) का यह श्रम भी धन्य है, जिसने कि स्तुत्य मुनिराज की स्तुति करने का यह अवसर दिया।

सइ विणास-सकिओ, मिग्घ गयेइ कोइवि।
पर वाम-नय पच्छा, अमरो अमरं जसं॥

अपने श्रद्धेय जन के विस्मृति-विनाश की शंका से कोई स्मृतियों को शीघ्र ही रचता है, जिससे उनका यश स्थायी हो सके। किन्तु वास्तविक यश तो गुरुदेव रत्नमुनि का है, जो सैकड़ों वर्षों के बाद आज अमर-यश अमर मुनि के द्वारा गूथा जा रहा है।

रम्मे भंडारानयरे, कहिअं नमिसामिणा।
जसदसय रइअं, लालचंदेण सकृणा॥

रम्य भण्डारा नगर मे स्वाध्याय प्रेमी स्वामी श्री चादमल जी महाराज के निर्देश से यह यशोदशक मुनि लालचन्द्र ने रचा है।

★

अलौकिक रत्न

सतीश्री फूलश्रीजी

श्रद्धेय पूज्यपाद श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के वस्तुत एक अलौकिक रत्न थे। उनका त्याग और सयम उज्ज्वल था। ज्ञान की साधना मे वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनका आचार पवित्र और ज्ञान निर्मल था। गुरुसेवा उनके जीवन का एक महान् आदर्श था। अत वे सर्वदृष्टि से महान् थे।

अपनी दीर्घ साधना से उन्होने जो कुछ प्राप्त किया था, उसे जन कल्याण के लिए वितरण कर दिया। भारत के विभिन्न प्रान्तो मे विहार-यात्रा करके उन्होंने प्रसुप्त जनचेतना को जागृत किया था। समाज के दूषणो को दूर करके उसे पावन और पवित्र बताया था। अत उस महान् आत्मा के प्रति मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ।

श्रद्धा-पुष्प

श्री चन्दन मुनि जी

जो सत्य अहिंसा का जय घोष गुंजाते थे
करुणा के मधुर निशदिन गाता को सुनाते थे
जो धर्म की राहा पर चलते थे चलाते थे
तिल भर भी कदम जिनके रुकने नहीं पाते थे

उन रत्न गुरुवर का हम गीत सुनाते हैं।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणों में चढ़ाते हैं।

जिस उठता तरुण वय में सुख जगत का छोड़ा था
मोह माया के बन्धन को जिस जड़ से ही तोड़ा था
तप-त्याग, वैराग में दिल हर दम से ही जोड़ा था
उन्नय पे चल जग का वर हिम्मत मोड़ा था

उन रत्न गुरुवर का हम गीत सुनाते है।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणों में चढ़ाते हैं।

कवि, वाद विजेता जो बेजोड़ महान थे
सम ज्योतिष जिनका सिर ध्वज भुकाते थे
जो कठिन क्रिया कर कर, संयम को सजाते थे
गुण जिनके जगतवासी दिन रात ही गाते थे

उन रत्न गुरुवर का हम गाथा सुनाते हैं।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ चरणों में चढ़ाते हैं।

दर्शन के कथा जो कि भारत के सितारे थे
संताप शमा के गुण, जीवन में उतारे थे

श्री संघ चतुर्विध के, जो परम सहारे थे
जो छोटे बड़े सब को अत्यन्त ही प्यारे थे

उन रत्न गुरुवार को, हम शीश झुकाते हैं।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणों में चढ़ाते हैं।

भगवान को पाने की जो रीत बताते थे
स्व के और अह के जो, द्वंद्वों को मिटाते थे
जो ज्ञान सिखाते थे, जो ध्यान सिखाते थे
श्री वीर प्रभु का जो आदर्श दिखाते थे

उन रत्न गुरुवार को, हम शीश झुकाते हैं।
फूल अपनी श्रद्धा के शुभ, चरणों में चढ़ाते हैं।

परमादरणीय तपस्वी

मुनि श्री सुशीलकुमार जी

भारत के जिन महापुरुषों ने आर्य-संस्कृति का और श्रमण-संस्था का उन्नयन किया है, उनमें परम पूज्य, सिद्ध-पुरुष स्वामी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज को किसी भी तरह विस्मृत नहीं किया जा सकता। उनके नाम का सबाल लेकर हजारों लोग अपनी जीवन-नौका को पार कर गए, ऐसे परम-पावन परमादरणीय तपस्वी एव योगिराज का शताब्दी-समारोह हमारे लिए आत्मोत्कर्ष का प्रेरणा-स्रोत बनेगा।

मैं समारोह को एव स्मृति-ग्रन्थ की आध्यात्मिक प्रगति हेतु पूर्णतया सफलता चाहता हूँ। मेरा मस्तक उन महापुरुषों के चरणों मे सदा नत रहता है, जिनकी चारित्रिक धवलिमा, हमारा मार्ग-दर्शन करती रही है। परम श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज इसी तरह हमारे सदा के लिए केन्द्र-बिन्दु रहे हैं और रहेंगे, इसी शुभ कामना के साथ।

रत्नाकर में सुमन चार

कमला जन 'जीजी"

रत्नाकार म सुमन चार श्रद्धा के आज बहाऊँ क्या ?
त्याग मूर्ति तुम दव जितद्रिय करू अचना मैं कसे ?
शिशु आकाशा कर चद्र को पा सकता न कभी वस ?
कर सकता क्या कभी तुम्हार दीप्त गुणो का यह सखा ?
जगती तल पर क्वचित् महामुनि मन न तुम जसा दखा।

ज्योति पुँज तुम तो हो तुमको अब दीपक दिखलाऊँ क्या ?
रत्नाकर म सुमन चार श्रद्धा क आज बहाऊ क्या ?
ओ क्षमता-समता के सागर तुम थे अद्भुत सयासी
चिन्तन मानस करे तुम्हारा फिर क्या मथुरा औ काशी।
वाणी म माधुय और अन्तर म सहज सरलता थी
धय शौय साहस सयम साधन म तीव्र अटलता थी।

अगणित गुणधारी थ तुम फिर से अब उन्हें गिनाऊँ क्या ?
रत्नाकर म सुमन चार श्रद्धा क आज बहाऊँ क्या ?

मागभ्रष्ट शत सहस्र आतमाओ न पथ तुमस पाया।
पर दुख भजन निरत तुम्हारी सुन्दर रहा कचन काया।
आगम के ममन प्ररणा जन जन म तुमन भर दी।
कर सजना धम सस्कृति निधि म कुछ और वृद्धि कर दी।

सतत सभी का दिया तुम्ह अब मैं नवद्य चढाऊँ क्या ?
रत्नाकर म सुमन चार श्रद्धा क आज बहाऊँ क्या ?

★

श्रद्धाञ्जलि समर्पण

श्री कीर्तिचन्द्र जी "यश"

अद्यावधि शुभ कीर्ति पताका, जिनकी जग मे छाई है ।
जिनके तप· पूत जीवन की, महिमा जगने गाई है ।।

सद्गुण ज्योति चाकचक्य मे, जिनका जन्म चमत्कृत है ।
महद् उपकारो से जिनके, यह जैन जगत अति उपकृत है ।।

'रत्नचन्द्र मुनि' नाम जिन्हो का, पावन मंगलकारी है ।
सुखदाता दुखत्राता जग मे, भव्य भय-संकटहारी है ।।

उज्ज्वल पावन जीवन जिनका, जैसे निर्मल दर्पण है ।
'कीर्तिमुनि' करता उनको निज, श्रद्धाञ्जलि समर्पण है ।।

अर्पण करता हूँ तुम्हे कुछ श्रद्धा के फूल ।
रत्नचन्द्र गुरुदेव थे तुम तो मगल मूल ।।

तुम तो मगल मूल तुम्हारा जीवन पावन ।
हे श्रद्धा का केन्द्र और जन-जन-मन भावन ।।

कहे 'कीर्तिचन्द्र' करूँ निज आतम तर्पण ।
कुछ श्रद्धा के फूल तुम्हे करता हूँ अर्पण ।।

मे पूज्य-प्रवर श्री रत्न मुनिजी महाराज महान् कार्य कर गए वह स्वार्णाक्षरो मे अकित होकर सदैव अमर एव अमिट बना रहेगा, ऐसे विश्व कल्याणकारी महामुनि की पवित्र पावन आदर्श जीवनी से जितनी शिक्षा ली जाए, थोडी है।

परम योगी सन्त

श्री अखिलेश मुनिजी

सकल्प और विकल्प दोनो मन के धर्म हैं। परन्तु दोनो मे बहुत बडा अन्तर है। सकल्प मनुष्य उत्थान की ओर ले जाता है और विकल्प पतन की ओर। ससार का सामान्य व्यक्ति नाना विकल्पो के जाल मे फँसा रहता है। उसके मन का विकल्प उसे व्याधि की ओर ले जाता है। जहाँ व्याधि है, वहा सुख कैसा? किन्तु महापुरुष वह होता है, जो अपनी सकल्प-शक्ति से समाधि की ओर बढता है। सुख, शान्ति आनन्द की ओर अग्रसर होता है।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रतनचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक ज्योतिधर महापुरुष थे। अपनी सकल्प शक्ति से वे समाधि की ओर बढे। भोग से योग की ओर चले। अन्त मे अपनी विशुद्ध योग-साधना से वे परमयोगी बने। विकल्पो और व्याधियो से मुक्त होकर वे सकल्प और समाधि मे स्थिर हो गए। उनके समाधि योग मे अपार बल था।

पूरे सौ वर्षो के बाद भी जन-मन उनके तेजस्वी जीवन को विस्मृत नही कर सका है। हजारो हजार भक्त आज भी उनके पवित्र नाम का जप करते है। उस परम योगी सन्त शिरोमणि महापुरुष के पावन पद्मो मे इस पुण्य शताब्दी के शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धा समर्पित करता हूँ। उनके पावन जीवन से एक आदर्श को हम अपने जीवन मे स्वीकार करे--विकल्प छोडकर हम अपनी सकल्प-शक्ति से उनके मार्ग का अनुसरण करे।

★

तप एव त्याग के साकार रूप

●

पण्डित श्री प्रमचन्द्रजी

परम श्रद्धेय चारित्र-चूडामणि पूज्य गुरुदव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज अपने युग के एक सुप्रसिद्ध विख्यातनामा आध्यात्मिक साधक थे। आपका तप एव त्यागमय जीवन उन दिनो जनता का आदर्श श्रद्धा-केन्द्र था।

साधना-साधना कहना और उसकी विशद व्याख्या कर दना और बात है परन्तु उस तप एव त्याग मय आध्यात्मिक साधना को अपन जीवन का अविभाज्य अग बना लेना बिल्कुल दूसरी ही बात है। कहना आसान है परन्तु करना कठिन। उत्कट कठोर अध्यात्म-साधना के नाम मात्र स ही जब अच्छे-अच्छे साधकों को पसीना छूटन लगता है तब उसको जीवन म उतार लना कण कण म रमा लना तो बहुत ही बडी बात है। और जो साधक एसा कुछ कर दिखाता है—वही तो ससार का पूजनीय एव तप त्याग की प्रखर तेजस्विता मे परिपूर्ण सूर्य क समान चमकता है।

श्रद्धेय पूज्य गुरुदव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज आध्यात्म साधना-गगन के एक एस ही जाज्वल्यमान सूर्य थे। जो तप-त्याग की दिव्य प्रभा लकर जन जगत मे अवतीर्ण हुए और अपन प्रखर प्रकाश से जन-समाज को चमत्कृत और प्रकाशित करत रहे। एक नव चेतना नव स्फूर्ति एव नव प्रेरणा का पाचजन्य जन हृदयो म फूंकत रहे। उनक तप और त्याग की सुगधि म एक पूरी की पूरी शताब्दी बीत जान पर भी – जन समाज उसी प्रकार से सुवासित है। उनक सद्गुणो की चमत्कृति से अद्यावधि जन जगत चमत्कृत है और युग-युग तक रहेगा—यह नि सदेह है।

श्रद्धेय पूज्य गुरुदव का तप-त्यागमय जीवन अपन आप म अपना एक निराली ही पृथक विशेषता रखता है। इन्होंने जिस दिन स तप-त्यागमय साधना का जीवन अपनाया जिस दिन स साधुवृत्ति स्वीकार की उसी दिन से लकर जीवन क अतिम क्षण तक उन्होंने उस उसी शान स निभाया। सिंह वृत्ति से साधुत्व लेना और उस आजीवन सिंह वृत्ति स ही निभाना यह उन्ही जसे शूरवीर अध्यात्म साधकों का ही काम था। अन्यथा यहाँ आकर तो बडो बडो क पाव उखड जात है।

आगरा की लोहामडी तो अद्यावधि तक—उनको अपने हृदय-पथ पर अक्षुण्ण बनाए हुए है। आज भी लोहामडी श्री सघ उन्ही के नाम से ही रत्नमुनि स्कूल आदि अनेक-अनेक संस्थाएँ चलाए हुए है। अभी वैशाख मे ही उनकी पुण्य शताब्दी मनाने का आयोजन भी लोहामण्डी संघ बडे ही उत्साह पूर्वक जोर-जोर से कर रहा है। साथ ही उनकी स्मृतियो को चिरस्थायी रखने के लिए स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन भी कर रहा है। अधिक क्या ? बस उनके तप त्यागमय जीवन का स्मरण करते हुए मै इन्ही थोडे से शब्दो के साथ अपनी भाव श्रद्धाञ्जलि उनके श्री चरणो मे समर्पित करता हूँ।

गुरुदेव ! मेरा शत-शत प्रणाम

महासती श्री ललित कुमारी जी
शास्त्री साहित्यरत्न

हे ज्योति-पुञ्ज ! हे युगावतार !
गुरुदेव ! मेरा शत-शत प्रणाम।
हे जन-जीवन के कर्णधार !
भुक्ति-मुक्ति के तुम दिव्य-धाम ।।

ज्ञान-क्रिया के साधक तुम,
आधार बने अपने युग के।
भक्ति-भाव से अर्पित है,
ये श्रद्धा-कण मेरे मन के ।।

अभिवन्दन है तुमको मेरा,
इस रत्न-शती की वेला मे।
जन-जन का मन पुलकित है,
इस पुण्य-शती की रेला मे ।।

सयम के अवतार

●

सुरेन्‍ मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

श्रद्धेय गुरुदव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज विश्व की उन विभूतिया म से थे जो जीवन म अपनी सयम त्याग तप की साधना ज्ञान प्रतिभा और पौरुष क बल पर महान् बन थे। उन जस तजस्वी व्यक्ति तथा एकनिष्ठ साधक किसा भी समाज अथवा राष्ट्र म युगो के बाद हुआ करते हैं, जो सोए हुए समाज राष्ट्र और जन-चेतना को अपन जाज्वल्यमान प्रदीप्त एव ओजपूर्ण व्यक्तित्व घन-गर्जित पौरुष मयी वाणी स झकझोर कर सजग-सावधान कर देते हैं।

जन-सस्कृति अध्यात्म सस्कृति है। यम नियम-सयम की सस्कृति है। त्याग-तप विराग की सस्कृति है। मानव के मौलिक मूल्य-महत्व की सस्कृति है। यहा प्रत्यक जीवन इसी काटे पर तुलता है। इस काटे पर जो खरा उतरा, वह खरा महान्—महतो महीयान् है।

यदि उनक जीवन म सयम-त्याग-तप का बल न हाता यदि वराग्य कष्ट-सहन तथा अहिंसा को उन्होने अपना माग दशक न जाना-माना हाता तो क्या वह युग के नायक युग के द्रष्टा युग क ऋषि महर्षि और अपन युग के सच्चे गुरु बन पात ? जन-सस्कृति की विचार-परम्परा क सही अर्थों म युग के धम-नता युग के धमाचाय धम गुरु थ। वह ज्ञान गुरु थ वह दशन गुरु थे वह चारित्र गुरु थ। गुरु वह है जो तत्व ज्ञान बाटे। गुरु वह है जो जन-जन के मन-मन म ज्ञान की ज्योति जगाए। गुरु वह जो अपन आप भी तिरे और दूसरो को भी तिराए पार लगाए।

जो सीखो किसी को सिखाते चलो।
दिए से दिए को जलाते चलो॥

सक्षप म वह युग-पुरुष जन हित क काय स जितन महान् थ व्यक्ति-गत रूप स उससे भी महान् थे। यही कारण है, कि वह अपन पीछे कुछ प्रेरणा कुछ प्रसाद और कुछ परम्परा छोड गए है।

उस युग-पुरुष के श्री चरणो म हृदय की भाव भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करत हुए अन्तमन एक अप्रतिम प्रसन्नता की अनुभूति कर रहा है और गदगद होकर अन्दर ही अन्दर बोल रहा है—

चुप है लेकिन सदियों तक गूजगी सदाए साज तेरी॥
दुनियां को अधेरी रातों मे ढारस देगी आवाज तेरी॥

★

चमकता सूरज दमकता जीवन

पडित हेममुनि जी

भारतीय-सस्कृति के पुरातन पृष्ठो के अध्ययन से यह ज्ञात होता है, कि सस्कृति मे विकृति आने पर, धर्म का ह्रास होने पर और पापाचार के बढने पर, विश्व मे किसी महान् शक्ति का अवतार होता है वह शक्ति जन कल्याण और जन-मगल के लिए प्रकट होती। उस शक्ति को जनता युग-पुरुष कहती है। उन्ही युग पुरुष एव महापुरुषो की उत्तम श्रेणी मे सन्त रत्न, परम पुरुष, श्रद्धेय पूज्य प्रवर श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का नाम भी अग्रगण्य रूप मे लिया जा सकता है।

भारत के अध्यात्मवादी मनीषी कहते है—"वशर ने दुनिया को खोजा, तो कुछ न पाया। खुद को खोजा, तो बहुत कुछ क्या ? सभी कुछ पा लिया गया। खुद को खोजने की खुद को पहचान ने की बात भी लीजिए एक उर्दू का शायर कहता है, कि—

"पहचान ले अपने को तो इन्सान खुदा है।
गो जाहिर मे है खाक मगर खाक नही है।।"

देखने मे तो वेशक इन्सान खाक का पुतला नजर आता है, मगर जो अन्दर की आँख से देखते और परखते हे, उन्हे तो इस ककर मे भी शकर छुपा हुआ नजर आता है।

सूर्य स्वय प्रकाशित है, तभी तो वह दूसरो को प्रकाश देता हे। फूल मे स्वय गन्ध है, तभी तो वह सवको सुरभि प्रदान करता है। इसी प्रकार सन्त पुरुष स्वय प्रकाश-शील होते है, स्वय सुरभित होते है, तभी तो वे दूसरो को ज्ञान का प्रकाश और सयम की सुरभि प्रदान करते है। गुरुदेव ने स्वय अहिसा की ऊँची साधना की, तभी तो उन्होने ससार को शान्ति और समता का उपदेश और आदेश दिया, प्रेम का पाठ पढाया।

गुरुदेव की वाणी मे जादू था। वे जिधर भी निकल गए, जनता उनकी तप.पूत अमृत-वाणी से परितृप्त होती चली गई। जनता ने उन्हे श्रद्धा, भक्ति और सेवा समर्पित की, क्यो कि उन्होने जनता को कल्याण का और उद्धार का मार्ग वताया था। उनके जीवन का सुन्दर सिद्धान्त था—

"परोपकाराय सता विभूतय ।'

गुरुदेव युग पुरुष थे

●

तपस्वी श्री श्रीचन्द्रजी

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्रजी महाराज आज से एक शताब्दी पूर्व के युग-पुरुष थे। उनका विचार समन्वित आचार और आचार-समन्वित विचार, उस युग की जन-श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु बन गया था। चारों ओर उनकी विद्वता की धाक थी और उनके उज्ज्वल चारित्र का सम्मान था। उस युग की जनता उन्हें अपना मार्ग-दर्शक मानती थी।

उस युग-पुरुष ने अहंता और ममता के प्रगाढ बन्धनों को तोडा। त्याग तपस्या और वैराग्य की अमर-ज्योति प्रज्वलित की। मिथ्या विश्वास मिथ्या विचार मिथ्या आचार और मिथ्या क्रिया-काण्डों का खण्डन करके जन-जीवन को पावन और पवित्र बनाया था। ज्ञान का आलोक फैलाकर सर्वत्र जन जीवन को तेजस्वी बनाकर चमकाया।

गुरुदेव में एक अदभुत आकर्षण शक्ति थी। जो भी एक बार उनके सान्निध्य में आया वह सदा के लिए उनका परम भक्त बन गया। उनकी व्यापक दृष्टि में अपना अपना नही और पराया पराया नहीं। वसुधा उनके लिए एक विशाल कुटुम्ब बन गई थी। उस रत्न-ज्योति पर राग-द्वेष के झंझा वातों का कुछ भी प्रभाव नही पड़ता था। गीता की भाषा में वे स्थित प्रज्ञ थे। जो पाया सबको बाँट दिया फिर भी मन में किसी प्रकार का अहंकार नहीं था। उनका जीवन एक महासागर है। उसमें जितनी गहराई से गोता लगाया जाएगा उतने ही अधिक रत्न उसमें से प्राप्त किए जा सकेंगे।

उस परम पावन जीवन के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करके अपने को धन्य समझता हूँ।

जप और तप की साधना

मुनि श्री कस्तूरचन्द्र जी

मैं उस परम पवित्र आत्मा के चरणो मे अपनी श्रद्धा के सुरभित सुमन समर्पित करता हूँ, जिसने अपने ज्ञान के प्रकाश से जीवन और जगत् को ज्योतिर्मय बनाया था। जब उस दिव्य आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धा का कल-कल करता निर्झर पूरे वेग से प्रवाहित होता है, तब विकट से विकट और भारी से भारी बाधा की चट्टान भी उसे अवरुद्ध नही कर सकती।

ससार मे सही राह और दिशा की कमी नही, पर मिलती है, वह खोजने वाले को। गुरुदेव को वह सही राह मिली, जिस पर स्वय चलकर, दूसरो को भी उस पर चलाने के प्रयत्न मे वे पूर्णत. सफल हुए थे। क्योकि सत्य की प्राप्ति की प्रबल भावना रखने वाले को एक दिन सत्य की उपलब्धि हो ही जाती है। सत्य को उन्होने खोजा और सत्य उन्हे मिला।

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने अपने जीवन मे ज्ञान के साथ ध्यान की और जप के साथ तप की साधना की। उन्होने आत्म-रूपी वस्त्र पर से जप और तप के द्वारा अशुभ सस्कारो की धूलि को साफ कर दिया।

सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त के वे साकार रूप थे। उस कृशकाय पुरुष मे वह महान् दिव्य प्रकाश था, जिसके द्वारा हजारो भटकती हुई जिन्दगियो को जीवन का वह अनोखा प्रकाश मिला, जिस प्रकाश के द्वारा उन्होने अपने वास्तविक लक्ष्य को पहिचाना। उनका जीवन जप और तप के सौरभ से सुरभित था।

एक महान् जीवन

●

उमेश मुनि

श्रद्धय गुरुदेव श्री रत्नचन्द जी महाराज का व्यक्तित्व असाम और अपरिमित था। वह कटुता रहित एव अनन्त माधय स्रोत से परिप्लावित था। वे अपन और अपनी दुग्ध धवल सी सयम साधना के प्रति जितन कटु-कठोर थे, उतने ही परिचय मे जाने वाले अन्य व्यक्तिया क लिए मधरिमापूण व्यक्तित्व के धनी थ।

वे एक कलाकार थ वास्तविक अर्थों म जीवन के सच्चे मजे सवर कलाकार। उन्होंने जीवन को जिया था। एक एसे प्रकाशमान दीप की भाति जो निकट सपक म आन वाला को भी अपने ही जसा प्रकाशमान कर देता है।

सकीण दृष्टिकोण लेकर व कभी जीवन क्षत्र म चल ही नही। एसा आभास हम उनकी जीवन घटनाओ को देखने मे मिलता है। अपने समय के साम्प्रदायिक वातावरण के लिए उनका जीवन एक खुली चुनौती था। क्योकि उस समय के साम्प्रदायिकतापूण विषाक्त वातावरण म भी उन्होंने अपनी कठिन कठोर आराधना साधना द्वारा अर्जित ज्ञान राशि मुक्त हस्त और मुक्त हृदय स बिना किसी भेदभाव के जन-मन-गण के हिताथ लुटाई।

व ज्ञान की एक चलती फिरती प्याऊ थे। उस समय लगभग एक शताब्दी पूव जन सन्ता म गृहस्थ पण्डित स न पढ़न की एक परम्परा चली आ रहा थी। अत उस समय क साधु समाज न आपने आपकी विद्वता का काफी लाभ उठाया। आपके द्वारा अध्ययन कराए गए साधु समाज की काफी सख्या रही है उस समय। उन सब का यहाँ पर नामोल्लख नही किया जा सकता। उस ज्ञान पुञ्ज गुरुदेव के प्रति मैं हार्दिक भाव से श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

श्रद्धा की पुष्प पाँखुरिया

मत्री मधुकर मुनि जी

पूज्य स्वामी श्री रत्नचन्द्र जी म० के आगरा के स्थानकवासी अग्रवाल लोहिया जैनो पर अनन्त उपकार है। उन्ही की असीम कृपा और करुणा का फल है, कि उन्हे जैनधर्म की उपलब्धि हुई है। आगरा के स्थानकवामी अग्रवाल जैनो ने अपने आदि गुरु के गुरु ऋण से उऋण होने के लिए "स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन" का निश्चय किया है। यह मेरी दृष्टि मे अत्यन्त शुभ निश्चय है। गुरुऋण इस कार्य से नहीं चुक सकता, पर श्रद्धावादी बोझिल मन कुछ हलकापन तो अनुभव करेगे ही। इस ग्रन्थ-प्रकाशन से जैन धर्म की प्रभावना होगी। उस जैन धर्म की प्रभावना, जिस धर्म के कारण भव-भ्रमण रूप अनन्त उत्सर्पिणी-अनन्त अवसर्पिणी का सम्यक्त्वोपलब्धि के माध्यम से आत्मा ने छेदन किया है।

आगरा के अग्रवाल जैनो ने अपने आदि गुरु की पुण्य स्मृति मे १ रत्नमुनि जैन इण्टर कालेज, २. रत्नमुनि जैन गर्ल्स इण्टर कालेज, ३ रत्नमुनि जैन पुस्तकालय, ४ गुरु रत्नचन्द्र जैन छतरी, ५, रत्नमुनि जैन औषधालय आदि सँस्थाए स्थापित की है। स्वय अपने व्यय पर इन सस्थाओ का सफल सचालन कर रहे है। इससे अनुमान किया जा सकता है, कि आगरा के लोहिया जैनो की अपने आदि गुरु-रत्नचन्द्र मुनि के प्रति तथा जैनधर्म के प्रति कितनी गहरी श्रद्धा है। ऐसे परम पुनीत पवित्र आत्मा महामुनि श्री रत्नचन्द्र म० के कार्य और व्यक्तित्व का स्मरण करता हूँ, तो उनके प्रति मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है।

★

विवेक और वैराग्य के शाश्वत सरोवर

●

पण्डित श्री ज्ञानमुनि जी

विवक और वगग्य क गाश्वत सरोवर परम श्रद्धय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज जन जगत् के एक मनोनीत और विश्रुत विद्वान मुनिराज हो गए हैं। आप का मगलमय जीवन-अहिंसा और सत्य, जप और तप दया और करुणा सयम और माधना तथा उदारता और सहिष्णुता का एक आदश भण्डार था। आपका पवित्र जीवन एक प्रकाश-स्तम्भ क समान था जो सयम पथ के पथिक साधको को सदा सन्मार्ग दिखलाता रहता था। सयम भूमि पर गति शील साधक श्रमणों का अपने गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने के लिए उपस्थित होन वाली विघ्न-बाधाओं से सतक तथा मावधान रहन की मधुर प्रेरणा प्रदान करता रहता था। व एक प्रकार म अपन उम युग क महान् ज्योति पुञ्ज थ माग दशक थे।

एक दिन आपकी अन्तरात्मा बोल उठी— क्या भरोसा है जीवन का ? प्रभात के तारा की तरह यह तो क्षण भगुर है। मनुष्य कितना पागल है जा आशाओं के महल खड करता है उनके पीछे लगकर अपना आपा भी भूल बठता है। अन्तर स आवाज उठी—

'चेतो रे, भव प्राणियां ! यह ससार असार।
स्थिरता कुछ दीसे नहीं धन जीवन परिवार ॥

हमारे चरित्र-नायक ने गुरु चरणा म पहुँचकर दीक्षा ग्रहण की और ज्ञान की ऊँची माधना की। सयम की माधना ज्ञान की आराधना और जिज्ञासा शील सज्जनो को जिज्ञासा का समाधान य ही उनक तीन महान् काय थ।

★

रत्न की ज्योति

पण्डित मुनि श्री फूलचन्दजी "श्रमण"

जैन-सस्कृति मे समय-समय पर युग-पुरुष होते आए हैं। उन युग-पुरुषो मे श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज भी एक युग-पुरुष थे। त्याग और वैराग्य की ऊँची साधना के साथ-साथ उन्होने ज्ञान और विवेक की भी बहुत ऊँची साधना की थी। अपने युग मे वे एक विख्यात एव विश्रुत श्रुतधर पण्डित थे। आपका नाम रत्न था, वस्तुत आप थे भी रत्न ही। प्रकृति के भण्डार मे रत्न एक अद्भुत पदार्थ है, जो सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है। जो पदार्थो मे अथवा चेतन जीवो मे श्रेष्ठ होता है, उसे रत्न कहा जाता है।

रत्न की प्राप्ति साधारण पुण्य से नही, विशिष्ट पुण्योदय से होती है। आत्मा वह है, जो स्वय भी चमकता है, और अपने आश्रित को भी चमकाता है। पुण्य-शाली आत्मा ही रत्न प्राप्ति की अधिकारी है। पुण्य-हीन के भाग्य मे रत्न की प्राप्ति कहाँ ?

आत्म-विशुद्धि के अमोघ-साधन-दर्शन-ज्ञान और चरित्र को भी रत्न कहते है। रत्न-त्रय की आराधना करने वाला व्यक्ति भी रत्न बन जाता है। श्री रत्नचन्द्र जी महाराज ने रत्न-त्रय की आराधना की थी। अत वे सच्चे अर्थ मे रत्न थे। आप अपने जीवन के अरुणोदय से लेकर, अपने जीवन की सन्ध्या तक रत्न ही बने रहे। अपनी ज्योति का प्रकाश बिखेरते रहे। उस अमर रत्न-ज्योति के प्रति मै अपनी श्रद्धा-ञ्जलि समर्पित करता हूँ, जो रत्न रूप मे जन्मा और रत्नगुरु के रूप मे। इस ससार मे रहा तथा अन्त मे भी जो रत्नरूप मे ही ससार से विदा होकर भी भक्तजनो के लिए रत्न सिद्ध हुआ है।

अध्यात्म-पुरुष

●

देवबाला जैन एम० ए०, बी० टी०

अध्यात्म-जीवन के तीन अंग है—अनासक्ति संयम और त्याग। जो साधक उक्त तीन धर्मों की साधना मनसा, वाचा, और कायेन करता है उनको हम अध्यात्म-पुरुष कहते हैं। अध्यात्म-पुरुष समाज और राष्ट्र के लिए एक महान् आदर्श और प्रेरणा स्रोत सिद्ध होते हैं।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के एक ऐसे ही अद्भुत अध्यात्म-योगी सन्त थे जिनकी अध्यात्म-साधना से उस युग के समाज में एक जीवन-ज्योति जगी थी। श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज साधुमार्गी स्थानकवासी जैन समाज के एक तपस्वी, प्रतिभाशाली और युग-पुरुष थे। वे अपने युग के धुरन्धर विद्वान और परम विचारक सन्त थे।

महाराज श्री के विषय में जो कुछ स्मृतियाँ परम्परागत शेष हैं वे उनकी महानता की परिचायक है। इस पुण्य शताब्दी के अवसर पर उस महापुरुष की पुण्य-स्मृति का जागरण निश्चय ही समाज के कल्याण और मंगल के लिए है। उस महापुरुष का पुण्यपर्व जन मानस को पावन करेगा।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज के दिव्य-जीवन का दिव्य-सन्देश जन-जन के जीवन को सुवासित करे यही मेरी अभिलाषा है। इस पुण्य शताब्दी के शुभ अवसर पर मैं उस अध्यात्म-योगी के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ और उनके गुणों का आदर करती हूँ।

★

तपोमय जीवन

कमला जैन प्रभाकर

भारतीय सस्कृति मे तपोमय जीवन को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। तप एक शक्ति है, जिससे आत्मा पावन और पवित्र बनता है। जैसे स्वर्ण आग मे तपकर निखर उठता है, वैसे ही आत्मा भी तप की आग मे तपकर उज्ज्वल हो उठता है। जीवन-शोधन के लिए तप से बढकर अन्य कोई धर्म नही हो सकता।

श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन एक तपोमय जीवन था। दीक्षा ग्रहण करते ही उन्होने तप की साधना प्रारम्भ करदी थी। जीवन मे अनेक प्रकार के कठोर तप करके उन्होने जो जीवन-ज्योति प्राप्त की थी, उसकी महिमा अपार है। तप और सयम की कठोर साधना से उन्होने अपनी आत्मा को भावित किया था, पावन किया था, पवित्र किया था।

तप और सयम की साधना के साथ-साथ ज्ञान की आराधना भी उन्होने की थी। तभी तो उनका जीवन समाज के आकाश मे सूर्य बनकर चमका था, दमका था। वस्तुत तप और ज्ञान भारतीय सस्कृति के प्राण-तत्व कहे जाते है।

मै उस तपोमय और ज्ञानमय जीवन के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ।

★

श्रद्धाञ्जलि

लाला रामगोपाल जी अध्यक्ष, जैन सघ

लोहामडी आगरा का एस० एस० जैन सघ महान् भाग्यशाली है कि उसे श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मनाने का सुयोग्य अवसर प्राप्त हुआ हे। हमारे वे पूर्वज कितने सौभाग्यवान थे, जिन्होने उनके साक्षात् दर्शन किए, उपदेश सुना और उनका सान्निध्य प्राप्त किया। आज से सौ साल बाद मे आने वाली हमारी भावी सन्तान भी हमे उसी प्रकार सौभाग्यशाली समझेगी कि हमने गुरुदेव की प्रथम पुण्य शताब्दी मनाने का सौभाग्य प्राप्त किया।

गुरुदेव तप, त्याग और सयम की दृष्टि से महान् थे। ज्ञान और क्रिया दोनो का उन्होने अपने जीवन मे सुन्दर समन्वय किया था। उनके इस महान् आदर्श को हमे ग्रहण करना चाहिए। आज हम सबको सगठित होकर इस पुण्य शताब्दी को उत्साह के साथ मनाना चाहिए।

शत शत अभिनन्दन

●

श्री कल्याणदासजी जैन
नगर प्रमुख, आगरा नगर महापालिका

श्रमण-संस्कृति में अहिंसा सत्य आदि के साथ अपरिग्रह का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आगम साहित्य में साधु के लिए श्रमण भिक्षु मुनि, साधु आदि के साथ निग्रन्थ शब्द का भी उल्लेख मिलता है। निग्रन्थ का अर्थ है—ग्रंथि गांठ से रहित। धन-वैभव मकान-दुकान खेत-खलिहान कारखाने आदि बाह्य ग्रंथि हैं और राग-द्वेष, क्रोध मान, माया, लोभ आदि मनोविकार आभ्यन्तर ग्रंथियां हैं। मन वचन और शरीर से बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रंथियों का परिग्रह का परित्याग करने वाला साधक ही निग्रन्थ है श्रमण है, साधु है।

परिग्रह का अर्थ केवल धन सम्पत्ति तक ही सीमित नहीं है। भगवान् महावीर के शब्दों में परिग्रह केवल पदार्थों के ग्रहण करने में नहीं प्रत्युत पदार्थों के प्रति रहे हुए ममत्व एवं आसक्ति भाव में है। वह आसक्ति भले ही धन वैभव पर हो परिवार पर हो, समाज पर हो राष्ट्र पर हो अपने शरीर पर हो शिष्य शिष्याओं पर हो। सम्प्रदाय एवं साम्प्रदायिक रूढ-परम्पराओं पर हो रूढ धाराओं पर हो अपने मन की परिकल्पित मान्यताओं पर हो या और किसी भी वस्तु पर हो वह सब परिग्रह है। उसका परित्याग करने वाला अपने और पराए के भेद में उठने वाला साम्प्रदायिक परम्पराओं के व्यामोह का परित्याग करने वाला साधक ही अपरिग्रह के पथ पर प्रगति कर सकता है। गुरुदेव ने अपने जीवन में अपरिग्रह अनेकान्त और अहिंसा की ऊंची साधना की थी।

★

गुरुदेव महान थे

●

श्री पद्मकुमार जी, संघ मंत्री

गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज एक महापुरुष थे। उनके कठोर त्याग और उग्र तप से उस युग के समाज में एक नयी चेतना नयी जागृति और नयी स्फूर्ति पैदा हुई। उनके मार्ग दर्शन से जनता को सुख शान्ति आनन्द और सन्तोष मिला। उनकी पुण्य शताब्दी के इस मंगलमय अवसर पर मैं हार्दिक भाव से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ। उनके बताए हुए मार्ग पर चलकर हम भी उनके जैसे महान् बनने का प्रयत्न करें।

★

अमर-विभूति

कलावती जैन प्रभाकर

साधना के दो आधार है—विवेक और वैराग्य। वैराग्य तभी स्थिर होता है, जव साधक के पास विवेक का आलोक हो। विना विवेक और ज्ञान के साधना अधूरी रहती है। विवेक के साथ जव वैराग्य जीवन की भूमि पर उतरता है, तव माधक से ज्योति प्रकट होती है।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन विवेक और वैराग्य का सुन्दर सगम-स्थल था। सचमुच वे अपने युग के विवेक और वैराग्य की एक अमर विभूति थे। उनके पावन और पवित्र जीवन से प्रेरणा पाकर हजारो व्यक्तियो ने अपने जीवन को निर्मल एव स्वच्छ वनाया था। इस शुभ अवसर पर मैं उनके श्री चरणो मे अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करती हूँ।

श्रद्धेय गुरुदेव रत्नचन्द्र जी म० श्रमण-सस्कृति के उन्नायको मे से एक थे। इस महापुरुप की साधना का उदय एक सम्प्रदाय एव परपरा विशेप मे हुआ। परन्तु वह साधना का स्रोत परपराओ के घेरे मे आवद्ध नही हुआ। परम्पराओ का व्यामोह उनकी साधना की ज्योति को धुधला नही वना सकता। उन्होने उस युग मे रूढ-परम्पराओ का परित्याग करके समाज को नयी चेतना, नयी ज्योति दी और मिथ्या आग्रहो के परिग्रह से मुक्त होने का उपदेश दिया। इस महापुरुप के जीवन की यह विशेपता थी, कि उस साम्प्रदायिक युग मे भी अन्य सम्प्रदाय के मुनियो के साथ मिलने जुलने विचार विमर्श करने एव अध्ययन करने हेतु दूर-दूर के प्रान्तो से उनके पास आते थे और वे उन्हे उसी स्नेह एव वात्सल्य भाव से अध्ययन कराते जिस स्नेह से अपने शिष्यो को कराते थे।

अपरिग्रह की साधना अपने और पराए का भेद करना नही सिखाती। जहाँ अपने पराए की भेद वुद्धि है, वहाँ अपरिग्रह की ज्योति प्रज्वलित नही हो सकती। श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी म० के जीवन मे भेद की विभीपिका के दर्शन नही होते। अस्तु अपिरग्रह साधना पथ के पथिक के चरणो मे मेरा शत-शत अभिवन्दन और अभिनन्दन।

★

जिन-शासन के प्रकाशपुञ्ज

●

श्री सुमतकुमार जन उपमन्त्री पौषधशाला

गुरुदेव श्रद्धय रत्नचन्द्र जी महाराज जिन शासन के प्रकाश पुञ्ज थ। वे अपन समय के एक महान् तेजस्वी सन्त थ। जन धम जन्म से ही किसी को महान् नही मानता उसकी महानता का माप दण्ड है, व्यक्ति का अपना ही शुभ कम। गुरुदेव अपनी कठोर तप साधना क बल पर ही महान् बन थे। उनकी ख्याति के अनक सहज गुण होन पर भी उनकी आचार निष्ठा ही वस्तुत उनकी महानता की आधार शिला थी।

गुरुदव पहला बार आगरा कब पधारे ? हमार पास इसका निश्चित प्रमाण न होने पर भी इतना तो निश्चित है कि आज की यह पौषध शाला अथवा जन भवन मन्दिर बनन की तयारी म था परन्तु गुरुदेव के उपदश स यह पौषध शाला बना। इसी पौषधशाला म गुरुदेव न अनक वर्षावास किए थे और अपन जीवन का अन्तिम सथारा साधना भी यहीं पर की थी। अत आज के इस जन भवन को गुरुदेव की तपोभूमि और साधना भूमि होन का गौरव प्राप्त है।

अन्त म पुण्य शताब्दी के इस शुभ अवसर पर मैं गुरुदव के श्री चरणा म अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

★

गुरुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि

●

लाला जगन्नाथ जी कोषाध्यक्ष

गुरुदेव श्रद्धय रत्नचन्द्र जी महाराज अपन युग के एक महान पुरुष थे। उनके विचारो म गम्भीरता थी। उनकी वाणी म ओज था आचरण म प्रखरता और कठोरता थी। ज्ञान और क्रिया म उन्होंने समन्वय साधा था। यही कारण है कि शताब्दी के इस शुभ अवसर पर अपनी हार्दिक श्रद्धा उनके श्री चरणा म समर्पित करता हूँ। उनका उपदेश युग-युग तक हम माग दर्शन कराता रहेगा।

मेरी श्रद्धाञ्जलि

सेठ अचलसिंह जी एम० पी०

पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज का जीवन पावन और पवित्र था। वे अपने युग के एक प्रसिद्ध विद्वान सन्त थे। उनके आचार में पवित्रता थी और उनके विचार में उच्चता थी। वे विचारों में गम्भीर, वाणी में ओजस्वी और आचार में तेजस्वी थे। उनको इस पुण्य शताब्दी के शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्रजी महाराज

श्री सितावचन्द्र जी मत्री मानपाडा श्रीसघ

महापुरुषो के सद्गुणो के प्रति सच्ची आस्था को ही वस्तुत भक्ति कहते है। पूज्य प्रवर श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज के पावन जीवन के प्रति आगरा निवासी जैनो के मन मे अपार श्रद्धा-आस्था और भक्ति है। वे अपने जमाने के एक प्रसिद्ध विद्वान त्यागी और तपस्वी सन्त थे। उनके सद्गुणो के प्रति मैं इस शुभ अवसर पर अपनी श्रद्धा, आस्था और भक्ति-भावना अर्पित करता हूँ।

अध्यात्म गुणो का स्मरण

●

श्री बाबूराम जी शास्त्री

गुरुदव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जा महाराज अपने युग के एक दिव्य महापुरुष थ। उनका ज्ञान अगाध था उनका चरित्र उज्ज्वल था और उनका जीवन पावन एव पवित्र था। गुरुदेव का तपपूत जीवन जन-जन के कल्याण के लिए था। उनकी वाणी म तेजसओजस और वचस था। अनकान्त और अहिंसा के प्रसार के लिए उन्होन दूर-दूर तक की विहार-यात्रा का थी। उनका जीवन ज्ञान और क्रिया का समन्वय-स्थल था। उन्होन अपन युग म प्रचलित मिथ्या मान्यताओ का प्रबल विरोध किया था। सत्य मार्ग का समथन किया था। जिधर गुरुदेव एक बार पधार गए उधर ही जय-जयकार हो गए। आगरा श्री सघ पर गुरुदेव का विशेष अनुग्रह था। आपन अपन जीवन-काल म अनेक क्षत्रो को प्रतिबोधित किया था उन क्षेत्रो म लोहामडी भी एक है। गुरुदव के विचारो की ज्योति आज भी यहाँ प्रदीप्त हो रही है। शताब्दी के शुभ अवसर पर गुरुदेव के अध्यात्म-गुणो का स्मरण कर के जीवन म उतारना ही हम सब का एक मात्र वतव्य और ध्येय है।

★

पजाव सभा की ओर से

श्री मदनलाल जी शाह

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की इस पुण्य शताब्दी की हम बडी खुशी है। व अपने युग क एक महान् पुरुष थ। अपन निमल ज्ञान और पवित्र आचार स उन्होन समाज में एक नयी रोशनी पदा की थी। एस० एस० जन सभा पजाब की ओर स हम सब लोग हार्दिक भाव स अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करत हैं।

★

श्रमण संस्कृति के समुज्ज्वल नक्षत्र

श्री सोनाराम जैन सन्मति ज्ञानपीठ

गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज पूर्ण सयमी तथा श्रमण-संस्कृति के समुज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे भारत वसुन्धरा पर अवतरित हुए। सयम तथा वैराग्य की ओर जन्म से ही आपका आकर्षण था। यही कारण है कि केवल बारह वर्ष की आयु मे ही आपने पूज्यपाद श्री हजारीमल महाराज का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् आपने अपने शरीर की निरपेक्षता का अपने जीवन की प्रयोगशाला द्वारा जो महान् तथा सुन्दर प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया, वह सदा के लिए स्मरणीय बन गया।

श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज न केवल एक उदारचेता महापुरुष थे अपितु वह इस प्रकार के युग-प्रवर्तक योगी थे, जिन्होंने ससार मे सुख और शान्ति को स्थिर रखने के लिए समता, सत्य, अहिंसा और विश्व बन्धुत्व की भावना को अत्यन्त आवश्यक बतलाया। पूज्य गुरुदेव जैन जगत् के ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे, जिनके जीवन का लक्ष्य सत्य प्राप्ति और सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास था। वह सद्गुणो के भण्डार थे। उनकी तप साधना निस्सीम थी। उनकी सेवावृत्ति, सरलता, प्रशान्तमुद्रा और कठोर साधना सर्वथा अपूर्व थी। उन्होने अपने जीवन को कोटि-कोटि मनुष्यो के कल्याण के लिए अर्पित कर दिया था। समस्त प्राणियो के प्रति उनका समता तथा मैत्री का भाव था। उनका जीवन स्वच्छ, निर्मल, उज्जवल एव पवित्र था।

श्रद्धेय गुरुदेव ने सैकडो और सहस्रो मीलो की पैदल यात्राएँ की और सहस्रो लोगो को सन्मार्ग पर आरूढ किया।

जैन धर्म की मुनि-साधना वस्तुत कठोरतम साधना है। इस साधना मे मन, वाणी और काया के सभी दोषो का दमन करना पडता है। श्री गुरुदेव वास्तव मे पूर्ण इन्द्रिय-जयी कठोरतम साधक थे। इस अवसर पर मैं उनके सातिशय व्यक्तित्व के प्रति सविनय श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

★

एक महान आत्मा

●

इस ससार म प्रतिदिन अनेक व्यक्ति जन्म लत हैं तथा अनेक विदा होत हैं। महान् व्यक्ति इस ससार स विदा हाने के पश्चात् भी अपनी अमर कीर्ति के प्रकाश को छोड जात हैं जिसस आगे वाल व्यक्ति उस प्रकाश स आलोकित होत रहत है। एस महामानव का प्रत्यक काय समाजोत्थान तथा जन कल्याण के लिए होता है और वे अपन शुभ-कर्मों स स्वय का भी उच्च जीवन बना लेते हैं और जनता का भी आदश माग पर बढ चलने के प्ररणा दत है। वास्तव म एस महान् व्यक्ति भगवान् महावीर के सत्य अहिंसा के सन्दश का ससार म फलान क लिए ही अवतरित होत हैं।

श्रद्धय, पूज्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज एसे ही महान् सत थ। आप धम एव दशन-शास्त्र के ज्ञाता थ और ज्योतिष शास्त्र का भी आपको बहुत ज्ञान था। आपकी प्रवचन शली इतनी सरल एव प्रभावयुक्त थी कि उसके प्रभाव से अनेक अजन भी जन बन गए। आपने कई ग्रन्थ लिखे हैं।

आपन उत्तर प्रदेश पजाब राजस्थान तथा मध्य प्रदश म पदल भ्रमण करक धम का प्रचार किया एव अनेकों श्रद्धालु व्यक्तियो न उनक उपदेश एव शिक्षाओ स समुचित लाभ उठाया।

पूज्य गुरुदेव सवत् १८६१ म आगरा नगर म पधारे थ और लोहामडी के क्षत्र म विशेष रूप से धम का प्रचार किया था। उस समय अग्रवाल लोहिया समाज भूले एव भटके हुए माग पर अग्रसर हो रहा था। उन्होने हमार समाज का एक नया जीवन प्रदान किया। हम सत्य अहिंसा के माग पर बढ चलने की प्ररणा दी। आपकी वाणी का समाज पर बहुत ही प्रभाव पडा और प्रत्येक व्यक्ति न जन धम स्वीकार कर लिया। अहिंसा का माग हम लागो न आत्म-कल्याण के लिए अपनाया। इस प्रकार पूज्य गुरुदेव का श्री अग्रवाल लोहिया समाज पर बहुत ही उपकार रहा है। आज भी गुरुदेव के बताए हुए सनमाग पर समाज चल रहा है।

सवत् १६२१ म गुरुदव का लोहामडी म ही स्वगवास हो गया और अपने इस असार ससार को त्याग कर अमर पद प्राप्त किया।

पूज्य गुरुदेव की स्वार्गारोहण शताब्दी आगरा की सघ क ओर स मनाई जा रही है तथा इस शुभ अवसर पर स्मृति-ग्रथ के प्रकाशन काय के निर्देशक उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी म० है तथा पडित श्री विजयमुनि जी शास्त्री प्रधान सम्पादक हैं। आपका भी समाज पर बहुत उपकार है।

इन शब्दो के साथ पूज्य गुरुदेव श्री रतनचन्द्र जी म० के चरणो म अपना तथा श्री अग्रवाल लोहिया महासभा की आर स श्रद्धाजली अर्पित कर रह है।

सभापति
श्री सीताराम जी जन
जामनगर

प्रधानमंत्री
श्री सोहन लाल जी जन
आगरा

★

जैन जगत के जन-त्राता

●

श्री रतनलाल जैन

कितनो के अवलम्ब बने हो, कितनो को भर अक लगाया ?
स्वय गरल पीकर कितना, ओरो को पीयूप पिलाया ?
बन कर निर्देशक कितनो को, तुमने भूली राह बताई ?
कितनो के तमसावृत मन मे, तुमने जीवन ज्योति जगाई ?

श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज जब सर्व प्रथम आगरा पधारे, तो लोहामडी, लोहामडी न थी, और आगरा आगरा न था। भौतिक दरिद्रता के कुहरे मे मानव की आत्मा कूद पडी थी। पूज्य-पाद गुरुदेव ने धार्मिक चेतना का शख फूंककर, जैन धर्म की उपा यहाँ के क्षितिज पर अभिव्यक्त कर दी। गुरुदेव ने मानव को मानव बनाया और जैनत्व को अमरत्व दिया।

प्रात स्मरणीय गुरुदेव अपने युग के प्रखर पडित, कठोर साधक व निर्मल मन के उज्ज्वल प्रतीक थे। गुरुदेव की साधना मे पावनता व उनकी वाणी मे प्रसाद था। समाज के रूढि-बन्धन तोड़कर जन-जीवन मे शुद्ध धर्म और पवित्र सस्कृति के प्रचार व प्रसार करने वाले थे।

गुरुदेव जैन-जगत के जन-त्राता थे। भूले भटको को सत् पथ पर लाने, पथ प्रदर्शक व निर्देशक थे। वह धर्म के अवतार व मानवता के उद्घोपक थे। न भौतिक मानव उन्हे एक शताब्दी बीत जाने पर भूल सका, न भूल सकेगा। आध्यात्मिक रूप से गुरुदेव चिर अमर है।

गुरुदेव श्री रतनचन्द्र जी महाराज का अनुग्रह-भाव यद्यपि सर्वत्र एक-जैसा था, फिर भी लोहा-मडी क्षेत्र पर उनकी विशेप अनुकम्पा थी। यहाँ के श्री सघ को अनेक बार और दीर्घ काल तक उनका सान्निध्य मिला। हम और हमारे पूर्वज सौभाग्यशाली थे, जो उनकी सेवा व भक्ति करने का लाभ उठा सके। उन्होने अपने जीवन की सन्ध्या की अन्तिम किरणे आगरे मे ही समेटी। आज का लोहामडी मे निर्मित जैन-भवन पूज्य गुरुदेव के पतित-पावन चरणो से अनेक बार पावन-पवित्र बना। इसी भवन मे सन्थारा करके उन्होंने अपनी जीवन लीला सवरण की थी।

श्रद्धेय के प्रति सासारिक श्रद्धाञ्जलि सूर्य को दीपक दिखाना मात्र है, क्योकि वे दिव्य आत्मा थे और आज जन-जन मे रमकर जिनेन्द्र हो गए —

यह है बाग वोही, जो तुमने लगाया।
श्री गुरु की कृपा से, है सब सुखारी।
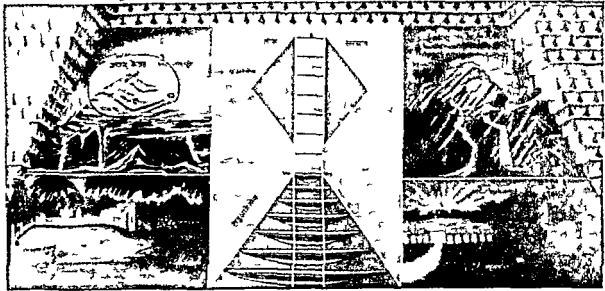
★

महा
वीर

का
महाभिनिष्क्रमण

काल चक्र

मधु-बिन्दु
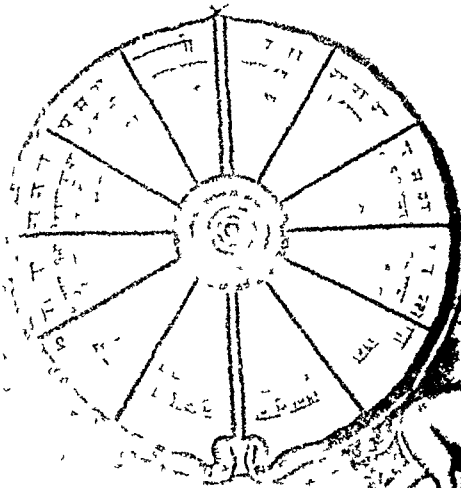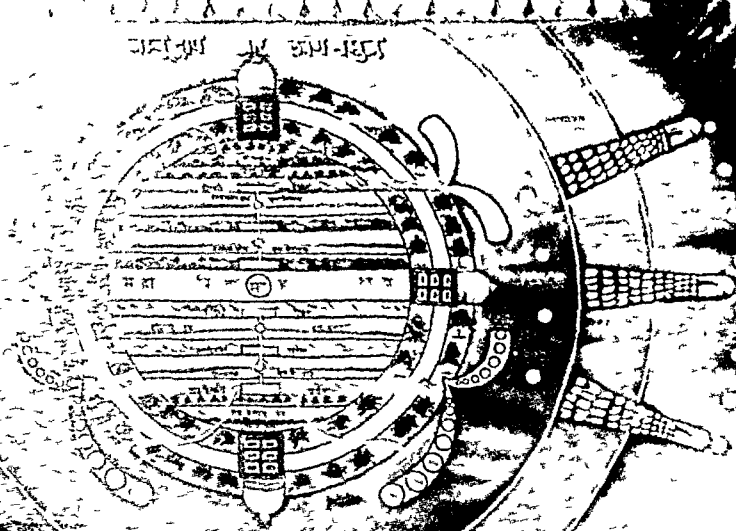
श्री रत्न मुनि जैन गर्ल्स इन्टर कालेज की ओर से

●

श्री सरोजकुमार जन

मुझे और मरे विद्यालय का इस बात का परम प्रसन्नता है कि परम श्रद्धेय गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की पुण्य शता दी इस वष मनान का निश्चय किया गया है। उस महापुरुष तथा उस युगाधार महाव्यक्तित्व के प्रति मैं अपन विद्यालय 'श्री रत्न मुनि जन इटर कालज की ओर स इस शुभ अवसर पर श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

इस कालज न अतीत काल म जो प्रगति की है उसस हम हप अवश्य है किन्तु सन्तोष नहा। क्योकि हम इस ओर भी अधिक विकसित रूप म देखना चाहत हैं। आशा और विश्वास क साथ म यह कहा जा सकता है कि हम प्रगति क पथ पर निरन्तर आग बढ़त रहग।

★

श्री रत्न मुनि जैन इन्टर कालेज की ओर से

●

श्री ओमप्रकाश जन

पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय रत्नचन्द्र जी महाराज के इस पुण्य शताब्दी क शुभ अवसर पर मैं अपन विद्यालय श्री रत्न मुनि इटर कालज की ओर स उस परम पवित्र और परम तपस्वी महापुरुष क चरण कमलो म भक्ति भाव क साथ मैं तथा विनय पूर्वक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

यह उस महापुरुष का ही पुण्य प्रताप है कि हमारा यह विद्यालय अपनी प्रगति क पथ पर है। इसम छात्रों को ज्ञान और विज्ञान की शिक्षा क साथ नीति धम और अनुशासन भी सिखाया जाता है। आशा और विश्वास क साथ मैं यह कह सकता हूँ कि भविष्य म और अधिक प्रगति होगी।

★

गुरुदेव के प्रति श्रद्धाञ्जलि

श्री महावीर प्रसाद जैन

यह हमारा परम सौभाग्य है, हम इस वर्ष, गुरुदेव श्रद्धेय रत्न चन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मना रहे हैं। गुरुदेव अपने युग के एक परम तेजस्वी युग-पुरुष थे। उस परम तपस्वी और महापुरुष के चरणों में मैं अपने बगीचे एवं छतरी की ओर से गुरुदेव के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

श्री वीर पुस्तकालय की ओर से

श्री सुमेर चन्द्र जैन

मुझे इस बात की खुशी है, कि आगरा का श्रीसंघ इस वर्ष गुरुदेव श्रद्धेय श्री रत्नचन्द्र जी महाराज की पुण्य शताब्दी मना रहा है। गुरुदेव के हम सभी पर महान् उपकार है। वे अपने युग के परम तपस्वी और परम तेजस्वी सन्त थे। मैं अपने पुस्तकालय और वाचनालय की ओर से इस शुभ अवसर पर श्रद्धेय गुरुदेव को विनम्र भाव से श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

उज्ज्वल-आत्मा की स्मृति

●

श्री मोतीलाल चोरड़िया, श्री साधुमार्गी जैन उद्योतिनी सभा आगरा।

आगरा निवासी श्री श्वेताम्बर जैन स्थानकवासी समाज का यह परम सौभाग्य है कि हम सब मिलकर इस वर्ष आगरे में परम-पूज्य बालब्रह्मचारी घोर तपस्वी महातेजस्वी परम-प्रतापी करुणा निधि दीन-बन्धु, श्रद्धेय आचार्य गुरुदेव श्री रत्नचन्द्र जी महाराज का शताब्दी महोत्सव मना रहे हैं। यद्यपि उस महान् ज्योति को लुप्त हुए एक लम्बा काल बीत चुका है तथापि उसके सद्गुणों की सुगन्ध एवं ज्ञान का प्रकाश निरन्तर चहुँ ओर फैल रहा है। संसार में मरना उसी का सार्थक है जिसके चले जाने के बाद भी उसकी कीर्ति अमर रहे। जिसकी अनुपस्थिति में हम उसकी आवश्यकता महसूस हो।

हम उस महान् विभूति का स्मरण न केवल इसलिए करते हैं कि वह जैन समाज की साधु सम्प्रदाय के एक आचार्य थे। केवल इसलिए भी हम उन्हें याद नहीं करते कि वह भगवान् महावीर के अनुयायी थे बल्कि हम सब उनको श्रद्धाञ्जलि इसलिए अर्पित करते हैं इसलिए उनके प्रति नत मस्तक होते हैं कि वह दिव्य-मूर्ति जैन धर्म के महान् सिद्धान्तों व नियमों की केवल उपदेशक ही नहीं—वरन् उनमें स्वयं ढली हुई थी। उस महामानव ने अपने आपको अन्दर और बाहर एकसा बना लिया था। उनका जो चित्र उपलब्ध है उसको देखते ही आभास होता है कि वह सुन्दर-सुडौल अविचल अडोल दृढ़ प्रतिज्ञ निडर व साहसी परम संतोषी स्पष्ट एवं मृदु भाषी पूर्ण ब्रह्मचारी तपस्वी एवं ज्ञान के भण्डार थे। हमारे और उस महान्-ज्योति के बीच एक गहरा नाता रहा हुआ है—यह कि

मैं हूँ पथिक जग-पथ का
तुम पथिकों के आश्रयदाता।
इस पथ पर कदम बढ़ाया है
रत्न तुमसे एक यही नाता॥

साथ ही हम उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द जी महाराज के भी अति आभारी हैं जिनकी प्रेरणा और सहयोग से इस महाग्रन्थ की रचना हो सकी है और अब तक के रत्न महाग्रन्थों की लड़ी में यह ग्रन्थ एक नई कड़ी बन गया है। इस महाग्रन्थ का सम्पादन कवि जी महाराज के सुशिष्य श्री विजयमुनि जी म० ने अति परिश्रम से किया है।

★

श्री रत्न मुनिजी महाराज

डा० हरिशंकर शर्मा कविरत्न

सत्य अहिंसा-व्रत भूतल पर भाव भव्य उमगाता है,
मेट अनैतिकता तामस तम, जीवन-ज्योति जगाता है।
मन, वच, कर्म किसी विध कोई कभी न पर-अपकार करे,
जिस प्रकार सम्भव हो, दीनो-दुखियो के सन्ताप हरे।

सत्य-अहिंसा का पालन ही विश्व-शान्ति का साधक है,
मानवता की मजु मूर्ति है, मुनि समाज-आराधक है।
सत्य-अहिंसा तत्व भक्ति से जब जीवन मे आएगा,
तब ही मानव 'मानवता' का अधिकारी बन पाएगा।

महावीर स्वामी ने जग मे प्रेम-पुण्य सचार किया,
सत्य-अहिंसा की विभूति का वसुधा पर विस्तार किया।
धन्य-धन्य श्री रत्न मुनिजी सत्य-अहिंसा मय जीवन,
सत्य धर्म के परिपालन मे किया समर्पित निज तन-मन।

महावीर स्वामी के सेवक सद्गुण-गरिमा-गायक थे,
दीन, दुखी, दलितो के त्राता, भ्राता, सखा, सहायक थे।
जननी जन्मभूमि के सेवक भव्य भाव उन्नायक थे,
सदाचरण के पावन-प्रेरक उच्चादर्श विधायक थे।

'मानवता' मर्यादा रक्षक शान्ति-सुधा के सागर थे,
नैतिकता नलिनी के नवरवि गौरव-ज्ञान-उजागर थे।
विनयशील कर्म्मण्य महामुनि पुण्य-प्रेम-परिपालक थे,
शान्त, शुद्ध, सम्भ्रान्त विवेकी सत्य धर्म सचालक थे।

निज उद्देश्य-साधना मे अति सकट झेले कष्ट सहे,
परकर्त्तव्य-मार्ग पर दृढता से अविचल हो अडे रहे।
त्याग-तपस्या के कारण ही सुयश-ध्वजा फहराती है,
भक्ति भावना से जनता नित श्रद्धा पुष्प चढाती है।

आज आपकी पुण्य शती है, पूजनीय वर वन्दन है,
धन्य-धन्य, श्री रत्न मुनि श्री श्रद्धा से अभिनन्दन है।

★

आगम
और
व्याख्या साहित्य

जैन-साहित्य दो विभागों में विभक्त है—१. आगम-साहित्य और २. आगमेतर-साहित्य। तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट गणधरों एवं पूर्वधर स्थविरों द्वारा ग्रथित साहित्य को आगम और स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों को आगमेतर साहित्य की संज्ञा दी गई है।

तीर्थंकर सदा अर्थ रूप से उपदेश देते हैं। उनका प्रवचन सूत्र रूप में नहीं होता। गणधर उस अर्थ रूप प्रवचन को सूत्र रूप में गूंथते हैं। इस दृष्टि से आगम के दो भेद होते हैं—१. अत्थागमे—अर्थ-आगम और २. सुत्तागमे सूत्र-आगम। तीर्थंकर भगवान् द्वारा उपदिष्ट वाणी को अर्थागम और उस प्रवचन के आधार पर गणधरों द्वारा ग्रथित आगमों को सूत्रागम कहते हैं। ये आगम आचार्यों की अमूल्य एवं अक्षय ज्ञान निधि बन गए। इसलिए इन्हें गणिपिटक के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इनकी संख्या बारह है। इसलिए इनका द्वादशांगी नाम भी है।

जैन-परम्परा की यह धारणा रही है कि अनादि काल से होने वाले सभी तीर्थंकर अपने शासन काल में द्वादशांगी का उपदेश देते हैं, अनागत काल में होने वाले भी इसी द्वादशांगी का उपदेश देंगे और वर्तमान में महाविदेह क्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर इसका उपदेश देते हैं। इस प्रकार प्रवाह की दृष्टि से द्वादशांगी अनादि-अनन्त है। इसका प्रवाह न कभी विच्छिन्न हुआ है और न होगा। परन्तु व्यक्ति की अपेक्षा से विचार करते हैं, तो इसका दूसरा पक्ष भी है। वह यह है कि प्रत्येक शासन में होने वाले तीर्थंकर इसका उपदेश देते हैं। अतः उनके शासन काल में विद्यमान द्वादशांगी उन्हीं द्वारा उपदिष्ट होती है। वर्तमान में सम्प्राप्त द्वादशांगी के उपदेष्टा हैं—श्रमण भगवान् महावीर। इस तरह द्वादशांगी प्रवाह रूप से अनादि-अनन्त होने पर भी अकृतक नहीं कृतक है, अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय है। क्योंकि यह वाणी है, शब्दों एवं अक्षरों का समूह मात्र है। वाणी, शब्द या अक्षरों का निर्माता कोई व्यक्ति ही होता है ईश्वर नहीं। क्योंकि ईश्वर शरीर रहित है और वाणी शरीर का धर्म है। अतः द्वादशांगी एवं अन्य कोई भी शास्त्र ईश्वर-कृत नहीं है।

द्वादशांगी यह है—१ आचारांग २ सूत्रकृतांग ३ स्थानांग, ४ समवायांग ५ भगवती, ६ ज्ञाता-धर्मकथांग, ७ उपासक-दशांग ८ अन्तकृद्दशांग, ९ अनुत्तरोपपातिक १० प्रश्नव्याकरण ११. विपाक और १२ दृष्टिवाद। वर्तमान में दृष्टिवाद उपलब्ध नहीं है शेष ग्यारह-अंग उपलब्ध हैं।

दृष्टिवाद

समवायांग सूत्र में दृष्टिवाद के परिचय में लिखा है कि दृष्टिवाद में समस्त भावों की प्ररूपणा की गई है। वह मुख्य रूप से पांच भागों में विभक्त है—१ परिकर्म, २ सूत्र, ३ पूर्वगत, ४. अनुयोग और ५. चूलिका।

१ परिकर्म के सात विभाग हैं—१ सिद्ध श्रेणी, २ मनुष्य श्रेणी, ३. स्पृष्ट श्रेणी, ४ अवगाहना श्रेणी, ५ उपसंपदा श्रेणी, ६ विप्रजहत श्रेणी, और ७ च्युताच्युत श्रेणी। सिद्ध श्रेणी परिकर्म के चौदह विभाग हैं—१ मातृ का पद, २ एकार्थिक पद, ३ पादोष्ठ पद, ४. आकाश पद, ५ केतुभूत, ६ राशि-

बद्ध, ७ एग गुण ८ द्विगुण, ९ त्रिगुण, १० वतुभूत ११ प्रतिग्रह १२ ससार प्रतिग्रह १३ नन्दा वत और १४ सिद्धबद्ध। मनुष्य श्रेणी परिकम के भी उक्त चौदह भेद हैं। शेष स्पृष्ट-श्रेणी आदि पाच परिकम के ग्यारह ग्यारह भेद हैं। स्व समय की अपेक्षा से परिकम के छह भेद हैं सातवां परिकम आजीविक मत के अनुसार है। प्रथम के छह परिकम स्व-सामयिक होने से उनमे चार नय की अपेक्षा से विचार किया गया है और सातवें परिकम मे तीन नय की अपेक्षा से। परन्तु त्रि राशिक की दृष्टि से सातो परिकर्मों मे तीन नय की अपेक्षा से विचार किया गया है।

आगमो में प्रयुक्त प्रत्येक वस्तु का विचार नय की अपेक्षा से किया जाता है। ऐसा कोई शब्द या अर्थ नहीं है कि जिसका विचार करते समय नय का प्रयोग न किया जाए। विशेष करके द्वादशाग अग दृष्टिवाद के सम्बन्ध मे तो नय से विचार करने की पद्धति रही है। परन्तु इसका विच्छेद होने के बाद मध्यकाल मे शिष्यो की बुद्धि मे मन्दता आ जाने के कारण नय विचार की पद्धति को बन्द कर दिया। परन्तु यदि कोई श्रमण श्रमणी विचार करने के योग्य हैं तो उनके लिए छूट भी है। प्राचीन काल मे कालिक श्रुत और दृष्टिवाद के प्रत्येक पद पर नय पद्धति से विचार करने की परपरा रही है। और जब तक समग्र श्रुत साहित्य को द्रव्यानुयोग आदि चार अनुयोगो मे विभक्त नहीं कर दिया तब तक नय विचारणा करने की परपरा रही है। आचार्य आयवज्र के बाद आर्य रक्षित ने समग्र श्रुत-साहित्य को द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरण करणानुयोग और धमकथानुयोग इन चार अनुयोगो मे बाँट दिया। इसके बाद नय विचारणा के लिए यह परपरा चल पड़ी कि यदि श्रोता और वक्ता योग्य हो तो अपनी योग्यता के अनुसार नय विचारणा करे और यदि दोनो मे विशिष्ट योग्यता न हो तो सूत्र और उसके अर्थ से काम चलाए परन्तु नय विचारणा न करे।[1]

२ सूत्र अठ्यासी हैं—१ ऋजुग, २ परिणता परिणत ३ बहुभागिक ४ विप्रत्ययिक ५ अनन्तर ६ परपरा ७ समान ८ सयूथ ९ सभिन्न १० यथात्याग ११ सौवस्तिक १२ नद्यावर्त १३ बहुल १४ स्पृष्टा-स्पृष्ट १५ व्यावर्त, १६ एवभूत १७ द्विकावर्त १८ वर्तमानोत्पाद १९ समभिरूढ़ २० सर्वतोभद्र २१ प्रणामा और २२ द्वि प्रतिग्रह। उक्त २२ सूत्रो का स्व सिद्धान्त के अनुसार स्वतत्र भाव से विचार किया जाता है इनका परतन्त्र भाव मे अर्थात् गोशालक के मत के अनुरूप विचार किया जाता है इनका त्रि-नय की अपेक्षा मे विचार करने वाले त्रि राशि की दृष्टि से विचार किया जाता है और इनका स्व-समय की अपेक्षा से चार नय की दृष्टि से विचार किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक बाईस सूत्रो का चार प्रकार से विचार होता है अत कुल सूत्र सख्या २२×४=८८ है।

३ पूवगत मे चौदह पूर्व हैं—१ उत्पाद पूर्व २ अग्रायणीय पूर्व ३ वीय पूर्व, ४ अस्ति-नास्ति प्रवाद पूर्व ५ ज्ञान प्रवाद पूर्व ६ सत्य प्रवाद पूर्व ७ आत्म प्रवाद पूर्व ८ कर्म प्रवाद पूर्व ९ प्रत्या ख्यान प्रवाद पूर्व १० विद्यानुवाद पूर्व, ११ अवन्ध्य प्रवाद पूर्व १२ प्राणायु प्रवाद पूर्व १३ क्रिया विशाल प्रवाद पूर्व १४ लोक बिन्दुसार पूर्व। प्रत्येक पूर्व की वस्तु और चूलिका निम्न प्रकार से है—

---

[1] आवश्यक नियुक्ति गाथा ७६० विशेषावश्यक भाष्य गाथा १२७५।

पूर्व	वस्तु	चूलिका
१	१०	४
२	१४	१२
३	८	८
४	१८	१०
५	१२	×
६	२	×
७	१६	×
८	३०	×
९	२०	×
१०	१५	×
११	१२	×
१२	१३	×
१३	३०	×
१४	२५	×

४ अनुयोग दो प्रकार का है—१ मूल-प्रथमानुयोग और २ गडिकानुयोग। मूल-प्रथमानुयोग मे—अरिहन्त भगवान् के पूर्वभव, देवलोक गमन, आयु, च्यवन जन्म, अभिषेक, राज्य लक्ष्मी, पालखी, प्रव्रज्या, तपश्चर्या, आहार, केवल-ज्ञान, तीर्थ-प्रवर्तन, सहनन, सस्थान, ऊँचाई, आयु शिष्य, गण, गणधर, आर्या, प्रवर्तिनी, चतुर्विध सघ का परिमाण, केवली, मन पर्यव-ज्ञानी, अवधि-ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, श्रुत ज्ञानी, अनुत्तर विमान मे उत्पन्न होने वाले साधु-साध्वी, सिद्ध-बुद्ध होने वाले साधु-साध्वी, पादोप-गमन अनशन करने वाले, और वे सर्व-श्रेष्ठ श्रमण-श्रमणी सपूर्ण कर्मो का क्षय करके, जितने दिन का अनशन करके मुक्तिगामी होते है, उनका और तीर्थकरो से सम्बन्धित, ऐसी अन्य बातो का उल्लेख किया गया है।

गडिकानुयोग के अनेक भेद है, जैसे—१ कुलकर गडिकानुयोग, २ तीर्थकर ग०, ३ गणधर ग०, ४. चक्रधर, ग०, ५ दशार ग० ६ बलदेव ग०, ७ वासुदेव ग०, ८ हरिवश ग०, ९ भद्रबाहु ग०, १० तपक ग०, ११ चित्रान्तर ग०, १२ उत्सर्पिणी ग० १३ अवसर्पिणी ग०, और देव, नरक एव तिर्यञ्च गति मे जो विभिन्न जन्म होते है, उनका व्याख्यान इत्यादि अनेक गडिकानुयोग है।

५ चूलिका—पहले चार पूर्वो की चूलिका है, अन्य की नही है। प्रथम पूर्व की ४, द्वितीय की १२, तृतीय की ८ और चतुर्थ पूर्व की १०। कुल ४+१२+८+१०=३४ चूलिकाएँ है।[1]

---

[1] समवायाङ्ग सूत्र, १४७

रचना क्रम

दृष्टिवाद के पाँच भागों में चतुर्थ भाग पूर्वगत में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं। इनका परिमाण बहुत विशाल है। कभी एक भी पूर्व लिखा नहीं गया है। फिर भी उसकी विराटता को बताने के लिए आचार्यों ने परिकल्पना की है कि यदि प्रथम पूर्व को लिपि बद्ध किया जाए तो उसमें एक हाथी के परिमाण की स्याही लगेगी। इससे सहज ही समझा जा सकता है कि पूर्व साहित्य कितना विशाल था शब्द रूप से उसका पारायण कर सकना कठिन लगता है। सम्भवतः भाव रूप से ही उसे हृदयगम किया जाता रहा होगा।

ये श्रुत या शब्द ज्ञान के समस्त विषयों के अक्षय कोष होते हैं। कोई भी विषय ऐसा नहीं रह जाता जिसकी चर्चा पूर्व साहित्य में न की गई हो। वस्तुतः पूर्व-साहित्य आगम या श्रुत साहित्य की अमूल्य निधि है।

यह एक प्रश्न है कि पूर्व-साहित्य का रचना काल कब का माना जाए? इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएं हैं—१ श्रमण भगवान् महावीर के पूर्व से ज्ञान राशि की यह महानिधि चली आ रही थी इसलिए उत्तरवर्ती श्रुत-साहित्य रचना के समय इसे पूर्व संज्ञा दी गई और दृष्टिवाद में इन सबका समावेश कर लिया गया और २ श्रमण भगवान् महावीर ने द्वादशांगी से पूर्व चौदह आगमों का उपदेश दिया, अतः इन्हें पूर्व कहा गया।[1] वर्तमान युग के पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वान प्रथम विचारधारा के पक्ष में हैं। क्योंकि यह तो निर्विवाद रूप से मान्य है कि भगवान् महावीर के पूर्व भी श्रुत-साहित्य था और भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण श्रमणी भी विद्यमान थे। आगमों के पृष्ठों पर भी यत्र अंकित मिलता है कि पार्श्वनाथ परम्परा के अनेक श्रमणों ने भगवान् महावीर के शासन को स्वीकार किया। भगवान् महावीर के शासन में प्रविष्ट होने के पूर्व अनेक श्रमणों को भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा उपदिष्ट द्वादशांगी का परिज्ञान रहा होगा। अतः ऐसा लगता है कि पूर्व परम्परा से चले आ रहे ज्ञान स्रोत को ही पूर्वों की संज्ञा देकर द्वादशांगी में समाविष्ट कर लिया हो।

पूर्व साहित्य इतना विशद है कि उसमें समस्त श्रुत-साहित्य समा जाता है फिर अन्य आगमों की रचना क्यों की? यह एक प्रश्न है। इसके समाधान में आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में कहा है कि भूतवाद—दृष्टिवाद अंग में समस्त वाङ्मय समा जाता है फिर भी कठिनता से समझने वाले अल्पज्ञ पुरुष एवं स्त्रियों के लिए अन्य एकादश अंगों की रचना की।[2] श्री मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने विशेषावश्यक भाष्य पर की गई टीका में इस बात को और स्पष्ट कर दिया है।

---

[1] सर्व श्रुतात् पूर्व क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वादीनि चतुर्दश —स्थानांग सूत्र वृत्ति १०,१

[2] जइ वि य भूयावाए सव्वस्स वओमयस्स आयारो।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे इत्थीय॥
—विशेषावश्यक भाष्य गा ५५०

आचार्य भद्रबाहु, आचार्य शीलाक और आचाराग-चूर्णिकार इस बात मे एकमत है कि तीर्थंकर भगवान् ने सर्व-प्रथम उपदेश भी आचाराग का दिया और गणधरो ने रचना भी सर्व-प्रथम इसकी की। अन्य अग और पूर्व आदि सब आचाराग के अनन्तर रचे गए है।[1] परन्तु आवश्यक चूर्णि मे इसके विपरीत मतो का उल्लेख भी मिलता है। कुछ विचारको का अभिमत है कि तीर्थंकरो ने प्रथम अर्थ रूप से पूर्वो का उपदेश दिया, परन्तु गणधरो ने सूत्र रूप से सर्व-प्रथम आचारांग आदि अगो की रचना की। किन्तु कुछ आचार्यो का यह अभिमत है कि सर्व-प्रथम उपदेश भी पूर्वो का दिया गया और ग्रन्थ रचना भी पूर्वो की की गई। उपदेश एव रचना की दृष्टि मे पहले पूर्व है, उनके बाद आचाराग आदि अन्य अग है, किन्तु स्थापना की दृष्टि से आचाराग को सर्व-प्रथम स्थान दिया गया है।[2] अत योजना की दृष्टि से आचाराग का प्रथम स्थान है, परन्तु रचना की अपेक्षा से पूर्वो का स्थान पहला है।

आगमो मे श्रुत-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन की परपरा के तीन क्रम मिलते है। कुछ श्रमण चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता होते थे या उससे कम पूर्वो के। कुछ श्रमण द्वादशागी के विद्वान होते थे। और कुछ श्रमण सामायिक आदि एकादश अंगो का अध्ययन करते थे। इन सब मे चतुर्दश पूर्वधर श्रमणो का विशिष्ट महत्व रहा है। उन्हे श्रुत-केवली कहा गया है और पूर्वधर स्थविरो या आचार्यो के द्वारा रचित साहित्य को भी आगम कहा गया है और उनकी वाणी को भी वीतराग वाणी की तरह प्रामाणिक माना गया है।

चौदह पूर्व

	नाम	विषय	पद-परिमाण
१.	उत्पाद	द्रव्य और पर्यायो की उत्पत्ति	एक करोड
२	अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवो का परिमाण	छियानवे लाख
३	वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवो के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख
४	अस्ति-नास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण	साठ लाख
५.	ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड
६.	सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड़ छह
७	आत्म-प्रवाद	आत्मा-जीव का निरूपण	छब्बीस करोड़
८.	कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड अस्सी लाख
९.	प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख

---

[1] आचारांग चूर्णि, पृष्ठ, ३.

[2] आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ, ५६-५७.

१०	विद्यानुप्रवाद	सिद्धियों और उनके साधनों का निरूपण	एक करोड़ दस लाख
११	अवन्ध्य	शुभाशुभ फल की अवन्ध्य संभाविता का निरूपण	छब्बीस करोड़
१२	प्राणायु प्रवाद	इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास आयु और प्राण का निरूपण	एक करोड़
१३	क्रिया विशाल	शुभाशुभ क्रियाओं का निरूपण	नव करोड़
१४	लोक बिन्दुसार	लोक बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढ़े बारह करोड़

भाषा

आगम-साहित्य की भाषा अर्ध मागधी है जिसे वर्तमान में प्राकृत कहते हैं। आगम-साहित्य में इस बात का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर अर्ध-मागधी भाषा में उपदेश देते हैं।[1] तीर्थंकर अन्य भाषा में उपदेश न देकर अर्ध मागधी या प्राकृत में ही उपदेश क्यों देते हैं? इसके समाधान में आचार्य हरिभद्र ने कहा है कि चारित्र की साधना आराधना करने के इच्छुक मन्द बुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए सर्वज्ञ भगवान् सिद्धांत की प्ररूपणा या आगमों का उपदेश प्राकृत में देते हैं।[2] भगवती सूत्र में गौतम स्वामी के एक प्रश्न—देव किस भाषा में बोलते हैं—का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा— हे गौतम! देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं और लोक में बोली जाने वाली भाषाओं में अर्धमागधी भाषा ही विशिष्ट एवं श्रेष्ठ भाषा है।[3] प्रज्ञापना सूत्र में अर्धमागधी भाषा में बोलने वाले व्यक्तियों को भाषा आर्य कहा है।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर अर्ध

---

[1] भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायांग सूत्र पृष्ठ ६०

तएण समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसार-पुत्तस्स अद्धमागहीए भासाए भासइ सावि य णं अद्धमागही भासा तेसिं सव्वेसिं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ।

—औपपातिक सूत्र

[2] बाल-स्त्री मन्द मूर्खाणां, नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृते कृतः॥ —दशवैकालिक टीका

[3] गोयमा! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति, सावि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिस्सइ। —भगवती सूत्र, ५ ४ २०

[4] भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासंति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पृ ५[illegible]

मागधी भाषा में प्रवचन देते थे और इसी भाषा में श्रुत-साहित्य की रचना की गई। निशीथ चूर्णि में चूर्णिकार ने इस बात का उल्लेख किया है कि 'पुरातन-सूत्र—आगमों की भाषा अर्धमागधी निश्चित है।'[1] अतः चूर्णिकार जिनदास महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं—१. मगध देश में बोली जाने वाली भाषा और २. अठारह जाति की देशी भाषा। अठारह जाति की देशी भाषा का उल्लेख ज्ञाता-धर्म कथा और औपपातिक सूत्र में मिलता है।[2] इससे यह निश्चित होता है कि श्रुत-साहित्य अर्धमागधी भाषा में रचा गया। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे 'आर्ष'[3] कहा है—इसके लिए आगम में ऋषि-भाषित शब्द का प्रयोग मिलता है।[4]

इस बात में समस्त आचार्य एकमत हैं कि तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं और एकादश अंग भी अर्धमागधी भाषा में हैं। परन्तु दृष्टिवाद—जिसमें चौदह पूर्व अन्तर्गत हैं की भाषा कौन-सी है? वह संस्कृत में रचा गया या प्राकृत में? अब तक विद्वानों का मत है कि पूर्वों की भाषा संस्कृत थी। भाषा की जटिलता एवं विषय की गहनता के कारण अन्य एकादश अंगों की रचना प्राकृत या अर्धमागधी भाषा में की गई। प्रभावक चरित्र के रचयिता श्री प्रभाचन्द्र सूरि ने प्रभावक चरित्र में लिखा है—पुरातन काल में चौदह पूर्व संस्कृत भाषा में थे। प्रज्ञातिशय साध्य होने के कारण काल की प्रबलता से उनका विच्छेद हो गया। वर्तमान में आर्य सुधर्मा स्वामी द्वारा रचित एकादश अंग हैं। उन्होंने मन्द-बुद्धि स्त्री-पुरुषों के सुगमता से समझ में आ सके, इसलिए एकादश अंगों की प्राकृत में रचना की।[5] इस सम्बन्ध में श्री वर्द्धमान सूरि ने भी आचार-दिनकर ग्रन्थ में यथा उक्तमागमे लिखकर आगम से निम्न गाथा उद्धृत की है—

"मुत्तूण दिट्ठियाय कालिय-उक्कालियगसिद्धंत।
थी-बाल-वायणत्थं पाइयमुइयं जिणवरेहिं ॥[6]

दृष्टिवाद को छोड़कर शेष कालिक-उत्कालिक अंग—सिद्धान्त-साहित्य का बाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सब सरलता से वाचन एवं अध्ययन कर सकें इसलिए तीर्थंकरों ने श्रुत-साहित्य का उपदेश प्राकृत भाषा में दिया।

---

[1] पोराणमद्धमागह भासानिययं हवइ सुत्तं।
—निशीथ चूर्णि

[2] ज्ञाता-धर्मकथा, पृ० २८; औपपातिक सूत्र, पृ० ५८

[3] सिद्ध हेम प्राकृत व्याकरण, ८, १, ३.

[4] सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओं आहिया।
सरमडलम्मि गिज्जते पसत्था इसि-भासिता ॥
—स्थानांग सूत्र ७, ३९४.

[5] प्रभावक चरित्र श्लोक ११४-१६.

[6] आचार दिनकर; तत्त्व निर्णय प्रासाद, पृष्ठ ४१२.

परन्तु परम्परा में जो यह मान्यता चली आ रही है कि तीर्थंकर सदा-सर्वदा अर्धमागधी या प्राकृत भाषा में उपदेश देते हैं, इससे यह बात सिद्ध होती है कि पूर्व-साहित्य की भाषा संस्कृत नहीं, प्राकृत ही होना चाहिए। यदि पूर्व साहित्य को भगवान् महावीर के पहले से चली आ रही ज्ञान धारा मानें तब तो यह तो निश्चित है कि वह ज्ञान धारा उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों द्वारा ही उपदिष्ट थी। और सब तीर्थंकरों का उपदेश अर्धमागधी भाषा में होता था। ऐसी स्थिति में पूर्वों की भाषा संस्कृत मानना कुछ अटपटा सा लगता है। यह ऐतिहासिक विषय के अन्वेषकों की खोज का विषय है।

आगमों का प्रामाण्य अप्रामाण्य

केवल ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, मनःपर्यव ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और दश-पूर्वधर के द्वारा उपदिष्ट एवं रचित साहित्य को आगम कहते हैं। आगम साहित्य में द्वादशांगी या गणिपिटक का प्रमुख स्थान है। इसके उपदेष्टा तीर्थंकर भगवान् होते हैं। वर्तमान काल में रचित द्वादशांगी के उपदेष्टा श्रमण भगवान महावीर हैं और उनके सूत्रकार गणधर सुधर्मा हैं। तीर्थंकर सदा अर्थ रूप में उपदेश देते हैं और गणधर उस उपदेश को सूत्ररूप में गूंथते हैं। द्वादशांगी के अतिरिक्त उपांग आगमों के रचयिता स्थविर हैं। वह चौदह पूर्वधर—श्रुत केवलियों या विशिष्ट ज्ञानी श्रमणों की वाणी है, सबकी नहीं। इसलिए द्वादशांगी स्वतः प्रमाण है। उसके अतिरिक्त शेष आगम-साहित्य परतः प्रमाण है। जो आगम द्वादशांगी के अनुरूप हैं, अविरुद्ध हैं, वे प्रामाणिक हैं, अन्य अप्रामाणिक हैं।

आगम विभाग

श्रुत साहित्य प्रणेता की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त होता है—१. अंग प्रविष्ट और २. अनंग प्रविष्ट अंग बाह्य। श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने उनके अर्थ रूप उपदेश को जो सूत्र रूप में गूंथा या भगवान् के उपदेश को जो साहित्य का रूप दिया वह अंग प्रविष्ट आगम-साहित्य कहलाता है। स्थविरों ने जिस साहित्य की रचना की, वह अनंग प्रविष्ट या अंग-बाह्य कहलाता है। द्वादशांगी के अतिरिक्त जो आगम-साहित्य उपलब्ध है वह सब अनंग प्रविष्ट है।

तीर्थंकर केवल ज्ञान को प्राप्त करने के बाद गणधरों को स्थापित करके तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। जैन परम्परा में यह मान्यता रही है कि गणधरों के प्रव्रजित होने पर भगवान उन्हें त्रिपदी—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का उपदेश देते हैं। उस उपदेश के आधार पर जिस साहित्य का, जिन आगमों का निर्माण किया गया वह अंग प्रविष्ट साहित्य है। अंग प्रविष्ट आगम साहित्य का स्वरूप समस्त तीर्थंकरों के शासन में निश्चित होता है। सभी तीर्थंकर द्वादशांगी का उपदेश देते हैं। परन्तु अनंग प्रविष्ट आगमों की संख्या निश्चित नहीं होती। इसमें कम ज्यादा भी होते रहते हैं।[१] वर्तमान में उपलब्ध एकादश अंग

---

[१] गणहर थेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणओ वा।
धुव चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणत्तं ॥
वि० भा० ५५०

सुधर्मा गणधर की वाचना है। गौतम आदि अन्य दश गणधरो की आठ वाचनाएँ थी, परन्तु वर्तमान मे उनका अस्तित्व नही रहा। इसलिए वर्तमान मे उपलब्ध एकादश अग साहित्य के रचयिता सुधर्मा गणधर माने जाते है।

रचना की दृष्टि से अनग-प्रविष्ट आगम-साहित्य को दो भागो मे विभक्त कर सकते है—१ स्थविरो द्वारा रचित अनग—अग-बाह्य साहित्य और २ स्थविरो द्वारा निर्यूढ अनग साहित्य। स्थविरो ने कुछ आगमो की अपनी भाषा मे रचना की है और कुछ आगमो को पूर्व एव अग साहित्य में से उद्धृत किया है। जिन आगमो को पूर्व या द्वादशागी मे से उद्धृत या सकलित किया गया है, उन्हे निर्यूढ कहते हैं। दशवैकालिक, आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प दशाश्रुत-स्कध ये निर्यूढ आगम हैं। आचार्य शय्यभव ने थोडे समय मे अपने अल्पायु पुत्र मनक की साधना मे तेजस्विता लाने के लिए दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहन किया। इसके अतिरिक्त अन्य आगमो के निर्यूहक श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु है। प्रज्ञापना-सूत्र के रचियता श्यामाचार्य, अनुयोगद्वार सूत्र के निर्माता आर्य रक्षित और नन्दी सूत्र के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते है।

आगमो के निर्माता

आगमो के निर्माता या कर्त्ता कौन है? इस विषय मे सभी आचार्य एकमत नही है। आगम एव उसके व्याख्या साहित्य का अध्ययन करने पर इस सम्बन्ध मे हमे दो विचारधाराएँ देखने को मिलती हैं। एक विचारधारा—जो प्राचीन है, यह मानती है कि द्वादशागी के कर्त्ता गणधर है और उपाग आदि अग-बाह्य आगम-साहित्य के निर्माता स्थविर है। दूसरी विचार धारा—जो अर्वाचीन है, की मान्यता है कि अग एव अग-बाह्य समस्त आगमो के निर्माता गणधर ही है।

अनुयोग द्वार सूत्र मे लोकोत्तर आगमो का वर्णन करते हुए लिखा है कि आचाराग से लेकर दृष्टि-वाद तक द्वादश अगो के प्रणेता तीर्थंकर है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि तीर्थंकरो के उपदेश को गणधरो ने सूत्र रूप मे गूथा या उनके प्रवचनो के आधार पर गणधरो ने द्वादशागी की रचना की।[1] यही बात नन्दी सूत्र मे सम्यक् श्रुत के प्रसग मे उल्लिखित है।[2] षट्खडागम की धवला टीका और कषाय

---

[1] लोगुत्तरिए—ज णं इमं अरिहंतेहिं भगवतेहिं उप्पण्ण-णाण-दसण-धरेहिं तीय-पच्चुप्पण्णमणागय-जाणएहिं तिलुक्कवहित महित-पूइएहिं, सव्वण्णुहिं सव्वदरिसीहिं पणीअ दुवालसगं गणिपिडगं, तंजहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ।

—अनुयोगद्वार सूत्र, ४२

[2] नन्दी सूत्र, ४०

पाहुड की जयधवला टीका में गौतम गणधर को द्वादशांग और चौदह पूर्व का सूत्रकर्ता कहा गया है।[1] इस मान्यता का समर्थन अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य में आगम के अंग और अंग बाह्य भेद करने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो आगम गणधर कृत हैं वे अंग हैं और जो स्थविर कृत हैं वे अंग-बाह्य हैं।[2] इससे स्पष्ट होता है कि आगम-युग की मूल मान्यता अंग साहित्य को ही गणधर-कृत मानने की रही है।

नन्दी सूत्र की चूर्णि और आचार्य हरिभद्र रचित टीका में अंग और अंग बाह्य की रचना के सम्बन्ध में दो विचार धाराएं दिखाई देती हैं। उनमें एक विचारधारा अंग साहित्य को गणधर कृत और अंग-बाह्य को स्थविर कृत मानने की है। दूसरी अंग बाह्य को भी गणधर कृत मानने की है।[3] यह कहना कठिन है कि यह दूसरी मान्यता कब से प्रचलित हुई। परन्तु इतना निश्चित है कि आवश्यक सूत्र गणधर कृत है यह मान्यता आवश्यक नियुक्ति में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन के उपोद्घात में नियुक्तिकार आचार्य भद्रबाहु ने जो प्रश्न उठाए हैं और स्वयं ने ही जो उनका उत्तर दिया है उसका अनुशीलन-परिशीलन करने वाले पाठक को यह स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्य बार बार घूम फिर कर इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि आवश्यक सूत्र के सामायिक आदि अध्ययनों की रचना गणधरों ने की है।[3] विशेषावश्यक भाष्य के रचयिता आचार्य जिनभद्र ने भी नियुक्ति के मत का समर्थन किया है।[4] आचार्य भद्रबाहु यह कहते हैं कि मैं जो सामायिक आदि अध्ययनों को गणधर कृत कह रहा हूँ यह मान्यता मुझे परंपरा से प्राप्त है। जब हम इस परंपरा का अन्वेषण करते हैं तो आवश्यक सूत्र के सामायिक अध्ययन को गणधर कृत मानने की परंपरा अनुयोगद्वार सूत्र—जहाँ आवश्यक का वर्णन किया गया है मिलता है।[5] अनुयोगद्वार सूत्र की चूर्णि में चूर्णिकार ने उक्त गाथाओं के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। परन्तु अनुयोगद्वार सूत्र के वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसका वर्णन किया है।[7] इससे ऐसा माना जा सकता है कि उक्त गाथाओं का अभिप्राय यह है कि आवश्यक सूत्र गणधर कृत है। एक बात यह भी है कि आगमों में जहां श्रमण श्रमणी के एकादश अंग के अध्ययन का वर्णन आता है वहीं पर उल्लेख मिलता है— अमुक श्रमण-श्रमणी ने स्थविर भगवान के पास सामायिक

---

[1] षट्खण्डागम धवलाटीका, भाग १ पृष्ठ ६५ कषाय पाहुड जयधवला टीका भाग १ पृष्ठ ८४

[2] तत्त्वार्थ भाष्य १, २०

[3] नन्दी सूत्र, चूर्णि पृष्ठ ४७ ६०

[4] आवश्यक नियुक्ति गाथा १४० ४१

[5] आवश्यक नियुक्ति, गाथा, ८० ६०, २७०, ७३४ ७३५ ७४२ ७४८, ७५० और विशेष० भाष्य, गाथा ६४८ ४६, ६७३ ७४, १४८४ ८५ १५४५ ४८ १५५३ २०८२ ८३, २०८६

[6] अनुयोग द्वार सूत्र, १५५

[7] अनुयोगद्वार वृत्ति आचार्य हरिभद्र कृत पृष्ठ १२२

आदि एकादश अगो का अध्ययन किया।" इससे ऐसा परिज्ञात होता है कि अग-बाह्य सूत्रो मे सबसे पहले आवश्यक सूत्र या उसके सामायिक अध्ययन को गणधर कृत मानने की परपरा चालू हुई। और इससे इतना निश्चित होता है कि अग बाह्य आवश्यक सूत्र को गणधर कृत मानने की परपरा कम से कम आवश्यक निर्युक्ति जितनी प्राचीन है।

परन्तु यह परपरा केवल आवश्यक सूत्र तक ही सीमित नही रही, उसका क्षेत्र बढता गया और धीरे-धीरे समस्त अग-बाह्य आगमो को गणधर कृत माना जाने लगा। दिगम्बर ग्रन्थो मे भी उसका प्रमाण मिलता है। दिगम्बर आचार्य जिनसेन (वि० स० ८४०) अपने हरिवश पुराण मे लिखते है कि भगवान महावीर ने सर्व-प्रथम बारह अगो का अर्थ रूप से उपदेश दिया, उसके बाद गौतम गणधर ने उपाग सहित द्वादशागो की रचना की।[1]

नन्दी सूत्र मे द्वादशागी को जिन-प्रणीत कहा है। परन्तु चूर्णिकार ने अग बाह्य आगमो को भी उसके साथ जोडने का उल्लेख किया है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि चूर्णिकार के समय मे अग बाह्य आगमो को गणधर कृत मानने की परपरा प्रचलित हो गई थी। यही कारण है कि नन्दी सूत्र मे जहा अग और अग-बाह्य आगमो की गणना की गई है, वहा भी चूर्णिकार इस बात का उल्लेख करते है कि अग और अग-बाह्य उभय आगम अरिहत भगवान की वाणी है।[3] अग-बाह्य आगम भी वीतराग वाणी है, इस मान्यता का यह स्रोत यही अवरुद्ध नही हुआ। इसका प्रवाह और आगे प्रवहमान होता रहा और परिणाम स्वरूप पुराण साहित्य भी गणधर कृत माना जाने लगा। पुराणकारो ने अपने पुराणो की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए उनकी प्रस्तावना मे यह उल्लेख करना शुरू कर दिया कि मूल रूप से पुराण गणधर कृत है, हमे यह वस्तु परपरा से प्राप्त हुई है, जिसके आधार से पुराणो की रचना की गई है।[4] इस तरह अग और अग-बाह्य को ही नही, प्रत्युत पुराण साहित्य पर भी गणधर-कर्तृत्व की मोहर लगाई जाने लगी।

अब प्रश्न यह होता है कि अग-बाह्य साहित्य को गणधर कृत मानने का क्या कारण रहा? इसका स्पष्ट उत्तर यह हो सकता है कि गणधर ऋद्धि-सम्पन्न माने जाते थे और उन्होने भगवान् के प्रवचन को साक्षात् रूप से ग्रहण किया था। अत उनके नाम को जोड देने से ग्रन्थ की प्रामाणिकता अधिक बढ जाती है। इसलिए आचार्यो ने आगम मे समविष्ट हो सकने वाले सम्पूर्ण साहित्य को गणधर के नाम से प्रचारित कर दिया।

---

[1] हरिवश पुराण, २, ६२, १०६, १११.
[2] नन्दी सूत्र, चूर्णि पृष्ठ ३८
[3] वही पृष्ठ ४०
[4] पद्मचरित, १, ४१-४२, महापुराण (आदिपुराण) १, २६, १, १९८-२०१

आगम ग्रंथ उनके व्याख्या साहित्य का अध्ययन करने से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि जब श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में साहित्य को लेकर मतभेद तीव्र होने लगा, तब अंग बाह्य आगम साहित्य को भी गणधर-कृत मानने की प्रवृत्ति चली और आगे चलकर वह बढ़ती ही गई। यहाँ तक कि आचार्यों द्वारा रचित पुराण साहित्य भी गणधरों की रचना कही जाने लगी।

इतनी लम्बी चर्चा का निष्कर्ष यह है कि अंग बाह्य को गणधर कृत मानने की परम्परा अर्वाचीन है और वह परिस्थिति वश चालू हुई। परन्तु यथार्थ में अंग-साहित्य ही तीर्थंकर भगवान की वाणी है और गणधर उसके सूत्रकार हैं। अंग बाह्य आगम साहित्य के रचयिता गणधर नहीं, स्थविर हैं और अनेक आगमों के साथ उन स्थविरों का प्रणेता के रूप में नाम जुड़ा हुआ है जिसका हम ऊपर उल्लेख कर आए हैं।

आगम परिषद

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी (वीर सं० १६०) में नन्दराज के समय में पाटलिपुत्र—पटना में द्वादश वर्ष का भीषण दुष्काल पड़ा। दुर्भिक्ष के कारण श्रमण श्रमणी का निर्वाह होना कठिन हो गया। इसलिए वे वहाँ से अन्यत्र विहार कर गए और कुछ विशिष्ट श्रमणों ने अनशन कर के समाधि-मरण को प्राप्त किया। ऐसी स्थिति में श्रुत-साहित्य के समाप्त होने का भय हो गया। क्योंकि उस समय लिखने की परम्परा था नहीं। समस्त श्रुत-साहित्य कण्ठस्थ करके रखने की परम्परा थी। इस दुष्काल के समाप्त होने पर श्रमण संघ पाटलिपुत्र में एकत्रित हुआ और अपनी अपनी स्मृति के अनुसार ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया। इस सम्मेलन को पाटलिपुत्र परिषद् कहते हैं। इसमें श्रमण-संघ ने ग्यारह अंगों के पाठ को सर्व सम्मति से स्वीकार किया और उनके अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था की। परन्तु उस परिषद् में बारहवाँ अंग दृष्टिवाद का कोई ज्ञाता नहीं था। उस समय केवल आचार्य भद्रबाहु ही सम्पूर्ण दृष्टिवाद— चौदह पूर्व के ज्ञाता थे और वे उस समय नेपाल की गिरि-कन्दराओं में महाप्राण नामक ध्यान की साधना में संलग्न थे।

जाओ य तम्मि समए दुक्कालो दाय-दसय वरिसाणि।
सव्वो साहु समूहो गओ तओ जलहितीरसु ॥
तदुवरमे सो पुणरवि पाडलिपुत्ते समागओ विहिया।
संघेण सुयविसया चिंता किं कस्स अत्थेति ॥
जं जस्स आसि पासे उद्देस्स ज्झयणमाइ संघडिउं ॥
तं सव्वं एक्कारस अंगाइं तहेव ठवियाइं ॥

—आचार्य हरिभद्र कृत उपदेश-पद

उन्हे आगम-परिषद मे सम्मलित होने के लिए बुलाया गया, तो उन्होने अपनी साधना का कारण बता कर आने मे असमर्थता प्रकट की। इस पर श्रमण-सघ ने पुन उनके पास कुछ श्रमणो को यह सन्देश देकर भेजा कि साधना महान् है या सघ सेवा। इस सन्देश ने महत्वपूर्ण कार्य किया और सघ सेवा की महानता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने सघ सेवा करना स्वीकार किया। श्रमण-सघ ने श्रुत-परपरा के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए पाँच-सौ श्रमणो को चौदह पूर्व का अध्ययन करने के लिए आचार्य भद्रबाहु की सेवा मे रखा और एक हजार श्रमण उनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए उनके साथ रहे। परन्तु स्थूलभद्र के अतिरिक्त अन्य श्रमण ज्ञान-साधना को सतत चालू नही रख सके, वे बीच मे ही अध्ययन छोडकर चले आए। स्थूलभद्र अपने अध्ययन मे अनवरत लगे रहे और उन्होने दश पूर्वो का अध्ययन किया। उस समय स्थूलभद्र की दो बहिने—जो साध्विएँ थी, उनके दर्शनार्थ पहुँची, तो उन्होन अपनी विद्या का, ज्ञान-साधना का चमत्कार दिखाने के लिए सिह का रूप धारण कर लिया। जब आचार्य भद्रबाहु को इस बात का सकेत मिला, तो उन्होने उसे अपात्र समझकर आगे अध्ययन कराना बन्द कर दिया। स्थूलभद्र के द्वारा अपनी गलती की क्षमायाचना करने और अत्यधिक आग्रह करने के बाद आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे शेष चार पूर्वो की मूल रूप से वाचना दी, परन्तु उनका अर्थ रूप से अध्ययन नही करवाया। इस तरह स्थूलभद्र मूल सूत्र की अपेक्षा से चौदह पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। उनके बाद दश पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्र स्वामी अन्तिम दश पूर्वधर थे। वज्र स्वामी के शिष्य आर्यरक्षित नव पूर्व और दसवे पूर्व के २४ यविक के ज्ञाता थे। उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नव पूर्व का अध्ययन किया परन्तु अनभ्यास के कारण वह नववे पूर्व को भूल गया। विस्मृति का यह क्रम आगे बढता रहा और समय के अनुसार ज्ञान-साधना एव स्मृति मे कमी आती रही।

मथुरा-परिषद्

पाटलिपुत्र मे श्रुत-परपरा के प्रवाह को प्रवहमान रखने का प्रयत्न किया गया। परन्तु, आगम-साहित्य के छिन्न-भिन्न होने के प्रसग आते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीसरी शताब्दी के अन्त मे (वीर० स २९१) आर्य सुहस्ती सूरि के समय मे सप्रति राजा के राज्य मे फिर बारह वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। इसके पश्चात् आर्य श्री स्कदिल और वज्र स्वामी के समय मे पुन भयकर दुष्काल पडा। इस दुष्काल का वर्णन नन्दी सूत्र की चूर्णि मे किया गया है। उस समय (वी० स० ८२७ और ८४० के मध्य मे) आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व मे श्रमण-सघ का सम्मेलन हुआ। आगमो को व्यवस्थित करने का यह दूसरा प्रयत्न था। इस प्रयत्न को माथुरी वाचना या मथुरा परिषद् कहते है। इसी समय आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व मे वल्लभी मे भी कुछ श्रमणो का सम्मेलन हुआ और उन्होने अपनी स्मृति मे रहे हुए आगमो को व्यवस्थित रूप दिया। इसे नागार्जुनीय वाचना कहते है। आगम-साहित्य के व्याख्याकारो ने जब आगमो पर टीकाएँ लिखी, तब उन्हे कही-कही पाठभेद दिखाई दिया, तो उन्होने उसका पाठान्तर के रूप मे उल्लेख किया है। उस जगह ऐसा पाठ

चलती रही। वीर निर्वाण स० ५७१ और वि० स० १०१ मे उनका स्वर्गवास हो गया। उसके बाद दशम पूर्व भी विच्छिन्न हो गया। और वीर-निर्वाण स० ६०४ (वि० स० १३४) मे आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के निधन के साथ नवम पूर्व भी लुप्त हो गया और आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्ग-वास के बाद पूर्वो का पूर्णत लोप हो गया। वीर निर्वाण के एक हजार (वि० स०५३०) के पश्चात् कोई भी पूर्वधर श्रमण नही रहा।

दिगम्बर परपरा के अनुसार वीर निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल ज्ञान का अस्तित्व रहा। आचार्य जम्बू स्वामी अन्तिम केवल ज्ञानी हुए। उनके निर्वाण के बाद १०० वर्ष तक चौदह पूर्वो का ज्ञान रहा। आचार्य भद्रबाहु अन्तिम चौदह पूर्वधर थे। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दश पूर्व रहे। आचार्य धर्म-सेन दश वर्ष पूर्व के अन्तिम ज्ञाता थे। उनके पश्चात् पूर्वो का लोप हो गया, २२० वर्ष तक एकादश अगो का ज्ञान रहा। एकादश, अग-साहित्य के अन्तिम अध्येता आचार्य ध्रुवसेन थे। उनके पश्चात् ११८ वर्ष तक केवल एक अग-आचाराग सूत्र का अध्ययन चलता रहा। इनके अन्तिम ज्ञाता आचार्य लोहार्य थे। वीर-निर्वाण ६८३ (वि० स० २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य का पूर्णत लोप हो गया।

केवल ज्ञान के विच्छिन्न होने की मान्यता मे दोनो परपराएँ—श्वेताम्बर और दिगम्बर एक मत है। चार पूर्वो का लोप आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमे भी दोनो एकमत है। केवल समय मे थोडा-सा अन्तर है। श्वेताम्बर परपरा भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण स० १७० मे मानती है, और दिगम्बर परम्परा १६२ मे केवल ८ वर्ष के समय का अन्तर है। यहाँ तक उभय परपराएँ एक-दूसरे के साथ-साथ चलती रही है। इसके पश्चात् दोनो परपराओ की मान्यताओ मे दूरी बढती गई। दशम पूर्व के लोप होने की मान्यता मे दोनो मे समय का बहुत लम्बा अन्तर है। श्वेताम्बर परपरा के अनुसार दश पूर्वो के ज्ञाता वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्बर परपरा दश पूर्वधर का समय वीर-निर्वाण स० २४५ तक ही मानती है। श्वेताम्बर परम्परा एक पूर्व की परपरा को देवर्द्धिगणी के समय तक मानती है और एकादश अगो को वर्तमान काल तक सुरक्षित मानती है, जबकि दिगम्बर परपरा वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष के पश्चात् आगम-साहित्य का पूर्णत लोप स्वीकार करती है।

आगम-साहित्य का मौलिक रूप

वर्तमान मे उपलब्ध आगम-साहित्य मौलिक है या नही ? इसके सम्बन्ध मे जैन-परपरा मे दो विचारधाराएं है— १ दिगम्बर विचारधारा और २ श्वेताम्बर विचारधारा। दिगम्बर विचारधारा के अनुसार श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद आगम-साहित्य का सर्वथा लोप हो गया। वर्तमान मे उपलब्ध एक भी आगम मौलिक नही है।

श्वेताम्बर परपरा की मान्यता के अनुसार आगम-साहित्य का बहुत बडा भाग लुप्त हो गया, परन्तु उसका पूर्णत लोप नही हुआ। उसका कुछ अश आज भी विद्यमान है। द्वादशागी मे से एकादश अग वर्तमान मे विद्यमान है और पाटलिपुत्र, मथुरा एव वल्लभी मे उन्हे व्यवस्थित रूप दिया गया।

१ चरण-करणानुयोग	कालिक सूत्र
२ धर्मकथानुयोग	उत्तराध्ययन ऋषि-भाषित आदि
३. गणितानुयोग	सूर्य-प्रज्ञप्ति आदि
४ द्रव्यानुयोग	दृष्टिवाद [1]

दिगम्बर परपरा मे भी चार अनुयोगो का वर्णन मिलता है, परन्तु वह कुछ रूपान्तर मे उपलब्ध होता है। उनके नाम निम्न है —

१ प्रथमानुयोग, २ करणानुयोग, ३ चरणानुयोग और ४ द्रव्यानुयोग।

श्वेताम्बर परपरा के अनुसार चार अनुयोगो के विषय निम्न है —

१ चरणकरणानुयोग	आचार
२ धर्मकथानुयोग	चरित्र, दृष्टान्त, कथा आदि
३ गणितानुयोग	गणित, काल
४ द्रव्यानुयोग	द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बर परपरा के अनुसार अनुयोगो का विषय निम्न प्रकार से है —

१ प्रथमानुयोग	महापुरुषो के जीवन चरित्र
२ करणानुयोग	लोकालोक-विभक्ति, काल, गणित
३ चरणानुयोग	आचार,
४ द्रव्यानुयोग	द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बरा, परम्परा मे आगम-साहित्य को सर्वथा लुप्त मानते है। इसलिए वर्तमान मे वे निम्न ग्रन्थो को निम्न अनुयोगो मे समाविष्ट करते है—

१. प्रथमानुयोग	पुराण, महापुराण
२ करणानुयोग	त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोक-सार
३. चरणानुयोग	मूलाचार
४. द्रव्यानुयोग	प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि [2]

---

[1] दशवैकालिक निर्युक्ति, ३

[2] रत्नकाण्ड श्रावकाचार, अधिकार १, पृष्ठ ७१-७३

लेखन-परम्परा

आगम-साहित्य का अनुशीलन परिशीलन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखन कला का प्रादुर्भाव प्रागैतिहासिक युग में हो गया था। भगवान् ऋषभदेव ने कर्म भूमि के प्रारम्भ में जनता को असि, कसि और मषि की कला सिखाई। तलवार अर्थात् राज्य और शासन करने की कला के साथ कृषि और लेखन की कला का भी उन्होंने शिक्षण दिया। भगवान् ऋषभदेव द्वारा सिखाई गई ७२ कलाओं में लेख-कला को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है।[1] भगवान ने अपनी ज्येष्ठ पुत्री ब्राह्मी को लिपि एवं लेखन कला की शिक्षा दी थी, उसे १८ लिपियाँ सिखाई[2] और उसी के नाम पर लिपि को ब्राह्मी लिपि की संज्ञा दी गई। उक्त वर्णना में प्रयुक्त लेख-कला, लिपि एवं मषि शब्द लेखन कला की परम्परा को कर्म-युग के प्रारम्भ तक ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रज्ञापना सूत्र में भी १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है।[3] भगवती सूत्र में मंगलाचरण के रूप में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है।[4] नन्दी सूत्र में भी अक्षर-श्रुत तीन प्रकार का बताया है—१ संज्ञा-अक्षर, २ व्यंजन अक्षर और ३ लब्धि अक्षर।[5] इसमें प्रयुक्त संज्ञा-अक्षर का अर्थ है—अक्षर की आकृति, संस्थान और उस आकृति को दी गई क, खा आदि की संज्ञा। इससे उस युग में लिपि के होने का प्रमाण मिलता है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में लिखने की परम्परा रही है। परन्तु हम यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते कि उस युग में लेखन के साधन क्या थे। शिलापट एवं गुफाओं की दीवारों पर अंकित शब्द तो अवश्य मिलते हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त और कोई सामग्री उपलब्ध हुई हो ऐसा ज्ञात नहीं होता। परन्तु आगमों में पुस्तकों एवं लेखन सामग्री के सम्बन्ध में अनेक साधनों का वर्णन अवश्य मिलता है। रायप्रश्नीय सूत्र में कम्बिका—कामी, डोरा, गांठ, लिप्यासन—मषि पात्र—दवात, छन्दन—ढक्कन, सांकला, मषि और लेखनी का उल्लेख मिलता है। प्रज्ञापना-सूत्र में पोत्थारा शब्द का प्रयोग मिलता है जिसका अर्थ है—पुस्तक लिखने वाला लेखक।[6] उक्त आगम में पुस्तक लेखन को शिल्पार्य में समाविष्ट किया है और अर्धमागधी भाषा एवं ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले लेखक को भाषा आर्य कहा है।[7] स्थानांग सूत्र में पांच प्रकार की पुस्तकों का उल्लेख किया है—१ गण्डी, २ कच्छवी, ३ मुष्टि, ४ संपुट फलक और ५ सृपाटिका।[8] दशवैकालिक-सूत्र की

---

[1] समवायांग सूत्र, ७२

[2] विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति, १३२

[3] प्रज्ञापना सूत्र, पद १

[4] नमो बंभीए लिविए —भगवती सूत्र

[5] नन्दी सूत्र ३८ मूल सुत्ताणि, पृ २०६

[6] प्रज्ञापना सूत्र पद १

[7] वही

[8] स्थानांग सूत्र स्थान ५

टीका मे आचार्य हरिभद्र ने और निशीथ चूर्णिकार ने भी इसका उल्लेख किया है।[1] टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताडपत्र, सपुट का पत्र सचय और कर्म का अर्थ मषि एव लेखनी से लिखना किया है। और पोत्थारा या पोत्थकार शब्द का अर्थ टीकाकार ने पुस्तक के माध्यम से जीविका चलाना किया है।

आगम के अतिरिक्त भी प्राचीन युग मे लेखन कला के प्रमाण मिलते हैं। बौद्ध और वैदिक साहित्य इसके साक्षी है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक उल्लेख भी उपलब्ध होते हैं। वीर-निर्वाण की द्वितीय शताब्दी मे आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्कस ने अपनी भारत-यात्रा के वर्णन मे लिखा है—"भारतवासी लोग कागज बनाते थे।[2] ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी मे लिखने के लिए ताड-पत्र और चतुर्थ शताब्दी मे भोज-पत्र का उपयोग किया जाता था।[3] वर्तमान काल मे उपलब्ध लेखन साहित्य मे ईसा की पाचवी शताब्दी के लिखित पत्र मिलते हैं।"[4] उक्त अध्ययन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि भारत मे लिखने की कला प्राचीनतम है और हमारे प्रागैतिहासिक पूर्वज लेखन कला से परिचित थे। परन्तु फिर भी इस बात को स्वीकार करना पडेगा कि उस समय आगम-साहित्य को लिपि-बद्ध करने की परम्परा नही थी।[5] उस युग मे श्रुत-साहित्य कण्ठस्थ करने एव करवाने की परम्परा रही है। जैनो मे ही नही, वैदिक एव बौद्ध सम्प्रदायो मे भी यही परम्परा थी और इसी कारण तीनो परम्पाओ मे आगम के लिए श्रुत, श्रुति एव सुत्त शब्द का प्रयोग हुआ।

आगम-लेखन युग

जैन परम्परा की मान्यता के अनुसार ज्ञान का विशाल पुञ्ज चौदह पूर्वो मे सचित है। वह विराट साहित्य कभी लिपिबद्ध नही किया गया। परन्तु आचार्यो ने उसके लिए यह कल्पना अवश्य की, कि वह अमुक-अमुक परिमाण मे स्याही से लिपिबद्ध किया जा सकता है। चौदह पूर्व तो क्या, आगम युग मे एकादश अग भी लिपिबद्ध नही किए गए। उस युग मे ज्ञान को अक्षरो मे अकित करने की अपेक्षा, उसे मस्तिष्क एव हृदय मे अकित करने का अधिक महत्व था। लिखने मे समय अधिक लगता था और लिखित ग्रन्थो का प्रतिलेखन करने एव उन्हे सम्भालने मे भी समय व्यय करना पडता था। और

---

[1] दशवैकालिक टीका, पृ २५, निशीथ चूर्णि, उ, १२

[2] भारतीय प्राचीन लिपि माला, पृ. २

[3] वही

[4] वही

[5] आगम-साहित्य के लिखने की परम्परा का सकेत अनुयोग-द्वार सूत्र मे मिलता है। उसमे श्रुत-अधिकार मे लेखन सामग्री के द्वारा लिखित पन्नो को द्रव्य-श्रुत कहा है। और इसका रचनाकाल वीर-निर्वाण की ९ वी शताब्दी का अन्तिम समय माना जाता है। इससे पहले आगम-लिखने की परम्परा का सकेत नही मिलता।

लिखित ग्रन्थ के जाने में स्वाध्याय में भी विघ्न पड़ता था। साधक स्वाध्याय, चिन्तन-मनन और निदिध्यासन की परम्परा को छोड़कर पुस्तक-पन्नों के पीछे लग जाता। इसी कारण लेखन परम्परा को महत्व नहीं दिया गया। सत्य तो यह है कि उस युग में लेखन परम्परा को दोषयुक्त माना गया। बृहत्कल्प और निशीथ भाष्य में स्पष्ट शब्दों में कहा गया कि श्रमण जितनी बार पुस्तक को खोलता और बाँधता है या जितने अक्षर पन्नों पर अंकित करता है लिखता है, उसे उतने ही चतुर्लघुका का प्रायश्चित आता है।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के युग तक आगम लिखना दोष रूप माना जाता था। इसके बाद भी निकट भविष्य में लिखने की परम्परा को कोई उत्साह या प्रेरणा मिली हो ऐसा उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् द्वितीय आगम वाचना मथुरा में हुई इसका समय वीर निर्वाण ८२७ से ८४० है और करीब इसी समय आचार्य नागार्जुन के सान्निध्य में एक वाचना वल्लभी में भी हुई और दोनों वाचनाओं में एकादश अंगों के पाठों को व्यवस्थित किया गया। इसी समय आचार्य आर्य रक्षित ने अनुयोगद्वार सूत्र की रचना की। इसमें द्रव्य श्रुत के लिए पत्तय-पोत्थय लिहिअं[2] लेखन सामग्री के द्वारा पन्नों पर लिखित आगम शब्द का प्रयोग किया है। इससे पहले किसी आगम के लिखने का प्रमाण नहीं मिलता। इससे हम ऐसा अनुमान कर सकते हैं कि भगवान् महावीर के निर्वाण की ९ वीं शताब्दी के अन्त में आगमों के लिखने की परम्परा चल पड़ी थी। परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट उल्लेख आचार्य देवर्द्धि गणी क्षमाश्रमण के सान्निध्य में वल्लभी में हुई तृतीय आगम-परिषद् के समय का मिलता है।

साधु-साध्वियों की स्मृति की मन्द होते देखकर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने आगमों को लिखने का पूरा तरह प्रयत्न किया ऐसा प्रतीत होता है। इसके पीछे उनका एक ही पावन-पुनीत ध्येय था कि समय की गति को देखकर भी न लिखने की रूढ़ परम्परा को ही चालू रखा गया तो एक दिन श्रुत साहित्य का ही नाश हो जायगा। अतः उन महापुरुष ने युग के अनुरूप लेखन परम्परा को स्थापित करने की दिशा में एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। उसके बाद लेखन कला का निरन्तर विकास होता रहा। आगम ही क्या नियुक्ति, चूर्णि, भाष्य टीकाएँ आदि भी लिखी जाने लगी और आचार्यों ने स्वतन्त्र रूप से सूत्र एवं दर्शन साहित्य भी लिखा। वर्तमान युग का साधक तो लेखन से मुद्रण तक पहुँच गया है और प्रायश्चित्त की बात विस्मृति के एक अँधेरे कोने में ढकेल दी गई है।

---

[1] जत्तियमेत्ता वारा, उ मुंचई-बंधई य जति वारा।
जति अक्खराणि लिहति य तति लहुँगा ज च आवज्जे॥
—बृहत्कल्प भाष्य, उ ३, गाथा ३८३१ निशीथ भाष्य उ १२ गाथा ४००८

[2] अनुयोग-द्वार सूत्र श्रुत-अधिकार ३७

आगमो का वर्गीकरण

आगमो मे द्वादशांगी को तीर्थंकर प्रणीत कहा गया है। भगवान् महावीर के युग मे द्वादशांगी के अतिरिक्त आगमो के अन्य नामो का उल्लेख नहीं मिलता। उनके निर्वाण के बाद अन्य आगमो की रचना की गई, तब यह प्रश्न उठा कि इन आगमो को क्या संज्ञा दें, उस समय आगमों को दो भागो मे विभक्त किया गया—१ अंग-प्रविष्ट, और २ अंग-बाह्य। दिगम्बर साहित्य मे और स्थानांग एवं नन्दी सूत्र मे आगमो का यही वर्गीकरण मिलता है।

परन्तु जब पूर्व-साहित्य का लोप होने लगा और स्थविरों ने पूर्वों एव अंग साहित्य मे से अन्य आगमो का निर्यूहण किया और कुछ आगमो की रचना की, तब उन्हे भिन्न संज्ञा दी गई। मूल वर्गीकरण तो अंग और अंग बाह्य के रूप मे ही रहा, परन्तु अंग-बाह्य को चार भागों मे विभक्त किया गया—१ उपांग, २ छेद, ३ मूल और ४ आवश्यक।

आगमो का वर्गीकरण करते समय आगम-पुरुष की कल्पना की गई और अंग-प्रविष्ट को पुरुष के अंग—स्थानीय और उपांगो को उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के दो पैर, दो जंघाएँ, दो उरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये १२ अंग होते है, वैसे श्रुत-पुरुष के आचारांग आदि १२ अंग हैं।[1] कर्ण, नासिका, चक्षु हाथ आदि उपांग है। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि द्वादश उपांग है। द्वादश-अंग और द्वादश-उपांग साहित्य का विवरण निम्न है—

	अंग	उपांग
१	आचारांग	औपपातिक
२	सूत्रकृतांग	रायप्रश्नीय
३	स्थानांग	जीवाभिगम
४.	समवायांग	प्रज्ञापना
५	भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
६.	ज्ञातधर्मकथांग	सूर्य प्रज्ञप्ति
७	उपासकदशांग	चन्द्र प्रज्ञप्ति
८.	अन्तकृद्दशांग	कल्पिका
९	अनुत्तरोपपातिक दशांग	कल्पावतंसिका

[1] पायदुगं जंघोरु गायदुगद्धं तु दोय बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो बारस अंगो सुयविसिट्ठो॥ —नन्दी सूत्र, टीका—आचार्य मलयगिरि, ४३.

१०	प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका
११	विपाक	पुष्प-चूलिका
१२	दृष्टिवाद	वृष्णि-दशा

उपांग-साहित्य का आचार्य उमास्वाति ने अपने भाष्य में उल्लेख किया है और छेद सूत्रों का भी उनके भाष्य में उल्लेख मिलता है। अतः उपांग और छेद सूत्रों का वर्गीकरण आचार्य उमास्वाति के पूर्व ही हो गया था। मूल आगमों का नामकरण सबसे अर्वाचीन है ऐसा प्रतीत होता है। छेद और मूल आगमों की संख्या में सभी आचार्य एकमत नहीं हैं। कुछ आचार्य छेद-सूत्रों की संख्या चार मानते हैं— १ निशीथ २ व्यवहार ३ बृहत्कल्प और ४ दशा-श्रुत स्कंध। कुछ आचार्य महानिशीथ और जीत कल्प को मिलाकर छेद-सूत्रों की संख्या छह मानते हैं और कुछ जीत कल्प के स्थान में पञ्चकल्प को छेद-सूत्र मानते हैं।

मूल सूत्रों की संख्या में भी एकरूपता नहीं है। कुछ आचार्य चार मूल सूत्र मानते हैं— १ दशवैकालिक, २ उत्तराध्ययन, ३ नन्दी और ४ अनुयोग द्वार। कुछ आचार्य आवश्यक और ओघ नियुक्ति को भी मूल-सूत्रों में सम्मिलित करके उनकी संख्या छह मानते हैं। कुछ ओघ नियुक्ति के स्थान में पिण्ड नियुक्ति को मूल सूत्र मानते हैं। कई आचार्य नन्दी और अनुयोग द्वार को मूल सूत्र नहीं मानते। उनकी दृष्टि में ये दोनों चूलिका-सूत्र हैं। इस तरह अंग बाह्य आगमों का विभिन्न समयों में विभिन्न रूप से वर्गीकरण एवं नामोल्लेख होता रहा है।

वर्तमान में आगम साहित्य और उनकी संख्या

यह हम बता चुके हैं कि अंग-साहित्य के प्रणेता तीर्थङ्कर हैं और उनके सूत्रकार गणधर हैं। अंग बाह्य आगमों के रचयिता स्थविर हैं। जैन परम्परा में आगमों को लिखने की नहीं स्मृति में रखने की कण्ठस्थ करने की परम्परा रही है। जब विस्मृति होने लगी तो आगमों के प्रवाह को प्रवहमान रखने के लिए पाटलिपुत्र, मथुरा और वल्लभी में श्रमण संघ का मिलन हुआ और तीनों वाचनाओं में आगम पाठों को व्यवस्थित किया गया। अन्तिम वाचना के समय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने वल्लभी में सम्मिलित श्रमण संघ से प्राप्त पाठों को व्यवस्थित रूप से संपादित करके उन्हें लिपिबद्ध कर लिया। अतः आगम साहित्य के लिपिकार या संपादक देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को माना गया है।

नन्दी सूत्र की रचना देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने की। इसमें पांच ज्ञान की व्याख्या की गई है और आगम साहित्य का भी परिचय दिया गया है। नन्दी सूत्र में आगम साहित्य की सूची निम्न प्रकार से दी गई है—
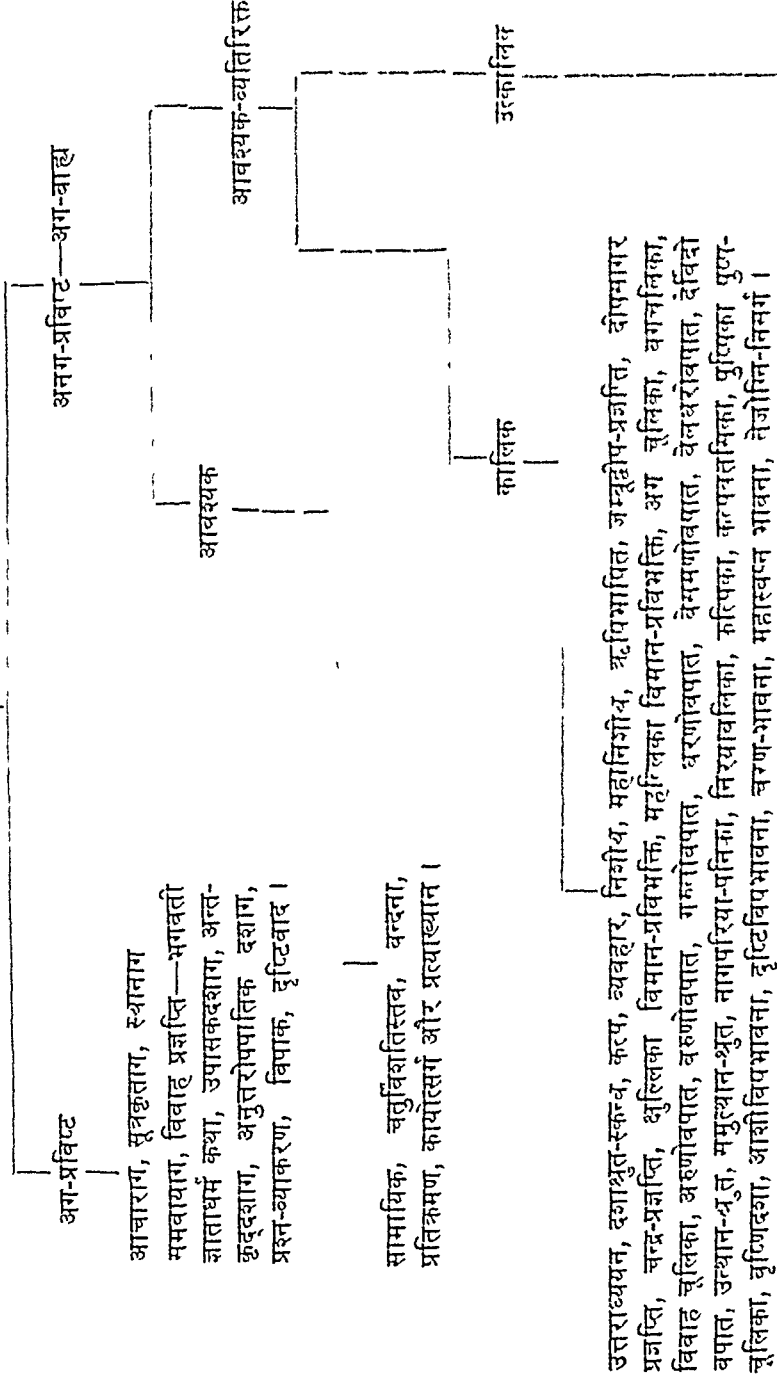
[1] नन्दी सूत्र, ४३, मूल-सुत्ताणि पृ० ३११

नन्दी सूत्र म आगम साहित्य की जो सूची दी गई है, व सब आगम वतमान म उपलब्ध नही हैं। अत वतमान म जो आगम उपलब्ध हैं उसके अनुसार आगमो को प्रामाणिक मानने की परम्परा म एकरूपता नही है। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज उपलब्ध आगमो म कुछ नियुक्तियो को जोडकर ४५ आगमों को प्रामाणिक मानती है। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय म एक परम्परा आगमो की सख्या ८४ भी मानती है। स्थानकवासी और तेरहपथ परम्परा ३२ आगमो को प्रामाणिक मानती है। इसम भी दोनो परपराए ११ अग सूत्रो को स्वत प्रमाण मानती है और १२ उपाग ४ मूल ४ छेद और आवश्यक इन २१ आगमो को परत प्रमाण मानती है।

४५ आगमो के नाम

एकादश अग

१	आचाराग	२	सूत्रकृताग	३	स्थानाग
४	समवायाग	५	भगवती	६	ज्ञातृधर्मकथा
७	उपासकदशा	८	अन्तकृद्दशा	९	अनुत्तरौपपातिक
१०	प्रश्न व्याकरण	११	विपाक		

द्वादश उपाग

१	औपपातिक	२	राजप्रश्नीय	३	जीवाभिगम
४	प्रज्ञापना	५	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	६	सूर्य प्रज्ञप्ति
७	चन्द्र प्रज्ञप्ति	८	निरयावलिका	९	कल्पावतसिका
१०	पुष्पिका	११	पुष्पचूलिका	१२	वृष्णिदशा

छह मूल सूत्र

१	आवश्यक	२	दशवैकालिक	३	उत्तराध्ययन
४	नन्दी	५	अनुयोगद्वार	६	पिण्ड नियुक्ति या ओघ नियुक्ति

छह छेद सूत्र

१	निशीथ	२	महा निशीथ	३	वृहत्कल्प
४	व्यवहार	५	दशाश्रुतस्कध	६	पचकल्प

दस पयन्ना

१	आतुर-प्रत्याख्यान	२.	भक्त-परिज्ञा	३	तन्दुल-वैचारिक
४	चन्द्र-वेध्यक	५.	देवेन्द्र-स्तव	६	गणि-विद्या
७	महाप्रत्याख्यान	८	चतु शरण	९	वीर-स्तव
१०	सस्तारक				

८४ आगमो के नाम

१ से ४५ तक पूर्वोक्त

४६ कल्प-सूत्र (पर्युपण-कल्प, जिन-चरित्र, स्थविरावली, समाचारी आदि

४७ यति-जीत-कल्प —सोमप्रभ सूरि
४८ श्रद्धा-जीत-कल्प—धर्मघोप सूरि } दोनो जीत कल्प

४९ पाक्षिक-सूत्र
५० क्षमापना-सूत्र } आवश्यक सूत्र के अग है।

५१	वदितु	६९	अग-चूलिया
५२	ऋपिभापित	७०.	वग-चूलिया
५३	अजीव-कल्प	७१.	वृद्ध-चतु शरण
५४	गच्छाचार	७२	जम्बू-पयन्ना
५५.	मरण-समाधि	७३	आवश्यक-निर्युक्ति
५६	सिद्ध-प्राभृत	७४	दशवैकालिक-निर्युक्ति
५७	तीर्थोद्गार	७५	उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
५८	आराधनापताका	७६	आचाराग-निर्युक्ति
५९	द्वीप-सागर-प्रज्ञप्ति	७७	सूत्रकृताग-निर्युक्ति
६०	ज्योतिप-करण्डक	७८	सूर्य-प्रज्ञप्ति
६१.	अग-विद्या	७९	वृहत्कल्प-निर्युक्ति
६२	तिथि-प्रकीर्णक	८०	व्यवहार-निर्युक्ति
६३	पिण्ड-विशुद्धि	८१	दशाश्रुत-स्कध-निर्युक्ति
६४	सारावली	८२	ऋपिभापित-निर्युक्ति
६५	पर्यन्ताराधना	८३	ससक्त-निर्युक्ति
६६.	जीव-विभक्ति	८४	विशेपावश्यक भाष्य
६७	कवच-प्रकरण		
६८.	योनि-प्राभृत		

स्थानकवासी और तेरहपन्थ सम्प्रदाय द्वारा मान्य बत्तीस आगमों के नाम

आगम

अंग	उपांग	मूल	छेद	आवश्यक
१ आचारांग	औपपातिक	दशवैकालिक	निशीथ	
२ सूत्रकृतांग	रायप्रश्नीय	उत्तराध्ययन	व्यवहार	
३ स्थानांग	जीवाभिगम	अनुयोगद्वार	बृहत्कल्प	
४ समवायांग	प्रज्ञापना	नन्दी	दशा श्रुत-स्कन्ध	
५ भगवती	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति			
६ ज्ञाताधर्मकथा	चन्द्र प्रज्ञप्ति			
७ उपासक दशांग	सूर्य प्रज्ञप्ति			
८ अन्तकृद्दशांग	निरयावलिका			
९ अनुत्तरौपपातिक	कल्पवतंसिका			
१० प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका			
११ विपाक	पुष्प चूलिका			
	वह्निदशा			

श्वेताम्बर परंपरा की तीनों सम्प्रदायों—१ मूर्तिपूजक २ स्थानकवासी और तेरहपन्थ द्वारा मान्य आगम साहित्य के नामों का ऊपर उल्लेख कर दिया है। अब निम्न पंक्तियों में ४५ आगमों का संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है जिससे आगमों में वर्णित एवं चर्चित विषय का पाठकों को परिचय मिल जाए।

१ आचारांग सूत्र

आचारांग-सूत्र का द्वादशांगी में या श्रुत-साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। प्रस्तुत आगम में आचार का वर्णन है और आचार साधना का प्राण है, मुक्ति का मूल है। इसलिए आगम साहित्य के व्याख्याकारों ने इस अंग-साहित्य को सार निचोड़ या नवनीत कहकर इसके महत्व को स्वीकार किया है।[1] भाषा शैली एवं विषय की दृष्टि से भी यह सब आगमों से प्राचीन एवं महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। पौर्वात्य विद्वान ही नहीं बल्कि डा० हरमन याकोबी और शुब्रिंग जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है।

---

[1] अंगाणां किं सारो ? आयारो। —आचारांग नियुक्ति

प्रस्तुत आगम मे श्रमण भगवान् महावीर ने यह उपदेश दिया है कि साधु को अपने आचार का किस तरह परिपालन करना चाहिए। जैन परपरा की यह मान्यता रही है कि जो ज्ञान आचार का साकार रूप नही ले सकता, साधक की साधना मे आचरित नही होता वह जीवन-विकास के लिए, साध्य को सिद्ध करने के लिए उपयोगी नही है। वही ज्ञान महत्वपूर्ण है और साधक को बन्धन से मुक्त करा सकता है, जो उसके आचरण मे उतरता है।

प्रस्तुत आगम मे ज्ञान और आचार के सम्बन्ध तथा महत्त्व को बताया गया है। आचार एव साधना को प्राणवन्त बनाने के लिए इसमे 'अहिंसा का उपदेश देने के पहले यह बताया गया है कि ससार मे कितने प्रकार के जीव है। सर्व-प्रथम उनका परिबोध कराकर हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया है। इसमे भगवान् महावीर ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि "जो साधक एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है।"[1] जो व्यक्ति एक वस्तु की सब पर्यायो को जान लेता है वह निश्चित रूप से सब वस्तुओ का परिज्ञान कर सकता है। जो एक आत्मा को स्व और पर पर्याय एव द्रव्य रूप से जान लेता है, वह पुद्गल की स्व और पर रूप सब पर्यायो को स्वत ही जान लेता है। क्योकि एक वस्तु को स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से भिन्न करके उसके पूर्ण रूप को सम्पूर्ण ज्ञान की विवक्षा किए बिना जानना असंभव है। अत एक वस्तु को सपूर्ण रूप से जानने का अर्थ है, समस्त वस्तुओ का स्व और पर पर्याय की अपेक्षा से सम्पूर्ण रूप से परिबोध करना। और जो सब वस्तुओ को सम्पूर्ण रूप से जान लेता है, वह एक वस्तु को भी सम्पूर्ण रूप से जान लेता है, यह तो स्वत ही स्पष्ट है। इस तरह आचाराग मे ज्ञान और साधना के सम्बन्ध मे गभीर वर्णन मिलता है।

प्रथम-श्रुतस्कंध

प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कधो मे विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कध मे नव अध्ययन है। इसे ब्रह्मचर्य अध्ययन भी कहते है। ब्रह्म का अर्थ है—सयम और चर्या का अभिप्राय है—आचरण करना। अत सयम का आचरण करना ब्रह्मचर्य है। आगम-साहित्य मे अहिंसा, समभाव या समत्व की साधना का नाम ही सयम है।[2] इसी साधना को सामायिक भी कहा है।[3] प्रस्तुत आगम मे अहिंसा और समत्व-भाव की साधना का उपदेश दिया गया है, अत इसका ब्रह्मचर्य अध्ययन नाम सार्थक है।

इसके प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र-परिज्ञा है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ज्ञ' परिज्ञा से शस्त्रो की भयकरता एव उनके प्रयोग से बढने वाले वैर-भाव और ससार अभिवृद्धि को जानकर, प्रत्याख्यान

---

[1] जे एग जाणइ से सव्व जाणइ, जे सव्व जाणइ से एग जाणइ। —आचाराग ३. ४

[2] स्थानाग सूत्र, ४२९-३०; समवायाग सूत्र, १७

[3] आवश्यक सूत्र, सामायिक अध्ययन.

परिज्ञा में शस्त्रों का परित्याग करना चाहिए। वस्तुतः इस अध्ययन में भगवान् ने निःशस्त्रीकरण का उपदेश दिया है। उन्होंने साधना पथ पर गतिमान साधक को द्रव्य और भाव—तलवार आदि द्रव्य हथियारों एवं राग-द्वेष आदि भाव शस्त्रों के परित्याग करने की बात कही है। जब तक साधक शस्त्रों के प्रयोग का त्याग नहीं करेगा तब तक विश्व में उस शान्ति नहीं मिल सकता।

प्रथम अध्ययन के सात उद्देश हैं। प्रथम उद्देश में समुच्चय रूप से जीव हिंसा से विरत होने का उपदेश दिया है। शेष छह उद्देशों में पृथ्वी पानी अग्नि वायु वनस्पति और त्रस काय के जीवों का परिज्ञान कराया है और साधक को यह बोध कराया गया है कि इन योनियों में तू स्वयं उत्पन्न हो आया है। जगत के सभी जीव तुम्हारे जातीय भाई हैं। उन सब में तुम्हारे जैसी ही चेतना शक्ति है, उन्हें भी तुम्हारे जैसा ही सुख दुःख का संवेदना होता है। अतः किसी भी तरह के शस्त्र के द्वारा तुम्हें उनका वध नहीं करना चाहिए। उन्हें ताप परिताप नहीं देना चाहिए। उन्हें बंधन में नहीं बाँधना चाहिए गुलाम नहीं बनाना चाहिए।

द्वितीय अध्ययन का नाम लोक विजय है। यह छह उद्देशों में विभक्त है। इसमें यह बताया गया है कि व्यक्ति किस प्रकार से संसार में आबद्ध होता है और कैसे छुटकारा पाता है। इसके छह उद्देशों में क्रमशः ये भाव बताए हैं—१ स्वजन-स्नेहियों के साथ निहित राग भाव एवं आसक्ति का परित्याग करना। २ संयम-साधना में प्रविष्ट होने वाले साधक का शिथिलता का परित्याग करना। ३ अभिमान और धन सम्पत्ति में सार दृष्टि नहीं रखना। ४ भोगासक्ति से दूर हटना। ५ लोक के आश्रय से संयम का पालन करना। ६ लोक के आश्रय में संयम का निर्वाह होने पर भी लोक में ममत्व भाव नहीं रखना।

लोक शब्द की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। परन्तु प्रस्तुत में लोक का अर्थ है—संसार। वह दो प्रकार का है—१ द्रव्य लोक और २ भाव लोक। जिस क्षेत्र में मनुष्य पशु पक्षी देव नारक आदि रहते हैं उसे द्रव्य लोक कहते हैं और कषायों को भाव लोक कहते हैं। वस्तुतः कषाय लोक ही द्रव्य लोक में परिभ्रमण का मूल कारण है। इसीलिए प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में संसार की यह परिभाषा दी है—जो गुण हैं वे ही मूल स्थान हैं और जो मूल स्थान हैं वे गुण हैं। इस गंभीर वाक्य का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जहाँ विषय-कषाय हैं वहाँ संसार है और जहाँ संसार है, वहाँ विषय-कषाय है। अतः विषय कषाय पर विजय पाने वाला साधक ही सच्चा विजेता है।

तृतीय अध्ययन का नाम शीतोष्णीय है। प्रस्तुत में शीत और उष्ण का अर्थ है—अनुकूल और प्रतिकूल परीषह। स्त्री और सत्कार परीषह को शीत और शेष २० परीषहों को उष्ण कहा है। साधना के मार्ग में कभी अनुकूल परीषह उत्पन्न होते हैं तो कभी प्रतिकूल। साधु को चाहिए कि अनुकूल एवं प्रतिकूल सब तरह के परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करे। परीषहों के उत्पन्न होने

पर वह साधना के क्षेत्र से पलायन न करे, प्रत्युत धैर्य-पूर्वक उन्हे सहते हुए सयम का परिपालन करे। यह अध्ययन चार उद्देशो मे विभक्त है। इसमे साधक को सदा जागृत रहने का उपदेश दिया गया है। भगवान महावीर का यह वज्र-आघोष स्पष्ट रूप से सुनाई दे रहा है—"सुषुप्त साधक मुनि नही है क्योकि मुनि सदा-सर्वदा जागृत रहता है।"[1] वह कभी भी भाव-निद्रा मे नही सोता है, प्रमाद और आलस्य मे निमज्जित नही रहता है।

चतुर्थ-अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। इसके चार उद्देश है। सम्यक्त्व का अर्थ है—श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास। प्रश्न हो सकता है कि साधक किस पर श्रद्धा करे? इस अध्ययन मे बताया गया है—"अतीत अनागत एव वर्तमान मे होने वाले समस्त तीर्थकरो का एक ही उपदेश रहा है कि सर्व-प्राण, सर्व-भूत, सर्व-जीव और सर्व-सत्व की हिंसा मत करो, उन्हे पीडा एव सताप-परिताप मत दो। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है।"[2] अत सम्यक्त्व का अर्थ है—अहिंसा दया सत्य आदि पर श्रद्धा-निष्ठा रखना एव यथाशक्ति उसे आचारण मे उतारने का प्रयत्न करना।

पञ्चम अध्ययन लोकसार है। वस्तुत लोक मे सारभूत तत्त्व है, तो केवल धर्म ही है। धर्म का सार ज्ञान है, ज्ञान का सार सयम है और सयम का सार निर्वाण है। प्रस्तुत अध्ययन के छह उद्देशो मे इसी बात का विस्तृत विवेचन किया गया है।

षष्ठम अध्ययन का नाम धुत है। इसके पाँच उद्देश है। धुत का अर्थ है—वस्तु पर लगे हुए मैल को दूर करके वस्तु को साफ करना। प्रस्तुत अध्ययन मे तप-सयम की साधना के द्वारा आत्मा पर लगे हुए कर्म मल को दूर करके आत्मा के शुद्ध रूप को प्रकट करने की प्रक्रिया बताई है।

सप्तम अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। इसके सात उद्देश है। आचार्य शीलाक का कहना है कि इसमे मोह के कारण उत्पन्न होने वाले परिषहो से बचने एव जन्त्र-मन्त्र से बचकर रहने का उपदेश दिया गया है। वर्तमान मे यह अध्ययन उपलब्ध नही है।

अष्टम अध्ययन विमोक्ष आठ उद्देशो मे विभक्त है। इसमे कल्प्य-अकल्प्य वस्तुओ का वर्णन किया गया है और समान आचार वाले साधु की आहार-पानी से सेवा करने और असमान आचार वाले की सेवा न करने का उपदेश दिया गया। और हर परिस्थिति मे सयम-साधना मे दृढ रहने का उपदेश दिया है।

---

[1] **सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरति।—आचारांग, १, ३, १, १**

[2] **आचाराग, १, ४, १, १**

नवम अध्ययन के चार उद्देश हैं। इसमें गद्य भी सूत्र नहीं है। गाथाओं में भगवान् महावीर की साधना का सजीव वर्णन किया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध

इसमें चार चूलिकाएँ और १६ अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन के ग्यारह, द्वितीय के तीन, तृतीय के तीन, चतुर्थ में, पंचम, सप्तम अध्ययन तक प्रत्येक के दो-दो और शेष नव अध्ययनों में एक-एक उद्देशक है।

प्रथम पिण्डैषणा अध्ययन है, इसमें यह बताया गया है कि साधु को किस तरह का आहार लेना चाहिए और आहार के कितने दोष हैं। साधु उक्त दोषों से रहित आहार ग्रहण करे। इस अध्ययन में कुछ अपवादों का भी उल्लेख है। जैसे—यदि दुर्भिक्ष आदि के अवसर पर गृहपति ने मुनि को आहार दिया और अपने द्वार पर अनेक भिक्षुओं को खड़ा देखकर यह कहा कि तुम यह सब आहार साथ बैठकर खा लो या सब को बाँट दो। उस समय साधु अन्य सम्प्रदाय के साधुओं को आहार नहीं दे और न उनके साथ बैठकर खाते हैं। परन्तु द्वितीय श्रुतस्कंध के दसवें उद्देश में यह स्पष्ट आदेश दिया गया है कि इस अपवाद मार्ग में साधु—यदि सब भिक्षु चाहें कि साथ बैठ कर खा लें तो सब के साथ बैठकर खा ले और यदि वे अपना विभाग चाहते हों तो उन सबको बराबर विभाग कर दे। इसमें अन्य अपवादों का भी उल्लेख है और अपवाद को भी उत्सर्ग की तरह मार्ग माना है उन्मार्ग नहीं। यद्यपि अपवादों के लिए आगम में कहीं भी प्रायश्चित का विधान नहीं है।

दूसरे अध्ययन में शय्या के सम्बन्ध में, तीसरे में ईर्या—गमन करने के सम्बन्ध में, चौथे में भाषा के सम्बन्ध में, पाँचवें में वस्त्र, छट्ठे में पात्र, सातवें में मकान, आठवें में खड़े रहने के स्थान, नवम में स्वाध्याय भूमि, दसवें में उच्चार पासवण—मल मूत्र त्यागने की भूमि आदि के सम्बन्ध में बताया गया है कि उसे इनमें सतर्कता से बचना चाहिए। इनमें भी कहीं-कहीं पर अपवाद मार्ग का उपदेश दिया है। चतुर्थ अध्ययन में बताया है कि साधु ने विहार करते समय जंगल में मृग को जाते हुए देखा हो और उसके निकल जाने पर शिकारी वहाँ आ पहुँचे और मुनि से पूछे कि मृग किधर गया है उस समय मुनि मौन रहे। यदि शिकारी के विवश करने पर उसे बोलना ही पड़े तो वह जानते हुए भी यह कहे कि मैं नहीं जानता — जाणं वा णो जाणंति वएज्जा।

ग्यारहवें और बारहवें अध्ययन में शब्द की मधुरता एवं सौंदर्य में आसक्त नहीं होने का उपदेश दिया है। तेरहवें अध्ययन में यह बताया है कि दूसरे व्यक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया में मुनि को किस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करनी चाहिए। चौदहवें अध्ययन में बताया है कि मुनियों में परस्पर होने वाली क्रियाओं में उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए। पन्द्रहवें अध्ययन में भगवान् महावीर के

जीवन और पाँच महाव्रतो की पच्चीस भावनाओ का वर्णन है। सोलहवे अध्ययन मे हित-प्रद शिक्षाएं दी गई है।

२ सूत्रकृताग सूत्र

प्रस्तुत आगम मे ज्ञान, विनय, क्रिया आदि दार्शनिक विषयो का और अन्य धर्मो एव दर्शनो एव दार्शनिको तथा धर्माचार्यो की मान्यता का विवेचन है। इसमे श्रमण भगवान महावीर के समय मे प्रचलित ३६३ मतो—सम्प्रदायो[1] की मान्यता के आचार-विचार और जैन परम्परा के आचार-विचार के साथ तुलना की गई है और साथ मे यह स्पष्ट कर दिया है कि अहिंसा, सत्य आदि महाव्रत धर्म के मूल है, धर्म के प्राण है। अत साधक को अहिंसा आदि की साधना पर श्रद्धा-निष्ठा रखते हुए अपने साध्य को सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे आठ प्रकार के—जाति मद, कुल मद, धर्म मद, बल मद, तप मद, लाभ मद, अधिकार मद और ऐश्वर्य मद का परित्याग करके निरहकार भाव से साधना करनी चाहिए। मद-अहकार आत्मा को पतन के महागर्त मे गिराता है। अत साधक को अपने जीवन मे अहभाव को नही, विनय-नम्रता को स्थान देना चाहिए। वस्तुत. विनय धर्म का भूषण है साधना का सर्व-श्रेष्ठ अलकार है और समस्त सिद्धियो का दाता है।

प्रथम-श्रुतस्कंध

प्रस्तुत आगम भी दो श्रुतस्कधो मे विभक्त है। प्रथम-श्रुतस्कध मे १६ अध्ययन है। पहला समयाख्य अध्ययन है। इसमे स्व-मत और पर-मत का वर्णन है। इसमे पञ्च-महाभूतवादी (Materialists), आत्माद्वैतवादी (वेदान्ती) तज्जीव-तच्छरीरवादी (Other Materialists)—आत्मा और शरीर को एक मानने वाले, अक्रियावादी, आत्मषष्ठवादी, पञ्च-स्कन्धवादी, क्षणिकवादी (बौद्ध), ज्ञानवादी विनयवादी, नियतिवादी (गोशालक), लोकवादी आदि परमत-मतान्तरो के सैद्धान्तिक एव आचार सम्बन्धी दोषो एव भूलो को बताकर स्व-मत अर्थात् अपने सिद्धान्त की प्ररूपणा की है।

दूसरा वैतालीय अध्ययन है। इसमे हितप्रद और अहितप्रद मार्ग बताया गया है। साधक को हिंसा आदि दोषो से युक्त मार्ग का और कषाय भाव का त्याग करके शुद्ध सयम की साधना करनी चाहिए।

तीसरे अध्ययन का नाम उपसर्ग-परिज्ञा है। इसमे यह उपदेश दिया गया है कि साधक को शीत आदि अनुकूल एव प्रतिकूल उपसर्गो को सहन करना चाहिए। माता-पिता एव स्नेही-परिजनो के राग-भाव एव विलाप आदि से विकम्पित होकर साधना पथ का त्याग नही करना चाहिए। उपसर्ग मे होने वाले आध्यात्मिक एव मानसिक विषाद और कुशास्त्रो एव कुतर्कवादियो के कुतर्को से घायल होकर सयम-साधना से भ्रष्ट नही होना चाहिए। साधक को हर परिस्थिति मे धैर्य एव समभाव से समस्त परीषहो को सहन करना चाहिए और अपनी श्रद्धा-निष्ठा को सदा विशुद्ध रखना चाहिए।

---

[1] उस युग मे प्रचलित ३६३ मत ये हैं—१८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ विनयवादी। —सूत्रकृताग

चतुर्थ अध्ययन स्त्री-परिज्ञा है। स्त्री—विषय-वासना के व्यामोह में नहीं फंसना। जो साधक भोग विलास की आसक्ति में आकर अपने पथ से भ्रष्ट हो जाता है वह महा दुःख पाता है।

पाँचवें अध्ययन का नाम नरक विभक्ति है। इसमें नरक एवं नारकीय जीवन का वर्णन है। नरक में प्राप्त होने वाली वेदना एवं दुःखों का स्व-समभकर साधक पर धर्म एवं सांसारिक विषय कषायों का त्याग करके स्व धर्म स्वीकार करे।

छट्ठा वीर स्तुति अध्ययन है। इसमें गणधर सुधर्मा स्वामी ने श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की है उनका गुण-कीर्तन किया है।

सातवा कुशील-परिभाषा अध्ययन है। इसमें शुद्ध आचार से विपरीत यज्ञ याग स्नान पचाग्नि आदि कुशील का धर्म मानने का निषेध किया है और बताया है कि इन में धर्म मानने वाले संसार में परिभ्रमण करते हैं। शुद्ध चरित्र इन से सर्वथा भिन्न है। साधक को शुद्ध-आचार का पालन करना चाहिए।

आठवां अध्ययन वीर्य अध्ययन है। इसमें बाल और पंडित वीर्य—बल शक्ति एवं पराक्रम पुरुषार्थ का वर्णन है।

नवमें दसवें और ग्यारहवें अध्ययन में क्रमशः धर्म, समाधि और मोक्ष मार्ग का वर्णन है। इसमें इन्द्रियों के विषय एवं कषाय भाव का त्याग करके आत्म धर्म में रमण करने का उपदेश दिया है।

बारहवां समवसरण अध्ययन है। इसमें क्रियावादी अक्रियावादी अज्ञानवादी (Agnostics) और विनयवादी पर मत के दोषों को दिखाकर स्व दर्शन के सिद्धान्त को समझाया है।

तेरहवें से पन्द्रहवें तक के तीन अध्ययनों में क्रमशः याथा-तथ्य—धर्म के यथार्थ स्वरूप और पार्श्वस्थ साधुओं के स्वरूप ग्रन्थ परित्याग—परिग्रह के त्याग और आदान-समिति का वर्णन है। उक्त तीनों अध्ययनों में शुद्ध चरित्र का वर्णन किया है।

सोलहवें अध्ययन का नाम गाथा है। इसमें माहण—ब्राह्मण श्रमण निर्ग्रन्थ और भिक्षु इन चारों का विस्तार से वर्णन किया है।

द्वितीय श्रुतस्कंध

दोनों श्रुतस्कंधों के कर्ता एक नहीं हैं। प्रथम श्रुतस्कंध गणधर कृत है द्वितीय से प्राचीन है और मौलिक है। द्वितीय श्रुतस्कंध स्थविर कृत है और प्रथम के साथ बाद में जोड़ा गया है। इसमें सात अध्ययन हैं। प्रथम अध्ययन पौंडरीक है। इसमें बताया है कि क्रियावादी अक्रियावादी विनयवादी और अज्ञानवादी मुक्ति को प्राप्त करने का संकल्प करते हैं परन्तु वे संसार से विरक्त होकर संयम का

पालन नही करते कामभोगो मे लिप्त रहते है। अत वे विपय-भोग के पक से छुटकारा नही पा सकते। जो साधक आरम्भ-परिग्रह से मुक्त है, विपय-कपाय का परित्याग कर चुका है और काम-भोगो को ससार का कारण समझता है, वही सयम का शुद्ध पालन करके मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

दूसरा अध्ययन क्रिया स्थान है। इसम वताया है कि जहाँ इच्छा है, वही कपाय है और कपाय ही ससार है। अत जहाँ इच्छा का अभाव हे, वहाँ कपाय का भी अभाव हे और कपायाभाव ही मोक्ष है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे यह बताया है कि साधक को सासारिक क्रिया का त्याग करके ईर्यावही क्रिया को स्वीकार करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसका स्पप्ट अभिप्राय यह है कि साधक को वीतराग भाव को प्राप्त करना चाहिए।

तीसरा आहार-परिज्ञा अध्ययन है। इसमे शुद्ध एपणीय आहार ग्रहण करने का वर्णन किया है।

चौथा प्रत्याख्यान-परिज्ञा अध्ययन है। इसमे वताया है कि जब तक व्यक्ति किसी क्रिया का त्याग नही करता, तब तक उसे सब क्रियाएँ लगती रहती है। अत उसे क्रिया से होने वाले कर्म-वन्ध एव ससार-परिभ्रमण का ज्ञान करके सासारिक क्रियाओ का त्याग करना चाहिए।

पाँचवाँ आचार-अनाचार श्रुत अध्ययन है। इसमे शुद्ध आचार और उसमे लगने वाले अनाचारो—दोपो का वर्णन है। साधक को अनाचारो से रहित शुद्ध-निर्दोप आचार का पालन करना चाहिए।

छट्ठा आर्दकीय अध्ययन है। इसमे अन्य दार्शनिको एव अन्य धर्म के आचार्यो तथा साधुओ के साथ आर्द्रक कुमार की जो विचार-चर्चा हुई, उसका उल्लेख है।

सातवे नालन्दीय अध्ययन मे श्रावक—गृहस्थ के आचार का वर्णन है। इसमे गृहस्थ जीवन का आदर्श बताया गया है।

३. स्थानांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे पट् द्रव्यो—१ धम, २ अधर्म, ३ आकाश, ४. काल, ५ जीव, और ६ पुद्गल का वर्णन है। इनमे जीव को छोडकर शेष पाँचो द्रव्य अजीव है। एक से लेकर चार तक के द्रव्य अरूपी है। काल को छोडकर शेष पाँचो द्रव्य अस्तिकाय—समूह रूप से है। काल द्रव्य समूह रूप से नही है। धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है, लोक परिमाण है, वर्ण, गध, रस, स्पर्श से रहित है, अरूपी है और जीव एव पुदगल की गति मे सहायक द्रव्य है। अधर्मास्तिकाय का भी यही स्वरूप है, इसमे केवल अन्तर इतना ही है कि यह जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक है। आकाशास्तिकाय भी एक द्रव्य है, लोक-अलोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है, अरूपी है, जीव और पुद्गल आदि पदार्थो को स्थान देता है, अवकाश देना आकाश का गुण है। काल द्रव्य अनन्त है, लोक व्यापी है, वर्ण, गध, रस और स्पर्श से रहित है, अरूपी है और यह नए पदार्थो को पुरातन बनाता है, पुरानो को समाप्त

करता है। ये चारों अजीव द्रव्य हैं। जीव चेतना से युक्त है, ज्ञानमय है। जीव द्रव्य अनन्त हैं, लोक व्यापी हैं, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श से रहित हैं, अरूपी हैं। पुद्गलास्तिकाय अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु हैं, लोक व्यापी हैं, वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से युक्त हैं, सड़न-गलन और विध्वंस को प्राप्त होते हैं। यह भी अजीव है, इसे अन्य दर्शनों की भाषा में जड़ प्रकृति और माया कहा गया है।

इसमें दस अध्ययन हैं। इन्हें स्थान कहते हैं और इन दस स्थानों में जीव अजीव आदि के भेद और उनके गुण पर्यायों के भेदों की संख्याओं में गणना की है। यह संख्या एक से लेकर दस तक है। प्रथम स्थान में एक एक संख्या वाले पदार्थ गिनाए हैं, दूसरे में दो दो संख्या वाले और इस तरह दसवें स्थान में दस-दस की संख्या वाले पदार्थों की गणना की है। बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय में भी एक से लेकर दस दस तक संख्याओं के पदार्थों की गणना की है। दोनों की वर्णन शैली एक-सी है।

४ समवायांग सूत्र

प्रस्तुत आगम स्थानांग की शैली में रचा गया है। स्थानांग में एक से लेकर दस तक संख्या के पदार्थों का वर्णन है और इसमें एक से लेकर कोड़ा-कोड़ी संख्या तक जीव अजीव के भेद और उनके गुण-पर्यायों का वर्णन है। और उस संख्या के समुदाय को समवाय संज्ञा दी है।

५ व्याख्या प्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र

प्रस्तुत आगम का नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति है। व्याख्या का अर्थ है—विभिन्न प्रकार से किया गया कथन और प्रज्ञप्ति का अभिप्राय है—प्ररूपणा। यह आगम सब आगमों में विशाल है। इसमें भिन्न भिन्न समयों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों का भगवान् महावीर ने जो उत्तर दिया उसका संकलन है। इसमें ३६००० प्रश्नों के उत्तर हैं। इसमें प्रमुख प्रश्नकर्ता गौतम गणधर हैं। एवं गांगेय अणगार, स्कंधक संन्यासी, जयन्ती श्राविका आदि अनेक व्यक्तियों ने भगवान् से प्रश्न पूछे और उन्होंने उनका समाधान किया। परन्तु इस आगम का अधिकांश भाग गौतम के प्रश्नों से घेर रखा है। इसमें साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाओं के आचार, लोक अलोक और पदार्थों के सम्बन्ध में सूक्ष्म विचार चर्चा भी है। उस युग में उठने वाले लोक परलोक के अस्तित्व, नित्यत्व अनित्यत्व, उसका परिणाम एवं जीव आदि के अस्तित्व नास्तित्व पर गहराई से विचार किया गया है।

इसमें आजीविक आदि अन्यतीर्थियों और पार्श्वपत्य—भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणों का उल्लेख किया है। इसमें भगवान् महावीर के समकालीन निर्ग्रन्थ आदि नामों का इन्द्रभूति आदि ११ गणधरों, राह, रादक, कात्यायन, तिसय, मारपुत्र, सामहस्ति, आनन्द, गुनक्षत्र, माकन्दिय पुत्र आदि श्रमणों और पालित, धम्मघोष, गुमगल आदि श्रमणोपासकों के नामों का उल्लेख भी मिलता है। इसमें भगवान् महावीर से अलग होकर अपने सम्प्रदाय की स्थापना करने वाले जमाली और गोशालक का भी विस्तार से उल्लेख मिलता है। इसमें गोशालक के द्वारा छोड़ी गई तेजोलेश्या से भगवान् के दो शिष्यों

को मारने और भगवान् पर प्रहार करने का वर्णन है। इसमे कौशाम्बी के शतानीक राजा की बहिन जयन्ती के द्वारा किए गए प्रश्नो और भगवान् के द्वारा दिए गए उत्तर तथा भगवान् के उपदेश से प्रभावित होकर साध्वी बनने की घटना का उल्लेख भी है। इसके अतिरिक्त इसमे भगवान् महावीर के समय के काशी-कोशल, मगध, वैशाली आदि देशो के और नव मल्लवी और नव लिच्छवी राजाओ के नाम तथा वज्जि-विदेह पुत्र ने विजय प्राप्त की इसका उल्लेख भी है। भगवती के नवम शतक मे एक पूंजीपति ब्राह्मण का वर्णन है। उनके यहा रहने वाली दासियो के पल्हवीया आरबी, बहली, मुरुंडी, पारसी आदि नामो से यह ज्ञान होता है कि ये विदेशी दासियाँ थी। उस समय भारत का विदेशो से भी सम्बन्ध था। भगवती के अध्ययन से भगवान् महावीर के जीवन काल पर विशेष प्रकाश पडता है।

प्रस्तुत आगम मे दार्शनिक, तात्त्विक, आध्यात्मिक, सामाजिक एव [illegible] सम्बन्धी विभिन्न विषयो पर प्रश्नोत्तर है। इसमे कुछ जीवन घटनाओ और कथाओ का भी उल्लेख है। अस्तु यह विविध विषयो का एक कोष है।

६. ज्ञाताधर्मकथांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे दृष्टान्त एव उदाहरण देकर साधना के स्वरूप को समझाया गया है। ज्ञाता का अर्थ है—उदाहरण रूप और धर्म-कथा का अर्थ है—धर्मप्रधान कथानक। अस्तु ज्ञाता-धर्मकथा का अभिप्राय यह है कि साधक के सन्मुख धर्म-प्रधान दृष्टान्त एव उदाहरण प्रस्तुत करके उसे साधना-पथ पर बढने की प्रेरणा देना।

इसमे उदाहरणो एव रूपको के द्वारा साधुओ के विनय, ज्ञान, वैराग्य का, साधना के पथ मे विचलित एव तप एव परीषहो से घबराकर ससार की ओर भुकने वाले मन्द बुद्धि साधको को पुन धर्म मे स्थिर करने का और ज्ञान, दर्शन एव चरित्र से भ्रष्ट होने वाले साधक को ससार मे किस प्रकार दुर्गति होती है, उसे कैसा दुःख उठाना पडता है, इसका विस्तार से वर्णन किया है।

इसमे उन महापुरुषो के जीवन पर भी प्रकाश डाला है—जिन्होने राग-द्वेष, कषाय एवं परीषहो की विशाल सेना पर विजय प्राप्त करली है, सयम-साधना को ही सर्व-श्रेष्ठ धन समझकर श्रद्धा-निष्ठा से ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की आराधना-साधना के माध्यम से साध्य को सिद्ध कर लिया है और अनुपम भोग-विलास का त्याग करके अनन्त और अव्याबाध सुख को प्राप्त कर चुके है।

इसके अतिरिक्त इसमे उक्त दृष्टान्त, रूपक एव कथाओ मे आने वाले नगरो, गाँवो, उद्यानो, जगलो, सर-सरिताओ, राजाओ, सेठो, दास-दासियो, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य, लोक-परलोक के ऐश्वर्य, भोग-विलास, भोग-साधनो के त्याग, स्वर्ग, नरक और मोक्ष के सम्बन्ध मे विस्तार से उल्लेख मिलता है।

प्रथम-श्रुतस्कध

प्रस्तुत आगम दो श्रुत-स्कधो म विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कध म १६ अध्ययन है—१ उत्क्षिप्त अध्ययन—इसमे श्रेणिक राजा के पुत्र मेघकुमार की कथा है २ सघाटक अध्ययन—इसमे धन्य सेठ और विजय चोर का दृष्टान्त दिया है ३ अडक अध्ययन—इसमे मोर के अडो के उदाहरण के माध्यम से धर्मोपदेश दिया है ४ कूर्म अ०—इसमे कच्छप का दृष्टान्त है ५ शैलक अ०—शैलक राजर्षि की कथा है ६ तुम्ब अ०—इसमे तुम्ब का रूपक देकर जीव की ऊर्ध्वगति का निरूपण किया है ७ रोहिणी अ०—इसमे एक सेठ की पुत्रवधू रोहिणी का उदाहरण है ८ मल्ली अ०—इसमे स्त्री लिंग मे तीर्थंकर होने वाले १६ वें तीर्थंकर मल्लीनाथ की कथा है ९ माकन्दी अ०—इसमे माकन्दी नामक वणिक के जिनपाल और जिनरक्षित दो पुत्रो की कथा है १० चन्द्रमा अ०—इसमे चन्द्रमा का उदाहरण है ११ दावद्रव अ०—समुद्र तट पर अकुरित एव पल्लवित होने वाले इस नाम के वृक्ष का दृष्टान्त है १२ उदक—शहर के बाहर खाई म सडने वाले पानी को किस तरह शुद्ध किया जा सकता है इसका उदाहरण है १३ मडुक अ०—नन्दन मणिकार की कथा है १४ तेतली अ०—तेतलिसुत नामक मत्री की कथा है १५ नन्दी फल अ०—उक्त वृक्ष एव उसके फलो का वर्णन है १६ अवरकका अ०—धातकी खड मे स्थित भरत क्षेत्र की राजधानी, उसके राजा और उसके द्वारा द्रौपदी के हरण का वर्णन और द्रौपदी एव पाडवो की कथा है १७ आकीर्ण अ०—समुद्र मे रहने वाले इस नाम के अश्वो—घोडो का वर्णन है १८ सुसमा—उक्त नाम की श्रेष्ठि-कन्या का उदाहरण है और १९ पुडरीक अ०—पुडरीक की कथा है। इस प्रकार उक्त १६ अध्ययनो मे कथाए उपकथाए, दृष्टान्त उपदृष्टान्त एव उदाहरण हैं। इसमे अनेक कथाए घटित हैं और कुछ उदाहरण साधक को समझाने के लिए बनाए गए है।

द्वितीय श्रुतस्कध

प्रस्तुत श्रुतस्कध परिशिष्ट के रूप मे है। इसमे एक अध्ययन है और वह दस भागो मे विभक्त हैं जिन्हे वर्ग सज्ञा दी गई है। और विभिन्न कथाओ के द्वारा साधना के महत्व को समझाया गया है। समवायाग सूत्र मे दिए गए परिचय के अनुसार इसमे एक एक धर्मकथा मे पाँच-सौ पाँच सौ आख्यायिकाएँ हैं। एक-एक आख्यायिका मे इतनी ही उपाख्यायिकाएँ हैं और प्रत्येक उपाख्यायिका मे पाँच-सौ आख्यायिका उपाख्यायिका हैं। इस तरह समस्त कथाओ आख्यायिकाओ एव उपाख्यायिकाओ को मिलाकर इनकी साढे तीन करोड सख्या होती है। परन्तु, वर्तमान मे इसमे इतनी कथाए उपलब्ध नही हैं।

७ उपाशक दशाग सूत्र

प्रस्तुत आगम मे श्रमण भगवान् महावीर के दस उपासको का वर्णन है। जो साधक हिंसा भूठ आदि दोषो का पूर्णतया त्याग करके और सासारिक भोगो एव कार्यों से निवृत्त होकर सयम पथ

को स्वीकार करता है, उसे श्रमण, निर्ग्रन्थ, मुनि साधु या भिक्षु कहा है। परन्तु जो साधक सासारिक विपयो का पूर्णत त्याग नही कर सकता, आशिक त्याग करता है, वह श्रमणोपासक श्रावक या उपासक कहा गया है।

आगमो मे श्रावक के लिए उपासक एव श्रमणोपासक दोनो शब्दो का प्रयोग मिलता है। प्रस्तुत आगम मे भी श्रमणोपासक शब्द का उल्लेख है। फिर प्रस्तुत आगम का नाम श्रमणोपासक दशा न रखकर उपासक दशा क्यो रखा, यह एक प्रश्न है? इसके सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट समाधान नही मिलता है। परन्तु आगम-साहित्य का अध्ययन करने पर इतना ही कहा जा सकता है कि प्रारम्भ मे श्रावक के लिए उपासक शब्द का सम्बोधन रहा हो, और इसी कारण आगम का नाम भी उपासक-दशा रखा गया। बौद्ध साहित्य मे श्रावक के लिए उपासक शब्द मिलता है और सभव है, अन्य परपराओ मे भी उपासक शब्द प्रयुक्त होता रहा होगा। अस्तु उनसे भिन्नता बताने के लिए 'उपासक' शब्द के साथ 'श्रमण' शब्द जोडा गया हो, जिससे श्रमण भगवान् महावीर के उपासक है, ऐसा स्पष्ट परिज्ञान हो सके।

इसमे भगवान् महावीर के दस उपासको का दस अध्ययनो मे वर्णन है—१ आनन्द, २ कामदेव, ३ चुलणीपिता, ४ सुरादेव, ५ कुण्डकोलिक, ६ शकडाल पुत्र, ७ महाशतक, ८ नदनी पिता ९ शालनि पिता और १० तेतली-पिता—शालिक-पुत्र।

इसमे उक्त उपासको के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा और माता-पिता का वर्णन है। उनके वैभव, भोग-विलास के साधन, दास-दासी, खेत-मकान, व्यापार, वेश-भूपा और रहन-सहन का भी वर्णन है। उनके शहर मे भगवान् के पधारने, समवसरण मे जाने, धर्म कथा सुनने और अपने जीवन को नया मोड देने का, श्रावक व्रत स्वीकार करने का वर्णन है। श्रावक बनने के बाद उनके जीवन मे क्या परिवर्तन आया, अपनी इच्छाओ को कितना सिमित-परिमित किया और रहन-सहन एव व्यापार कैसा रहा, इसका भी उल्लेख है। इसके पश्चात् उनके द्वारा की गई साधना, श्रुत अभ्यास, तपश्चर्या, प्रतिमा, उपसर्ग, सलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान या पादपोपगम अनशन व्रत का उल्लेख है और समाधि मरण के बाद वे किस देवलोक मे गए और देव ऐश्वर्य का भोग करके वे मनुष्य भव मे जन्म लेकर किस प्रकार मुक्ति को प्राप्त करेंगे, इसका विस्तृत वर्णन है।

८. अन्तकृतदशांग-सूत्र

प्रस्तुत आगम मे उन ९० महान्-आत्माओ के जीवन का वर्णन है, जिन्होने अपने जीवन के अन्तिम समय मे केवल ज्ञान को प्राप्त करके कर्मो का अन्त किया है, समस्त कर्म-बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त हुए है। इसमे उन महान् आत्माओ के नगर, उद्यान, चैत्य, धन-वैभव, माता-पिता एव परिजनो का वर्णन है। इसमे यह भी बताया है कि वे किस प्रकार भगवान् के समवसरण मे पहुँचे, और भगवान् का प्रवचन सुनकर उन्हे कैसे वैराग्य हुआ और दीक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होने किसके सान्निध्य मे श्रुत

अभ्यास किया, क्या साधना की, कितना घोर तप किया और किस प्रकार धर्म-साधना करके अन्त में मुक्ति को प्राप्त किया।

प्रस्तुत आगम में आठ वर्ग हैं। वर्ग का अर्थ है अध्ययनों का समूह। इन आठ वर्गों में वर्तमान कालचक्र में होने वाले २४ तीर्थंकरों में से २२ वें नमिनाथ और २४ वें भगवान् महावीर के शासन में होने वाले ९० श्रमण श्रमणियों का वर्णन है। प्रथम वर्ग में गौतम कुमार आदि १० श्रमणों का वर्णन है। द्वितीय वर्ग में अक्षोभ कुमार आदि आठ श्रमणों का, तृतीय में अणीयस कुमार, गज सुकुमार आदि के १३ अध्ययन हैं। चतुर्थ वर्ग में जाली आदि के दस अध्ययन हैं, पञ्चम वर्ग में पद्मावती आदि दस महारानियों के दस अध्ययन हैं। उक्त पाँचों वर्ग में भगवान् नमिनाथ के शासन में होने वाले श्रमण श्रमणियों का उल्लेख है। षष्ठम वर्ग में मकाई गाथापति, अर्जुन मालाकार, अतिमुक्त कुमार आदि के १६ अध्ययन हैं, सप्तम वर्ग में श्रेणिक राजा की नन्दा आदि तेरह महारानियों के तेरह अध्ययन हैं और अष्टम वर्ग में श्रेणिक की काली आदि दस महारानियों के दस अध्ययन हैं।

९ अनुत्तरोपपातिक दशांग[1]-सूत्र

प्रस्तुत आगम में उन दिव्य साधकों की ज्योतिर्मय साधना का वर्णन है, जिसके द्वारा उन्होंने अनुत्तर विमान के सुखों को प्राप्त किया है और वहाँ के सुखों का उपभोग करके मनुष्य भव में जन्म लेकर साधना के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेंगे। अनुत्तर का अर्थ है—जिससे कोई प्रधान, श्रेष्ठ या उत्तम नहीं है और उपपात का अर्थ है—जन्म ग्रहण करना। इसका अभिप्राय यह हुआ कि देवलोक के सर्वश्रेष्ठ या सर्वोत्तम विमानों में जन्म लेने वाले साधक। ये अनुत्तर विमान पाँच हैं—१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थ सिद्ध। इन विमानों को प्राप्त करने वाले सभी देव सम्यग् दृष्टि होते हैं और मनुष्य भव को प्राप्त करके सब कर्म बन्धन से मुक्त-उन्मुक्त हो जाते हैं।

[1] 'दशा' का अर्थ दस अध्ययन करने की परम्परा रही है। कुछ आगमों में इसका अर्थ घटित भी होता है। जैसे उपासक-दशा, इसमें दस अध्ययन ही हैं। परन्तु कुछ आगम ऐसे हैं कि उनमें दस से अधिक अध्ययन होने पर भी उनके साथ 'दशा' शब्द जुड़ा हुआ है। जैसे प्रस्तुत आगम और अन्तकृद्दशा इनमें दस से अधिक अध्ययन हैं। प्रस्तुत आगम के तृतीय वर्ग के १० अध्ययन हैं और अन्तकृद्दशा में प्रथम एवं अन्तिम अष्टम वर्ग के दस-दस अध्ययन हैं। इसी के आधार पर टीकाकारों ने इनके साथ सम्बन्ध 'दशा' शब्द को सार्थक माना है। परन्तु दशा शब्द का दूसरा अर्थ स्थिति, प्रसंग या अवस्था भी होता है, अर्थात् प्रस्तुत आगम में अनुत्तर विमान स्वर्ग को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की स्थिति या प्रसंग का वर्णन है और यह अर्थ उचित भी प्रतीत होता है। क्योंकि यह अर्थ मान लें तो फिर प्रथम या अन्तिम वर्ग के अध्ययनों की संख्या को घसीट कर अर्थ को बैठाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा और यह अर्थ सब जगह घटित भी हो जाएगा।

इसमे दस अध्ययन हैं। यह तीन वर्गों मे विभक्त है। तीन वर्गों मे ३३ दिव्य पुरुषो के जीवन का वर्णन है। प्रथम और द्वितीय वर्ग मे क्रमश श्रेणिक राजा के पुत्र जालिकुमार आदि के १० अध्ययन और दीर्घसेन आदि के १३ अध्ययन हैं। तृतीय वर्ग मे १ धन्य—धन्ना अणगार, २ सुनक्षत्र, ३. ऋषिदास, ४ पेलक, ५ राम-पुत्र, ६ चन्द्रकुमार, ७ पोष्ठी-पुत्र, ८ पेढालकुमार, ९ पोटिलकुमार और १० वहल्लकुमार के दस अध्ययन है। ये सभी साधक अपने साधना काल का पूरा करके अनुत्तर विमान मे गए हैं और वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव को प्राप्त करेंगे और पुन साधना करके सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त बनेंगे।

इसमे तीर्थंकर भगवान् के समवसरण, उनके अतिशय और परीषहों पर विजय प्राप्त करके यशस्वी, तेजस्वी बने हुए, तपोनिष्ठ एव ज्ञान, दर्शन और चारित्र तथा अन्य अनेक गुणो से सुशोभित शिष्यो और विशिष्ट ज्ञानी श्रमणो का वर्णन है। तीर्थंकर भगवान् का शासन जीवो के लिए कैसा हितप्रद और सुखद है, देवो का वैभव कैसा है, देव किस प्रकार से तीर्थंकरो के पास आते हैं, किस प्रकार से सेवा-भक्ति करते है, तीर्थंकर देव और मनुष्यो को किस प्रकार धर्मोपदेश देते है, उनके प्रवचन को सुनकर मनुष्य किस प्रकार विषय-कषाय एव भोगोपभोगो का त्याग कर तप, सयम एव साधना-पथ को स्वीकार करते है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की किस प्रकार से साधना-आराधना करके तथा ध्यान, चिन्तन-मनन एव अनशन व्रत की साधना के द्वारा किस प्रकार से समाधि मरण को प्राप्त करके अनुत्तर विमान मे जन्म ग्रहण करते है, इसका और इसके अतिरिक्त अन्य विषयो का विस्तार से वर्णन है।

प्रस्तुत आगम आकार की दृष्टि से बहुत छोटा है। इसके प्रत्येक वर्ग मे पहले अध्ययन का विस्तार से वर्णन है, पहली कथा पूरे रूप मे दी गई है। शेष अध्ययनो की कथाओ मे इतना ही सकेत किया गया है कि इसे प्रथम कथावत् समझे।

१० प्रश्न व्याकरण-सूत्र

इस आगम का नाम प्रश्न-व्याकरण है। प्रश्न का अर्थ है—विद्या विशेष और व्याकरण का अभिप्राय है उसका प्रतिपादन, विवेचन या व्याख्या। समवायाग सूत्र मे दिए गए परिचय के अनुसार इसमे आदर्श, अगुष्ठ, बाहु, असि, मणि, वस्त्र और आदित्य विषयक प्रश्नो का, विविध महाप्रश्न विद्या, मन प्रश्न विद्या, जिस विद्या से प्रभावित होकर देव मनो-कामना पूर्ण करते है, वह विद्या, विस्मयकारी प्रश्नो का स्व-समय और पर-समय का निरूपण करने मे प्रवीण प्रत्येक बुद्ध श्रमणो द्वारा अनेकान्त भाषा मे दिए गए उत्तरो की या भगवान् महावीर के द्वारा जगत के जीवो के हित के लिए किए समाधान की प्ररुपणा की गई है। यह विषय पूर्व काल मे था।[1] वर्तमान मे प्रस्तुत आगम मे दस द्वार हैं—

---

[1] प्रश्न-व्याकरण के वर्तमान मे १० अध्ययन मिलते हैं। टीकाकार किसी अन्य वाचना के अनुसार ४५ अध्ययन बताते है। परन्तु वर्तमान मे उपलब्ध आगम मे ४५ अध्ययन और उसमे दिए गए विषयो का नामोनिशान नही मिलता और टीकाकार भी इस विषय मे मौन है। टीकाकार ने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि पूर्व काल मे इस शास्त्र मे ये सब विद्याएं थी, परन्तु वर्तमान काल मे तो उसमे पॉच आस्रव और पॉच सवर का ही वर्णन है।—प्रश्न व्याकरण टीका

पहले पाँच द्वारों में हिंसा, झूठ, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच आस्रवों का और अंतिम पाँच द्वारों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच संवरों का वर्णन है। इसमें लगभग ५४ प्रकार की अनार्य जाति के नामों[1] एवं नव ग्रहों[2] और २८ नक्षत्रों का उल्लेख भी मिलता है, जबकि प्राचीन आगमों में ८१ ग्रहों की मान्यता का उल्लेख मिलता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत आगम उत्तरकालीन रचना है। इसी कारण इसमें उत्तर-काल में आचार्यों द्वारा मान्य ९ ग्रहों का वर्णन उपलब्ध होता है।

११ विपाक-सूत्र

प्रस्तुत आगम में आत्मा द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के विपाक का वर्णन है। इस कर्म विपाक दशांग भी कहते हैं। भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य प्रथम गणधर गौतम स्वामी भिक्षा के लिए शहर में जाते हैं और वहाँ किसी व्यक्ति को पीड़ित एवं दुःखित देखते हैं तो उनका हृदय दया एवं करुणा से भर जाता है। उसकी स्थिति को देखकर वे यह तो समझ लेते हैं कि यह व्यक्ति अशुभकर्म का फल भोग रहा है। परन्तु यह नहीं समझ पाते कि इसने कैसा क्रूर कर्म किया था जिसका प्रतिफल यह भोग रहा है। इसके सम्बन्ध में वे भिक्षा में लौटकर भगवान् से प्रश्न करते हैं और इसके उत्तर में भगवान उन्हें उसके पूर्वभव की कथा सुनाते हैं और उनके द्वारा सेवित हिंसा, झूठ, चोरी, जारी-व्यभिचार, परिग्रह संचय के लिए लूट-खसोट, तीव्र कषाय, प्रमाद, पाप प्रवृत्ति, अशुभ अध्यवसाय एवं आर्त रौद्र ध्यान आदि दोषों का वर्णन करते हैं और साथ में यह भी बताते हैं कि यह नरक, तिर्यञ्च एवं मनुष्य योनि में भयंकर वेदना सह आया है, यहाँ दारुण दुःख उठा रहा है और अभी इतने लम्बे समय तक यह संसार में विभिन्न गतियों में परिभ्रमण करेगा। परन्तु इतना सुनाने के बाद भी भगवान उसकी विशुद्ध आत्मा को नहीं भूलते। वे गौतम को स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इतना लम्बा संसार परिभ्रमण करने के बाद ये आत्माएँ—जिन्हें आज लोग दुष्ट, पापी एवं दुराचारी कहकर धिक्कारते हैं, मुक्ति को प्राप्त करेंगी। इस वर्णन का इतना ही अभिप्राय है कि व्यक्ति अपने क्रूर एवं दुष्कर्म का फल अवश्य पाता है, परन्तु उसके दुष्ट कर्म से उसकी आत्मा दुष्ट नहीं बनती। अस्तु तुम दुष्टता से दूर रहो, दुष्ट व्यक्ति से नहीं। क्योंकि दुष्टता का परित्याग करने के बाद एक दिन वह भी सिद्ध-बुद्ध बन जाएगा।

इसके पश्चात् प्रस्तुत आगम में भगवान् सुख प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के जीवन की तसवीर भी गौतम के सामने रखते हैं। सुबाहुकुमार आदि के पूर्व भव का वर्णन करते हुए भगवान् यह बताते हैं कि संयम निष्ठ तपस्वी शीलवन्त और गुणवान साधु को मन, वचन और काय की प्रसन्नता से एवं भावना से दान देने वाला व्यक्ति किस प्रकार नरक के बंधन को तोड़ लेता है, संसार-सागर से पार हो जाता है, सम्यक्त्व के ज्योतिर्मय आलोक में अपने जीवन को आलोकित करता है और सब के हित प्रद सुखप्रद बनता है, सबको प्रिय लगता है और सुख-पूर्वक साधना करके ७-८ भव में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि शुभ कार्य करने वाला सुख को प्राप्त करता है और सुख-पूर्वक अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है।

---

[1] प्रश्न-व्याकरण, १, ४

[2] प्रश्न-व्याकरण, ५, १८

इसमे दो श्रुत-स्कंध है—१. दुःख-विपाक और २ सुख-विपाक। पहले मे दस अध्ययन है—१ मृगापुत्र २ उज्झित, ३ अभग्न सेन, ४ शकट, ५ बृहस्पतिदत्त ६ नन्दिषेण, ७. उम्बर दत्त, ८ सोरियदत्त, ९ देवदत्ता, और १० अजूदेवी। द्वितीय मे भी सुबाहुकुमार, भद्रनंदी आदि के दस अध्ययन हैं। इसमे सुबाहुकुमार के जीवन का पूरा वर्णन है। शेष नव अध्ययनो मे केवल नाम निर्देश किया है।

उपांग-साहित्य

१. औपपातिक सूत्र—इस आगम मे चम्पा नगरी, पूर्णभद्र उद्यान, वन-खण्ड, अशोक वृक्ष. पृथ्वी-शिला का और चम्पा के अधिपति कौणिक राजा, महाराणी धारणी, और उसके राज परिवार तथा भगवान् महावीर का वर्णन है। कोणिक किस प्रकार भगवान् को वन्दन करता था, उनकी सेवा करता था, इसका भी वर्णन है। चम्पा के नागरिकों का, कोणिक की सेना का, भगवान् की उपासना करने के लिए आने वाले नगर वासियो का, भगवान् द्वारा अर्ध मागधी भाषा मे दिए जाने वाले प्रवचन का और समवशरणका विस्तृत उल्लेख है। इसमे विभिन्न सम्प्रदायो के तापस, श्रमणो एव भिक्षुओ, परिव्राजको, आजीवको, निन्हवो और तत्तत् साधना के द्वारा प्राप्त होने वाली देवगति मे उपपात आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त कर्म-बन्ध के कारण, केवली समुद्घात और सिद्ध स्वरूप का भी वर्णन है।

२ राजप्रश्नीय-सूत्र[१]—नन्दी सूत्र मे इसे रायपसेणिय कहा है। आचार्य मलयगिरि ने रायपसेणीय नाम स्वीकार किया है। डॉ० विन्टजर का कथन है कि इसमे पहले राजा प्रसेनजित की कथा थी। परन्तु उत्तर काल मे प्रसेनजित के स्थान मे पएस लगाकर प्रदेशी के साथ इसका सम्बन्ध जोडने का प्रयत्न किया गया। वर्तमान मे इसमे प्रदेशी राजा के जीवन एवं केशी-श्रमण के साथ हुए सवाद का विस्तृत विवेचन मिलता है।

इसमे भगवान् पार्श्वनाथ की परपरा के केशी-श्रमण के साथ एक नास्तिक राजा प्रदेशी के सवाद का एव उसके जीवन परिवर्तन का उल्लेख है। राजा के जीवन परिवर्तन के कारण अर्थात् नास्तिक से आस्तिक बनकर श्रावक धर्म का परिपालन करते हुए समाधि-पूर्वक मरण से वह सूर्याभ नाम देव बना और देव बनने के बाद वह भगवान् के समवशरण मे उनका दर्शन करने आया तथा उसने भगवान् के सामने अपना नाटक प्रस्तुत किया। इसके आरम्भ मे सूर्याभदेव का वर्णन है। इसके बाद केशी-श्रमण द्वारा राजा प्रदेशी के तर्कों के दिए गए उत्तर एव प्रतिबोध का वर्णन है। डॉ० विन्टजर का कथन है कि इस सवाद के कारण प्रस्तुत आगम एक सरस एव रसप्रद ग्रन्थ बन गया है।

३. जीवाभिगम—प्रस्तुत आगम मे जीव, अजीव, द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी आदि का विस्तृत वर्णन है। जीवाभिगम का अर्थ है—जिस आगम मे जीव और अजीव का अभिगम-ज्ञान है। प्रस्तुत आगम मे नव-प्रकरण —प्रतिपत्ति है। इसमे तृतीय प्रकरण सब से विस्तृत है, जिसमे देवो एव द्वीप-

---

[१] दीघनिकाय के पायासिसुत्त मे भी प्रदेशी का प्राय. ऐसा ही वर्णन मिलता है।

सागरों का विस्तृत वर्णन है। इस प्रकरण में रत्न, अस्त्र-शस्त्र, धातु, मद्य, पात्र, आभूषण, भवन, वस्त्र, मिष्ठान्न, दास, त्यौहार, उत्सव, यान और रोग आदि के भेदों का उल्लेख है। जम्बू द्वीप के वर्णन प्रसंग में पद्मवरवेदिका की देहली, नींव, खम्भे, पटिए, सांधे, नली, छाजन आदि का उल्लेख किया है जो स्थापत्य-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

४ प्रज्ञापना सूत्र—प्रज्ञापना का अर्थ है—प्र—प्रकर्ष रूप से ज्ञापन करना—जानना। जिस आगम के द्वारा पदार्थ के स्वरूप को प्रकर्ष—व्यवस्थित रूप से जाना समझा जाए उसे प्रज्ञापना कहते हैं। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष का वर्णन है। इसके १, ३, ५, १० और १३ वें पद में जीव-अजीव का १६ और २२ वें में मन, वचन और काय इन योग और आस्रव का २३ वें पद में बंध का, ३६ वें पद में केवली समुद्घात के साथ संवर, निर्जरा और मोक्ष का वर्णन है। अन्य पदों में लेश्या, समाधि और लोक-स्वरूप को समझाया है।

प्रस्तुत आगम के ३६ पद हैं—१ प्रज्ञापना २ स्थान ३ अल्पाबहुत्व ४ स्थिति ५ पर्याप्त ६ उपपातोद्वर्तन ७ उच्छ्वास ८ संज्ञा ९ योनि १० चरम ११ भाषा १२ शरीर १३ परिणाम १४ कषाय १५ इन्द्रिय १६ प्रयोग १७ लेश्या १८ कायस्थिति १९ सम्यक्त्व २० अन्त क्रिया २१ अवगाहना २२ क्रिया २३ कर्म प्रकृति २४ कर्म-बंध २५ कर्म-वेद २६ कर्म वेद बंध, २७ कर्म प्रकृति-वेद, २८ आहार २९ उपयोग ३० पश्यता ३१ संज्ञा ३२ संयम ३३ ज्ञान-परिणाम ३४ प्रविचार परिणाम ३५ वेदना और ३६ समुद्घात।

५ जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति—इसमें जम्बू-द्वीप एवं उसमें स्थित भरतक्षेत्र का विस्तृत वर्णन है। यह आगम भूगोल विषयक है। इसका अधिकांश भाग भारत के वर्णन में चक्रवर्ती सम्राट भरत की कथाओं ने घेर रखा है। इसमें अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में होने वाले सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा, दुषमा-दुषमा इन कालों का वर्णन है। इनमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय आर में होने वाले १० कल्पवृक्षों और तृतीय चतुर्थ में होने वाले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव एवं वासुदेव आदि का वर्णन है।

६ सूर्य प्रज्ञप्ति—इसमें सूर्य आदि ज्योतिष चक्र का वर्णन है। यह खगोल शास्त्र है। इसमें २० प्राभृत हैं—१ मण्डलगति-संख्या २ सूर्य का तिर्यक परिभ्रमण ३ प्रकाश्य क्षेत्र परिमाण ४ प्रकाश संस्थान ५ लेश्या प्रतिघात ६ प्रकाश कथन ७ प्रकाश-संक्षिप्त ८ उदय-अस्त संस्थिति ९ पौरुषी छाया परिमाण १० योग-स्वरूप ११ संवत्सरों का आदि-अन्त १२ संवत्सरों के भेद १३ चन्द्र की वृद्धि-क्षय १४ ज्योत्स्ना परिमाण, १५ शीघ्र-मन्द गति निर्णय १६ ज्योत्स्ना लक्षण १७ च्यवन और उपपात १८ ज्योतिषी विमानों की ऊंचाई १९ चन्द्र-सूर्य संख्या २० चन्द्र-सूर्य अनुभाव।

डॉ० विन्टजर ने सूर्य प्रज्ञप्ति को वैज्ञानिक ग्रन्थ स्वीकार किया है। अन्य पाश्चात्य विचारको ने इसमे उल्लिखित गणित और ज्योतिष विज्ञान को महत्वपूर्ण माना है। डॉ० शुब्रिंग ने हेमवर्ग यूनिवर्सिटी, जर्मन मे दिए गए अपने एक भाषण मे उल्लेख किया है—'जैन विचारको ने जिन तर्क सम्मत एव सुसम्बद्ध सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया, वे आधुनिक विज्ञान वेत्ताओ की दृष्टि मे भी अमूल्य एव महत्वपूर्ण है। विश्व रचना के सिद्धान्त के साथ-साथ उसमे उच्च कोटि का गणित एव ज्योतिष विज्ञान भी मिलता है। सूर्य प्रज्ञप्ति मे गणित एव ज्योतिष पर गहराई से विचार किया गया है। अत- सूर्य प्रज्ञप्ति का उल्लेख किए बिना भारतीय ज्योतिष का इतिहास अधूरा एव अपूर्ण रहेगा।[1] अस्तु पाश्चात्य विचारको एव ऐतिहासक विद्वानो की दृष्टि मे ज्योतिष एव गणित की दृष्टि से अन्वेषको एव चिन्तनशील विचारको के लिए सूर्य प्रज्ञप्ति एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे हम ज्योतिष और गणित का कोष भी कह सकते है।

७. **चन्द्र प्रज्ञप्ति**—इसमे चन्द्र ज्योतिष चक्र का वर्णन है। इसका वर्णन प्राय सूर्य-प्रज्ञप्ति जैसा है।

डा० विन्टजर का कथन है कि जम्बू-द्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति वैज्ञानिक ग्रन्थ (Scientific Works) है। इनमे भूगोल खगोल, विश्व-विद्या और काल के भेदो का उल्लेख।

८ **निरयावलिका-सूत्र**—निरयावलिका का अर्थ है—निरय—नरक की आवलि करने वाले व्यक्तियो का वर्णन करने वाला ग्रन्थ। इसमे मगध के सम्राट श्रेणिक के काली कुमार आदि दस पुत्रो का वर्णन है, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता कोणिक के पक्ष मे अपने नाना चेटक से युद्ध करते हुए मरकर नरक मे गए और वहाँ से निकल कर मोक्ष जाएँगे।

९ **कल्पावतसिका-सूत्र**—इसमे मगध देश के सम्राट् श्रेणिक के पद्मकुमार आदि दस पौत्रो का वर्णन है, जो दीक्षा ग्रहण करके विभिन्न कल्पो—देवलोको मे उत्पन्न हुए और वहाँ के सुख-वैभव एव आयु का भोग करके मनुष्य भव मे आकर मोक्ष जाएँगे।

१० **पुष्पिका-सूत्र**—इसमे दस देवो का वर्णन है, जो अपने पुष्पक विमानो मे बैठकर भगवान महावीर का दर्शन करने आते है और उस समय गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उन्हे १ चन्द्र, २ सूर्य,

---

[1] He who has a through knowledge of the structure of the world cannot but admire the inward logic and harmony of Jain ideas Hand in hand with the refind cosmographical ideas goes a high standard of astronomy and mathematics A history of Indian astronomy is not conceivable without the famous 'Surya Pragypati'

—*Dr Schubing*

३ महाशुक्र ४ बहुपुत्रिका ५ पूर्णभद्र, ६ मणिभद्र ७ दत्त ८ बल ९ शिव और १० अनादृत देवों के पूर्व भव एवं उनके द्वारा की गई साधना का वर्णन सुनाते हैं।

११ पुष्पचूलिका सूत्र—इसमें दस अध्ययन हैं और ह्री देवी आदि दस-देवियाँ अपने पुष्पचूलिका विमान में बैठकर भगवान् को वन्दन करने आती है और गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् उन देवियों के पूर्व भव एवं उनके द्वारा की गई साधना का वर्णन करते है।

१२ वह्णि-दशा सूत्र–प्रस्तुत आगम में १२ अध्ययन हैं। इसमें वृष्णिवंश के बलभद्र जी के निषढ कुमार आदि १२ पुत्र भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षित हुए और साधना करके सर्वार्थसिद्ध विमान में गए और वहाँ सुख वैभव एवं आयु को भोग कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएँगे, इसका वर्णन है।

मूल साहित्य

१ दशवैकालिक-सूत्र—चतुर्दश पूर्वधर आचार्य शय्यंभव ने अपने पुत्र मनक की साधना को सफल बनाने के लिए दशवैकालिक-सूत्र की रचना की।[१] इसमें दस अध्ययन और दो चूलिकाएं हैं। इसमें साध्वाचार का वर्णन है।

यह दस अध्ययनों में विभक्त है। प्रथम द्रुम-पुष्पिका अध्ययन है। इसमें समस्त पुरुषार्थों में धर्म को प्रधान माना है। इसकी प्रथम गाथा में बताया है—अहिंसा संयम और तप उत्कृष्ट मंगल रूप धर्म है।[२] अस्तु साधक को अपनी वृत्ति मधुकर की तरह ऐसी बनानी चाहिए कि जिससे वह किसी पर भार भूत न बने उसके कारण किसी गृहस्थ को कष्ट न उठाना पड़े और न अन्य जीवों को पीड़ा प्राप्त हो।

दूसरे श्रामण्य-पूर्वक अध्ययन में राजमती और रथनेमि का संवाद दिया गया है। इसमें यह बताया है कि साधक के मन में सांसारिक विषयों के प्रति राग भाव पैदा न हो और यदि कभी मोहोदय हो जाए, तो वह रथनेमि की तरह अपने जीवन को संभाल ले।

तृतीय क्षुल्लिकाचार-कथा में ५२ अनाचारों का वर्णन है जो साधु के आचरण करने योग्य नहीं है। चतुर्थ षट्-जीवनिका अध्ययन में छह काय के जीवों का उनकी रक्षा करने और पांच महाव्रतों एवं छट्ठे रात्रि भोजन के निषेध का वर्णन है। पाँचवें पिण्डैषणा अध्ययन में साधु को कैसा आहार किस प्रकार से लेना इसका वर्णन है। छट्ठे महाचार कथा में यह बताया है कि भिक्षा आदि के लिए जाने

---

१ आचार्य भद्रबाहु ने दशवैकालिक निर्युक्ति में लिखा है कि चौथा अध्ययन, आत्म प्रवाद पूर्व से, पांचवां कर्म प्रवाद से, सातवां सत्य प्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन नवमें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु में से उद्धृत किए हैं। —दशवैकालिक निर्युक्ति

२ दिगम्बर-साहित्य के धवला जयधवला ग्रन्थों में भी यह गाथा परिलक्षित होती है।

समय साधु को रास्ते मे मिलने वाले महाजन आदि के सामने किस प्रकार बात करनी चाहिए। सातवें भाषा अध्ययन मे यह बताया है कि साधु को किस प्रकार से साध्वाचार का वर्णन करना चाहिए। आठवे आचार प्रणिधि अ० मे विशुद्ध आचार का वर्णन है। नवमे विनय अध्ययन के चार उद्देशो मे विनय एव साधु जीवन का विस्तृत वर्णन है और दसवे भिक्षु अध्ययन मे बताया है कि जो श्रमण इसमे वर्णित आचार का पालन करता है, वही भिक्षु है।

यदि कभी मोह कर्म के उदय से कोई साधु साधना से पतित हो रहा हो, तो उसे स्थिर करने के लिए इसमे दो चूलिकाएँ जोड दी गई है—१. रति वाक्य और २ विविक्त चर्या। प्रथम मे साधु को सयम मे स्थिर रखने के लिए नरक आदि का वर्णन है और दूसरी मे अपने मन को शान्त करने के लिए एकान्त स्थान मे साधना करने का उपदेश दिया है।

२. उत्तराध्ययन-सूत्र—जैन परपरा की यह मान्यता रही है कि प्रस्तुत आगम मे भगवान् महावीर की अन्तिम देशना का सकलन है। कुछ आचार्यो की यह मान्यता है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्ति के पहले ५५ अध्ययन दु ख-विपाक के और ५५ सुख-विपाक के कहे[1], उसके बाद बिना पूछे उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययनो का वर्णन किया। इसलिए इसे अपुट्ठ वागरणा—अपृष्ट देशना कहते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि ३६ अध्ययन समाप्त करके भगवान् मरुदेवी माता का प्रधान नामक ३७ वे अध्ययन का वर्णन करते हुए अन्तर्मुहूर्त का शैलेशीकरण करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। कुछ आचार्य इसे भगवान् की अन्तिम देशना नही मानते।[2] प्रस्तुत आगम के वर्णन को देखते हुए ऐसा लगता है कि स्थविरो ने इसका बाद मे सग्रह किया है। कुछ अध्ययन ऐसे है, जिनमे प्रत्येक बुद्ध एव अन्य विशिष्ट श्रमणो के द्वारा दिए गए उपदेश एव सवाद का सग्रह है। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि इसमे के कुछ अध्ययन अग-साहित्य से लिए है, कुछ जिन-भाषित है और कुछ प्रत्येक-बुद्ध श्रमणो के सम्वाद रूप मे है।[3]

जो भी कुछ हो, इतना तो मानना ही पडेगा कि प्रस्तुत आगम भाषा, भाव एव शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसमे सरल एव सरस पद्यो मे साध्वाचार एव आध्यात्मिक विषय का सुन्दर निरूपण किया है।

प्रस्तुत आगम मे ३६ अध्ययन है—१ विनय, २ परीषह, ३ चतुरगीय, ४ प्रमादाप्रमाद, ५ अकाम-मरण, ६ क्षुल्लक-निर्ग्रन्थीय, ७ औरभ्रीय, ८ कापिलीय, ९ नमिपवज्जा, १० द्रुमपत्र, ११ बहुश्रुत १२ हरिकेशीय, १३ चित्त-सभूति, १४ इक्षुकारीय, १५ सुभिक्षुक, १६ ब्रह्मचर्य-गुप्ति, १७ पाप-श्रमण, १८ सयतीय, १९ मृगापुत्रीय, २० महानिर्ग्रन्थीय, २१ समुद्रपालीय, २२ रथनेमीय, २३ केशी-गौतमीय,

---

[1] वर्तमान मे दु ख विपाक और सुख विपाक मे दस-दस अध्ययन है।

[2] जैनधर्म विषयक प्रश्नोत्तर। —आचार्य आत्माराम जी (विजयानन्द सूरि)

[3] उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४।

२४ प्रवचन-माता २५ यज्ञीय २६ समाचारी, २७ खलुंकीय २८ मोक्षमार्ग २९ सम्यक्त्व पराक्रम ३० तपोमार्ग ३१ चरण विधि ३२ प्रमादस्थान ३३ कर्म प्रकृति ३४ लेश्या ३५ अनगार मार्ग और ३६ जीवाजीव विभक्ति है।

३ नन्दी-सूत्र—प्रस्तुत आगम में तीर्थंकरों गणधरों के नाम, उनकी स्तुति स्थविरावली त्रिविध परिषद्, अवधि ज्ञान मन पर्यव ज्ञान केवल ज्ञान मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान और श्रुत-साहित्य का वर्णन है।

४ अनुयोग द्वार सूत्र[1]—इसमें आवश्यक श्रुतस्कन्ध के निक्षेप उपक्रम अधिकार आनुपूर्वी दश नाम प्रमाण द्वार निक्षेप अनुगम और नय का वर्णन है। इसमें नव रस काव्य शास्त्र से संबद्ध कुछ बातें महाभारत रामायण कौटिल्य-शास्त्र घोटक-मुख आदि का उल्लेख है।

५ आवश्यक[2]—साधु के लिए जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसे आवश्यक कहते हैं। उसके छह अध्ययन हैं—१ सामायिक २ चतुर्विंशति-स्तव ३ वन्दन ४ प्रतिक्रमण ५ कायोत्सर्ग और ६ प्रत्याख्यान।

६ पिंड नियुक्ति या ओघ नियुक्ति

पिंड नियुक्ति में आहार ग्रहण करने की विधि का उल्लेख है। इसमें आहार-प्रधान और उद्गम उत्पादन एषणा और ग्रासैषणा के दोषों का वर्णन किया है।

ओघ नियुक्ति में सामान्य विषय की गहराई में न उतर कर चरण सत्तरी करण-सत्तरी प्रतिलेखन पिण्ड-ग्रहण उपधि निरूपण अयतना का त्याग प्रतिसेवना आलोचना और विशुद्धि आदि का वर्णन है। इसमें मुख्य रूप से चरण-करण का वर्णन है।

छेद साहित्य

१ निशीथ—छेद-सूत्रों में श्रमण श्रमणी के आचार गोचर—भिक्षाचरी करण क्रिया आदि सामान्य नियमों का वर्णन है। इसमें द्रव्य क्षेत्र काल भाव उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का भी वर्णन

[1] स्थानकवासी और तेरहपंथ परम्परा उक्त चार आगमों को मूल सूत्र मानती है। मूर्ति पूजक सम्प्रदाय के कुछ आचार्य ६ मूल सूत्र मानते हैं, और कुछ चार। जो चार मानते हैं वे दशवैकालिक उत्तराध्ययन आवश्यक और पिंडनियुक्ति या ओघ नियुक्ति को मूल-सूत्र मानते हैं। नन्दी और अनुयोग-द्वार को चूला मानते हैं और छह मानने वाले नन्दी और अनुयोगद्वार को भी उसमें समाविष्ट कर लेते हैं।

[2] स्थानकवासी और तेरहपंथी इसे मूल-सूत्र नहीं स्वतंत्र आगम मानते हैं।

है। सामान्य रूप से छेद-सूत्र अपवाद मार्ग के सूत्र कहलाते है। इसमे मुख्य रूप मे साध्वाचार का वर्णन है। फिर भी उसमे कही-कही श्रावक के आचार का भी उल्लेख है। जैसे श्रावक की ११ प्रतिमा, गुरु की ३३ आशातना नही करना, और आलोचना करना आदि श्रमण के आचार का वर्णन है।

निशीथ-सूत्र आचाराग-सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कध की पाँचवी चूला है। इसका अयारप्पकप्प—आचार-प्रकल्प नाम है। इसमे साध्वाचार मे दोप लगाने वाले साधक के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था की गई थी। अत इसे आचाराग मे पृथक कर दिया और जव छेद-सूत्रो की व्याख्या की गई, तव इसे छेद-सूत्रो मे स्व स्थान दे दिया।

इस आगम मे २० उद्देशक है। पहले मे ६० बोल है, उनका सेवन करने, कराने और अनुमोदन करने वाले को मासिक प्रायश्चित आता है। दूसरे मे ६०, तीसरे मे ८१, चौथे मे सौ से कुछ अधिक और पाँचवे मे ८० वोल है, उनका सेवन करने-कराने और अनुमोदन करने वाले को लघु-मासिक प्रायश्चित आता है। छट्ठे से उन्नीस तक मे क्रमश ७७, ९१, १७, २८, ४७, ९२, ३०, ६०, ४५, १५४, ५०, १५१, ६४, और ३६ बोल है और इनका सेवन करने, करवाने और अनुमोदन करने वाले को चातुर्मासिक प्रायश्चिक आता है। २० वे उद्देशक मे मासिक, लघु-मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित की विधि का उल्लेख है। निशीथ भाष्यकर ने छेद-सूत्रो को उत्तम—श्रेष्ठ सूत्र माना है।[1] क्योकि इसमे आचार-शुद्धि का वर्णन है।

२ वृहत्कल्प-सूत्र—कल्प या वृहत्कल्प का कल्पाध्ययन नाम भी मिलता है। यह पर्युपण-कल्प या कल्प-सूत्र से भिन्न है। यह आगम श्रमण आचार के प्राचीनतम ग्रन्थो मे से एक है। निशीथ और व्यवहार की तरह इसकी भाषा भी प्राचीन है। इसमे श्रमण—श्रमणियो के सयम मे साधक—कल्पनीय और सयम मे वाधक—अकल्पनीय स्थान, वस्त्र, पात्र आदि विस्तृत विवेचन है, इसलिए इसे कल्प कहते है। आचार्य मलयगिरि का कथन है कि प्रस्तुत आगम नवमे पूर्व के आचार नामक तृतीय वस्तु के ३० वे प्राभृत मे से लिया गया है, जिसमे प्रायश्चित का विधान है।

इसमे छह उद्देशक है। इसमे मुख्य रूप मे साधु-साध्वियो के आचार का वर्णन है। इसमे सयम मे वाधक वनने वाले पदार्थो के लिए 'न कप्पई'—ग्रहण करना नही कलपता कह कर ग्रहण का निषेध किया है और सयम मे सहायक पदार्थो के लिए 'कप्पई'—कलपता है, करने का प्रयोग करके उसको ग्रहण करने का आदेश दिया है। दस प्रकार के प्रायश्चित का तथा किस प्रकार के दोप का सेवन करने वाले को कैसा प्रायश्चित देना इसका वर्णन है। इसमे कल्प के ६ भेदो का भी उल्लेख है।

३. व्यवहार-सूत्र—इसमे १० उद्देशक है। प्रथम उद्देशक मे वताया है कि आलोचना (confession) सुनने वाला और करने वाला श्रमण कैसा होना चाहिए, आलोचना कैसे करनी चाहिए और

---

[1] निशीथ भाष्य, गाथा, ६ १ ८ ४।

उस कितना प्रायश्चित्त देना चाहिए । दूसरे उद्देशे में अनेक साधु एक साथ विहार कर रहे हैं उसमें से एक या अनेक साधु दोष का सेवन करें तो साथ के साधुओं को या अन्य साधुओं को क्या करना चाहिए इसका वर्णन है । तीसरे में गणि बनाने और कम साधु को आचार्य उपाध्याय आदि सात पदवियाँ देने या न देने का वर्णन है । चौथे में बताया है कि साधु साध्वी को कितने साधु-साध्वी के साथ विहार एवं चातुर्मास करना चाहिए । पाचवें में साध्वियों की प्रवर्तिनी आदि पदवियों का वर्णन है । छट्ठे में गोचरी स्थंडिल स्वाध्याय भूमि आदि के सम्बन्ध में वर्णन है । सातवें में दूसरी सम्प्रदाय से आने वाली साध्वी के साथ कैसा व्यवहार करना इसका तथा साध्वियों के अन्य नियमों का वर्णन है । आठवें में गृहस्थ के मकान तख्त आदि को कैसे काम में लेना इसका उल्लेख है । नववें में शय्यातर—मकान मालिक के सम्बन्ध में वर्णन है और दसवें में दो प्रकार की प्रतिमा, दो तरह का परीषह पाँच व्यवहार चार तरह के साधु चार प्रकार के आचार्य और अमुक अमुक आगम कितने वर्ष की दीक्षा पर्याय होने पर सीखना चाहिए आदि बातों का वर्णन है ।

४ दशाश्रुतस्कंध-सूत्र[1]—इसमें दस १० अध्ययन हैं । पहले अ० में २० असमाधि दोष दूसरे अ० में २१ सबल दोष, तीसरे अ० में ३३ आशातना चौथे अ० में आचार्य की आठ संपदा, पाचवें में चित्त समाधि के १० स्थान, छट्ठे में श्रावक की ११ प्रतिमा, सातवें में भिक्षु प्रतिमा, आठवें में भगवान महावीर के च्यवन, जन्म संहरण दीक्षा केवल ज्ञान और मोक्ष ज्ञान का समय नववें में मोहनीय कर्म बन्ध के ३० स्थान और दसवें में नव निदानों का वर्णन है ।

प्रस्तुत आगम के दशा, आयारदसा और दसासुय नामों का भी उल्लेख मिलता है । इसके आठवें अध्ययन में भगवान महावीर के च्यवन, जन्म संहरण, दीक्षा केवल ज्ञान और मोक्ष का तथा २४ तीर्थंकरों का संक्षिप्त भाषा में वर्णन है । इसका पज्जोसणा कप्प अथवा कल्पसूत्र नाम है । इस नाम से यह अध्ययन स्वतंत्र आगम रूप से भी उपलब्ध है ।

५ पंचकल्प-सूत्र—प्रस्तुत आगम वर्तमान में उपलब्ध नहीं है । पंच कल्प-सूत्र और पंच कल्प महाभाष्य दोनों दो भिन्न ग्रन्थ न होकर एक ही है । ऐसा विद्वानों का अभिमत है । जैसे पिंड नियुक्ति और ओघ नियुक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर क्रमशः दशवैकालिक नियुक्ति और आवश्यक नियुक्ति से लिया गया अंश है उसी प्रकार पंचकल्प या पंचकल्पभाष्य बृहत्कल्प भाष्य का अंश है । आचार्य मलयगिरि और क्षमकीर्ति ने भी इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । इस भाष्य के कर्ता संघदास गणि क्षमाश्रमण हैं ।[2]

---

[1] बृहत्कल्प भाष्य (स० मुनि पुण्य विजय जी) भाग ६, प्रस्तावना पृ० ५६ ।

स्थानक वासी और तेरह पंथी निशीथ से लेकर दशाश्रुतस्कंध तक के चार सूत्रों को छेद सूत्र मानते हैं । शेष दो सूत्रों को मिलाकर मूर्ति पूजक सम्प्रदाय छह सूत्रों की संख्या छह मानती है ।

६. महानिशीथ-सूत्र—इसमे आलोचना और प्रायश्चित का वर्णन है। महाव्रत का और विशेष करके चतुर्थ महाव्रत का खण्डन करने वाले साधक को कितना दुख सहन करना पडता है, इसका वर्णन करके कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इसमे आचार-निष्ठ, आचार-हीन साधुओ का वर्णन है और कमलप्रभ आदि आचार्यो की कथाएँ भी है। भाषा और विषय की दृष्टि से इसकी प्राचीन आगमो मे गणना नही की जा सकती। इसमे तान्त्रिक विषय एव जैनागमो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेख मिलता है।

प्रकीर्णक[1]

१. चतु शरण—इसमे यह बताया है, कि चार व्यक्तियो—१ अरिहन्त, २ सिद्ध, ३ साधु, और ४ धर्म का शरण लेने से दुष्कृत का नाश और सुकृत का उदय होता है। ये चारो शरण कुशल शुभ कार्य के कारण हैं। इसमे उक्त चारो के स्वरूप का भी वर्णन है। इसमे कुल ६३ गाथाएँ है। उक्त शास्त्र का दूसरा नाम कुशलानुबन्ध भी है।

२. आतुर-प्रत्याख्यान—इसमे यह समझाया गया है कि बालमरण, बाल-पडित मरण और पडित-मरण किस व्यक्ति का होता है। इसमे इसका विस्तार से वर्णन है, कि पंडित रोग-शय्या मे या मृत्यु का समय निकट जानकर किस प्रकार सब से क्षमत-क्षमापना, त्याग-प्रत्याख्यान, सलेखना एव अनशन व्रत स्वीकार करता है।

३. भक्त-परिज्ञा—इसमे मृत्यु के समय किए जाने वाले भक्त-परिज्ञा, इगित-मरण और पादपोगमन तीन प्रकार के अनशन व्रत एव उनके भेदोपभेदो का विस्तार से वर्णन है।

४ संस्तारक—इसमे सस्तारक—मृत्यु के समय अनशन व्रत स्वीकार करते समय तृण की शय्या बिछाने का वर्णन है और इसके लिए अनेक दृष्टान्त भी दिए है। इसमे कुल १२३ गाथाएँ हैं।

५. तन्दुल वैचारिक—इसमे सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति प्रतिदिन जितना तन्दुल—चावल खाता है उसका इसमे विचार किया गया है। इसमे मनुष्य की आहार विधि, गर्भ अवस्था, शरीर के उत्पादक कारण, सहनन, सस्थान, तन्दुल गणना आदि का वर्णन है। इसमे अधिकाश वर्णन गर्भ के सम्बन्ध मे हैं। इसमे कुल १३९ गाथाएँ और थोडा-सा गद्य भाग है।

६. चन्द्र वेध्यक—इसमे राधा-वेध्य का वर्णन है। इसका उदाहरण देकर साधक को यह उपदेश दिया गया है कि उसे आत्मा मे एकाग्र ध्यान करना चाहिए, जिससे उसे मोक्ष प्राप्त होगा।

---

[1] दस पयन्ना को मूर्तिपूजक समाज आगम रूप से स्वीकार करती है। और स्थानक वासी एवं तेरह पथ इन्हे आगम-साहित्य मे समाविष्ट नहीं करते।

७ देवेन्द्र स्तोत्र—इसमें देवेन्द्र द्वारा भगवान् महावीर की की गई स्तुति का वर्णन है। इसमें ३२ देवेन्द्रो और उनके अधीन रहने वाले सूर्य चन्द्र आदि देवो उनके निवास स्थानो, उनकी स्थिति उनके भवन और उनके परिग्रह आदि का वर्णन है।

८ गणिविद्या—इसमें ज्योतिष विद्या का वर्णन है। इसमें बलाबल विधि, दिवस तिथि नक्षत्र, करण, ग्रह दिवस, मुहूर्त शकुन लग्न और निमित्त आदि का वर्णन है। इसमें कुल ८२ गाथाएँ हैं।

९ महाप्रत्याख्यान—प्रस्तुत आगम में महाप्रत्याख्यान कराने की विधि का वर्णन है। इसमें यह बताया है कि जीवन में पाप दोष के लगे हुए शूलो को आत्म आलोचना के द्वारा जीवन से निकाल कर साधक को शल्य रहित बनना चाहिए। इसमें ससार के दुखद स्वरूप का वर्णन है। इसमें कुल १४२ गाथाएं हैं।

१० गच्छाचार—इसमें गच्छ के स्वरूप का वर्णन है। आचार निष्ठ आचार्य एव उसके चरित्र निष्ठ शिष्यो से गच्छ उज्ज्वल बनता है। इसलिए इसमें आचार्य के शिष्य और गच्छ के लक्षणो का उल्लेख है। इसमें कुल १३७ गाथाएँ हैं। ४० गाथाओ में आचार्य के स्वरूप का वर्णन है ४१ से १०६ तक साधु के स्वरूप का और १०७ से १३४ तक गच्छ के स्वरूप का वर्णन है। अन्तिम तीन गाथाओ में यह बताया गया है कि यह प्रकीर्णक महानिशीथ वृहत्कल्प और व्यवहार—इन तीन छेद सूत्रो में से लिया गया है।

उपसहार

आगम-साहित्य बहुत विशाल है। उसमें प्रसगानुसार विविध विषयो की चर्चा है। उसमें केवल धर्म दर्शन एव आचार से सम्बन्धित बातो की नही प्रत्युत सास्कृतिक ऐतिहासिक एव वास्तु-कला आदि विषयो का भी उल्लेख मिलता है। कोई भी आगम ऐसा नही है जिसमें केवल एक ही विषय हो। प्रत्येक आगम में अनेक विषयो का उल्लेख मिलता है। फिर भी कुछ आगम ऐसे हैं जिनमें एक विषय की प्रधानता है। उसमें प्रसगानुसार अन्य विषय भी आए हैं परन्तु वे गौण रूप से आए है और उनका उस विषय को पुष्ट करने के लिए प्रयोग किया गया है। अत विषय की प्रधानता की दृष्टि से हम यहाँ आगमो का वर्गीकरण कर रहे हैं।

कुछ आगम आचार से सम्बन्ध रखते हैं। आचाराग और दशवैकालिक आचार सूत्र है। अन्य आगमो में भी साध्वाचार का वर्णन आता है। उत्तराध्ययन में भी साध्वाचार का वर्णन है। परन्तु उक्त उभय आगमो में साध्वाचार का वर्णन ही मुख्य है। इसके अतिरिक्त छेद सूत्रो का मुख्य विषय भी आचार का निरूपण करना है। आचाराग और दशवैकालिक में साधुओं के आचार का निरूपण है। उसमें प्राय उत्सर्ग मार्ग का ही विधान मिलता है। कही-कही प्रसगानुसार आपवादिक सूत्र आ गए हैं। परन्तु छेद

सूत्रो का निर्माण उत्सर्ग और अपवाद दोनो मार्गों का निरूपण करने के लिए किया गया। उनमें औत्स-र्गिक एवं आपवादिक नियमो का तथा प्रमादवश अथवा मोह कर्म के उदय से आचार मे दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का विधान है।

कुछ आगम ऐसे है, जिनमे श्रमणो एवं श्रमणोपासको के जीवन वृत्त दिए हुए है। उपासक दशाग, अनुत्तरोपपातिक दशाग और अन्तकृद्दशाग सूत्र श्रमण-सस्कृति की दिव्य विभूतियों के ज्योतिर्मय जीवन की आभा से आलोकित है। ज्ञाता-धर्मकथा मे कुछ घटित घटनाओ के माध्यम से आत्म-साधना का उपदेश दिया गया है। विपाक सूत्र मे पाप और पुण्य के कथानको के द्वारा शुभाशुभ कर्मों के फल का निरूपण किया है। उक्त आगमो मे प्रसगानुसार वास्तुकला एव ऐतिहासिक विषयो का वर्णन भी मिलता है। और अनेक स्थलो पर उस युग के सास्कृतिक जीवन की भाकी भी देखने को मिलती है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति—तत्कालीन भूगोल-खगोल से सम्बद्ध है। उत्तरा-ध्ययन और प्रकीर्णक आदि आगम उपदेश प्रधान है।

सूत्रकृताग, स्थानाग, प्रज्ञापना, समवायाग, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, भगवती, नन्दी और अनु-योगद्वार आदि आगम दार्शनिक विषयो से सम्बन्धित है।

सूत्रकृताग मे भगवान् महावीर के समय मे प्रचलित मत-मतान्तरो के सिद्धान्तो का निराकरण करके स्वमत की प्ररूपणा की गई है। इसमे भूतवादियो के मत का खण्डन करके पञ्चभूतो से अलग आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया है। अद्वैतवाद की एक आत्मा की मान्यता के स्थान मे अनेक आत्माओ के अस्तित्व को माना है। ससार की उत्पत्ति के विषय मे ईश्वर-कृतित्व का निराकरण करके उसे अनादि-अनन्त माना है।

स्थानाग-समवायाग मे पदार्थो की गणना की शैली मे आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, कर्म, नय-प्रमाण आदि विषयो का उल्लेख किया है। प्रज्ञापना मे जीव के विभिन्न भावो का विस्तार से वर्णन है। जीवा-भिगम मे जीव-अजीव से सम्बन्धित विषय का विस्तृत विवेचन किया गया है। राज प्रश्नीय मे भगवान पार्श्वनाथ की परपरा के केशीश्रमण के द्वारा विभिन्न तर्को से समभाकर श्रावस्ती के नास्तिक राजा प्रदेशी को आस्तिक बनाने का उल्लेख है। इसमे आत्मा भौतिक तत्वो से सर्वथा भिन्न है, यह स्पष्ट किया है।

भगवती सूत्र प्रश्नोत्तर की शैली मे है। इसके अनेक प्रश्नो मे नय, प्रमाण, जीव, अजीव, लोक, आदि अनेक दार्शनिक प्रश्न बिखरे पड़े है। इसके अतिरिक्त इसमे सास्कृतिक एव ऐतिहासिक वर्णन भी उपलब्ध होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र मे मुख्य रूप से आगमो का शब्दार्थ करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। परन्तु प्रसगानुसार नय, प्रमाण एव तत्वो का भी सुन्दर ढग से निरूपण किया गया है।

व्याख्या-साहित्य एक परिशीलन

विजय मुनि शास्त्री साहित्यरत्न

भारत की सांस्कृतिक त्रिपथगा वैदिक, जैन और बौद्ध

वेद जिन और बुद्ध—भारत की परम्परा तथा भारत की संस्कृति के मूल स्रोत हैं। हिन्दू धर्म के विश्वास के अनुसार वेद ईश्वर की वाणी है। वेदों का उपदेष्टा कोई व्यक्ति विशेष नहीं था स्वयं ईश्वर ने उनका उपदेश किया था। अथवा वेद ऋषियों की वाणी हैं ऋषियों के उपदेशों का संग्रह है। मूल में वेद तीन थे। अतः वेदत्रयी उसको कहा गया। आगे चल कर अथर्ववेद को मिला कर चार वेद हो गए। *अथर्व भी स्वतन्त्र वेद है। वेद की विशेष व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ हैं। यहाँ तक* कर्म-काण्ड मुख्य है। उपनिषदों में ज्ञान काण्ड की ही प्रधानता है। उपनिषद् वेदों का अन्तिम भाग होने *से वेदान्त कहा जाता है। वेदों को प्रमाण मान कर स्मृति-शास्त्र तथा सूत्र-साहित्य की रचना की गई।* मूल में इनके वेद होने से ही ये प्रमाणित हैं। वैदिक परम्परा का जितना भी साहित्य विस्तार है वह सब वेद मूलक है। वेद और उसका परिवार संस्कृत भाषा में है। अतः वैदिक संस्कृति के विचारों की अभिव्यक्ति संस्कृत भाषा के माध्यम से ही हुई।

बुद्ध की वाणी त्रिपिटक

बुद्ध ने अपने जीवन-काल में अपने भक्तों को जो उपदेश दिया था—त्रिपिटक उसी का संकलन है। बुद्ध की वाणी को त्रिपिटक कहा जाता है। बौद्ध परम्परा के समग्र विचार और समस्त विश्वासों का मूल त्रिपिटक है। पिटक तीन हैं—सुत्त पिटक, विनय पिटक और अभिधम्म पिटक। पिटक में बुद्ध के उपदेश हैं।

विनय पिटक मे आचार है और अभिधम्म पिटक मे तत्व-विवेचन है। बौद्ध परम्परा का साहित्य भी विशाल है, परन्तु पिटको मे बौद्ध सस्कृति के विचारो का सारा सार आ जाता है। अत बौद्ध विचारो का एव विश्वासो का मूल केन्द्र—त्रिपिटक है। बुद्ध ने अपना उपदेश भगवान महावीर की तरह, उस युग की जन-भाषा मे दिया था। बुद्धिवादी वर्ग की उस युग मे, यह एक बहुत बडी क्रान्ति थी। बुद्ध ने जिस भाषा मे उपदेश दिया, उसको पाली कहते है। अत. त्रिपिटको की भाषा, पालि भाषा है।

महावीर की वाणी : आगम

जिन की वाणी मे, जिन के उपदेश मे, जिसको विश्वास है, वह जैन है। राग और द्वेष के विजेता को जिन कहते है। भगवान् महावीर ने राग और द्वेष पर विजय प्राप्त की थी, अत वे जिन थे, तीर्थङ्कर भी थे। तीर्थङ्कर की वाणी को जैन परम्परा मे आगम कहते हे। भगवान् महावीर के समग्र विचार और समस्त विश्वास तथा सम्पूर्ण आचारो का सग्रह जिसमे हो, उसको "द्वादशाग-वाणी" कहते है। भगवान् ने अपना उपदेश उस युग की जन-भाषा मे, जन-बोली मे दिया था। जिस भाषा मे महावीर ने अपने विश्वास, अपने विचार और अपने आचार पर प्रकाश डाला, उस भाषा को हम अर्ध-मागधी कहते है। अर्ध-मागधी को देव-वाणी भी कहते है। जैन-सस्कृति तथा जैन-परम्परा के मूल विचारो का और आचारो का मूल-स्रोत आगम-वाड्मय है। जैन परम्परा का साहित्य बहुत विशाल है। प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी और अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे भी विराट् साहित्य लिखा गया है। परन्तु यहाँ प्रस्तुत मे अन्य साहित्य चर्चा न करके केवल आगम-साहित्य की ही विचारणा की जाएगी।

आगम-युग

वर्तमान युग के महामनीषी पण्डित सुखलालजी ने सम्पूर्ण जैन-साहित्य को पाँच कालो मे, किंवा पाच युगो मे विभाजित किया है। जैसे कि—आगम युग, अनेकान्त स्थापन युग, प्रमाणशास्त्र व्यवस्था युग, नव्य न्याय युग एव आधुनिक युग—सम्पादन एव अनुसन्धान युग। उक्त विभाजन इतनी दीर्घ दृष्टि से किया है, कि जैन वाड्मय का सम्पूर्ण रूप इसमे गर्भित हो जाता है। पण्डित महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य, पण्डित दलसुख मालवणिया जी और प्रोफेसर मोहनलाल मेहता ने भी अपने ग्रन्थो मे इस विभाजन को अपनाया है। अन्य विषयो की विचारणा प्रस्तुत न होने से, और आगम की विचारणा प्रस्तुत होने से, हम यहाँ पर मूल आगम और उसके परिवार के सम्बन्ध मे सक्षेप मे विचार करेगे।

आगम युग का काल-मान, भगवान् महावीर के निर्वाण अर्थात् विक्रम पूर्व ४७० से आरम्भ होकर प्राय एक हजार वर्ष तक जाता है। वैसे, किसी न किसी रूप मे, आगम युग की परम्परा वर्तमान युग मे भी चली आ रही है।

आगम प्रणेता कौन ?

जैन परम्परा के अनुसार आगमो के प्रणेता अर्थ रूप मे तीर्थकर और शब्द रूप मे गणधर कहे जाते है। भगवान् महावीर की वाणी का सार, गणधरो ने शब्द-बद्ध किया। स्वय भगवान् ने कुछ भी

नहीं लिखा। अत अर्थ भगवान् का और सूत्र गणधर का। उक्त कथन का फलितार्थ यह हुआ कि अर्थागम के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं और शब्दागम के प्रणेता गणधर। परन्तु आगमों का प्रामाण्य गणधर कृत होने से नहीं है, अपितु तीर्थङ्कर की वाणी होने से है। गणधरों के सिवा स्थविर भी आगम रचना करते हैं। गणधर कृत आगमों में और स्थविर कृत आगमों में एक बहुत बड़ा अन्तर यह रह जाता है कि गणधर कृत आगम अङ्ग प्रविष्ट कहे जाते हैं और स्थविर कृत अनंग प्रविष्ट अर्थात् अङ्ग बाह्य कहे जाते हैं। तीर्थङ्कर के मुख्य शिष्य गणधर होते हैं और अन्य श्रमण जो या तो चतुर्दश पूर्वी हैं अथवा दश पूर्वधर हैं—स्थविर होते हैं। परन्तु गणधर कृत और स्थविर कृत आगमों का आधार तीर्थङ्कर वाणी ही होता है इसी आधार पर उनकी रचना प्रमाण भूत होती है। गणधर कृत आगम तो प्रमाणित होते ही हैं परन्तु स्थविर कृत आगम भी इस आधार पर मान लिए गए हैं कि चतुर्दश पूर्वी और दश-पूर्वधर नियमत सम्यग्दृष्टि होते हैं। अत उनके ग्रन्थ भी मूल आगमों के अविरुद्ध ही होते हैं। उक्त तर्क पर ही गणधर कृत और स्थविर कृत आगमों का प्रामाण्य जैन परम्परा को स्वीकृत है। इस दृष्टिकोण से आगम प्रणेता तीन हैं—तीर्थङ्कर गणधर एवं स्थविर अर्थात चतुर्दश पूर्वी और दश-पूर्वधर। शेष आचार्यों की कृतियों के सम्बन्ध में यह विचार है कि जो बात वीतराग वाणी के अनुकूल है वह प्रमाणित और शेष सब अप्रमाणित है।

वाचना त्रयी

पहली वाचना—वर्तमान में उपलब्ध आगम वाङ्मय अपने प्रस्तुत रूप में देवर्धि गणि क्षमाश्रमण के युग में लिखित हुए है। महावीर निर्वाण के बाद में एक लम्बे दुर्भिक्ष के कारण समग्र श्रमण संघ इधर उधर बिखर गया था। स्थिति सुधरने पर पाटलीपुत्र में आचार्य भद्रबाहु की अध्यक्षता में श्रमण-संघ एकत्रित हुआ और समस्त श्रमणों ने मिल कर एकादश अङ्गों को व्यवस्थित किया। परन्तु बारहवाँ अङ्ग दृष्टिवाद का विलोप अथवा विस्मरण हो चुका था।

दूसरी वाचना—मथुरा में, आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में की गई। जो श्रमण वहाँ एकत्रित हुए थे उन्होंने एक-दूसरे से पूछ कर जो स्मृति में रह सका उसके आधार पर श्रुत को सकलित करके व्यवस्थित किया गया। जैन अनुश्रुति के अनुसार लगभग इसी समय वल्लभी में भी नागार्जुन सूरि ने श्रमण संघ को एकत्रित करके श्रुत-साहित्य को व्यवस्थित करने का सत्प्रयत्न किया था।

तीसरी वाचना—वल्लभीनगर में देवर्धि गणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। काल दोष से और परिस्थिति-वश विस्मृत श्रुत साहित्य को फिर से संगृहीत एवं संकलित करने का श्रमणों ने प्रयत्न किया। वर्तमान में आगमों का जो प्रारूप है वह इसी तीसरी वाचना का अमृत-फल है। देवर्धि गणि ने उक्त संकलित श्रुत साहित्य को लिपिबद्ध भी करा लिया था। अत उनका प्रयत्न पूर्व प्रयत्नों की अपेक्षा अधिक स्थायी रह सका और आज भी वह उपलब्ध हो रहा है—वर्तमान प्रस्तुत आगमों के रूप में।

वर्तमान काल में

धर्म, दर्शन, संस्कृति और आगमों की दशा देख कर, यह विचार पैदा होता है, कि क्या आज के सभी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-मूर्तिपूजक, स्थानकवासी और तेरापन्थी—मिलकर, उपलब्ध आगमों का सुन्दर सम्पादन करने के लिए एकत्रित होकर विचार नहीं कर सकते ?

आगमो की भाषा

आगमो की भाषा, अर्ध-मागधी है। जैन अनुश्रुति के अनुसार तीर्थङ्कर अर्ध-मागधी में उपदेश करते हैं। इसको देववाणी कहा गया है। अर्ध-मागधी को बोलने वाला भाषार्य कहा जाता है। यह भाषा मगध के एक भाग मे बोली जाती है, इसलिए इसको अर्ध-मागधी कहते है। इसमे अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित है। भगवान् महावीर के शिष्य—मगध, मिथिला, काशी, कोशल आदि अनेक देशो के थे। आगमो की भाषा मे देश्य शब्दों की प्रचुरता है। जिनदासमहत्तर की व्याख्या के अनुसार मागधी और देश्य शब्दो का मिश्रण अर्ध-मागधी है। कुछ विद्वान इसको प्राकृत भाषा भी कहते है।

विषय-प्रतिपादन

आगमो मे धर्म, दर्शन संस्कृति, तत्व, गणित, ज्योतिष, खगोल, भूगोल, इतिहास—सभी प्रकार के विषय यथाप्रसङ्ग आ जाते है। दश वैकालिक और आचाराग मे मुख्य रूप से साधु के आचार का वर्णन है, सूत्रकृताग में दार्शनिक विचारो का गहरा मन्थन है। स्थानाग और समवायाग मे आत्मा, कर्म, इन्द्रिय, शरीर, भूगोल, खगोल, प्रमाण, नय और निक्षेप आदि का वर्णन है। भगवती मे गौतम गणधर और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर है। ज्ञाता मे विविध विषयो पर रूपक और दृष्टान्त है। उपासक दशा मे दश श्रावको के जीवन का सुन्दर वर्णन है। अन्तकृत् और अनुत्तरोपपातिक मे साधको के त्याग एव तप का बड़ा सजीव चित्रण है। प्रश्न व्याकरण मे पाँच आस्रव और पाँच संवर का सुन्दर वर्णन किया है। विपाक मे कथाओं द्वारा पुण्य और पाप का फल बताया गया है। उत्तराध्ययन मे अध्यात्म उपदेश दिया गया है। नन्दी मे पाँच ज्ञान का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। अनुयोगद्वार मे नय एव प्रमाण का वर्णन है। छेद सूत्रो मे उत्सर्ग-अपवाद का वर्णन है। राज-प्रश्नीय मे राजा प्रदेशी और केशीकुमार श्रमण का अध्यात्म-सम्वाद सजीव एवं मधुर है। प्रज्ञापना मे तत्व-चिन्तन गम्भीर, पर बहुत ही व्यवस्थित है। आगमो मे सर्वत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित होता है।

आगम-प्रामाण्य के विषय मे मतभेद

आगम-प्रामाण्य के विषय मे एक मत नहीं है। श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक परम्परा ११ अङ्ग, १२ उपाग, ४ मूल, २ चूलिका सूत्र, ६ छेद, १० प्रकीर्णक—इसी प्रकार ४५ आगमो को प्रमाण मानती

है। इनके अतिरिक्त नियुक्ति भाष्य, चूर्णि और टीका—इन सबको भी प्रमाण मानती है और आगम के समान ही इनमें भी श्रद्धा रखती है।

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा और श्वेताम्बर तेरापन्थी परम्परा केवल ११ अङ्ग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक—इस प्रकार ३२ आगमों को प्रमाण भूत स्वीकार करती है, शेष आगमों को नहीं। इनके अतिरिक्त नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं को भी सर्वांशतः प्रमाण भूत स्वीकार नहीं करती।

दिगम्बर परम्परा उक्त समस्त आगमों को अमान्य घोषित करती है। उसकी मान्यता के अनुसार सभी आगम लुप्त हो चुके हैं। अतः वह ८४ या ४२ तथा नियुक्ति भाष्य, चूर्णि और टीका—किसी को भी प्रमाण नहीं मानती।

दिगम्बर आगम

दिगम्बर परम्परा का विश्वास है, कि वीर निर्वाण के बाद श्रुत का क्रमशः ह्रास होता गया। यहाँ तक ह्रास हुआ कि वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के बाद कोई भी अंगधर अथवा पूर्वधर नहीं रहा। अंग और पूर्व के अंशधर कुछ आचार्य अवश्य हुए हैं। अंग और पूर्व के अंश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा में होने वाले पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यों ने षट्खण्डागम की रचना द्वितीय अग्रायणीय पूर्व के अंश के आधार पर की और आचार्य गुणधर ने पाँचवें पूर्व ज्ञान प्रवाद के अंश के आधार पर कषाय पाहुड की रचना की। भूतबलि आचार्य ने महाग्रन्थ की रचना की। उक्त आगमों का विषय मुख्य रूप में जीव और कर्म है। बाद में उक्त ग्रन्थों पर आचार्य वीरसेन ने धवला और जय धवला टीकाएँ कीं। ये टीकाएँ भी उक्त परम्परा को मान्य हैं। दिगम्बर परम्परा का सम्पूर्ण साहित्य आचार्य द्वारा रचित है।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रणीत ग्रन्थ—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि भी आगमवत् मान्य हैं—दिगम्बर परम्परा में। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के ग्रन्थ—गोमटसार, लब्धिसार और द्रव्य संग्रह आदि भी उतने ही प्रमाण भूत तथा मान्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र ने अत्यन्त प्रौढ़ एवं गम्भीर टीकाएँ की हैं। इस प्रकार दिगम्बर साहित्य भले ही बहुत प्राचीन न हो, फिर भी वह परिमाण में विशाल है और उर्वर एवं सुन्दर है।

आगम साहित्य की परिचय रेखा

आगम साहित्य विपुल, विशाल और विराट है। उसका पूर्ण परिचय एक लेख में नहीं दिया जा सकता। प्रस्तुत लेख में आगम और उसके परिवार की केवल परिचय रेखा ही दी गई है। यदि आगम के एक-एक अंग का पूर्ण परिचय दिया जाए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना हो जाए। आवश्यकता तो इस बात की है कि आगम, नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, व्याख्या और अनुवाद—सभी पर एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जाए, जिससे आगम साहित्य का सर्वाङ्गीण परिचय जन चेतना के सम्मुख प्रस्तुत किया जा

सके। फिर आज तो मूल आगमो के अनुसधान की बहुत बडी आवश्यकता है। मूल आगमो मे जो विभिन्न विपय आए है, उन पर भी तुलनात्मक दृप्टिकोण से विचार होना चाहिए। आगमो मे तथा उसके परिवार मे धर्म, दर्शन और सस्कृति के मूल तत्व भरे पडे है। अभी तक आगमो का अध्ययन-अध्यापन केवल धार्मिक दृप्टि से ही होता रहा है, परन्तु अब समय आ गया है, कि उसका अध्ययन, मनन और मन्थन-सस्कृति, समाज और इतिहास की दृप्टि से भी हो। हर्प है, कि कुछ विद्वानो का ध्यान इस विपय पर गया है, और कुछ ने तो उस प्रकार के अध्ययन ग्रन्थ के रूप मे प्रस्तुत भी किए है। किन्तु इस दृप्टिकोण का व्यापक प्रचार और प्रसार होना चाहिए। मूल आगमो के विभिन्न विपयो पर विभिन्न दृप्टि-कोण से लिखने का यह युग है। केवल सस्कृत और प्राकृत टीकाओ से आज का जन-मानस सन्तुप्ट नही हो सकता।

निर्युक्ति-परिचय

यह आगमो पर सब से पहली और सब से प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। निर्युक्ति प्राकृत-भापा मे और पद्यमयी रचना है। सूत्र मे कथित अर्थ जिस मे उपनिवद्ध हो, उसे निर्युक्ति कहा गया है—"णिज्जुता ते अत्था, ज वद्धा तेण होइ णिज्जुती।" आचार्य हरिभद्र ने निर्युक्ति की परिभापा इस प्रकार की है—"निर्युक्तानामेव सूत्रार्थाना युक्ति—परिपाटया योजनम्।" 'निर्युक्ति' शव्द की प्राकृत और सस्कृत दोनो परिभापाओ से यही फलितार्थ होता है, कि सूत्र मे कथित एव निश्चित अर्थ को स्पष्ट करना, निर्युक्ति है। दूसरे शव्दो मे "निर्युक्ति प्राकृत-गाथाओ मे आगमो पर लिखा सक्षिप्त विवरण है।" आगे चलकर निर्युक्ति पर भाष्य और टीका लिखी गई।

निर्युक्ति की उपयोगिता यह है, कि सक्षिप्त और पद्यवद्ध होने के कारण यह साहित्य सुगमता के साथ मे कण्ठस्थ किया जा सकता था। निर्युक्ति की भापा प्राकृत और रचना छन्द मे होने से इसमे सहज ही सरसता और मधुरता की अभिव्यक्ति होती है।

निर्युक्ति के प्रणेता आचार्य भद्र बाहु माने जाते है। कौन-से भद्रवाहु ? प्रथम अथवा द्वितीय। इस विषय मे सभी विद्वान एकमत नही है। परन्तु कुछ इतिहास-विदो का अभिमत है, कि निर्युक्ति रचना का प्रारम्भ तो प्रथम भद्रवाहु से ही हो जाता है। निर्युक्तियो का समय सवत् ४०० से ६०० तक माना गया है। किन्तु ठीक-ठीक काल निर्णय अभी तक नही हो पाया है। काल निर्णय करना, यहाँ अभीप्ट नही है।

आगमा के निगूढ भावा का स्पष्ट करना ही एक मात्र नियुक्तिकार का लक्ष्य हात हुए भी प्रसग वश इनम धम, दशन, सस्कृति, समाज, इतिहास और विविध विषयो पर बडा सुदर विवेचन उपल ध हा जाता है। कुछ प्रसिद्ध नियुक्तियाँ ये हैं—

१ आवश्यक
२ दशवकालिक
३ उत्तराध्ययन
४ आचाराग
५ सूत्रकृताग
६ दशाश्रुत स्क ध
७ बहत्कल्प
८ व्यवहार
९ ओघ
१० पिण्ड
११ ऋषि भाषित

इनक अतिरिक्त निशीथ नियुक्ति, सूयप्रज्ञप्ति नियुक्ति, ससक्त नियुक्ति गाविन्द नियुक्ति और आराधना निर्युक्ति भी प्रसिद्ध हैं। नियुक्तिया का अनुस धान अभी नही हा पाया है। अत नियुक्तिया का सख्या का निर्धारण नही किया जा सकता। यहाँ पर उपल ध नियुक्तिया का सक्षिप्त परिचय देना ही अभीष्ट है।

आवश्यक निर्युक्ति

आचाय भद्रबाहु की यह सव प्रथम कृति है। विषय-बहुलता की दृष्टि स और विपुल परिमाणता की दृष्टि से यह बहुत ही महत्वपूण है। इसकी उपयागिता और लोकप्रियता का सबस प्रबल प्रमाण यही है कि इस पर अनक आचार्यो न सक्षिप्त और विस्तृत टीकाएँ लिखा हैं। टीकाकारा म—जिनभद्र, जिनदास गणि हरिभद्र, कोटयाचाय, मलयगिरि, मलधारी हेमच द्र और माणिक्य शेखर जसे समथ विद्वान हैं। आवश्यक नियुक्ति पर आचाय जिनभद्र-कृत विशेषावश्यक भाष्य एक विशालकाय ग्र थराज है। प्रत्यक विषय का स्पष्ट और विस्तार से समझान का सफल प्रयास है। सस्कृत टीकाकारा म आचाय मलयगिरि ने प्राञ्जल भाषा म विशद व्याख्या की है।

इसम ज्ञानवाद, गणधरवाद और नि ह्नववाद का सक्षप म कथन है। सामायिक क स्वरूप का वणन गम्भीर हाते हुए भी रुचिकर है। शिल्प, लखन और गणित आदि कलाओ का उल्लख ऋषभ जीवन के प्रसग म हुआ है। व्यवहार, नीति और युद्ध का वणन भी आया है। चिकित्सा, अथशास्त्र और उत्सवो का वणन भी यथा प्रसग आया है। उस युग के प्रसिद्ध नगर अयाध्या हस्तिनापुर, श्रावस्ती

आचाराग के समान सूत्रकृताग सूत्र की निर्युक्ति और मूल दोनो पर ही आचार्य शीलाक की विस्तृत एव गम्भीर टीका है। दार्शनिक मान्यताओ का खण्डन और मण्डन बडे विस्तार से किया गया है।

दशाश्रुत स्कन्ध-निर्युक्ति

इसके प्रारम्भ मे चरम सकल श्रुतज्ञानी भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। समाधि, आशातना और शवल शब्द की सुन्दर व्याख्या की है। गणी और उसकी सम्पदाओ का विस्तृत वर्णन है। चित्र, उपासक, प्रतिमा और पर्युषण आदि का निक्षेप-पद्धति के साथ विवेचन किया गया है। इसमे पर्युषण के पर्याय-वाची शब्द इस प्रकार है—पर्युषण, पर्युषणमना, परिवसना, वर्षावास, स्थापना और ज्येष्ठग्रह आदि। अज्ज मगु का भी इसमे उल्लेख है। यह निर्युक्ति बहुत महत्वपूर्ण है।

बृहत्कल्प-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति स्वतन्त्र न रहकर बृहत्कल्प भाष्य मे मिश्रित हो चुकी है। दोनो की गाथओ मे भेद करना कठिन हो गया है। इसमे ताल और प्रलम्ब का विस्तृत वर्णन है। ग्राम क्या है? नगर क्या है? पत्तन क्या है? द्रोणमुख क्या है? निगम क्या है? और राजधानी क्या है? आदि का रोचक वर्णन है। उपाश्रय और उपाधि की व्याख्या की है। कल्प और अधिकरण का सुन्दर विवेचन है। यथाप्रसग लोक-कथाओ का उल्लेख है।

साधु और साध्वी के आचार का, आहार का और विहार का वर्णन सक्षेप मे होते हुए भी बहुत सुन्दर है। इस निर्युक्ति को समझने के लिए इसके भाष्य और भाष्य की सस्कृत टीका का सहारा लेना पडता है।

व्यवहार-निर्युक्ति

यह निर्युक्ति भी अपने भाष्य मे विलीन हो चुकी है। इसमे साधु-जीवन से सबद्ध अनेक महत्वपूर्ण बातो का सक्षेप मे वर्णन है। कल्प और व्यवहार की निर्युक्ति, परस्पर शैली, भाव और भाषा मे बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी है। साधना के तथ्य सिद्धान्तो का दोनो मे प्राय समान वर्णन है।

निशीथ-निर्युक्ति

निशीथ-सूत्र की सब से पहले निर्युक्ति व्याख्या बनी। सूत्र-गत शब्दो की व्याख्या निक्षेप पद्धति से की है। बृहत्कल्प और व्यवहार निर्युक्ति के समान निशीथ निर्युक्ति भी अपने भाष्य मे मिल गई है। चूर्णिकार जहाँ सकेत कर देते है, वही पर पता लगता है, कि यह निर्युक्ति गाथा है और यह भाष्य गाथा है। निर्युक्ति और भाष्य दोनो मिलकर एक ग्रन्थ बन गया है। उसकी सत्ता अलग नही रही। कहने को उसे आज भी हम अलग कहते है।

निशीथ नियुक्ति आचार्य भद्रबाहु-कृत है इसका स्पष्ट उल्लेख चूर्णिकार ने स्वय इस प्रकार किया है—'आचार्य भद्रबाहु स्वामी नियुक्ति-गाथा माह ।'

निशीथ सूत्र मूल, उसकी नियुक्ति उसका भाष्य और उसकी चूर्णि—इन चारो का प्रकाशन सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से हो चुका है। इसका सम्पादन उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज ने बड श्रम के साथ किया है। चार भागो मे प्रकाशन हुआ है।

निशीथ, कल्प और व्यवहार—तीनो नियुक्तिया अपने-अपने भाष्यो मे विलीन हो जाने से स्वतन्त्र न रह सकी। फिर भी बीच बीच मे चूर्णिकार और टीकाकार कही-कही पर सकेत कर देते हैं। जैसे—'एसा चिरतण-गाहा।

उक्त तीनो नियुक्तियों का विषय प्राय समान है। अधिकतर साधु के आचार का वर्णन है। यथाप्रसग अन्य बहुत-से विषय आ जाते हैं।

पिण्ड निर्युक्ति

पिण्ड का अर्थ है—भोजन। इसमे आहार के उद्गम उत्पादन एषणा आदि दोषो का विस्तृत वर्णन है। यह आचार्य भद्रबाहु की कृति है। इसमें साधु जीवन की आहार विधि का वर्णन है। इसकी गणना मूल सूत्रों में की है।

इसमें आठ अधिकार है—उद्गम उत्पादन एषणा सयोजना प्रमाण अगार धूम और कारण। इस पर सस्कृत में आचार्य मलयगिरि ने बृहद् वृत्ति लिखी और आचार्य वीर ने लघुवृत्ति लिखी।

ओघ निर्युक्ति

ओघ का अर्थ है—सामान्य साधारण। साधु जीवन की सामान्य समाचारी का इसमे वर्णन किया गया है। इसके प्रणेता आचार्य भद्रबाहु हैं। आवश्यक नियुक्ति का ही यह एक अंग है। ओघ नियुक्ति की गणना मूल सूत्रो मे की गई है। आचार्य द्रोण और आचार्य मलयगिरि ने इस पर सस्कृत टीका लिखी है। इसमे प्रतिलेखन, उपधि प्रतिसेवना आलोचना और विशुद्धि आदि विषयो पर लिखा गया है।

ससक्त नियुक्ति

यह नियुक्ति किस आगम पर लिखी गई ? इसका उल्लेख नहीं मिलता। वैसे चौरासी आगमो मे उसका उल्लेख है। कहा जाता है कि यह भी आचार्य भद्रबाहु की एक लघु रचना थी।

गोविन्द-निर्युक्ति

इस निर्युक्ति को दर्शन-प्रभावक शास्त्र कहा जाता है। इससे प्रतीत होता है, कि इसमे दर्शन-शास्त्र के तथ्यो का वर्णन होगा। एकेन्द्रिय जीवो की सिद्धि करने के लिए आचार्य गोविन्द ने इसकी रचना की। वृहत्कल्प भाष्य मे, आवश्यक चूर्णि मे और निशीथ चूर्णि मे इसका उल्लेख है। यह किसी आगम पर न होकर स्वतन्त्र थी। पर आज यह उपलब्ध नही है।

आराधना-निर्युक्ति

आराधना निर्युक्ति अभी उपलब्ध नही है। चौरासी आगमो मे "आराधना पताका" एक आगम था। सम्भवत उसी पर यह निर्युक्ति हो ? इस विषय मे अनुसन्धान की आवश्यकता है। वट्टकेर ने अपने मूलाचार मे इसका उल्लेख किया है।

ऋषि-भाषित-निर्युक्ति

चौरासी आगमो मे ऋषि-भाषित भी एक आगम है। प्रत्येक बुद्धो द्वारा भाषित होने से इसे ऋषि-भाषित कहा जाता है। इसके चव्वालीस अध्ययनो मे प्रत्येक बुद्धो के जीवन दिए गए हैं।

इस पर आचार्य भद्रवाहु ने निर्युक्ति लिखी थी, जो आज उपलब्ध नही है।

सूर्यप्रज्ञप्ति-निर्युक्ति

आचार्य भद्रवाहु ने सूर्यप्रज्ञप्ति पर भी निर्युक्ति की रचना की थी। परन्तु वह आज अनुपलब्ध है। आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका मे इसका उल्लेख किया है। परम्परा मे कहा जाता है, कि इसमे ज्योतिष-शास्त्र के तथ्यो का वहुत सुन्दर वर्णन था। सूर्य की गति आदि का भी वर्णन था।

भाष्य-परिचय

भाष्य भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु निर्युक्ति की अपेक्षा भाष्य विस्तार मे होता है। भाष्यो की भाषा प्राकृत होती है, और निर्युक्ति की तरह भाष्य भी पद्य मे होते हैं। भाष्यकारो मे सघदास गणि और जिनभद्र क्षमाश्रमण विशेष रूप से प्रसिद्ध है। विद्वान इनका समय विक्रम की सातवी शती मानते है।

बृहत्कल्प भाष्य व्यवहार भाष्य और निशीथ भाष्य—ये तीनों भाष्य बहुत विस्तृत हैं इनमें साधु के आचार का मुख्य रूप में वर्णन होते हुए भी यथाप्रसंग इनमें धर्म दर्शन संस्कृति और परम्परा के भी मौलिक तत्व बिखरे पड़े हैं। विविध देशों का विविध भाषाओं का और समुद्र यात्राओं का बड़ा ही रोचक वर्णन है।

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य में जैन तत्व ज्ञान को बहुत ही विस्तार के साथ में प्रस्तुत किया है। यह ज्ञान का एक महासागर है। तत्व ज्ञान के क्षेत्र में इतना विशाल अन्य कोई ग्रन्थ नहीं है। मुख्य रूप में नीचे लिखे भाष्य ग्रन्थ बहुत ही प्रसिद्ध हैं —

१ बृहत्कल्प
२ व्यवहार
३ निशीथ
४ विशेषावश्यक
५ पञ्चकल्प
६ जीतकल्प
७ लघुभाष्य

बृहत्कल्प भाष्य

यह भाष्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसमें साधु-जीवन के आचार का विस्तार में वर्णन है। साधु के आहार, और दिन चर्या का मौलिक रूप में वर्णन किया है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का वर्णन बहुत विस्तृत है।

सम्यक्त्व और पांच ज्ञान का संक्षिप्त में उल्लेख है। साध्वियों को दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध है। आचार्य कालक सुवर्ण भूमि गए थे इसका उल्लेख है। जिन कल्प और स्थविर-कल्प में क्या भेद है? इसका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। सूत्र परिषदा और लौकिक परिषदा का मनोरंजक वर्णन है। प्रशस्त भावना क्या है? अप्रशस्त भावना क्या है? उस युग में लोगों के रहने के घर कैसे होते थे? और वे कैसे बनाए जाते थे। साधु को देशाटन करना चाहिए और वहाँ की विभिन्न भाषाओं को सीखना चाहिए। रुग्ण साधु की चिकित्सा कैसे करना। विचार भूमि विहार भूमि और आर्य क्षेत्र की व्याख्या बहुत सुन्दर है।

राग और द्वेष नहीं करना चाहिए। राग कैसे उत्पन्न होता है इसका सुन्दर और मनोवैज्ञानिक वर्णन है। कहा गया है कि—

"सदसणेण पीई पीईउ रईउ वीसभो।
वीसभाओ पणओ पचविह वड्ढए पिम्म ॥

परिचय मे प्रीति, प्रीति मे रति, रति मे विश्वास और विश्वास मे प्रणय की अभिवृद्धि होती है। रति का अर्थ है—आसक्ति और प्रणय का अर्थ है—राग। अत साधु को कभी किसी के साथ रति और प्रणय नही करना चाहिए। इससे साधु के सयमी जीवन का पतन हो जाता है।

सघ की रक्षा कैसे की जाए? विशेषत तरुणी साध्वियो की रक्षा का प्रश्न बडा ही पेचीदा था। विहार-यात्रा मे आहार-पानी की समस्या विकट बन जाती थी। अत उस युग के आचार्य एक देश से दूसरे देश मे जाने के लिए सार्थवाहो की खोज मे रहते थे। सार्थवाहो का वर्णन बहुत ही रोचक है।

आचार्य अपने शिष्यो को उपदेश दिया करता था, कि स्वाध्याय मे कभी प्रमाद मत करो। प्रमाद से सचित ज्ञानराशि विस्मृत हो जाती है। आचार्य कहता है—

"जागरह नरा! णिच्चं,
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी।
जो सुवति ण सो धण्णो;
जो जग्गति सो सया धण्णो॥"

साधको! सदा सावधान रहो। कभी प्रमाद मत करो। जागरण-शील साधक की बुद्धि सदा विकसित रहती है। जो सोता है, वह अपने ज्ञान-धन को खोता है, और जो जागता है, वह नये ज्ञान को प्राप्त करता है।

इस भाष्य मे पाँच प्रकार के वस्त्रो का वर्णन है—जागमिक, भागिक, सानक, पोतक और तिरीट। भाण्डशालाओ का वर्णन है। उस युग मे खाने-पीने की बहुत-सी वस्तुओ का उल्लेख है।

शील और लज्जा को नारी-जीवन का विशेष भूषण बताया है। नारी का आभूषण वस्तुत. शील और लज्जा ही है—

"ण भूसणं भूसयते सरीर
सील-हिरी य इत्थिए।
गिरा हि संखार-जुया वि संसती;
अपेसला होइ असाहु-वादिणी॥"

आभूषणो से नारी का शरीर शोभित नही होता, उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है। मधुरा गिरा सबको प्रिय लगती है, और कटु वचन सब को पीड़ा देता है।

उज्जयिनी, राजगृह और तोसली नगर के विशाल बाजारो का वर्णन है, जहाँ पर सब कुछ मिलता, कुछ भी अप्राप्य नही था। अनेक प्रकार के परकोटो का वर्णन भी है। आहार-विधि, पाक-विधि,

अधिकरण मोक और परिवासित आदि का विस्तार स वणन है। कटक उद्धरण, दुग और क्षिप्तचित्त आदि का विवचन किया है, मथुरा म दवनिर्मित स्तूप का वणन है, जिसके लिए कभी जैन और बौद्धा म तीव्र सघप चला था। जीण खण्डित और अल्पवस्त्र धारण करन वाल निग्रन्थ को भी अचेलक कहा गया है। आठ प्रकार के राज पिण्ड का वणन किया है।

कभी किसी वस्तु विशेष पर यदि साधुआ म मतभद अथवा सघप हो जाए ता क्या करना चाहिए ? कहा गया है कि—

'विणास धम्मीसु हि कि ममत्त।'

ससार की वस्तुएँ विनाश शील ह। अत उन पर ममता क्या की जाए ? एसा विचार करा।

सबको अपन समान समझो। कभी किसा क साथ बुरा व्यवहार मत करा। कहा है—

"ज इच्छसि अप्पणतो, ज च ण इच्छसि अप्पणतो।
त इच्छ परस्स वि या एत्तियग जिण सासणय।'

जसा व्यवहार तुम दूसरा स चाहत हो, वसा ही तुम भी दूसरा के साथ करो। भगवान् के उपदेश का सार यही है और अहिंसा का व्यापक दृष्टिकाण भी यही है।

व्यवहार भाष्य

परिमाण म व्यवहार भाष्य बृहत्कल्प भाष्य स कुछ ही छाटा हागा अन्यथा बराबर है। व्यवहार भाष्य पर मलयगिरि न विवरण लिखा है। व्यवहार म साधु और साध्वियो क आचार विचार तप प्रायश्चित्त और चया का वणन है। आलोचना का बहुत विस्तार किया गया है। शुद्ध भाव स आलोचना करना साधु-जीवन क लिए प्रधान कतव्य माना है। जसा बालक अपने माता पिता के सामने अपना अच्छे और बुरे कर्मों को स्पष्ट रूप म कह दता है, वस ही शिष्य का भी अपने आचाय क समक्ष अपन अपराध को स्पष्ट स्वीकार कर लना चाहिए जिसस उस का प्रायश्चित्त लकर विशुद्धि की जा सक। जीवन की परम शुद्धि साधक के जावन को पावन और पवित्र बना दता ह।

गण क अथवा गच्छ क सचालन के लिए आचाय का परम आवश्यकता है। नृत्य क बिना नट का मूल्य नहीं, नर क बिना नारी का मूल्य नही, धुरी के बिना चक्र का मूल्य नहीं वस ही आचाय क बिना गण अथवा गच्छ का मूल्य नही। जसे बल और वाहन क बिना राजा अपन राज्य की रक्षा नहीं कर सकता वसे हा आचाय भी अपनी सम्पदाआ स ही अपन गण की रक्षा कर सकता है अन्यथा नही।

कदम-कदम पर साधुआ का साधना पथ पर अडान और अकम्प रहन क लिए कहा गया है। तान प्रकार क हीन-जन होन हैं—जाति-जुगित, जस श्वपच डोम्ब और किणिक। कम-जुगित, जसा नट व्याध और रजक आदि। शिल्प-जुगित, जसा पटटकार और नापित।

इसमे आर्य रक्षित, आर्य कालक, सातवाहन, प्रद्योत और चाणक्य का उल्लेख है। कुशिष्य को महाकल्प श्रुत पढाने का निषेध है। जहाँ कुत्ते अधिक हो, वहाँ साधु को विहार का निषेध है। तप, सत्व, एकत्व, सूत्र और बल—इन पाँच भावनाओ का विवेचन है। मथुरा मे देव-निर्मित स्तूप का वर्णन यहाँ पर भी है। भिन्न-भिन्न देशो की भाषा और भूषा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

प्रतीत होता है, उस युग मे, नारी की स्वतन्त्रता को अच्छा नही समझते थे। व्यवहार भाष्य युग की नारी मे और मनु स्मृति की नारी मे बहुत कुछ समानता है। भाष्य मे नारी के लिए कहा गया है—

जाया पितिव्वसा नारी, दत्ता नारी पतिव्वसा।
विहवा पुत्तवसा नारी, नत्थि नारी सयवसा॥

बचपन मे लडकी पिता की सरक्षा मे रहती है, यौवन मे पति के हाथो मे और विधवा हो जाने पर पुत्र के अधिकार मे। बेचारी नारी के भाग्य मे तो दासता ही लिख दी गई है। यहाँ भाष्यकार वैदिक सस्कारो से प्रभावित प्रतीत होते है। अथवा उस युग मे यही सामाजिक नियम होगा। भारत मे तो आज भी अधिकतर यही परम्परा चालू है।

भाष्य मे इस बात का भी उल्लेख है, कि राजसभा मे, वाद-विवाद मे पराजित होने पर अपमानित होना पडता था। अन्य लोगो द्वारा भी साधुओ को पीडा मिलती थी। वर्षा-काल मे किस स्थान मे रहकर वर्षा-वास करना, यह भी उस युग की एक समस्या थी। इस प्रकार साधु-जीवन से सम्बद्ध अनेक वर्णन व्यवहार मे आते है।

निशीथ-भाष्य

चूर्णिकार के मतानुसार निर्युक्ति की प्राकृत पद्यमयी व्याख्या का नाम भाष्य है। निशीथ भाष्य भी कल्प और व्यवहार की भाँति बहुत विशाल है। इसमे साधु-जीवन के आचार का विस्तार के साथ वर्णन है। इतिहास, सस्कृति, धर्म, दर्शन, ज्योतिष और भाषा की सामग्री इसमे सर्वत्र बिखरी पडी है। इसमे निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी सघ के कर्तव्य और अकर्तव्य के विधि-विधान के मौलिक उपदेशो का सुन्दर सग्रह किया गया है। उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का सागोपाग कथन किया है। विवेक-शून्य आचार से या तो शिथिलाचार का पोषण होता है, या फिर केवल अर्थ-शून्य बाहरी आडम्बर की अभिवृद्धि होती है।

निशीथ-भाष्य की बहुत-सी गाथाएँ कल्प और व्यवहार से मिलती-जुलती है। इसमे बताया गया है, कि साधक को सदा राग-द्वेष की भावनाओ से दूर रहना चाहिए। विवेक से किया गया कार्य निर्दोष होता है :—

"जइ सव्वसो अभावो,
रागादीण हवेज्ज णिद्दोसो।"

साधक के जीवन में यदि किसी प्रकार का राग और द्वेष नहीं है तो वह साधक एक निर्दोष साधक है। सदोष साधक के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। पतन का अवसर आने पर साधक क्या संकल्प करे। कहा गया है कि अपने चिरसंचित व्रत को किसी भी प्रकार भंग न होने दे। क्योंकि स्वीकृत व्रत उसके जीवन का धन है।

रात्रि भोजन में क्या दोष है? इसके लिए कहा गया है, कि रात्रि में भोजन करने से मक्खी, मच्छर, बिच्छू, चीटी, पुष्प, बीज और विष आदि भोजन में मिश्रित हो सकते हैं। साधु और साध्वियों का परस्पर संपर्क न करने के सम्बन्ध में निशीथ भाष्य में अत्यन्त कठोर नियमों का विधान किया है। कुलटा नारियों से सावधान करने को कहा है।

विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं और वेष भूषा का वर्णन भी बीच-बीच में यथा प्रसंग आता है। विभिन्न देशों के विभिन्न लोगों के स्वभाव का वर्णन मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। बड़े-बड़े सार्थवाहों का वर्णन बड़ा ही रोचक किया गया है। मार्ग में उन्हें कैसी-कैसी बाधाओं का सामना करना पड़ता था।

कागणी और दीनार आदि प्राचीन सिक्कों का उल्लेख है। खान और पान की बहुत-सी चीजों का उल्लेख है जो आज के युग में उपलब्ध नहीं है। तोसली नगर में तालोदक और राजगृह के तापोदक कुण्ड का भी उल्लेख मिलता है। सिद्धसेन और गोविन्द वाचक का उल्लेख है। अन्य बहुत-से नगरों का वहाँ की रीति-नीतियों का वर्णन है।

उस युग की लोक-कथाओं का, लोक परम्पराओं का और लोक संस्कृतियों का सजीव वर्णन निशीथ भाष्य में उपलब्ध होता है। समाज शास्त्र के नियम अर्थ शास्त्र के सिद्धान्त और राजनीति के भेदों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। निशीथ भाष्य का सम्पादन पूज्य गुरुदेव उपाध्याय अमर मुनि जी महाराज ने किया है और सन्मति ज्ञानपीठ ने चार बड़े भागों में उसका प्रकाशन करके महान् साहित्य-सेवा की है।

जीतकल्प भाष्य

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने प्राकृत गाथाओं में जीतकल्प सूत्र की रचना की थी। उसमें जीत व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्तों का संक्षिप्त वर्णन किया है। साधक के जीवन में प्रायश्चित्त का महत्व पूर्ण स्थान है क्योंकि मोक्ष के कारणभूत चारित्र के साथ उसका सम्बन्ध है। इस में प्रायश्चित्त के दस भेदों का वर्णन है।

आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत जीतकल्प भाष्य इसी जीतकल्प सूत्र पर है। यह भाष्य केवल जीतकल्प सूत्र पर होते हुए भी इसमें समस्त छेद सूत्रों का रहस्य आचार्य ने भर दिया है। इसमें मूलसूत्र

के एक-एक शब्द का अर्थ करने के बाद उसका भावार्थ भी स्पष्ट किया गया है। अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति भी बहुत सुन्दर रूप में लिखी है।

भाष्य मे सबसे पहले प्रवचन को नमस्कार किया गया है। फिर प्रवचन शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। इसके बाद मे विस्तार के साथ प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति और व्याख्या की है? कहा गया है—

"पावं छिंदति जम्हा,
पायच्छित्त ति भण्णेति तेण।"

क्योंकि यह पाप का छेदन करता है, इसलिए प्रायश्चित्त कहा जाता है।

पाँच प्रकार के व्यवहारों का वर्णन किया गया है—जीत, आगम, श्रुत आज्ञा और धारणा। पाचों का विस्तार के साथ मे वर्णन है। जीत व्यवहार की व्याख्या की है, कि जो परम्परा से प्राप्त हो, महाजन सम्मत हो और जिसका सेवन बहुश्रुत पुरुषो ने बार-बार किया हो। यथाप्रसग अन्य बातों का भी उल्लेख किया है।

सक्षेप मे पाँच ज्ञानो का वर्णन बहुत सुन्दर किया है। भक्त परिज्ञा, इगिनी मरण और पादपोपगमन इन तीन प्रकार की मारणान्तिक साधनाओ का विवेचन किया है।

जीत कल्प सूत्र और उसके भाष्य का सम्पादन आगम प्रभाकर श्री पुण्य विजय जी महाराज ने किया है। उसका प्रकाशन भी हो चुका है। जीतकल्प भाष्य पर आचार्य सिद्धसेन ने चूर्णि लिखी थी। यह सिद्धसेन, दिवाकर सिद्धसेन से भिन्न है। चन्द्र सूरि ने चूर्णि पर विषम पद व्याख्या लिखी है। जीतकल्प सूत्र पर भी एक चूर्णि लिखी थी। ऐसा उल्लेख सिद्धसेन ने किया है।

पञ्चकल्प-भाष्य

पञ्चकल्प सूत्र की परिगणना छेद सूत्रो मे की जाती है। इसमे साधु के आचार और विचार का वर्णन था। इस पर एक भाष्य लिखा गया था, जिसे पञ्चकल्प भाष्य कहा जाता है। कहा जाता है कि यह आज कल उपलब्ध नहीं है। परन्तु "जैन-भारती" के वर्ष ११ अक २८ मे श्री अगरचन्द्र जी नाहटा का एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमे पञ्चकल्प के विषय मे लिखा है—

"पञ्चकल्प को अनुपलब्ध बताया गया था। पर वृहत् टिप्पणी मे पञ्चकल्प का परिमाण ११३३ श्लोको का पाया जाता है और मुझे प्राप्त प्रति मे केवल १८४ गाथाएँ ही है।"

कल्प का अर्थ है—आचार। साधु के आचार का ही इसमे वर्णन है। पञ्चकल्प का अर्थ है—पाँच प्रकार का आचार। वृहत्कल्प भाष्य मे छह प्रकार के, सात प्रकार के दश प्रकार के, बीस प्रकार के और बयालीस प्रकार के कल्पो का भी उल्लेख है। पञ्चकल्प के विषय मे अधिक ज्ञातव्य उपलब्ध नहीं होता।

पिण्ड नियुक्ति भाष्य

इस भाष्य म ४६ गाथायें हैं। यह भाष्य पिण्ड नियुक्ति पर लिखा गया है। पिण्ड नियुक्ति की मूल सूत्रा म परिगणना की गइ है। इसमे साधु जीवन के आचार और विचार के सम्बन्ध म वणन किया गया है। विशेष करके इसम साधुआ के दान लेने की विधि पर प्रकाश डाला गया है। यद्यपि भाष्य का परिमाण बहुत लघु है, फिर भी उनम यथाप्रसङ्ग अन्य बातो का उल्लेख भी उपलब्ध होता है।

इसम पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त और उसके महामन्त्री चाणक्य का उल्लेख है। पाटलिपुत्र म जो भयकर दुर्भिक्ष पडा था, उसका भी उल्लेख है। आचाय सुस्थित और उनके शिष्यो के सम्बन्ध म भी वणन मिलता है। इस सम्बन्ध म एक कथानक भी दिया गया है।

ओघ नियुक्ति-भाष्य

पिण्ड नियुक्ति की भाँति ओघ नियुक्ति म भी साधु जीवन के आचार विचार का वणन किया गया है। इसम ३२२ गाथाएँ हैं। इस पर आचाय द्रोण न वृत्ति लिखी है। साधु के आचार के अतिरिक्त इसम प्रसङ्गवश अन्य वणन भी आ जाते हैं।

किसी किसी देश म वहाँ के लाग प्रात काल साधुओ के दशन का अपशकुन मानते थे। साधुओ का अनेक प्रकार स परिहास किया जाता था। इसम कलिंग देश के काञ्चनपुर नगर में जा भयकर बाढ़ आयी था उसका भी उल्लेख है। सांस्कृतिक दृष्टि स ओघ नियुक्ति भाष्य बडा ही महत्वपूर्ण माना जाता है। मालवा देश के सम्बन्ध म उल्लेख आया है कि वहाँ के लाग साधुओं को बहुत पीडा देते थ। अत भाष्यकार उनस सतक रहने का सकेत करते है। इसम शुभ और अशुभ तिथियो पर भी विचार किया गया है।

दशवकालिक भाष्य

दशवकालिक-सूत्र की गणना मूल सूत्रो में है। इस पर भी एक छोटा सा भाष्य है जिसम कुल ६३ गाथाएँ हैं। इस पर आचाय हरिभद्र की एक टीका है।

इसम मूल गुण और उत्तर गुणो का कथन है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों की चर्चा है। जीव की सिद्धि अनेक प्रमाण और तक से की है। यह भी बताया है कि वदिक और बौद्ध जीव का क्या स्वरूप मानते हैं।

इसम साधु के आचार और विचार का भी वणन है। प्रसगवश बीच बीच में अन्य बातों का भी उल्लेख किया गया है। छोटा होते हुए भी यह भाष्य बडे महत्त्व का है।

उत्तराध्ययन-भाष्य

इसकी गणना भी मूल सूत्र मे है। इस पर शान्ति सूरि ने प्राकृत में एक विस्तृत टीका लिखी है। इस पर एक लघु भाष्य भी लिखा गया है, जिसकी गाथाएँ इसकी निर्युक्ति मे मिश्रित हो गई हैं।

इसमे बोटिक की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों का स्वरूप बताया गया है। पाँच भेद इस प्रकार से है—पुलाक, वकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। प्रसङ्गवश अन्य भी वर्णन किया गया है, जो बहुत सुन्दर है।

उत्तराध्ययन सूत्र पर सस्कृत मे बहुत-सी टीकाएँ लिखी गई है। इन टीकाओ मे कुछ विस्तृत है और कुछ सक्षिप्त हैं।

आवश्यक-भाष्य

आवश्यक सूत्र मे जैन साधना का बडा ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर तीन भाष्य लिखे गए है -

लघु-भाष्य

महाभाष्य

विशेषावश्यक-भाष्य

इसमे बताया गया है, कि कालिक श्रुत मे चरण करणानुयोग का वर्णन है। ऋषि-भाषित मे धर्म कथानुयोग का वर्णन है। दृष्टिवाद मे द्रव्यानुयोग का वर्णन किया है।

निन्हवो का और करकण्डु आदि प्रत्येक बुद्धो के जीवन का विस्तार के साथ कथन किया गया है। अस्वाध्याय का वर्णन भी सक्षेप मे किया है। अश्वमित्र के सम्बन्ध मे कहा गया है, कि वह अनुप्रवाद के नैपुणिक वस्तु मे पारगत था। अन्य बहुत-से विषयो का इसमे वर्णन है।

विशेषावश्यक-भाष्य

आवश्यक-सूत्र पर यह एक विस्तृत, विशाल और बृहत्काय महाभाष्य है। जैन ज्ञान का यह एक महाकोष है। आगमो पर जितने भी अन्य भाष्य है, उन सब मे यह विशाल भाष्य है। आगमो में बिखरे तत्व ज्ञान को इसमे एकत्रित, सुसगत और तर्क-शैली में प्रस्तुत किया है। जैन तत्व ज्ञान की परिभाषाओं को स्थिर किया है। इसकी रचना के उत्तर काल मे जितने भी आगम के व्याख्याकार आचार्य हुए हैं, उन सबने अपनी व्याख्या का आधार इसी महाभाष्य को बनाया है। आगम मे कोई ऐसा तत्व नही है, जिसकी आचार्य ने इसमे विस्तार से व्याख्या अथवा चर्चा न की हो। आचार की चर्चा इसमे भले ही सक्षेप मे हो, परन्तु विचार की चर्चा तो विस्तार के साथ मे की है।

विशेषावश्यक-भाष्य का प्रत्येक प्रकरण और प्रत्येक अध्याय अपने आप मे एक-एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही है। ज्ञानवाद मे पाँच ज्ञानो की विचारणा इतने विस्तार मे की है, कि बाद के आचार्यों ने अपने ग्रन्थो

म उसी का ग्रहण किया गया कुछ भी लिख नहीं सके। आचार्य ने पुरातन शैली से ही ज्ञान का वर्णन किया, उस तर्क शैली से प्रस्तुत करके दार्शनिक युग की समग्र प्रमाण विवेचना को आत्मसात कर लिया। इसकी ज्ञानवाद की विवेचना का गम्भीर अध्ययन करने के बाद मे अध्येता के मुख से एक ही बात निकलती है कि 'जो कुछ यहा पर है वही अन्यत्र भी है और जो कुछ यहाँ पर नहीं है वह अन्यत्र कहीं पर भी दृष्टि-गोचर नहीं होता। ज्ञानवाद की गम्भीरता का इसमे यथार्थ दर्शन उपलब्ध होता है।

इसका गणधरवाद भी बहुत विशाल और गम्भीर है। समग्र भारतीय दर्शन का इसमे निचोड आ जाता है। एक प्रकार से गणधरवाद भारतीय दर्शन का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। दर्शन शास्त्र का ऐसा कोई विचार नहीं, जो इसमे न आ गया हो। जीव और आत्मा बन्ध और मोक्ष लोक और परलोक पुण्य और पाप स्वर्ग और नरक तथा भूतवाद और अध्यात्मवाद सब पर आचार्य ने अधिकार पूर्वक लिखा है। ग्यारह गणधरो का तत्वज्ञान इसमे समाहित हो जाता है। पूर्वपक्ष गणधरो का और उत्तरपक्ष महाश्रमण भगवान् महावीर का। अपनी शका का समाधान मिल जाने पर सब गणधर भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर लेते हैं। इसी आधार पर यह गणधरवाद कहा जाता है।

इसका निह्नववाद भी कम विशाल नही है। इसम निह्नवो के विचार भेद को लेकर बहुत विस्तार मे लिखा गया है। अत यह भी ज्ञानवाद और गणधरवाद की भाँति एक स्वतन्त्र ग्रन्थ कहा जा सकता है। निह्नवो की चर्चा बहुत ही रोचक और सुन्दर है। तर्क और प्रतितर्कों का दगल देखने योग्य है। आचार्य की शैली इतनी प्रशस्त और सुबोध्य है, कि विषय गम्भीर होने पर भी अध्येता उसके अध्ययन से ऊबता नही है। जैन संस्कृति म भी समय-समय पर कैसे और कितने विचार भेद होते रहे हैं। इस बात का प्रमाण इस निह्नववाद के अध्ययन से मिल जाता है। इससे मिथ्या आग्रह और सम्यग् आग्रह का पता लगता है। इसम एकान्त और अनेकान्त की चर्चा बहुत मधुर है।

सामायिक का स्वरूप बहुत विस्तार से और निक्षेप पद्धति से बताया गया है। वस्तुत विशेषावश्यक भाष्य आवश्यक के प्रथम सामायिक आवश्यक पर ही लिखा गया है। एक म ही आचार्य ने सब कुछ कह दिया फिर आगे कुछ कहना ही शेष नही रहा।

नमस्कार प्रकरण भी बहुत लम्बा है। नमस्कार क्या है? उसका फल क्या है? आदि पर गम्भीर विचार किया गया है। इसम भी निक्षेप पद्धति से कथन है।

निक्षेपो की विचारणा लम्बी और बहुविध है। निक्षेप की परिभाषा देकर फिर उसके भेद बताकर अन्त म उसे घटाने की विधि अथवा पद्धति का वर्णन है। मुख्य रूप म निक्षेप के चार भेद होते हैं।

नयाधिकार म नयो का विस्तार से कथन किया गया है। नयो का स्वरूप नयो के भेद और नयो की योजना पद्धति का कथन किया गया है। मूल म दो नय और फिर उसके सात भेदो का वर्णन किया है। प्रसगवश अन्य भी बहुत से विषयो की चर्चा विस्तार के साथ की है।

विशेपावश्यक-भाष्य पर अनेक समर्थ आचार्यो ने टीका की है, परन्तु उन मे तीन टीकाएँ वहुत प्रसिद्ध हैं —

१ स्वय ग्रन्थकार की स्वोपज्ञवृत्ति
२ कोटयाचार्य की विस्तृत टीका
३ आचार्य मलधारी हेमचन्द्र कृत विशाल टीका

आगम ग्रन्थो मे ही नही, समग्र जैन तत्व-ज्ञान के ग्रन्थो मे इस भाष्य का अपना एक विशिष्ट स्थान रहा है, और भविष्य मे भी रहेगा। यह भाष्य, वस्तुत महाभाष्य है। आगमो के रहस्य को समझने के लिए इसका अध्ययन परम आवश्यक है। आगम-गत तत्ववाद का इसमे वहुत ही स्पष्ट वर्णन किया गया है।

चूर्णि-परिचय

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य मे न होकर गद्य मे होती है। केवल प्राकृत मे न होकर प्राकृत और सस्कृत दोनो मे होती है। चूर्णियो की भाषा सरल और सुवोध्य होती है।

चूर्णियो का रचना समय लगभग सातवी-आठवी शती है। चूर्णिकारो मे जिनदास महत्तर का नाम विशेप उल्लेखनीय है। इनका समय विक्रम की सातवी शती माना जाता है। इन्होने वहुत-से आगमो पर चूर्णियाँ लिखी है। परन्तु इनकी निशीथ चूर्णि तो वडे विस्तार मे है। चूर्णिकारो मे सिद्धसेन सूरि, प्रलम्व सूरि और अगस्त्यसिह सूरि का नाम भी उल्लेखनीय है। निशीथ और आवश्यक की चूर्णि को विशेप चूर्णि कहा गया है।

प्रसिद्ध और उपलब्ध चूर्णियाँ इस प्रकार है —

१.	आवश्यक	१०	जीवाभिगम
२	आचाराग	११	निशीथ
३.	सूत्रकृताग	१२	महानिशीथ
४	दशवैकालिक	१३.	वृहत्कल्प
५	उत्तराध्ययन	१४	व्यवहार
६.	नन्दी	१५	दशाश्रुत स्कन्ध
७	अनुयोगद्वार	१६.	जीतकल्प
८.	व्याख्या-प्रज्ञप्ति	१७	पञ्चकल्प
९.	जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति	१८.	ओघ

इन चूर्णियो म धम, दशन सस्कृति, समाज और इतिहास की विपुल सामग्री उपलब्ध होता है। इनके अध्ययन स जन आचार्यों के व्यापक ज्ञान का पता लगता है।

आवश्यक-चूर्णि

अन्य चूर्णियो की भाति इसम केवल शब्दो क अथ का ही कथन नही है। विषय और विवचन की दृष्टि स यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन गया है। इसम विविध विषयो का विस्तार स उपयास किया है। भाषा इसकी प्राञ्जल है।

इसम पांच ज्ञानो का विवचन ह। गणधरो का सम्वाद है। ऋषभदेव के जन्म स लकर निर्वाण तक की घटनाओ का वणन क्रम-बद्ध है। कलाओ का कथन है। शिल्प-शास्त्र क तत्वो का प्रतिपादन है। पांच प्रकार क शिल्प-कारो का उल्लख है। पांच शिल्पकार ह—कुम्भकार चित्रकार वस्त्रकार कमकार और काश्यप। अग्नि क आविष्कार का उल्लख है।

इसम यह भी कथन है कि ऋषभदेव न अपनी पुत्री ब्राह्मी का लखनकला की सुन्दरी को गणित का और अपने पुत्र भरत को चित्रकला और राजनीति की शिक्षा दी। भरत की दिग्विजय और उसके राज्याभिषक का विस्तार के साथ म वणन किया गया है।

महावीर क जन्म और जन्मोत्सव का रोचक वणन ह। महावीर का दीक्षा साधना उपसग और कवल्य आदि का वणन किया गया है। पाश्व-परम्परा के अनक सतो का परिचय दिया है।

मखलिपुत्र गोशालक महावीर को नालन्दा म मिला। महावीर न लाढ वज्रभूमि और शुभ्र भूमि म जो उपसग सहन किए थ उनका उल्लख है। यह वणन बहुत ही द्रावक है। प्रसग-वश जमालि, आयरक्षित तिष्यगुप्त वज्र स्वामी और वज्रसेन आदि का वणन किया गया है जो इतिहास की दृष्टि स बहुत ही महत्वपूण है। दशपुर, दशाण भद्र और मथुरा का भी उल्लख है।

चेलना क अपहरण की घटना है। कोणिक और सचनक हाथी की उत्पत्ति कथा दी है। कोणिक का चेटक के साथ युद्ध हुआ था। मगध की प्रसिद्ध गणिका मागधी का और कोणिक न उसकी कस सहायता ली?

राजा श्रणिक क पुत्र अभयकुमार के जीवन की अनेक घटनाओ का वणन भी इसम मिलता है। उसकी बौद्धिक सूझ की अनेक कथाओ का उल्लख है। कोणिक के पुत्र उदायी न पाटलिपुत्र कसे बसाया? इसका वणन है।

यथाप्रसग नन्द राजा का वणन शकटाल और वररुचि की घटना स्थूलभद्र का ससार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करना और कोशा को प्रतिबोध करना आदि का वणन इतिहास की दृष्टि स उपयोगी है।

आचारांग-चूर्णि

इसमे साधु के आचार का वर्णन है। प्रसगवश अन्य भी बहुत-से वर्णन आ जाते है। चूर्णि सस्कृत और प्राकृत का मिश्रित रूप होता है। भाषा सरल और सुबोध्य होती है। बीच-बीच मे विषय को स्पष्ट करने के लिए कथानक भी आ जाते हैं। कथानकों मे लोक-कथाएँ बहुत है। यहाँ पर एक लोक-कथा का नमूना देखिए —

"एगम्मि गामे एक्को कोडुबिओ धणमन्तो बहुपुत्तो य। सो वुड्ढी भूतो पुत्तेसु भर सणसति।"

"एक्कम्मि गामे सुइवादी। तस्स गामस्स एगस्स गिहे केणइ चिछप्पति, तो चउसट्ठीए मट्टियाहि सण्हाति। अण्णदा यस्स गिहे बलद्दो मतो।"

उक्त दोनो खण्डो के अध्ययन से अध्येता भली-भाति समझ सकता है, कि चूर्णि की भाषा कितनी सरल और शैली कितनी रोचक है।

चूर्णिकार शब्दो का अर्थ भी बहुत सरल भाषा मे समझाता है। यहाँ पर "मूअ, खुज्ज और वडभ" शब्द की व्याख्या देखिए —

'बहिरत ण सुणेति, मूओ। खुज्जो वामणो। वडभेत्ति, जस्स वडभ पिट्ठीए णिग्गत।"

सूत्रकृतांग-चूर्णि

इसमे दार्शनिक तत्त्वो की व्याख्या की है। लोक-कथाओ का उल्लेख इसमे भी बहुत है। प्रसगवश विभिन्न देशो की रीति-नीतियो का वर्णन आता है। जैसे गोल्ल देश मे यह प्रथा थी, कि यदि कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति की हत्या करदे, तो वह उसी प्रकार निन्दा का पात्र होता था, जैसे ब्राह्मण की घात करने वाला। ताम्रलिप्ति नगरी मे डाँस बहुत होते थे। मल्ल जाति के लोगो मे यह परम्परा थी, कि यदि कोई अनाथ मल्ल मर जाए, तो सब मिल कर उसका सस्कार किया करते थे। इससे सहयोग की भावना अभिव्यक्त होती है।

इसमे आगम प्रसिद्ध आर्द्रकुमार की जीवन घटना का वर्णन है। वह अनार्य देश का रहने वाला था। फिर भी आर्य देश के रहने वाले अभयकुमार के साथ उसकी मित्रता थी। इससे प्रकट है, कि प्रेम-भाव मे आर्य और अनार्य-भाव बाधक नही होता है।

दशवैकालिक-चूर्णि

इसमे साधु के आचार का वर्णन है। जिनदास महत्तर की यह प्रसिद्ध कृति एव रचना है। भावना, भाषा और शैली की दृष्टि से यह चूर्णि बहुत सुन्दर है। इसमे प्राकृत भाषा के शब्दो की व्युत्पत्ति बडे

रोचक ढग से दी है। उदाहरण के लिए 'द्रुम' 'रुक्ख' और 'पादप' शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याख्या का नमूना देखिए —

द्रुमा नाम भूमीए, आगासे य दोसु माया द्रुमा। रुत्ति पुहवी खत्ति आगास, तेसु दोसु वि जहा ठिया तेण रुक्खा। पादेहिं पिबन्तीति पादपा। पादा मूल भण्णति।"

इसमे कही-कही पर कथोपकथन की शैली भी उपलब्ध होती है। इसके पढने से एकाकी और नाटक जैसा आनन्द मिलता है। देखिए कितना सुन्दर सम्वाद है —

कि मच्छ मारेसि !
न सिक्कमि पातु।
अरे, तुम मज्ज पियसि !"

इस चूर्णि मे भी बहुत-सी लोक-कथाओ का लोक परम्पराओ का वर्णन यथाप्रसग दिया गया है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी चूर्णियो का अध्ययन बहुत महत्त्व रखता है।

उत्तराध्ययन-चूर्णि

यह चूर्णि भी जिनदास महत्तर की एक सुन्दर कृति है। यह बहुत विस्तृत नही है। संस्कृत और प्राकृत मिश्रित एक लोक-कथा का नमूना देखिए —

एगो पसुवालो प्रतिदिन मध्याह्न-गते रवौ अजासु महान्यग्रोध-तरु-समाश्रितासु तस्युणओ निवन्नो वेणुविदलेण अजोदृगीण कोलास्थिभि तस्य वटस्य छिन्नीकुर्वन् तिष्ठति।'

इसमे काश्यप शब्द की व्युत्पत्ति देखने के योग्य है। देखिए क्या व्युत्पत्ति है —

काश=उच्छु तस्य विकार काश्य, रस स यस्य पान काश्यप=उसभसामी, तस्य जाया ज जाता त कासवा वद्धमाणा सामी कासवो।

प्रसगवश इस चूर्णि मे तत्त्व चर्चा और लोक चर्चा भी उपलब्ध होती है।

नन्दी चूर्णि

इसमे पाँच ज्ञानो का वर्णन है। इस चूर्णि मे माथुरी वाचना का उल्लेख मिलता है। शास्त्र की का अकाल पडने पर समस्त साधु सघ बिखर गया और बाद मे एकत्रित हुआ था। कहा जाता है कि आचार्य स्कन्दिल ने मथुरा मे आकर साधु-सघ का अनुयोग की शिक्षा दी थी। प्रसगवश इसमे अन्य भी बहुत-सी बातो का उल्लेख है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। लोक-कथाएँ और लोक रूपक बहुत हैं।

अनुयोगद्वार-चूर्णि

यह चूर्णि बहुत महत्वपूर्ण है। अनुयोगद्वार मे आगत तत्त्वो का इसमे सुन्दर विवेचन किया गया है। भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भी यह कृति सुन्दर है। यथाप्रसग अन्य बहुत से विषय इसमे आए हुए है। जैसे इभ्य किसे कहते है? श्रेष्ठी की परिभाषा क्या है? सेनापति और सार्थवाहो का वर्णन। सभा और प्रथा, कानन और वन, रथ और यान आदि शब्दो के अर्थ किए गए है।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति-चूर्णि

व्याख्या-प्रज्ञप्ति को भगवती भी कहते है। भगवती सूत्र वर्तमान मे उपलब्ध समस्त सूत्रो मे सबसे बडा और विस्तृत है। परन्तु इस की चूर्णि बहुत छोटी है। इसमे शब्दो की व्युत्पत्ति बहुत सुन्दर की है।

जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति चूर्णि

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति उपाग सूत्रो मे है। इसमे जम्बूद्वीप का विस्तार से वर्णन है। इसकी चूर्णि भी बहुत छोटी है। यथाप्रसग अन्य विषय भी सक्षेप मे वर्णित है।

जीवाभिगम-चूर्णि

जीवाभिगम की गणना उपागो मे की जाती है। इसमे जीव और अजीव का विस्तार से वर्णन है। इसमे गणधर गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्न और उत्तर के रूप मे जीव और अजीव के भेद और प्रभेदो का विस्तार के साथ मे वर्णन किया गया है। इस पर मलयगिरि की टीका है। हरिभद्र और देवसूरि की लघु वृत्तियाँ भी है। इस पर एक छोटी-सी अवचूर्णि भी थी।

दशाश्रुत स्कन्ध-चूर्णि

दशाश्रुत स्कन्ध की गणना छेद सूत्रो मे है। भद्रबाहु इसके प्रणेता हैं। कहा जाता है कि दृष्टि-वाद के असमाधिस्थान नाम के प्राभृत से इसका उद्धार किया गया। इस पर एक लघुचूर्णि है। इसमे दशा, कल्प और व्यवहार को प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत कहा गया है। आचार्य कालक की कथा का इसमे उल्लेख है। प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन का वर्णन भी इसमे आया है। सिद्धसेन का उल्लेख है। गोशालक का वर्णन भी आया है। तापसो का वर्णन आया है।

ओघ-चूर्णि

इसकी परिगणना मूल सूत्रो मे की जाती है। ओघ शब्द का अर्थ है—सामान्य अथवा साधारण। यह सामान्य समाचारी को लेकर लिखी गई है। ओघ पर एक लघु चूर्णि है। इसके अतिरिक्त आचार्य

मलयगिरि ने ओघ की नियुक्ति पर वृत्ति का रचना की है। ओघ का विषय है साधु जीवन की समाचारी। सयम का परिपालन कम करना चाहिए। असयम स सयम की रक्षा कसे की जाए।

निशीथ चूर्णि

चूर्णिया म सबसे बडो चर्णियाँ दो है—आवश्यक चर्णि और निशीथ चर्णि। अत इन्ह विशेष चर्णि कहा जाता है। निशीथ की चर्णि आवश्यक चर्णि से भी अधिक विस्तृत है क्योकि यह मूल पर नियुक्ति पर और भाष्य पर तीनो पर है। निशीथ नियुक्ति पर निशीथ भाष्य पर जो प्राकृत गद्य म व्याख्या है उसका नाम विशेष चर्णि है। चर्णिकार स्वय कहता है—

'पुव्वायरिय - कय चिय अह पि
त चेव उ विसेसा।"

जिस प्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण का भाष्य आवश्यक की विशेष बाता का विवरण करता है अत वह विशेषावश्यक भाष्य कहा जाता है उसी प्रकार निशीथ भाष्य की विशेष बाता का विवरण करने वाली चर्णि को भी विशेष चर्णि कहा जाता है। इसका अर्थ यह है कि इसके पूर्व भी इस पर अन्य विवरण अथवा वृत्ति लिखी जा चुकी है।

चर्णि को प्राकृत की गद्य व्याख्या कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इस म प्राकृत अधिक और सस्कृत अल्प है। निशीथ चर्णि की भाषा बहुत मधुर सुबोध्य और सरल है। इसकी शली बहुत सुन्दर है। भावो की अभिव्यक्ति म चर्णिकार बहुत ही सिद्धहस्त है। गम्भीर विषय को भी वह सरल भाषा म अभिव्यक्त कर जाता है। निशीथ चर्णि स्वय अपने आप म एक विशाल-काय स्वतन्त्र ग्रन्थ जसा ही प्रतीत होता है। क्योकि इसम सभी विषयो की व्याख्या विस्तार म देने का प्रयत्न किया है।

यह बात असन्दिग्ध है कि जिनदास महत्तर ही इस चर्णि के प्रणेता है। आचार्य ने स्वय इसम अपना अपने परिवार का और जन्म भूमि का भी उल्लेख किया है। इससे सिद्ध होता है कि निशीथ चर्णि की रचना आचार्य जिनदास महत्तर ने की है।

निशीथ चर्णि म बडे विस्तार के साथ म साधु जीवन के आचार का वर्णन किया गया है उत्सग और अपवाद का तो इसम बहुत ही अधिक विस्तार किया है। यह विषय जितना गम्भीर है आचार्य ने उसे उतने ही अधिक विस्तार से उठाया है और बडी गम्भीरता के साथ उसे पूरा भी किया है। उत्सर्ग और अपवाद की परिभाषा देकर किस प्रसग पर अपवाद का सेवन किया जाता है यह भी बताया है। निशीथ चर्णि की प्राकृत भाषा कितनी प्राञ्जल कितनी ओजपूर्ण कितनी मधुर और कितनी स्पष्ट है इसका एक नमूना यह है —

"भायणुकंपाए सुकुमालिया अणसणं पव्वज्जति ।
वहुदिण-खीणा सा मोहंगता । तेहिं णायं कालगय त्ति ।
ताहे त एगो गेण्हति, वितिओ उपकरण गेण्हति ।
ततो सा पुरिस-फासेण रातो य सीयल-वातेण णिज्जति,
अप्पातिता सचेयणा जाया ।"

निशीथ चूर्णि मे लोक-कथाएँ वहुत हे । उन कथाओ के बीच-बीच मे पद्य भी आते है, जो वहुत सरल और मधुर होते है, भाषा की दृष्टि से देखिए—

"णागा जलवासीया, सुणेह तस - थावरा ।
सरडा जत्थ मंडन्ति, अभावो परियत्तई ॥"

निशीथ-चूर्णि मे सवाद, आलाप और वार्तालाप के भी अनेक प्रसग आते है । सवादो की शैली वहुत रोचक होती है । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे हम कोई एकाकी अथवा नाटक पढ रहे हो ? सवाद वहुत ही सजीव और रोचक हे । देखिए, एक संवाद—

"किं ण गतासि भिक्खाए !
अज्ज ! खमणं मे ।
किं निमित्तं ?
मोह-तिगिच्छं करेमि ।
अहं पि करेमि ।"

कही-कही निशीथ चूर्णि मे तत्त्व-चर्चाएँ आती है, जिनमे धर्म और दर्शन के गूढ-तत्त्वो को आचार्य ने अपनी शैली से सुवोध्य वना दिया है । सस्कृति और समाज के अनेक सुन्दर चित्रण उपलब्ध होते है । इतिहास की विपुल सामग्री इसमे है । वस्तुत' निशीथ चूर्णि एक महासागर है । इसमे वताया गया है, कि राजा सम्प्रति का राज्य-शासन चन्द्रगुप्त, विन्दुसार और अशोक—तीनो से अच्छा था । सम्प्रति राजा का जैनधर्म पर अत्यन्त अनुराग था । वह जैन श्रमणो का परम भक्त था । उसने अनेक राज्यो मे यह व्यवस्था की थी, कि वहाँ पर साधुओ को किसी प्रकार का कष्ट न होने पाए । आचार्य कालक की कथा यहाँ पर वडे विस्तार के साथ दी है । राजा चण्ड प्रद्योत की कथा दी है, इसमे यह भी वताया गया है, कि पुष्कर तीर्थ की उत्पत्ति कैसे हुई ? अन्य वहुत सी कथाओ का इसमे उल्लेख किया गया है ।

लोक-प्रकृति का चित्रण करते हुए वताया है, कि मालवा और सिन्धु देश के लोग अप्रिय-भाषी होते हैं । महाराष्ट्र के लोग अधिक वाचाल होते है । अन्य वहुत से देशो की रीति का वर्णन किया गया है । विभिन्न देशो का वर्णन है ।

श्रमण शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है, कि श्रमण पाँच प्रकार के होते है—निर्ग्रन्थ, शाक्य, तापस, गैरिक और आजीवक । निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जैन श्रमण । आजीवक का अर्थ है—

गाणानष अनुयायी। नावय का अथ है—बौद्ध भिगु। तापस और गरिक—इनका भा कमी सम्प्रदाय रहा होगा।

दृष्टिवाद को उत्तमश्रुत बताते हुए कहा है, कि द्रव्यानुयोग-चरणानुयोग धमकथानुयोग और गणितानुयोग का वणन होने से यह श्रुत सर्वोत्तम है। इसके अतिरिक्त इस म जोणि-पाहुड का भी उल्लख है। इसम मन्त्र विद्या का वणन है। तरगवती मलयवती धूर्ताख्यान और वसुदेव चरित्र आदि ग्रन्था का उल्लख है।

महानिशीथ चूर्णि

महानिशीथ की गणना छेदसूत्रो म की जाती है। यह उपलब्ध नही था। इसम छह अध्ययन और दा चूलाएँ थी। कहा जाता है कि बाद म हरिभद्र सूरि न इसका अनुसधान किया। वृद्धवादी सिद्धसन और दवगुप्त आदि आचार्यों न इसे मान्य किया। इस पर भी किसी न चूर्णि लिखी थी।

बृहतकल्प चूर्णि

कल्प अथवा बृहतकल्प का कल्पाध्ययन भी कहा गया है। साधु-जीवन का यह एक प्रसिद्ध आचार शास्त्र है। कल्प शब्द का अथ भी आचार किया जाता है। इसका विस्तार बहुत है। इस पर निर्युक्ति भाष्य और टीकाएँ लिखी गई हैं। इस पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी।

व्यवहार-चूर्णि

व्यवहार चूर्णि को द्वादशाग का नवनीत अथवा सार कहा गया है। निशीथ और कल्प के समान यह भी छेदसूत्र है। इसम भी साधु के आचार का वणन है। इस पर निर्युक्ति भाष्य और टीकाएँ हैं। *व्यवहार पर एक चूर्णि भी लिखी गई थी।*

जीतकल्प-चूर्णि

जीतकल्प सूत्र की गणना छेदों म की जाती है। इसम साधुओं के पाँच व्यवहारों का विवेचन किया गया है। विशेषत दश प्रकार के प्रायश्चित्तों का विस्तार के साथ वणन किया है। इसके प्रणेता जिनभद्र क्षमाश्रमण हैं। स्वय न इस पर भाष्य भी लिखा है। आचाय सिद्धसेन न इस पर एक चूर्णि *लिखी है। उस पर चन्द्रसूरि ने विषम पद टीका लिखी है।* इसकी चूर्णि म सिद्धसेन न दश प्रकार के प्रायश्चित्तों का बहुत अच्छा विवेचन किया है। चूर्णि की भाषा सुबोध्य और मधुर है।

पञ्चकल्प चूर्णि

पञ्चकल्प की गणना भी छेद सूत्रों म की जाती है। कहा जाता है कि बृहत्कल्प भाष्य का ही

यह एक भाग है। इसमें पाँच प्रकार के कल्पों का अर्थात् आचारों का वर्णन है। इस पर एक भाष्य भी लिखा गया है, जिसके प्रणेता आचार्य संघदास गणि हैं। इस पर निर्युक्ति भी है। एक चूर्णि भी इस पर लिखी गई है।

चूर्णियों में अभी तक बहुत-सी अनुपलब्ध है, कुछ अभी तक प्रकाशित नहीं हो सकी हैं, कुछ का प्रकाशन हो रहा है। निशीथ चूर्णि का प्रकाशन अभी सन्मति ज्ञानपीठ आगरा से हुआ है, जिसका सम्पादन उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज ने बड़े श्रम से किया है। उसका प्रकाशन चार भागों में हुआ है, जिसमें मूल सूत्र, उसकी निर्युक्ति उसका भाष्य और उसकी विशेष चूर्णि भी है। अगस्त्य सिंह सूरी की चूर्णि का प्रकाशन भी होने वाला है। श्री पुण्यविजय जी इसका प्रकाशन कर रहे हैं। भण्डारों के अनुसन्धान से भी बहुत-सा प्राचीन साहित्य प्रकट हो रहा है।

टीका-परिचय

प्राकृत-युग में मूल आगम, निर्युक्ति और भाष्यों का गुम्फन हुआ। चूर्णि-युग में प्रधानता प्राकृत की होने पर भी उसमें संस्कृत का प्रवेश हो चुका था। टीकाएँ संस्कृत-युग की कृतियाँ हैं। आगम-साहित्य में चूर्णि-युग के बाद में संस्कृत टीकाओं का युग आया। टीका के अर्थ में इतने शब्दों का प्रयोग होता रहा है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवृत्ति, वृत्ति, विवरण, विवेचना, अवचूरि, अवचूर्णि, दीपिका, व्याख्या, पञ्जिका, विभाषा और छाया।

संस्कृत टीका-युग जैन-साहित्य में एक स्वर्णिम-युग कहा जा सकता है। इस युग में केवल आगमों पर ही टीकाएँ नहीं लिखी गईं, अपितु आगमों की निर्युक्तियों पर और भाष्यों पर भी टीकाएँ लिखी गईं, बल्कि टीकाओं पर भी टीकाएँ हुईं। इस दृष्टि से टीका-युग साहित्य की समृद्धि का युग कहा जा सकता है।

मूल आगमों के निर्युक्ति-युग में केवल आगमों के शब्दों की व्याख्या अथवा व्युत्पत्ति हो पाई थी। आगे भाष्य-युग में भावों का विवेचन प्रारम्भ हुआ। वह बड़े विस्तार के साथ में किया गया। चूर्णि-युग में गूढ-भावों को लोक-कथाओं के आधार पर समझाने की कला का प्रयोग किया गया। परन्तु टीका-युग में आगमों की दार्शनिक व्याख्या का युग प्रारम्भ होता है। अत. संस्कृत टीकाओं में दार्शनिक विश्लेषण और विवेचन अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इस युग में संक्षिप्त और विस्तृत सभी प्रकार की टीकाएँ लिखी गई। अत विकास की दृष्टि से टीका-युग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

प्रसिद्ध टीकाकार

जैन-साहित्य में चूर्णि-युग के बाद में संस्कृत टीकाओं का युग आया। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने प्राकृत चूर्णियों के आधार से टीका की। आगमों के अतिरिक्त

अन्य ग्रन्थों पर भी इनकी टीकाएँ उपलब्ध हैं। आपकी विपुल ग्रन्थ राशि संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है। दोनों भाषाओं पर आपका असाधारण अधिकार था।

हरिभद्र के बाद में आचार्य शीलांक ने संस्कृत टीकाएँ लिखी। आचारांग और सूत्रकृतांग पर आपकी विस्तृत और महत्त्वपूर्ण टीकाएं हैं जिनमें दार्शनिकता की प्रधानता है। आपने सूत्रकृतांग टीका में भूतवाद और ब्रह्मवाद की बहुत ही गम्भीर समीक्षा की है। भाषा प्राञ्जल और भावों की गम्भीरता है।

शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन पर अत्यन्त विस्तृत टीका लिखी है। यह प्राकृत और संस्कृत दोनों में है। परन्तु प्राकृत की प्रधानता है। अतः इसका नाम पाइय टीका प्रसिद्ध है। इसमें धर्म और दर्शन का अतिसूक्ष्म विवेचन हुआ है।

मलधारी हेमचन्द्र भी प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इन्होंने विशेषावश्यक भाष्य पर विस्तृत संस्कृत वृत्ति लिखी है। यह एक महत्त्वपूर्ण और गम्भीर टीका है। विशेषावश्यक भाष्य पर कोट्याचार्य की टीका भी बहुत प्रसिद्ध है।

संस्कृत टीकाकारों में सबसे विशिष्ट स्थान आचार्य मलयगिरि का है। मलयगिरि वस्तुतः टीका साहित्य में महागिरि के तुल्य हैं। इनकी टीकाओं में भाव गम्भीर, भाषा प्राञ्जल और शैली प्रौढ है। जिस किसी भी आगम पर अथवा ग्रन्थ पर टीका की, उसमें वह तन्मय हो गए। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में वाचस्पति मिश्र ने षड्दर्शनों पर प्राञ्जल भाषा में और प्रौढ़ शैली में विशाल टीकाएं लिख कर आदर्श उपस्थित किया है ठीक वैसा ही आदर्श जैन-साहित्य में आचार्य मलयगिरि ने किया है। दर्शन शास्त्र के तो आप विशाल और विराट विद्वान थे। विभिन्न दर्शन शास्त्रों का जैसा और जितना गम्भीर विवेचन एवं विश्लेषण आपकी टीकाओं में हो सका, वैसा और उतना अन्यत्र कहीं पर भी न मिल सकेगा। आचार्य मलयगिरि अपने युग के महान् तत्त्व चिन्तक, महान् टीकाकार और महान व्याख्याता थे। आगमों के गुरु-गम्भीर भावों को तर्कपूर्ण शैली में उपस्थित करने की आप में अद्भुत क्षमता, योग्यता और कला थी। अतः आचार्य मलयगिरि एक सफल टीकाकार थे।

आगमों के टीकाकारों में अभयदेव सूरि भी एक सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। अभय देव सूरि को नवाङ्गी वृत्तिकार कहा जाता है। अभयदेव का स्थान जैन-साहित्य में बड़ा ही गौरवपूर्ण है जिन्होंने नव अङ्गों पर टीका लिखकर विलुप्त होने हुए श्रुत की सुरक्षा करके एक महान् कार्य किया था। इनकी टीकाएँ अधिक विस्तृत नहीं हैं मूल से अधिक निकट हैं। परन्तु बहुत से स्थलों पर गहन-गम्भीर विचारणा भी उपलब्ध हो जाती है। आचार्य ने नव अङ्ग सूत्रों पर टीका लिखकर वस्तुतः महती श्रुत-सेवा की है।

समस्त टीकाओं का विस्तृत परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं है। क्योंकि यह विषय बहुत विस्तृत

और गम्भीर है, फिर भी सक्षेप मे यह बताना आवश्यक है, कि किस आगम पर किस आचार्य ने टीका लिखी है। आगमो की टीकाओ का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार से है —

	अङ्ग	टीकाकार
१	आचाराग	आचार्य शीलाक, जिनहस
२	सूत्रकृताग	आचार्य शीलाक, हर्षकुल
३	स्थानाग	अभयदेव सूरि, नागर्षि
४	समवायाग	,,
५.	भगवती	,,
६	ज्ञाता धर्मकथाग	,,
७	उपासक दशाग	,,
८	अन्तकृत दशाग	,,
९	अनुत्तरोपपातिक दशाग	,,
१०.	प्रश्नव्याकरण	अभयदेव सूरि, ज्ञानविमल
११.	विपाक	प्रद्युम्न सूरि
१२.	दृष्टिवाद (विलुप्त)	

	उपाग	टीकाकार
१	ओपपातिक	अभयदेव सूरि
२	राजप्रश्नीय	हरिभद्र, मलयगिरि, देवसूरि
३.	जीवाभिगम	मलयगिरि
४	प्रज्ञापना	मलयगिरि, हरिभद्र, कुलमण्डन
५.	सूर्य-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि
६.	जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि, शान्तिचन्द्र, ब्रह्मर्षि
७	चन्द्र-प्रज्ञप्ति	मलयगिरि
८.	कल्पिका	चन्द्रसूरि, लाभ श्री
९.	कल्पावतसिका	,,
१०	पुष्पिका	,,
११.	पुष्पचूलिका	,,
१२	वृष्णिदशा	,,

मूल	टीकाकार
१ दशवैकालिक	हरिभद्र समयसुन्दर गणि, तिलकाचार्य सुमति सूरि अपराजित सूरि, विनय हंस
२ उत्तराध्ययन	वादिवेताल शान्ति सूरि नेमिचन्द्र कमलसंयम लक्ष्मीवल्लभ भावविजय
३ आवश्यक	हरिभद्र मलयगिरि तिलकाचार्य कोट्याचार्य नमि साधु माणिक्यशेखर
४ पिण्ड नियुक्ति	मलयगिरि वीराचार्य
अथवा	
ओघ नियुक्ति	द्रोणाचार्य, मलयगिरि

चूलिका	टीकाकार
१ नन्दी	हरिभद्र, मलयगिरि
२ अनुयोगद्वार	हरिभद्र मलधारी हेमचन्द्र

छेद	टीकाकार
१ निशीथ	प्रद्युम्न सूरि
२ महानिशीथ	
३ व्यवहार	मलयगिरि
४ दशाश्रुत स्कन्ध	ब्रह्मर्षि
५ बृहत्कल्प	मलयगिरि क्षमकीर्ति सूरि
६ पञ्च कल्प	

प्रकीर्णक	टीकाकार
१ चतुःशरण	गुणरत्न सूरि
२ आतुर प्रत्याख्यान	
३ महाप्रत्याख्यान	
४ भक्त परिज्ञा	गुणरत्न
५ तन्दुल वैचारिक	विजय विमल

६	सस्तारक	गुणरत्न
७	गच्छाचार	विजय विमल
८	गणि-विद्या	,,
९	देवेन्द्र-स्तव	,,
१०	मरण-समाधि	,,

यहाँ पर उपलब्ध टीकाओ का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। कुछ पर टीकाएँ उपलब्ध नही है। कुछ पर विस्तृत टीकाएँ है, कुछ पर सक्षिप्त टीकाएँ है। प्राचीन भण्डारो के अनुसधान मे कुछ टीकाएँ अब प्रकाश मे आ रही है।

टब्बा-परिचय

टीका-युग की परिसमाप्ति पर टब्बा-युग प्रारम्भ होता है। टब्बा भी एक प्रकार से आगमो पर सक्षिप्त टीका ही है। परन्तु यह सस्कृत-युग न होकर अपभ्रश-युग है। टब्बा मे गुजराती और राजस्थानी भाषा का मिश्रण होता है। सम्भवत इसका कारण यह हो, कि टब्बाकार सन्त प्राय गुजरात और राजस्थान मे ही अधिक विचरण करते थे। टब्बाकारो मे पार्श्वचन्द्र और धर्मसिह जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका समय अठारहवी शती माना गया है। टब्बा बहुत ही सक्षिप्त शैली मे लिखे गए है।

अपभ्रंश-काल

सस्कृत भाषा केवल पण्डितो की भाषा बन चुकी थी। प्राकृत और सस्कृत मे से ही अपभ्रश भाषा की उत्पत्ति हुई। एक युग ऐसा आया, जिसमे जैन सन्त प्राकृत और सस्कृत दोनो को भूल कर अपनी कृतियो की रचना अपभ्रश मे ही करने लगे थे। जब निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओ को समझने वाले विरले रह गए, अधिकतर लोग अपने व्यवहार मे अपभ्रश का ही प्रयोग करते थे। लोक-रुचि को देखकर जैन आचार्यो ने अपनी साहित्य रचना का माध्यम अपभ्रश को ही बना लिया। कथा, कहानी, जीवन चरित्र और अध्यात्म ग्रन्थ अपभ्रश मे लिखे जाने लगे। क्योकि जैन आचार्यो ने सदा से ही जन बोली का आदर किया है। जिस भाषा मे लोग समझे, उसी भाषा मे वे अपनी कृतियाँ लिखने बैठ जाते थे। आगे चलकर आगमो की व्याख्या भी उन्होने अपभ्रश मे प्रारम्भ कर दी। परन्तु शैली का विस्तार वे नही कर सके। सक्षिप्त शैली मे और जन बोली मे जो आगमो की व्याख्या की गई, उसी को टब्बा कहा गया।

टब्बाकार

टब्बाकार कौन-कौन थे ? इस विषय मे अधिक ज्ञात अभी तक नही हो सका है। परन्तु टब्बा

कारा म दो का नाम विशेष प्रसिद्ध है। एक पार्श्वचन्द्र जी जिनको पायचन्द सूरि भी कहा जाता है यह मन्दिर मार्गी परम्परा के थे और दूसरे थे धर्मसिंह जी महाराज। यह स्थानक वासी परम्परा के प्रसिद्ध सन्त थे। धर्मसिंह जी महाराज ने सताईस सूत्रो पर टब्बे लिखे थे। टब्बे बहुत सुन्दर और स्पष्ट लिखे हुए हैं। परन्तु टब्बा का प्रकाशन अभी तक नही हुआ है। अन्य भी कोई टब्बाकार हुआ हो ऐसा ज्ञात नही हो सका है। तेरापन्थ परम्परा म भी सम्भवत कोई टब्बाकार हुआ हो ?

टब्बा की उपयोगिता

आज के युग म वस्तुत टब्बा की उपयोगिता को समाप्त कर दिया है। जब स आगमा का अनुवाद प्रारम्भ हुआ है और उसका प्रचलन बढ़ा है तब स टब्बा युग समाप्त हो गया। जो लोग संस्कृत और प्राकृत भाषाओं को नही जानते थे उनके लिए टब्बा का बहुत बड़ा उपयोग था। विस्तृत टीकाओं का अध्ययन करने की जिनमे क्षमता नही थी उन लोगो के लिए टब्बा का बहुत महत्व था। अथवा वे छात्र जिन्हे संस्कृत और प्राकृत नही आती थी टब्बा के द्वारा ही वे आगमो का परिज्ञान करते थे। इसी आधार पर टब्बाओ को बालावबोध भी कहा जाता था। टब्बा और बालावबोध दोनो का अर्थ एक ही है।

अनुवाद-परिचय

आगम-साहित्य के टब्बा-युग के बाद म अनुवाद-युग आया। अनुवाद का अर्थ है—भाषान्तर। अनुवाद म अनुवादक को अपने विचारो को व्यक्त करने का अवसर नहीं मिलता। इस दृष्टि से अनुवाद को व्याख्या नही कहा जा सकता। यही बात टब्बा के विषय म भी है। फिर भी अनुवाद को व्याख्या साहित्य म परिगणित करना इसलिए अपेक्षित है कि इससे भी अन्यता को मूल आगम के भावों को समझने का अवसर मिलता है। आगमो का अनुवाद मुख्यरूप म तीन भाषाओ म उपलब्ध होता है —

१ अंग्रेजी
२ गुजराती
३ हिन्दी

आगमो के अनुवाद का सत्प्रयत्न मूर्तिपूजक समाज की ओर स और स्थानक वासी समाज की ओर स बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका है। अब तेरापन्थ समाज भी इस प्रयत्न म है। तीनो परम्पराओं की ओर से प्रयत्न होने पर भी अभी तक समस्त आगमो पर सुन्दर अनुवाद उपलब्ध नही हो पाया है। फिर निर्युक्ति भाष्य चूर्णि और टीकाओ की तो बात ही अलग है उस ओर तो अभी प्रयत्न हो नहीं है।

अँग्रेजी अनुवाद

समस्त आगमो का अँग्रेजी अनुवाद नही हो मका है। परन्तु जर्मन विद्वान हरमन जैकोबी ने आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन और कल्पसूत्र इन चार आगमो का वहुत सुन्दर अनुवाद किया है। आचाराग और कल्पसूत्र के अनुवाद की भूमिका अत्यन्त सुन्दर और उपयोगी है। उससे वहुत-सी प्राचीन मान्यताओ पर अच्छा प्रकाश पडता हे। आगमो की महत्ता का परिज्ञान होता हे। उक्त विद्वान ने जैन धर्म के अन्य ग्रन्थो का भी अनुवाद और सम्पादन किया है। आचार्य हरिभद्र की समरादित्य की कथा का सम्पादन और सशोधन वहुत ही सुन्दर हुआ हैं। उसकी भूमिका भी महत्वपूर्ण हे।

अभ्यकर ने दशवैकालिक सूत्र का अँग्रेजी अनुवाद वहुत सुन्दर किया है। उपासक दशाग का भी अँग्रेजी अनुवाद वहुत सुन्दर हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्तकृत-दशा और अनुत्तरोपपातिक दशा का भी अग्रेजी अनुवाद हो चुका है। विपाक सूत्र और निरयावलिका सूत्र का भी अग्रेजी अनुवाद हो चुका है। विदेशी विद्वानो ने आगमो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थो का भी अग्रेजी अनुवाद किया हैं।

गुजराती अनुवाद

आगम-वाङ्मय के विराट विद्वान महामनीषी पण्डित वेचरदास जी ने अनेक आगमो का सशोधन सम्पादन और अनुवाद किया है। आपने आगमो का गहरा अनुशीलन करके, उनका सशोधन और सम्पादन करके श्रुत की महती सेवा की है। भगवती-सूत्र, कल्प सूत्र, राजप्रश्नीय-सूत्र, ज्ञाता-सूत्र और उपासक दशा सूत्र का वहुत सुन्दर अनुवाद ही नही किया, वल्कि विशेष स्थलो पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी लिखे है और प्रारम्भ की भूमिका।

जीवाभाई पटेल ने अनेक आगमो का सुन्दर शैली मे अनुवाद किया है। उन पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण भी लिखे है। जीवा भाई पटेल के प्रकाशन वडे ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए है।

दार्शनिक विद्वान पण्डित दलसुख जी मालवणिया ने स्थानाग सूत्र और समवायाग सूत्र का सयुक्त अनुवाद विषयवार वर्गीकरण और महत्त्वपूर्ण टिप्पणो मे सयुक्त अभिनव प्रकाशन किया है, जो अपनी शैली का सुन्दर प्रकाशन है।

पण्डित श्री सौभाग्य मुनि जी "सन्त वाल" ने पूर्व आचाराग का वहुत सुन्दर अनुवाद किया है। विशेष स्थलो पर और विशेष शब्दो पर गम्भीर टिप्पण लिखे है और प्रारम्भ मे विस्तृत भूमिका भी लिखी है, जो तुलनात्मक हे। दशवैकालिक सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र का भी आपने अनुवाद और सटिप्पण सम्पादन किया है।

मूर्ति पूजक-परम्परा के अनेक विद्वान मुनिवरो ने अनेक आगमो का सुन्दर अनुवाद किया है। केवल आगमो का ही नही, कुलक और अन्य ग्रन्थो का भी उल्लेखनीय अनुवाद किया है।

हिन्दी अनुवाद

हिन्दी अनुवाद के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवमय कार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने किया है। बत्तीस आगमों का अनुवाद कर डालना कोई साधारण बात नहीं है। और वह भी आज की अपेक्षा उस साधन हीन युग में वस्तुतः बहुत बड़ी बात है।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज तो आगमों के एक सुप्रसिद्ध अनुवादक और व्याख्याकार थे। स्थानकवासी समाज के आप एक युगान्तरकारी व्यक्ति थे। अनेक आगमों पर आपने विशद व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। आप के द्वारा व्याख्यात उत्तराध्ययन सूत्र, दशवैकालिक-सूत्र, अनुत्तरोपपातिक सूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र समाज में प्रभूत प्रचारित और सर्वप्रिय प्रकाशन हैं। आप की श्रुत सेवा समाज का गौरव है। आपके शिष्य पण्डित ज्ञान मुनि जी ने विपाक-सूत्र का विस्तृत हिन्दी विवेचन प्रस्तुत किया है। आपके द्वारा सम्पादित आगम सर्व प्रिय है।

पूज्य श्री घासीलाल जी महाराज ने बड़ी महत्त्वपूर्ण आगम सेवा की है। आपके द्वारा लगभग बीसों आगमों का प्रकाशन हो चुका है। आपने उन पर स्वतन्त्र रूप से संस्कृत टीका की है। स्थानकवासी परम्परा में आप सर्व प्रथम संस्कृत टीकाकार हैं। आपकी श्रुत-सेवा प्रशंसनीय है।

मरुधर धरा के ज्योतिर्धर आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज की देख रेख में सूत्रकृतांग की आचार्य शीलांक कृत टीका का हिन्दी अनुवाद हुआ है। इसका प्रकाशन चार भागों में हुआ है। प्रथम भाग में मूल और टीका—दोनों का हिन्दी अनुवाद हुआ है। बाद के तीन भागों में केवल मूल मात्र का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

उपाध्याय हस्तीमल जी महाराज ने अनेक आगमों का अनुवाद किया है। दशवैकालिक सूत्र का, नन्दी सूत्र का और प्रश्नव्याकरण का हिन्दी अनुवाद और सम्पादन किया है। बृहत्कल्प सूत्र की एक लघु टीका का भी प्रकाशन किया है।

प्रसिद्ध वक्ता पण्डित सौभाग्यमल जी महाराज ने पूर्व आचारांग-सूत्र का हिन्दी अनुवाद और हिन्दी विवेचन प्रकाशित किया है।

उपाध्याय श्री अमर चन्द जी महाराज ने सामायिक-सूत्र और श्रमण-सूत्र पर हिन्दी भाषा में विस्तृत भाष्य लिखा है। दोनों ग्रन्थ आगम-साहित्य की सेवा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टि से उक्त दोनों ग्रन्थ बहुत ही लोक प्रिय सिद्ध हुए हैं। सन्मति ज्ञान पीठ से अनुत्तरोपपातिक सूत्र का एक बहुत सुन्दर प्रकाशन हुआ है, जिसमें विस्तृत भूमिका, हिन्दी अनुवाद और हिन्दी टिप्पण है, जिसका सम्पादन विजय मुनि जी ने किया है।

परिशिष्ट

मूल आगम

अङ्ग

१ आचार
२ सूत्रकृत
३ स्थान
४ समवाय
५. व्याख्या-प्रज्ञप्ति
६ ज्ञाता-धर्म कथा
७ उपासक दशा
८ अन्तकृद् दशा
९ अनुत्तरोपपातिक दशा
१० प्रश्न व्याकरण
११ विपाक
१२ दृष्टिवाद (विलुप्त)

उपांग

१. औपपातिक
२. राजप्रश्नीय
३ जीवाभिगम
४. प्रज्ञापना
५. सूर्य-प्रज्ञप्ति
६. चन्द्र-प्रज्ञप्ति
७. जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
८. कल्पिका
९. कल्पावतसिका
१०. पुष्पिका
११. पुष्प चूलिका
१२ वृष्णिदशा

मूल

१ दशवैकालिक
२ उत्तराध्ययन
३ आवश्यक
४ पिण्ड-निर्युक्ति
अथवा
ओघ-निर्युक्ति

छेद

१ निशीथ
२ महानिशीथ
३. बृहत्कल्प
४. व्यवहार
५. दशाश्रुत स्कन्ध
६. पञ्चकल्प

चूलिका

१. नन्दी
२. अनुयोग द्वार

प्रकीर्णक

१. चतु शरण
२. आतुर प्रत्याख्यान
३. महाप्रत्याख्यान
४ भक्त-परिज्ञा
५. सस्तारक

६ तन्दुल वचारिक
७ देवेन्द्र स्तव
८ गच्छाचार
९ गणि विद्या
१० मरण-समाधि

आगम-युग

आगमा की भाषा अध मागधी है। जन अनुश्रुति के अनुसार तीथङ्कर अध मागधी मे देशना करते हैं। अत इसका देव-वाणी भी कहा गया है। अध मागधी भाषा को बालने वाला भाषाय कहा जाता है। यह भाषा मगध के अध भाग मे बोली जाती थी। इसम अट्ठारह देशी भाषाआ के लक्षण मिश्रित हैं। महावीर क शिष्य—मगध, मिथिला, काशी, कौशल आदि अनेक देशो के थ। अत आगमो की भाषा में देश्य शब्दा की प्रचुरता है। चर्णिकार जिनदास महत्तर की व्याख्या के अनुसार मगधी और देश्य शब्दो का मिश्रण अध मागधी है।

आगम-युग का काल मान लगभग विक्रम पूव ४७० स प्रारम्भ होकर एक हजार वष तक जाता है। वसे किसी न किसी रूप म आगम-युग की परम्परा वतमान म चल रही है।

जन परम्परा के अनुसार आगमा के प्रणता अथ रूप मे तीथङ्कर और शब्द रूप म गणधर होते हैं। महावीर की वाणी का सार उनक गणधरा न शब्द बद्ध किया। फलत अर्थागम के प्रणेता तीथङ्कर और शब्दागम के प्रणेता गणधर। परन्तु आगमा का प्रामाण्य गणधरकृत हान स नहीं अपितु तीथङ्कर वाणी हाने स माना जाता है।

आगमो की सख्या कितनी है? इस विषय म एक मत नहीं है। आगमा की सख्या के सम्बन्ध म इस प्रकार की धारणा है—८४ ४५ ३२।

आगमो मे धमद शन, सस्कृति तत्त्व, गणित ज्योतिष खगाल भूगोल और इतिहास—सभी प्रकार के विषय यथाप्रसग आ जाते हैं। फिर भी मुख्यता धम दशन सस्कृति साधना और तत्त्व की रहती है। अध्यात्म-वाद आगमो म सवत्र व्याप्त है। आगमा म सवत्र जीवन-स्पर्शी विचारो का प्रवाह परिलक्षित हाता है। विचार और आचार के जा मूल तत्त्व आगमा म है निर्युक्ति भाष्य चूर्णि और टीका ग्रन्था म उन्ही का विस्तार आचार्यों न अपन-अपन युग की आवश्यकताओ के अनुसार किया है।

निर्युक्ति-युग

निर्युक्ति	निर्युक्तिकार
१ आवश्यक	आचाय भद्रबाहु
२ दशवकालिक	"

३	उत्तराध्ययन	,,
४	आचाराग	,
५.	सूत्रकृताग	,
६.	दशाश्रुतस्कन्ध	,,
७	बृहत्कल्प	,,
८	व्यवहार	,,
९	ओघ	,,
१०.	पिण्ड	,,
११	ऋपिभापित	,,
१२	सूर्य-प्रजप्ति	,,
१३.	मसत्त	,,
१४	आ[illegible]वना	,,
१५.	गोवि[illegible]द	आचार्य गोविन्द

मूल आगमो के अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए जो व्याख्या-साहित्य लिखा है, उनमे निर्युक्ति सबसे प्राचीन है। जिस प्रकार वैदिक पारिभापिक शब्दो को विस्तृत करने के लिए महर्पि यास्क ने निघण्टु—भाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन आगमो के पारिभापिक शब्दो की व्याख्या करने के लिए आचार्य भद्रबाहु ने प्राकृत पद्य मे निर्युक्तियो की रचना की। किन्तु भद्रबाहु अनेक हुए है। कम से कम दो तो हुए ही है—प्रथम और द्वितीय। कुछ विद्वान प्रथम भद्रबाहु को निर्युक्तियो का प्रणेता मानते है तथा कुछ दूसरे को। अभी अनुसन्धान चालू है।

लगभग वल्लभी वाचना के समय—ईसवी पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी मे निर्युक्तियो की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। क्योकि नय-चक्र के प्रणेता मल्लवादी ने, जो कि विक्रम की पाँचवी शती मे थे—अपने ग्रन्थ मे निर्यक्ति गाथा का उद्धरण दिया है।

भाष्य-युग

	भाष्य	भाष्यकार
१	बृहत्कल्प	सघदास गणि
२	व्यवहार	,,
३.	निशीथ	,,
४	पञ्चकल्प	,,
५	जीतकल्प	जिनभद्र क्षमाश्रमण

६ विशेषावश्यक ,
७ दशवैकालिक
८ उत्तराध्ययन
९ ओघ
१० पिण्ड ,

निर्युक्तियों की व्याख्या पद्धति बहुत ही गूढ़ और संक्षिप्त थी। किसी भी विषय का विस्तार से विचार उसमें नहीं था। अत विस्तार की आवश्यकता ने भाष्यों का आविष्कार किया। निर्युक्तियों के गूढ़ अर्थ को प्रकट करने के लिए आचार्यों ने विस्तृत टीका लिखना आवश्यक समझा। निर्युक्तियों के ऊपर जो पद्यात्मक टीकाएँ लिखी गई वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हैं। भाष्यों की भाषा भी प्राकृत ही है।

आवश्यक-सूत्र पर तीन भाष्य हैं—मूल भाष्य भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम के दो संक्षेप में हैं और तीसरा विस्तार में।

भाष्यों का समय लगभग चौथी पाँचवीं शती का माना जाता है। भाष्यों की भाषा प्राञ्जल है। भाष्यकार अनेक हुए हैं। किन्तु उल्लेख दो भाष्यकारों का ही मिलता है—संघदास गणि और जिन भद्र क्षमा श्रमण। आगम प्रभाकर श्री पुण्य विजय जी के विचारानुसार कम से कम चार भाष्यकार हुए हैं। उनमें दो का नाम तो उपलब्ध है और शेष दो का उल्लेख नहीं मिलता। पण्डित दलसुख जी निशीथ भाष्य के प्रणेता के रूप में सिद्धसेन क्षमाश्रमण को मानते हैं।

चूर्णि-युग

चूर्णि	चूर्णिकार
१ आवश्यक	आचार्य जिनदास महत्तर
२ आचारांग	
३ सूत्रकृतांग	
४ दशवैकालिक	
५ उत्तराध्ययन	
६ नन्दी	
७ अनुयोगद्वार	
८ व्याख्या प्रज्ञप्ति	
९ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	
१० जीवाभिगम	
११ निशीथ	
१२ महानिशीथ	

१३.	बृहत्कल्प	प्रलम्ब सूरि
१४.	व्यवहार	,,
१५.	दशा श्रुत स्कन्ध	,,
१६.	जीत कल्प	सिद्धसेन सूरि
१७.	पञ्च कल्प	,,
१८.	ओघ	,,

निर्युक्ति और भाष्य की भाँति चूर्णि भी आगमो की व्याख्या है। परन्तु यह पद्य मे न होकर गद्य मे होती है और केवल प्राकृत मे न होकर प्राकृत एव सस्कृत दोनो मे होती है। अधिकता प्राकृत की होती है। चूर्णि की भाषा सरल और सुबोध्य होती है।

चूर्णियो का समय अभी पूर्णतया स्थिर नही हो पाया है। परन्तु इतिहासकार प्रसिद्ध चूर्णिकार आचार्य जिनदास महत्तर का समय छठी शताब्दी के आस-पास मानते हैं। चूर्णिकारो मे सिद्धसेन सूरि और प्रलम्ब सूरि का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु शेष का नही मिलता है।

आगमो के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
विण्णू	विद्वान
अतिविज्ज	अति विद्वान
सागारिक	मैथुन
हुरत्था	अन्यत्र
खद्ध-खद्ध	शीघ्र-शीघ्र
वियड	प्रासुक जल
विह	मार्ग
णीहट्टु	निकाल कर
णूम	माया
कण्हुई	कही पर
विभज्जवाय	विभज्यवाद=स्याद्वाद
वुसी	साधु
गारत्थ	गृहस्थ
बोदि	शरीर
वग्गू	वचन
अट्टण-साला	व्यायाम-शाला

जवणिया	पर्दा
दसद्ध	पाँच
नटट्टुलग	नृत्य
मेढी	आधार
पोट्ट	पेट
पेयाल	प्रधान
णिडाल	ललाट
णिट्टू	बाझ
डिंभ	शिशु
महेलिया	महिला
चगेरी	फूलो की डलिया
हुड	बेडोल
गामिया	ग्वाला
लउड	दर
आहिवच्च	आधिपत्य
वेसदार	वेश्या
खिप्पामेव	शीघ्र ही
देवाणुप्पिय	देवो को प्रिय
हड्डाहड	बहुत अधिक
वग्गुरा	समूह
माउग्गाम	स्त्री
सुब्भि	शुभ
वुग्गह	कलह
मेरा	मर्यादा
मोय	मूत्र
दोगच्च	दरिद्रता
घुप्प	घी
डहर	बालक
गोर	गोधूम=गहूँ
गोणी	गारी

निर्युक्तियो के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
भच	भूस

मथ्यक	नाप
वाउल्लग	पुतला
रेल्लिया	पानी की वाढ़
उद्देहिया	दीमक
चेल्लग	चेला
उड्डाह	बदनामी
वच्चगिह	पाखाना
कमढग	कमण्डल
सेयपड	श्वेताम्बर
मिलक्खू	म्लेच्छ
लख	नट
मच्छिगा	मच्छीमार
पणिय-साला	भण्ड-शाला
मडग-गिह	मृतक-गृह
इन्द-मह	इन्द्रोत्सव

भाष्यो के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
वाउल्ल	गुडिया
जड्ड	हाथी
कोल्लुग	शृगाल
वरिल्ल	श्येन पक्षी
केवडिय	कितना
पिहलि	शिखा
उमु	तिलक
कामजल	स्नान करने की चौकी
दमअ	दरिद्र
नेड्ड	घर
ओम	दुर्भिक्ष
कोणय	लाठी
कमणी	जते
भदत	पूज्य
अणुरगा	गाडी

आयमणी	लुटिया
मनु	व्राध
सरडू	गुठली रहित फल
कोनाली	गोष्ठी
वाडु	नाश
सभलि	दूती
याद	मूस
रक्कुय	मृतक भोजन
सगिल्ल	समूह
खरिवा	गदभी
खरिका मुखी	दासी
किढग	वृद्ध
मरुग	ब्राह्मण
किन्नी	स्थविर
तालायर	नट
उम्मरी	देहली
वट्टिवा	राजकन्या
बोद्द	तरुण

चूर्णिया के कुछ विशिष्ट शब्द

शब्द	अर्थ
गाधम्म	मथुन
मीता	श्मशान
सट्टिक	सटीक जाति
लोमसी	ककडी
ब्लय	छरी
रिणकठ	पानी का किनारा
अद्धाणकप्प	रात्रि भाजन
सइज्जिय	पडौसी
पाइल्लग	फावडा
चिलिचिल्ल	आर्द्र
तच्चण्णिय	बौद्ध भिक्षु

भाषा विज्ञान

भाषा विज्ञान की दृष्टि से भी आगमों का अध्ययन परम आवश्यक है। आगम नियुक्ति, भाष्य और चूर्णि—इन चारों युगों में प्राकृत भाषा में बहुत परिवर्तन हुआ है। यहाँ पर केवल कुछ शब्दों का ही दिग्दर्शन किया गया है। भाषा शास्त्र की दृष्टि से यदि आगम और उसके व्याख्या-साहित्य की छान-बीन की जाए तो बहुत से तथ्य प्रकट हो सकते हैं। उक्त साहित्य में प्राचीन शब्द प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं जिनका आज की भाषा में व्यवहार नहीं होता है।

★

जैन अंग सूत्रों के विशेष विचारणीय कुछ शब्द और प्रसंग

प्राध्यापक—पण्डित बेचरदास जीवराज दोशी

१. मडाई

जिस प्रकार वैदिक सन्यासी निर्दोष भिक्षा के द्वारा अपना साधनामय जीवन यापन करता था, उसी प्रकार जैन श्रमण भी अपने चित्त के राग-द्वेषात्मक वैभाविक संस्कारो को हटाने के लिए और अन्तर्वृत्ति को समता-पूर्ण बनाने के लिए, देह के माध्यम से ज्ञान और तपोमय साधना को विवेक पूर्वक सम्पन्न करते हुए, निरवद्य भिक्षा से ही अपना संयमी जीवन यापन करता रहा है। इसी कारण जैन श्रमण का एक "भिक्षु" नाम भी सुप्रसिद्ध हो गया है।

व्याख्या-प्रज्ञप्ति—भगवती सूत्र नामक पाँचवें अग सूत्र मे एक जगह "भिक्षु" के स्थान पर जैन-निर्ग्रन्थ को "मडाई" विशेषण से भी सम्बोधित किया गया है। भगवती सूत्र शतक २, उद्देशक १ प्रश्न १३ के मूल पाठ मे "मडाई" शब्द का प्रयोग इस प्रकार है :—

"मडाई णं भते ! निगठे·········।"

भगवती सूत्र के वृत्तिकार आचार्य अभयदेव सूरी उक्त "मडाई" शब्द की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि "मड"+"आई" इन दो शब्दो से "मडाई" शब्द बना है .—**"मृतादी प्रासुक-भोजी उपलक्षणत्वात् एषणीयादी च—।"** वृत्तिकार की सूचना के अनुसार **"मृतम् अत्ति इति मृताऽऽदी-"** इस प्रकार मृतादी शब्द निष्पन्न होता है। और इस मृतादी का ही प्राकृत भाषा मे "मडाई" रूपान्तर होता है। सर्व साधारण

जनता मे 'मृत' शब्द मतक मडा-मुर्दा-मरे हुए के अथ म रूढ है। यद्यपि 'मृत शा' वनस्पति आदि के मृत शरीर के प्रति भी सूचना करता है, परन्तु मृत (मुर्दा) शब्द सुनते ही जितना शीघ्र मनुष्य एव पशु के मत देह का बोध होता है उतना वनस्पति आदि के मृत शरीर का नहीं। मत शब्द वनस्पति के मृत शरीर क लिए रूढ भी नही है। अतएव जन मुनि के लिए प्रयुक्त मृतादी शब्द थोडा सा घृणास्पद एव अरुचिकर लगता है।

भगवती सूत्र का यह मृतादी-शब्दगत 'मृत' शब्द वस्तुत किस अर्थ का वाचक है यह विचारणीय है। क्या यथाश्रुत मृत मृतक-मुर्दा अथ का ही सूचक है या मृत का कोई और भी अथ हो सकता है ? मृत का एक अथ याचित अर्थात् भिक्षा भी होता है। अमरकोश द्वितीयकाण्ड १६ वा वश्यवग तथा श्लोक ३ म लिखा है—'द्वे याचित-अयाचितयो यथासख्य मृत-अमृते।" अर्थात् जो पदार्थ याचित है—याचना के द्वारा प्राप्त होता है उसको मृत कहते हैं और जो अयाचित है—याचना के बिना ही मिल जाता है उसको अमृत कहते हैं।[1] अमरकोश के सुप्रसिद्ध टीकाकार महेश्वर याचित और मृत शब्दो का स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"याचिते प्रत्यह तण्डुलादियाञ्चायाम् मृतम् इति एकम् 'मृत तु नित्ययाञ्चा स्यात् इति उक्त ।" उक्त विवेचना पर स मृत शब्द का भाव आशय और परमाथ भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है।

अमरकोश ही नही, दूसरे कोशो म भी मृत का याचित अथ किया गया है। प्रमाण-स्वरूप सुप्रसिद्ध कोशों में से वह अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है

'मृत स्याद् याचिते।"

—विश्वप्रकाश, तद्विक श्लो० ४ चौखवा सिरीज मुद्रण।

मृत मृतौ याचिते च। —द्विस्वर काण्ड श्लो० २०१

—जनाचाय हेमचन्द्र रचित 'अनेकाथ सग्रह निणयसागर मुद्रण।

'मृत तु याचितम्। अयाचित स्याद् अमृतम्।

—आचाय हेमचन्द्र रचित, अभिधान चिन्तामणि का० ३, श्लो० ५३०

इस प्रकार अमरकोश आदि इतर कोशो म और स्वय जनाचाय प्रणीत कोशो म भी, जब कि मृत शब्द याचित अर्थात् भिक्षा के अथ म सुप्रसिद्ध है तब भगवती सूत्र के मडाई— मृतादी शब्द का

[1] प्रस्तुत सन्दभ म मनु स्मृति का उल्लेख भी दृष्टव्य है

ऋत उञ्छशिल ज्ञेय, अमृत स्याद् अयाचितम्।

मृत तु याचित भक्ष प्रमृत कषण स्मृतम्॥

—अध्या० ४ श्लोक ५

रथो यस्य स महारथ." इस प्रकार बहुव्रीहि समास के द्वारा "महान् रथ वाला योद्धा" यही अर्थ होता है, फिर भी यह केवल यौगिक रूप मे सामान्य योद्धा का वाचक न होकर योगरूढरूप कृष्ण का पर्यायवाची नामान्तर है। यद्यपि कोशो मे महारथ शब्द कृष्ण के पर्यायवाची नामो में नहीं मिलता है। परन्तु कवि-प्रयोग मे महारथ का अर्थ कृष्ण मिलता है। माघ आदि काव्य ग्रन्थो मे "महारथ" शब्द कृष्ण के अर्थ मे सुप्रसिद्ध है। महाकवि माघ अपने शिशुपाल वध (माघ) नामक महाकाव्य के सर्ग ३, श्लो० २२ मे कहते हैं.—

"महारथः पुष्यरथ रथाङ्गी,
क्षिप्रं क्षपा-नाथ इवाधिरूढ.॥"

उक्त श्लोक की टीका मे श्री मल्लिनाथ ने महारथ शब्द की व्याख्या करते हुए एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है —

"आत्मान सारथिं चान्यान, रक्षन् युध्येत यो नर.;
स महारथसज्ञ स्यात् इत्याहुर्नीति-कोविदाः ।"

उपर्युक्त समग्र प्रमाणो से महारथ पद का अर्थ यहाँ प्रसगतः व्यक्ति-विशेष रूप कृष्ण ही सिद्ध होता है, न कि जिसका रथ महान् है, ऐसा कोई मात्र सामान्य मानवरूप अर्थ !

सूत्र कृताग के प्रस्तुत प्रसग मे स्पष्टत शिशुपाल का उल्लेख है, अत· शिशुपाल का प्रतिपक्षी महारथ योद्धा पौराणिक अनुश्रुति के आधार से कृष्ण के अतिरिक्त दूसरा और कोई नही हो सकता। अत यहाँ महारह-महारथ शब्द से कृष्ण का ही ग्रहण करना चाहिए।

५. वीस-सेण

सूत्रकृताग सूत्र के प्रथम स्कन्धवर्ती वीर स्तुति नामक छठे अध्ययन की २२ वी गाथा मे 'वीससेण' शब्द का उल्लेख है—"जोहेसु नाए जह वीससेणे।" उक्त गाथाश का तात्पर्य है, कि भगवान् महावीर रागद्वेष रूप अन्तरग शत्रुओ के साथ युद्ध करके उन पर विजय प्राप्त करने वाले वैसे ही असाधारण आध्यात्मिक योद्धा थे, जैसे कि समस्त योद्धाओ मे विशेष रूप से ज्ञात-ख्यात-सुप्रसिद्ध 'वीससेण" नामक योद्धा। "वीससेण" पद उपमान रूप है और भगवान् महावीर उपमेय रूप हैं।

प्रस्तुत प्रसग मे 'वीससेण' शब्द का सस्कृत रूप क्या होना चाहिए, और वह किस अर्थ का वाचक है, यह विचारणीय है। सूत्रकृताग सूत्र के सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य शीलाक ने वीससेण का सस्कृत रूप 'विश्वसेन' और उसका अर्थ 'चक्रवर्ती' किया है—"**योधेषु मध्ये ज्ञात. विदित. दृष्टान्तभूतो वा, विश्वा हस्त्यश्वरथ पदाति चतुरङ्ग बलसेना यस्य स विश्वसेनः चक्रवर्ती यथा असौ प्रधानः।**"

जैन अग सूत्रों के विशेष विचारणीय कुछ शब्द और प्रसग

जन परम्परा म १२ चक्रवर्ती माने गए हैं। उनके नाम प्राचीन आगमा म तथा जन ग्रन्था म सुप्रसिद्ध हैं उनम विश्वसन नाम का काई चक्रवर्ती नही है। यदि 'विश्वसेन' चक्रवर्ती का मात्र पर्याय वाची शब्द माना जाए जसा कि टीका म व्युत्पत्ति करत हुए सूचित किया है तो वह भी सिद्ध नही होता। किसी भी कोश म चक्रवर्ती के लिए विश्वसेन शब्द का पर्यायवाचा क रूप म उल्लख नही है। अमरकोश कार न "चक्रवर्ती सावभौम (द्वितीय काण्ड क्षत्रिय वग श्लो० २) लिखकर चक्रवर्ती के लिए 'चक्रवर्ती और सावभौम—इन दा ही शब्दा का उल्लख किया है। जनाचाय हेमचन्द्र न भी अपने अभिधान चिन्तामणि काश (मत्यकाण्ड ३, श्लो० ३३५) म चक्रवर्ती क लिए उक्त दो शब्दा का ही पर्यायवाची क रूप म बताया है। इसके अतिरिक्त आचाय हेमचन्द्र न शेषसंग्रह कह कर चक्रवर्ती का 'अधीश्वर भी एक पर्याय बताया है— चक्रवर्तिनि अधीश्वर । परन्तु विश्वसेन शब्द चक्रवर्ती क लिए कहीं भी उल्लिखित नहीं है।

अब प्रश्न है कि यदि सूत्रकृताग म निर्दिष्ट वीससेण' शब्द चक्रवर्ती का वाचक नहीं है ता वह फिर किस का वाचक है ? और उक्त शब्द का सस्कृत रूप विश्वसेन' हा है या और काई ? सूत्रकृताग में जिस प्रकार पहल उपमान रूप से 'महारथ शब्द शूरवीर योद्धा के लिए आया है उसी प्रकार यहाँ उपमान रूप स प्रयुक्त 'वीससेण' शब्द भी प्रसिद्ध याद्धा का ही वाचक है। आगमों म इस प्रकार उपमान उपमेय की शैली से अनक वणन उपलब्ध हैं। श्रीकृष्ण भारतीय इतिहास म शूरवीर योद्धा के रूप म सुप्रसिद्ध हैं। अत वीससेण से कृष्ण अय ही ग्रहण करना चाहिए चक्रवर्ती अय नही।

श्रीकृष्ण के लिए, सस्कृत कोशों म पर्यायवाची शब्द के रूप म विष्वक्सन शब्द सुप्रसिद्ध है अत 'वीससेण का संस्कृत रूप विष्वक्सेन होना चाहिए न कि विश्वसेन । अमरकोश प्रथम काण्ड स्वग वग १ श्लो० १६ म लिखा है— विष्वक्सेनो जनादन ।"

अमर कोश के टीकाकार ने तानव्य शकार स भी विश्वक्सेन शब्द की सूचना दा है। जनाचाय हेमचन्द्र सूरा न भी अभिधान चिन्तामणि (देवकाण्ड २ श्लोक १२८) म विष्वक्सेन नारायणो ' लिख कर विष्वक्सेन शब्द को श्री कृष्ण का पर्याय बताया है। आचाय श्री ने अभिधान चिन्तामणि कोश की अपना स्वोपज्ञ वृत्ति म विष्वक्सन शब्द की व्युत्पत्ति भी दी है—विष्वक् सवव्यापिनी विषूची वा सेना अस्य विष्वक्सेन ।"

केवल कोशकार ही नही भारतीय काव्य साहित्य म भी कृष्ण के लिए विष्वक्सेन शब्द का प्रचुर प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए रघुवश और शिशुपाल वध क कुछ उद्धरण पर्याप्त होग।

महाकवि कालिदास न रघुवश (सग १५ श्लो० १०) म लिखा है—

विष्वक्सेन स्वतनुमविशत् सवलोक प्रतिष्ठम्।
महाकवि माघ न शिशुपाल वध (सग १० श्लो० ५५) म कहा है
साम्यमाप कमलासख विष्वक्सेनसेवितयुगान्तपयोधे ।'

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर स्पष्ट है, कि सूत्रकृताग सूत्र का "वीससेण" शब्द श्रीकृष्ण का ही एक नाम है, किसी चक्रवर्ती विशेष का नाम नही है और इस पद का सामान्य चक्रवर्ती अर्थ भी नही है। संस्कृत रूपान्तर भी वीससेण का विष्वक्सेन होना चाहिए, विश्वसेन नही। शब्दो का अर्थ अपनी इच्छा से मनचाहा नही बनाया जा सकता। यदि इस दिशा मे कल्पना-प्रधान पद्धति से यो ही कोई-न-कोई अर्थ घटित किया जाए तो फिर शब्दार्थ की कोई मर्यादा ही न रहेगी। मात्र शब्दसाम्य की दृष्टि से प्राकृत शब्दो के मन चाहे सस्कृत रूप बनाना और उसे स्वकल्पित किसी भी अर्थ मे यो ही घटित करना शब्द-शास्त्र के प्रति अन्याय है। शब्दो के अर्थ की प्रामाणिकता के लिए रूढि, कवि प्रयोग और कोश आदि सामग्री ही उपयुक्त है और यही परिपाटी सर्व-सम्मत है।

६. दंतवक्क

सूत्रकृताग सूत्र के वीर स्तुति नामक छठवें अध्ययन की २२ वी गाथा के उत्तरार्ध मे 'दतवक्क' शब्द आता है—"खत्तीण सेट्ठे जह दतवक्के ।" "क्षत्रियो मे श्रेष्ठ जैसे दतवक्क है" ।" आचार्य शीलाक सूरी ने "दतवक्क" शब्द का सस्कृत रूप "दान्तवाक्य" बनाया है, जो कि असगत है। मात्र कल्पना की दौड से अर्थ की सगति नही बैठा करती। जो शब्द जहाँ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ उसका सदर्भ देखना आवश्यक होता है। सन्दर्भ के अनुसार ही अर्थ की सगति ठीक होती है। सूत्रकृताग का यह सदर्भ इस प्रकार है —

प्रस्तुत अध्ययन मे भगवान् महावीर की यशोगाथा का वर्णन है। भगवान् महावीर की उपमान-उपमेय के सम्बन्ध से स्तुति की गई है। भगवान उपमेय हैं और दन्तवक्क उपमान है। अर्थात् भगवान् महावीर को दन्तवक्क की उपमा दी गई है। सूत्रकार कहते है— "जिस प्रकार क्षत्रियों मे "दतवक्क" श्रेष्ठ है, उसी प्रकार तत्त्वदर्शी ऋषियो मे 'भगवान वर्द्धमान' श्रेष्ठ हैं। उपमान-उपमेय मे उपमेय तो विशेष नाम-स्वरूप व्यक्ति होता ही है, किन्तु उपमान भी, जिसके द्वारा उपमा दी जा रही है, विशेष नाम-रूप कोई व्यक्ति-विशेष ही होना चाहिए, तभी उपमान-उपमेय भाव की यथार्थ संगति होगी, अन्यथा नही। यदि उपमेय व्यक्तिरूप विशेष है और उपमान केवल विशेषण रूप सामान्य ही है, तो उपमान उपमेय का सम्बन्ध यथोचित रूप से घटित नही होगा। "पृथ्वीराज अर्जुन जैसा है"—उक्त वाक्य मे पृथ्वीराज उपमेय है और अर्जुन उपमान है। यदि उक्त वाक्यगत अर्जुन व्यक्ति-विशेष रूप न होकर केवल एक विशेषण ही हो तो उपमान उपमेय की सगति किसी भी तरह घटित नहीं होगी। निष्कर्ष यह है, कि व्यक्ति विशेष की ही उपमा दी जा सकती है, विशेषण की नही।

प्रस्तुत प्रसग मे यदि आचार्य शीलाक के द्वारा कल्पित 'दान्तवाक्य' को ही 'दतवक्क' का सस्कृत रूप माना जाए, तो वह एक सामान्य विशेषण ही होगा, किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नही। और भगवान् महावीर का उत्कर्ष बताने वाला वह "दान्तवाक्य" केवल एक विशेषण ही हो, कोई विशिष्ट व्यक्ति नही, तो, भला, यह कैसे सगत हो सकता है ? आचार्य शीलाक के अनुसार "दान्त वाक्य" शब्द मे केवल इतना ही ध्वनित होता है, कि जिसके वाक्य बोलने मात्र से शत्रु शान्त हो जाते हैं या दमनयुक्त हो

जान हैं वह कोई भी मनुष्य । परन्तु वह कौन व्यक्ति है, कहाँ का है और किस युग का है ? यह कुछ पता नहा लगता है ? इस स्थिति म तो वह मात्र एक विशेषण रूप सामान्य अज्ञात मानव ही रह जाता है जो प्रस्तुत प्रसग म कथमपि अभिप्रेत नहीं है ।

आचार्य शीलांक ने उक्त शब्द का—"दान्ता उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रव स दान्तवाक्य चक्रवर्ती"—इस प्रकार व्याख्या की है और उसका चक्रवर्ती अर्थ किया है । कोशो म चक्रवर्ती के अनेक पर्यायवाची नाम हैं परन्तु उनमे 'दान्तवाक्य' शब्द का कहा भी उल्लेख नही है । और न काव्य-साहित्य आदि म ही ऐसा कोई प्रयोग है । एक बात और है । वह यह कि व्याकरण की दृष्टि स भी आचार्य शीलांक द्वारा निर्दिष्ट दान्तवाक्य का समास असगत है । 'दान्तवाक्य' का व्याकरण-सम्मत समास "दान्त वाक्य यस्य स" इस प्रकार होना है "दान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रव" नहा । टीकाकार ने दान्त वाक्य के समास म शत्रु पद या अर्थ कस जोडा और लगाया है यह समझ म नहीं आता ।

निषेधचर्चा लम्बी हो रही है । पाठक जानना चाहेंगे कि यदि दन्तवक्त्र' का मस्कृतरूप दान्तवाक्य कल्पित है, प्रस्तुत प्रसग म उपयुक्त नहा है तो फिर उसका वास्तविक संस्कृत रूप और अर्थ क्या है ? दन्तवक्क का संस्कृत रूप 'दन्तवक्त्र' उचित प्रतीत होता है । 'दन्तवक्त्र महाभारत युग का एक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय है जो उत्तम जाति वाला एव उत्तम गुणो वाला माना गया है । दन्तवक्त्र का शब्दार्थ है—जिसके वक्त्र अर्थात् मुख म जन्म स ही दांत हो वह व्यक्ति दन्तवक्त्र कहलाता है । यह केवल यौगिक नही, किन्तु योगरूढ शब्द है जो वीर क्षत्रिय विशेष का वाचक है । स्तुतिकार भगवान् महावीर की श्रेष्ठता दन्तवक्त्र स बताना चाहता है अत वह एक सामान्य व्यक्ति नही किन्तु इतिहास प्रसिद्ध वीर क्षत्रिय होना चाहिए । और वह महाभारतकालीन दन्तवक्त्र है दान्त वाक्य नही । इतिहास म दान्तवाक्य नामक कोई प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं मिलता है ।

महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३२, श्लोक० ३) मे दन्तवक्त्र का राजाधिप और महाबला के रूप म उल्लेख है—'अधिराजाधिप चैव दन्तवक्त्र महाबलम् ।' उक्त कथन पर से दन्तवक्त्र की क्षत्रियो म श्रेष्ठता प्रमाणित हो जाती है फलत भगवान् महावीर की श्रेष्ठता के लिए उसकी सूत्रकृता गाथोक्त तुलना भी ठीक बठ जाती है ।

७ वेणुदेव

वेणुदेव शब्द भी सूत्रकृताग के वीर स्तुति अध्ययन म प्रयुक्त हुआ है । गाथा २१ का उत्तरार्ध है— पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे, निव्वाणवादीणिह नायपुत्ते । गाथोक्त वेणुदेव वैनतेय शब्द का प्राकृत रूपान्तर है । पक्षियो म गरुड पक्षी सर्वश्रेष्ठ है वह वैदिक पुराणो म विष्णु का वाहन माना गया है । अत वह पक्षी होते हुए भी देवकोटि म गिना जाता है । गरुड के लिए प्रयुक्त होने वाले वैनतेय शब्द के लिए निम्नांकित कोश प्रमाण स्वरूपेण उपस्थित हैं—

"गरुत्मान् गरुड तार्क्ष्य वैनतेय खगेश्वर ।" —अमरकोश १० ३१

"वैनतेयस्तु वाहनम् ।" —अभिधान चिन्तामणि २. १३५

"गरुड. · सौपर्णेयः वैनतेय· सुपर्ण

पक्षिस्वामी काश्यपि. स्वर्णकाय· ।" —अभिधान चिन्तामणि २, १४५

अमर कोश मे गरुड को 'खगेश्वर' और अभिधान चिन्तामणि में 'पक्षिस्वामी' कहा है, इस पर से वैनतेय—वेणुदेव की पक्षियो मे श्रेष्ठता भलीभांति प्रमाणित हो जाती है। मूल प्राकृत पद्य में "वेणुदेव" शब्द के अन्त मे जो "देव" शब्द आता है, उस पर से वेणुदेव पक्षी न होकर कोई विशिष्ट जाति का देव है, यह कल्पना करना सर्वथा निराधार है। जबकि मूल पाठ मे ही पक्षियो मे वेणुदेव गरुड को श्रेष्ठ बताया है ; तब वह पक्षी जाति का न होकर कोई देव जाति का देव है, यह कैसे माना जा सकता है ?

८. आयभाव-वत्तव्वया

भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक ५ मे एक चर्चा आती है, कि यदि संयम और तप का फल अनास्रव है, आत्मशुद्धि है, तो फिर संयमी एवं तपस्वी साधक देवगति मे क्यो जाते हैं ? देवगति आस्रव निमित्तक है, अनास्रवनिमित्तक नही। देव-जीवन भोगपरायण जीवन है, अत. वहां अनास्रवत्व एवं आत्म-शुद्धि सभव नही है।

तुंगिया नगरी के श्रावक स्थविर कालियपुत्त, स्थविर आणंदरक्खिय तथा स्थविर कासव के साथ उपर्युक्त चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ मे स्थविरो द्वारा कहा गया है कि–१ पूर्व तप और पूर्व संयम से, २ कर्मिता होने से, ३ संगिता के कारण संयमी और तपस्वी मनुष्य भी देव लोक मे जाते है। पूर्व तप और पूर्व सयम का अर्थ आसक्तियुक्त तप एवं संयम है, कर्मिता का अर्थ रागद्वेषयुक्त स्थिति है और सगिता का अर्थ अभिष्वंग--आसक्ति है। उक्त चर्चा के सम्बन्ध में श्री गौतम गणधर ने जब भगवान् महावीर से उनका अपना अभिप्राय पूछा, तो भगवान महावीर ने स्वयं भी वही उत्तर दिया और स्थविरो की बात का समर्थन किया। अन्त मे उपसंहार करते हुए भगवान् ने कहा कि—"**सच्चे णं एस अट्ठे, नोचेव णं आयभाववत्तव्वयाए।**" भगवती सूत्र के उक्त प्राकृत पाठ का भावार्थ इस प्रकार है—हे गौतम ! मैं भी उन स्थविरो के कथनानुसार ही मानता हूँ और कहता हूँ—यह सब अर्थ-कथन सच है। परन्तु उक्त अर्थ में आत्म-भाव वक्तव्यता की अपेक्षा नही होनी चाहिए, अर्थात् प्रस्तुत देवलोकगमनरूप अर्थ मे यदि आत्म-भाव की विवक्षा है, तो तप एव सयम से साधक स्वर्ग मे नहीं जाता, प्रत्युत वह वीतराग हो जाता है, फलस्वरूप निर्वाण-परमशान्ति को ही प्राप्त करता है।

उपर्युक्त वक्तव्य का विशेष स्पष्टीकरण यह है, कि संयम और तप के दो उद्देश्य हो सकते हैं। जो लोग जैनपरिभाषा के अनुसार बालकोटि के हैं, विवेक-हीन हैं, उनकी साधना का उद्देश्य पुद्गल-भावप्रधान होता है अर्थात् वे लोग अपने तप और सयम से स्वर्गादि का सुख पाना चाहते हैं अथवा

इहलोक सम्बन्धी सुख सम्पत्ति वभव भोगविलास आदि की सामग्री स्त्री एव पुत्रादि के सुख तथा शत्रु नाश आदि की कामना रखते हैं। यह साधना सकाम होने से निम्न स्तर की साधना है। इसस स्वग तो प्राप्त हो सकता है निर्वाण नही। और जो साधक जन परिभाषा के अनुसार पण्डित कोटि के होत है विवेकशील आत्मज्ञानी होते हैं उनका उद्देश्य केवल शुद्ध आत्मभाव-स्वरूप की उपलब्धि ही होता है और कुछ नही। वे तप और सयम के द्वारा अपन राग द्वेष को दूर करने का प्रयत्न करत हैं, मानसिक सकुचिता का हटाकर अभेदभाव की साधना करत हैं अर्थात् सवत्र आत्म भाव का अनुभव करने का प्रयत्न करत हैं। अहिंसा सत्य एव अपरिग्रह तथा पूण ब्रह्मचय एव त्याग भाव का जीवन म विकास करत हुए उक्त विकास को चरम सीमा तक पहुँचान का अहर्निश बिना किसी प्रकार की खेदानुभूति के सतत सोत्साह प्रयत्न करत रहत हैं। अस्तु प्रस्तुत चर्चा म आत्म भाव का आशय उक्त द्वितीय पण्डित कोटि से सम्बन्धित है। बिना किसी प्रकार की लोक-कामना के जो साधना शुद्ध आत्म भाव-लक्षी होता है वह देवगति का कारण नही होती, अपितु मुक्ति का ही कारण होती है।

परन्तु आचाय अभयदेव सूरी उक्त आत्म भाव वक्तव्यता का स्पष्टीकरण करत हुए अपनी भगवती सूत्र वृत्ति म लिखते हैं कि 'आत्मभाववक्तव्यता-अहमानिता-तया न वयम् अहमानितया एव ब्रूम, अपितु परमाथ एव अयम् एवविध इति भावना।' वृत्तिकार क उक्त सस्कृत-लख का भाव यह है कि 'हम आत्मभाव-अहकार या स्वच्छदता स एसा नही कहत हैं अपितु यह इस प्रकार परमाथ ही है। स्पष्ट ह कि आचाय अभयदेव आत्मभाव वक्तव्यता का अथ 'अहकार' करत हैं। परन्तु यह अथ प्रकरण-सगत नही है। यदि चर्चा करन वाला वीतराग आत्मा नही ह साधारण जन है तब तो यह अथ सगत हो सकता ह। परन्तु जब चर्चा करन वाल वीतराग हैं तब यह अथ किस प्रकार सगत होगा? प्रस्तुत चर्चा म गौतम का समाधान करन वाल भगवान महावीर पूण वीतराग पुरुष हैं। भला वे एसा कस कह सकते हैं कि—मैं यह बात अभिमान स या स्वच्छन्दता से नही कह रहा हूँ। और यहाँ अभिमान का प्रसग भी क्या है? अतएव आचाय अभय देव क आत्मभाववक्तव्यता से सम्बन्धित अहकार अथ की किसी प्रकार भी सगति नही बठती। आत्मभाववक्तव्यता का वही अथ सगत लगता है, जिसका कि हम पूव निरूपण कर आए हैं। वह अथ जन सिद्धान्त-सगत भी है और प्रकरण-सगत भी।

आचाय अभयदेव ने प्रस्तुत चर्चा म एक प्राचीन शास्त्र की गाथा का अवतरण दकर पूव सयम एव पूव तप को रागयुक्त और पश्चिम सयम एव पश्चिम तप को वीतरागवृत्ति-युक्त बताया है। परन्तु पूव शब्द क सम्बन्ध स सयम और तप सराग हो जात है। और इसक विपरीत पश्चिम शब्द क सम्बन्ध स सयम और तप वीतरागवृत्तियुक्त हो जाते हैं। कसे हो जात हैं? इसका कुछ भी खुलासा नही किया गया है। अतएव वृत्तिकार का यह कथन भी स्पष्ट विचार की अपेक्षा रखता है।

जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ और प्रकरण क साथ सगति लगा पाया हूँ पूव तप और पूव सयम का अथ है—साधक की पूर्वावस्था अर्थात् प्रारम्भिक दशा का सयम और तप। जन परिभाषा क अनुसार बालकोटिस्थित दशा का तप और सयम सकाम होता है शुद्धभावलक्षी नहीं होता। अब रहा पश्चिम सयम और पश्चिम तप, उसका अथ यह होता है कि पश्चिम अवस्था का अर्थात् परिपक्व दशा का सयम

और तप। साधना की परिपक्व दशा पण्डित कोटि की स्थिति है। इस अवस्था का संयम और तप शुद्धात्मभाव लक्षी होने से वीतराग वृत्ति वाला होता है, अतः उसमें निर्वाण भाव की प्राप्ति होती है। संयम और तप के ये पूर्व और पश्चिम विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं और उनकी अर्थ-संगति उपर्युक्त विचारणा के अनुसार ही ठीक बैठती है।

६. प्राणातिपातविरमण और धर्मास्तिकाय

भगवतीसूत्र शतक २०, उद्देशक २ में धम्मत्थिकाय-धर्मास्तिकाय, अधम्मत्थिकाय-अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—उक्त पाँच अस्तिकायों के पर्याय शब्दों का उल्लेख है।

आकाश के पर्याय मूल सूत्र में इस प्रकार बताए गए हैं—आगास[1] आगासत्थिकाय गगण, नभ, सम, विसम, खह, विह, वीयी (वियत्), विवर, अम्बर, अम्बरस, छिड्ड (छिद्र), झुसिर (शुषिर), मग्ग, विमुह, अद्द (अब्द अथवा आर्द्र) वियद्द, आधार, वोम भायण, अन्तरिक्ख (अन्तरिक्ष), साम, उवासतर (अवकाशान्तर), अगम फलिह (स्फटिक), अनन्त।

इसी प्रकार जीव और पुद्गल के पर्याय वाची शब्दों का भी उल्लेख है।[2] जीव और पुद्गल के पर्यायवाची शब्दों के लिए पाठक के मन में किसी प्रकार की शंका या विवाद नहीं होता। परन्तु

---

[1] यास्क के निरुक्त मे आकाश के १६ नाम इस प्रकार हैं—
अम्बरम्, वियत्, व्योम, र्बाहि, धन्व, अन्तरिक्षम्, आकाशम्, आप., पृथिवी, भू, स्वयम्भ्., अध्वा, पुष्करम्, सगरः, समुद्रः, अध्वरम्। इनके अतिरिक्त गः, स्टश्नि, नाकः, गौ, विष्टपम्, नभः—इन नामों का भी उल्लेख है।

निरुक्त-निर्दिष्ट नामो मे से भगवती सूत्र मे आए नाम इस प्रकार हैं—आकाश, नभ, ख, अबर, मग्ग-मार्ग। (निरुक्त मे मार्गवाची अध्वा है)। व्योम, वियत् (मूल मे वीयी है) अद्द (निरुक्त मे आप. है) अंतरिक्ख—अन्तरिक्ष।

भगवती सूत्र मे एक "विहे" नाम भी है, सभव है—वह निरुक्त के "र्बाहि" शब्द का ही रूपान्तर हो। भगवती सूत्र मे "अद्द" है और निरुक्त मे "आप" है। अद्द का सस्कृतरूप अब्द-मेघ प्रसिद्ध है। अंत· अद्द और आप· नाम मे समानता परिलक्षित होती है। भगवती सूत्र का अंबरस नाम भी निरुक्तनिर्दिष्ट आप के अर्थ के साथ मिलता जुलता है।

[2] जीव, जीवत्थिकाय, प्राण, भूत, सत्त्व, विज्ञ, चेता, जेता, आता रंगण, हिंडक, पुद्गल, मानव, कर्ता, विकर्ता, जय (जगत), जंतु, योनि, स्वयम्भू, सशरीरी, नायग (ज्ञायक) और अन्तरात्मा—ये सब जीव के पर्याय वाची शब्द है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय क जो पर्याय दिए है व अवश्य विवादग्रस्त हैं पाठक के मन को शकाकुल बना देते है।

धर्मास्तिकाय क पयाया म धम्म धम्मत्थिकाय पाणाइवायवेरमण मुसावायवेरमण परिग्गह वेरमण कोहविवेग मिच्छादसण-सल्लविवेग इरियासमिई इत्यादि अनेक नाम गिनाए है। उक्त नामा म प्रथम क दो नाम तो उपयुक्त है जन दर्शन म सवत्र सुविदित है। परन्तु अहिंसा (प्राणातिपातविरमण) सत्य (मृषावाद विरमण) अपरिग्रह (परिग्रहविरमण) और क्रोध विवेक आदि अनेक नामो के सम्बन्ध म प्रश्न होता है कि धर्मास्तिकाय क साथ इन नामों का क्या सम्बन्ध है ? जन परिभाषा के अनुसार धर्मास्तिकाय एक तत्व है पदार्थ है। वह अस्पर्श है अरूप है और समग्र लोक म व्याप्त है। जिस प्रकार जल म तरती हुई मछली क लिए जल तटस्थ सहायक है उसी प्रकार लोक व्यापी धर्मास्तिकाय तत्त्व भी जीव और पुद्गल (जड) पदार्थों की गति क्रिया म तटस्थ सहायक होता है। जन धम की सभी परम्पराओ म धर्मास्तिकाय क सम्बन्ध म उक्त विचार सवसम्मत है।

अब प्रश्न है कि अहिंसा सत्य और अपरिग्रह आदि तो जीवन क सम्यग्रूप हैं चतन्य क गुण हैं। य द्रव्य नही है और न लोकव्यापी ही है। धर्मास्तिकाय द्रव्य और अहिंसा आदि सद्-गुणो का स्वरूप परस्पर इतना भिन्न है कि इनम किसी प्रकार का सम्बन्ध (मेल) ही नही बठ सकता। ऐसी स्थिति म सूत्रकार न जो अहिंसा सत्य आदि चतन्य धर्मों का अचेतन धर्मास्तिकाय द्रव्य के पयाय वाचक शब्द बनाए है यह कस सगत हो सकता है ?

जो शका धर्मास्तिकाय क प्रसग म है वही अधर्मास्तिकाय के प्रसग म उपस्थित है। अधर्मास्तिकाय क पयाय स्वरूप हिंसा असत्य चौय, अब्रह्मचय और परिग्रह आदि को गिनाया गया है। हिंसा असत्य आदि दुष्प्रवत्तिरूप होन स क्रियारूप हैं। जीवमात्र क लिए अनाचाररूप हैं चतन के विकारी भाव है। और अधर्मास्तिकाय एक अचेतनतत्व है जड द्रव्य है लोकव्यापी है और जीव एव पुद्गलो की स्थिति क्रिया म वस ही तटस्थ सहायक है जस कि विश्रान्त प्रवासी यात्री को वक्ष की छाया बठन क लिए तटस्थ निमित्त है। हिंसा आदि अनाचार और अधर्मास्तिकाय जड द्रव्य इन दोनो म ऐसा कोई भी मेल नही है जिसके आधार पर हिंसा आदि अधर्मास्तिकाय क पयाय शब्द स्वीकार किए जाए ? यदि सवथा

जीव क उक्त पर्यायवाची शब्द जीव के साथ तथा जीव की चेष्टा प्रवृत्ति एव स्वरूप आदि क साथ सम्बन्ध रखते हैं, अत ये सब निर्विवाद रूप स जीव क पर्याय हो सकते हैं।

पुद्गल क पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं—पुद्गल पुद्गलास्तिकाय, परमाणु पुद्गल, द्विप्रदेशिक पुद्गल, त्रिप्रदेशिक पुद्गल यावत् असख्येय प्रदेशिक पुद्गल और अनन्त प्रदेशिक पुद्गल।

पुद्गल के उक्त पर्याय सबके सब पुद्गलस्वरूप ही है अत इन नामों क पुद्गल-पर्याय होने मे भी किसी प्रकार की शका क लिए अवकाश नहीं है।

विभिन्न रूप वालो को भी एक दूसरे का पर्याय माना जाए, तव तो गधा और हाथी भी एक दूसरे के पर्यायवाची शव्द हो सकते है।[1]

विद्वानो को पर्यायवाची प्रकरण के उक्त वैपम्य पर गभीरता से विचार करना चाहिए। जव तक प्रस्तुत वैपम्य का निराकरण करके कोई एक यथार्थ समन्वय स्थापित नही किया जाएगा; तव तक भगवती सूत्र का उक्त पाठ विवादग्रस्त ही वना रहेगा।

१०. एक विवादास्पद गाथा

सूत्रकृताग के प्रथम स्कन्धवर्ती समय नामक प्रथम अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की २८ वी गाथा वडी ही विवादास्पद है। अर्थ काफी उलझा हुआ है। पाठभेद भी कुछ कम नही है। चूर्णि और आचार्य शीलाकृत वृत्ति मे पाठभेद की झलक स्पप्ट है। उक्त गाथा पर सक्षेप मे प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। चूर्णि का पाठ इस प्रकार है—

> पुत्त[2] पि ता समारंभ,[3] आहारट्ठ[4] असजते।
> भुजमाणो[5] वि मेघावी, कम्मुणा नोवलिप्पते ॥१, १, २, २८

---

[1] आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र-वृत्ति मे उक्त शका का इस प्रकार समाधान किया है—पर्यायवाची शव्द दो प्रकार के होते हैं, एक तो अर्थ की समानता से और दूसरे व्यञ्जनों की समानता से। अतएव यहा धर्म शव्द के अर्थ को लक्ष्य मे रखकर अहिंसा आदि को धर्मास्तिकाय का पर्याय कहा है। यही वात अधर्मास्तिकाय और हिंसा आदि के सम्वन्ध मे भी समझ लेनी चाहिए। ये पर्याय भी अधर्म शव्द के अर्थ को लक्ष्य मे रखकर कहे गए हैं। यह समाधान कहा तक सिद्धान्त और तर्क से संगत है, पाठक स्वयं विचार सकते हैं।

[2] वौद्ध-पिटक साहित्य मे वर्णन है कि-भगवान् बुद्ध ने सूकरमद्दव खाया था। वौद्ध-व्याख्याकारो ने सूकर मद्दव मे के सूकर शव्द को प्राणी वाचक भी माना है। सूकर का अर्थ है—वराह अर्थात् बड़ा और तगडा सूअर। मालूम होता है, उक्त गाथा मे इसी ओर संकेत है। क्योंकि मास खाने वाले के लिए मेधावी विशेषण दिया हे। अतः संभावना है, कि मूल सूत्रकार को यहा भगवान् बुद्ध ही विवक्षित हैं।

यदि यह कल्पना अनुचित नही है, तो पुत्तं शव्द का निम्नोक्त अर्थ सगत प्रतीत होता है। अमरकोश (काण्ड २, श्लो० २ सिंहादिवर्ग) मे शूकर के लिए पोत्रीशव्द का भी उल्लेख है—"वराह· सूकर : घृष्टिः कोल· पोत्री किरी किटिः।" द्वितीया विभक्ति के एक वचन मे पोत्री का प्राकृत उच्चारण "पोत्ति" अथवा "पुत्ति" होता हे। अस्तु, यदि हम सूत्रकृतांग सूत्र की उक्त गाथा के "पुत्तं" शव्द के स्थान मे "पोत्ति" पाठ की कल्पना करें, तो भगवान् बुद्ध की सूकर मद्दव भोजन को वह समग्र घटना प्रस्तुत प्रसंग मे निर्दिष्ट है, यह स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता हैं।

चूर्णि व्याख्या—"पुत्त पि ता समारम्भ सिलोगो। अपि पदार्थ सभावने। उक्त हि—'प्राणिन प्रियतरा पुत्रा। तेन पुत्रम् अपि तावत् समारभ्य, समारम्भो नाम विशेय मारयित्वा तन्मासेन वा द्रव्येण वा, किमग णर-पुत्र शूकर छागल वा आहारार्थ कुर्यात् भक्त भिक्खूण? असजतो णाम भिक्खु-व्यतिरिक्त स पुनर, उपासक अन्यो वा। त च भिक्ष त्रिकोटिशुद्ध भुञ्जानोऽपि मेघावी कम्मुणा णो उवलिप्यते। तत्र उदाहरणम्—

उपासिकाया भिक्षु पाहुणओ गओ। ताए नावगो मारेऊण आवयगडेना तस्स दिण्णो। घरसामि पुच्छा। अहो! णिग्घण त्ति। ताधे तेण भिक्खुणा कृतघ्न कृतम्। मा वल्परण हस्ताभ्या गृहीत्वा स्वेदय मा अन्नागमन् इति। त्वमेव दह्यसे न अहम्। एव मत्कृत घातक एव बध्यते न अहम्।

—सूत्रकृताग चूर्णि पृ० ४७ स० श्री पुण्यविजयजी मुनिराज

उक्त चूर्णिव्याख्या का तात्पय यह है कि भिक्षु से भिन्न कोई भी असयत उपासक अथवा अन्य मनुष्य आहार के लिए मानव-पुत्र शूकर या छाग (बकरा) को खरीद कर मारे और उसका मास बौद्ध भिक्षु को खाने के लिए दे और वह मेधावी भिक्षु उस मास को त्रिकोटि-परिशुद्ध मानता हुआ खाए तो कम से लिप्त नही होता है। अर्थात् हिंसा का पाप मारने वाले असयत को लगता है त्रिकोटि-परिशुद्ध समझकर मास खाने वाले भिक्षु को नही लगता।

उक्त गाथा मे चर्चास्पद वस्तु अनेक हैं परन्तु उन सब की चर्चा करने से लेख का कलेवर काफी बढ़ जाता अत गाथागत अमुक मुद्दे के सम्बन्ध में ही कुछ लिखना उपयुक्त रहेगा।

चूर्णिकार द्वारा किए गए गाथा के विवेचन पर से यह फलित होता है कि–त्रिकोटिशुद्ध-मासभक्षी बौद्ध भिक्षुओं को मांस खाने पर भी कम बन्ध नही होता। यह मान्यता सौगत-सम्प्रदाय की है। परन्तु उसकी मान्यता के अनुसार भी मास खरीदने और पकाने वाले उपासक को या अन्य किसी साधारण मनुष्य को तो घातक होने के कारण कम-बन्ध होता ही है।

यदि "पुत्त" पाठ रखकर भी उक्त बुद्ध—सम्बन्धित घटना के साथ अर्थ योजना करें तो इस प्रकार कर सकते हैं। अमरकोश (नानार्थवग २३, श्लो० १८०) मे पोत्र शब्द के दो अर्थ किए हैं–एक शूकर का मुख और दूसरा कृषि-कम मे उपयुक्त खेत जोतने वाले हल का मुख। 'मुखाग्रे क्रोड हलयो।'

"पोत्र' का भी प्राकृत मे 'पुत्त" उच्चारण होता है। अत प्रस्तुत गाथा के 'पुत्त का शूकर का मुखाग्र—यह अर्थ भी ठीक-ठीक सघटित हो जाता है।

[१] 'समारब्भ' पाठान्तर

'आहारेज्ज असजते"–पाठान्तर

[४] "म —पाठान्तर

आचार्य शीलाङ्क-कृत टीका के अनुसार पाठ इस प्रकार है —

पुत्तं पिया समारब्भ आहारट्ठ असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नोवलिप्पइ ॥२८॥

वृत्ति—भावशुद्ध्या प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवति-इत्यत्रार्थे दृष्टान्तम् आह-पुत्रम् अपत्यम्, पिता जनक, समारभ्य व्यापाद्य आहारार्थ-कस्यांचित् तथाविधायाम् आपदि तदुद्धरणार्थम् । अरक्तद्विष्ट असंयत. गृहस्थ. तत्पिशित भुञ्जानोऽपि "च" शब्दस्य अपि शब्दार्थत्वात् इति । तथा मेधावी अपि संयतः अपि इत्यर्थ । तदेव गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशय पिशिताशी अपि कर्मणा पापेन न उपलिप्यते-न आदिलप्यते इति । यथा च अत्र पितु पुत्र व्यापादयत तत्र अरक्तद्विष्टमनस. कर्मबन्धो न भवति तथा अन्यस्य अपि अरक्तद्विष्टान्त. करणस्य प्राणिवधे सति अपि न कर्म-बन्धो भवति इति ॥२८॥

उपर्युक्त शीलाङ्कवृत वृत्ति से दो बातें विचारणीय है । सर्व-प्रथम पाठ भेद की विचारणीयता है । पाठ भेद काफी विशिष्ट है और वह केवल पदच्छेद के हेर-फेर से हो गया है । चूर्णिकार "पुत्त पि ता" इस प्रकार मूल गाथा मे तीन पृथक् पृथक् पद समझते है, जबकि वृत्तिकार 'पुत्त पिया' इस प्रकार दो ही पद की उद्भावना करते है । गाथा के उत्तरार्ध में चूर्णिकार—भुजमाणो वि' पाठ स्वीकार करते है, जब कि वृत्तिकार को "भुंजमाणो य" पाठ अभीष्ट है । फिर भी "य' कार का अर्थ अपि" ही करते है ।

अब जरा गाथा के अर्थ पर विचार कर लीजिए । इस सम्बन्ध मे चूर्णिकार का आशय यह है, कि "मास खाने पर भी, चूकि यह यथाप्राप्त मास त्रिकोटि शुद्ध है, अत बौद्ध भिक्षु कर्म-बन्धन से लिप्त नही होता । परन्तु मास तैयार करने वाला घातक व्यक्ति हिंसक होने से कारण कर्म-बन्ध से लिप्त होता है, फिर भले ही वह उपासक हो या अन्य कोई ।'

पूर्व पक्ष की दृष्टि से विचार करने पर चूर्णिकार का प्रतिपाद्य अर्थ युक्तियुक्त एव उचित प्रतीत होता है । विवेच्य गाथा से पूर्व २७ वी गाथा में पूर्वपक्षी बौद्ध सम्प्रदायवादी कहता है 'एवं भाव-विसोहीए निव्वाणमभिगच्छइ"—अर्थात् भाव की विशुद्धि होने से साधक निर्वाण को प्राप्त करता है । प्रस्तुत भावविशुद्धि पक्ष को ही उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिए अग्रिम २८ वी गाथा की अवतारणा की गई है । अतएव विवादास्पद २८ वी गाथा भी नि सन्देह पूर्व पक्ष की ही है, उत्तर पक्ष की नही । पूर्वपक्षी बौद्ध अपने भावविशुद्धि वाले पक्ष को समझाने के लिए कहता है कि—"यदि भाव-विशुद्धि हो, तो यथाप्राप्त त्रिकोटि शुद्ध मास खाने पर भी मेधावी भिक्षु पाप से लिप्त नही होता है ।" परन्तु वह पूर्व पक्षी हिंसा की स्वप्रतिपादित व्याख्या के अनुसार यह अवश्य कह सकता है और कहता ही है, कि "जो घातक है, या पाचक है, वह भले ही हमारी सम्प्रदाय का अनुयायी हो या और कोई हो, वह चूकि मारने वाला या पकाने वाला है, अत हिंसा-दोष से युक्त होने कारण पाप से अवश्य लिप्त होता है । इसके विपरीत जिसको हिंसा मे मूलत प्रवृत्ति नही है, वह भिक्षु तो त्रिकोटि शुद्ध जैसा आहार पाता है,

कैसा माना है अत वह पाप स कैसे लिप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। चूर्णिकार ने उक्त गाथा की चूर्णि म पूर्व पक्ष के इस प्रतिपाद्य को अतिथि भिक्षु के उदाहरण द्वारा खूब स्पष्टता के साथ उल्लेख किया है। वस्तुत पूर्व-पक्ष की अपेक्षा म चूर्णिकार का अभिमत ही हम उचित प्रतीत होता है।

आश्चर्य है कि आचार्य शीलाक का मार्ग चूर्णिकार से सर्वथा भिन्न है। शीलाक अपनी टीका म मूल पाठ के अपि अर्थ सूचक 'य' कार को मधावी के साथ जोड़ते हैं और मधावी अपि इस प्रकार विचित्र दूरान्वय का फलितार्थ यह निकालते हैं कि मधावी भिक्षु भी और हिंसा म सीधी प्रवृत्ति करने वाला उपासक या अन्य कोई साक्षात् घातक भी पाप म लिप्त नहीं होता है। कितना वचित्र्य है कि बहुश्रुत वृत्तिकार साक्षात् हिंसा करने वाले घातक को भी निष्पाप बता रहे हैं। वृत्तिकार का कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। और तो क्या पहले की २ और २७ वी गाथा के अर्थ के साथ भी वृत्तिकार के प्रतिपाद्य अर्थ की कोई ठीक सगति नहीं बठती। भला पूर्वपक्षी अपने ही सिद्धान्त के विरुद्ध ऐसा कैसे कह सकता है कि साक्षात् हिंसा करने वाला भी पाप से लिप्त नहीं होता है।

प्रसगवश यह भी निवेदन कर दूँ कि चूर्णि का सूत्रपाठ और वृत्तिकार-सम्मत सूत्रपाठ अनेक स्थानों म भिन्न भिन्न परिलक्षित होते हैं। कितने ही स्थल तो ऐसे हैं जहाँ अर्थ दृष्टि से भी काफी अन्तर है। इतना ही नहीं पूर्वपक्षी के मत की अपेक्षा से भी अर्थ-व्यवस्था नहीं रह पाई है। आश्चर्य तो इस बात का है कि क्या वृत्तिकार ने चूर्णि का पाठ सचमुच नहीं देखा था, या उसे समझा नहीं था ? प्रस्तुत विवादास्पद प्रसग म वृत्तिकार स्वय भी उक्त २८ वी गाथा को पूर्वपक्ष की ही मानते हैं और यह भी कहते हैं कि अब मूल सूत्रकार २९ वीं गाथा म पूर्व पक्ष को दूषित करने का उपक्रम करते हैं। जब वृत्तिकार विवादास्पद गाथा को पूर्वपक्ष की मानते हैं तब उन्होने पूर्व पक्ष के सिद्धान्त के विरुद्ध क्या विचित्र कल्पना की यह विद्वद्वर्ग के लिए विचारणीय हो जाता है।

आगमो के शुद्ध मूल पाठ और उसके विवेचन म हमारी चिरकाल से किस प्रकार असावधानी चली आ रही है उक्त गाथा की वृत्ति उसका एक नमूना है। सभव म यह सब केवल सूचना की दृष्टि से लिखा गया है ताकि हम लोग आगम क्षेत्र म प्रवहमान असावधानता को दूर करने का यथोचित पुरुषार्थ करें।

११ जाणइ पासइ

जन परिभाषा म दर्शन शब्द सामान्य ज्ञान, अस्पष्ट ज्ञान—अनिर्णायक ज्ञान का सूचक माना गया है और ज्ञान शब्द विशेष ज्ञान, स्पष्ट ज्ञान—निर्णायक ज्ञान का सूचक बतलाया गया है। दर्शन और ज्ञान के सम्बन्ध म यह भी माना गया है कि जीवमात्र को प्रथम दर्शन होता है और उसके पश्चात् ज्ञान। उक्त क्रम सिद्धान्त का अपवाद है कि जो मनुष्य केवली होते हैं अर्थात् केवलज्ञानी होते हैं उनको प्रथम ज्ञान होता है और बाद म दर्शन। केवल ज्ञान और केवल दर्शन म प्रथम केवल ज्ञानोपयोग होता है पश्चात् केवल दर्शनोपयोग। यह पूर्व क्रम की अपेक्षा व्युत्क्रम है। यह क्रमवाद की चर्चा जन दर्शन साहित्य म काफी विस्तार से उपलब्ध है। इस सम्बन्ध म विभिन्न मत मतान्तर प्रचलित हैं।

आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण सुप्रसिद्ध क्रमवादी आचार्य है। वे केवल ज्ञान और केवल दर्शन मे भी क्रमवादिता स्वीकार करते है। उनका ही उपरिप्रतिपादित मत है, कि केवल ज्ञान और केवल दर्शन मे प्रथम ज्ञान होता है, पश्चात् दर्शन। इस सम्बन्ध मे उनका तर्क है, कि मूल आगमो मे सर्वत्र केवलज्ञानी के लिए "जाणइ पासइ"—इस प्रकार दो क्रियाओ वाला पाठ आता है। प्रथम "जाणइ" पाठ है, पश्चात् 'पासइ' पाठ है। अत आगम पाठ से स्पष्ट है, कि केवली को पहले ज्ञानोपयोग होता है, पश्चात् सामान्य बोध। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और आचार्य मल्लवादी तार्किक के मत, आचार्य जिन भद्रगणी से भिन्न हैं। यहाँ चूकि उक्त चर्चा के विस्तार मे नही जाना है, केवल "जाणइ पासइ" क्रिया शब्दो की ही अर्थ-मीमाना करनी है, अत हम विशेषावश्यक—भाष्य के प्रणेता श्री जिन भद्र गणी क्षमाश्रमण के मत के ही सम्बन्ध मे यथावश्यक विचार चर्चा करेंगे।

धुरन्धर आगमवादी क्षमाश्रमण जी अपने पक्ष की इस प्रकार स्थापना करते हैं, कि "चूकि सूत्रो मे केवल ज्ञानियो के प्रसग मे सर्वत्र प्रथम "जाणइ" पाठ आता है, और पश्चात् "पासइ"। अत केवल ज्ञानी को प्रथम ज्ञान होता है, पश्चात् दर्शन—यह क्रमिक विचार आगम-सम्मत है।"

गणीजी के उक्त सिद्धान्त की सक्षिप्त शब्दो में समालोचना है, कि आगम-सूत्रो मे तो मात्र केवल ज्ञानियो के प्रसग मे ही नही, छद्मस्थो के प्रसग मे भी 'जाणइ पासइ" इस प्रकार क्रमिक क्रिया पदो का पाठ आता है। यही नही, कुछ स्थलो पर तो केवल "पासइ" का ही प्रयोग मिलता है। जिस श्रुत ज्ञान और मन पर्याय ज्ञान के साथ दर्शन का लेशमात्र भी सम्बन्ध नही है, उनके प्रसग मे भी 'जाणइ पासइ" का क्रमिक प्रयोग उपलब्ध होता है। अत उक्त "जाणइ पासइ" के क्रमिक प्रयोग से केवल ज्ञानी मे प्रथम ज्ञान और पश्चात् दर्शन का क्रम-विषयक मत कैसे सिद्ध हो सकता है? यदि समग्र सूत्रो मे मात्र केवल ज्ञानी के विषय मे ही ऐसा क्रमिक प्रयोग आता, तब तो अवश्य गणी श्री जी के क्रम-विषयक विचार का समर्थन हो सकता था। परन्तु यहाँ तो केवल ज्ञानी और अकेवलज्ञानी अर्थात् छद्मस्थ सबके लिए "जाणइ पासइ" का प्रयोग हुआ है और दर्शन के सम्बन्ध से रहित श्रुतज्ञान एव मन पर्याय ज्ञान के लिए भी उक्त दोनो क्रिया पदो का क्रमिक उल्लेख हुआ है। अत जिस "जाणइ पासइ" पाठ से गणी जी अपना क्रम-विषयक सिद्धान्त स्थापित कर रहे है, वह स्पष्ट ही अतिव्याप्त है। और इस स्थिति मे मात्र "जाणइ पासइ" के पाठ से ही केवल ज्ञानी के लिए दर्शन ज्ञानविषयक व्युत्क्रम का सिद्धान्त कैसे युक्तियुक्त माना जा सकता है?

पाठको की जानकारी के लिए "जाणइ पासइ" के जिन प्रसगो की चर्चा हमने ऊपर मे की है, वे सक्षेप मे यहाँ उद्धृत किए जा रहे है—

"जे इमे भंते! बेइंदिया···पंचिंदिया जीवा, एएसि आणाम वा पाणाम वा, उस्सास वा निस्सास वा जाणामो पासामो।"

—भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक १

"जे इमे पुढविक्काइया एगिंदिया जीवा, एएसि ण आणाम वा पाणाम वा उस्सास वा निस्सास वा न जाणामो न पासामो।"

—भगवता सूत्र गतक २ उद्देशक १

श्री गौतम गणधर छद्मस्थ हैं। वे उपयुक्त पाठा म कहते हैं, कि द्वीन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय जीवा तक के उच्छवास आदि का तो हम जानते हैं और देखते हैं परन्तु पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों के उच्छवास आदि को हम न जानते हैं और न देख सकते हैं।

अणगारे ण भते! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस न जाणइ न पासइ त पुण जीव सरुवि सकम्म लेस जाणइ पासइ ?

'हता गोयमा! अणगारे ण भावियप्पा अप्पणो जाव पासति।

—भगवती सूत्र शतक १४ उद्देशक ६

छउमत्थे ण भते! मणूसे अणतपएसिय खध कि पुच्छा ?
'गोयमा! अत्थेगतिए जाणति पासति।'
—भगवती सूत्र गतक १८ उद्देशक ८

उवासगदसाओ सूत्र म छद्मस्थ आनन्द श्रावक को अवधि ज्ञान होने का वर्णन है वहा पर भी सर्वत्र 'जाणइ पासइ' पाठ ही दिया हुआ है।

"तएण तस्स आणदस्स समणोवासगस्स अन्नयाकयाइ सुभेण अज्झवसाणेण तदावरणिज्जाण कम्माण खओवसमेण ओहिनाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेण खेत्त जाणइ पासइ, एव दक्खिणेण पच्चत्थिमेण य उत्तरेण जाव चुल्लहिमवत वासधरपव्वय जाणइ पासइ, उड्ढ जाव सोहम्म कप्प जाणइ पासइ अहे जाव लोलुयच्चुय नरय जाणइ पासइ।"

—उवासगदसाओ प्रथम अध्ययन

आनन्द श्रावक जब गणधर गौतम स अपने अवधिज्ञान के सम्बन्ध म बात करता है तब स्वय भी प्रथम जाणामि' और पश्चात् पासामि क्रिया पदों का क्रमिक प्रयोग करता है —

"एव भते! मम वि गिहिणो गिहमज्झावसतस्स ओहिनाणे समुप्पन्ने—पुरत्थिमेण लवणसमुद्दे पच जोयणसयाइ जाव नरय जाणामि पासामि।"

—उवासगदसाओ प्रथम अध्ययन

उपरिनिर्दिष्ट सम्पूर्ण पाठा म छद्मस्थ और केवली दानो के सम्बन्ध म प्रश्नोत्तर हैं और जिस प्रकार केवली के लिए प्रथम जाणइ' और पश्चात् 'पासइ' है उसी प्रकार छद्मस्थ के लिए भी है। यह नहीं कि छद्मस्थ के लिए प्रथम पासइ' और पश्चात् जाणइ पाठ दिया हो। यदि आचाय जिनभद्र गणी की मान्यता के अनुसार आगमकारा का यह अभिमत रहा होता कि छद्मस्थ को प्रथम दर्शन और

पश्चात् ज्ञान होता है, तथा इसके विपरीत केवली को प्रथम ज्ञान और पश्चात् दर्शन होता है, तो निश्चित रूप से छद्मस्थो के प्रसग मे प्रथम 'पासइ' और पश्चात् 'जाणइ' का पाठ आना चाहिए था। परन्तु इस प्रकार का पाठ कही पर भी नही है प्रत्युत केवली के समान ही प्रथम 'जाणइ' का पाठ है। इस स्थिति मे यह कैसे माना जाए, कि "जाणइ पासइ" पाठ जैन दर्शन-सम्मत ज्ञानदर्शन के पारिभाषिक विशेष एव सामान्य बोधरूप अर्थ को सूचित करते हैं, अथवा तद्विषयक क्रम या व्युत्क्रम-सम्बन्धी कोई विशिष्ट सूचना देते है। प्रस्तुत प्रसग मे एक बात और भी विचारणीय है। वह यह कि आनन्द श्रावक सम्यग्-दृष्टि है, भगवान् महावीर का श्रद्धालु विचारक उपासक है। यदि वस्तुत "जाणइ' पाठ विशेष बोध स्वरूप ज्ञान का और "पासइ" पाठ सामान्यबोध स्वरूप दर्शन का सूचक है, साथ ही क्रम-व्युत्क्रम के प्रश्न पर भी निर्णायक प्रकाश डालता है, तो आनन्द अवधिज्ञानी होते हुए स्वय कैसे **"जाणामि पासामि"** कहता है। आनन्द जैसे सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञानी को तो ज्ञानदर्शन की वास्तविक परिभाषा तथा उसके क्रम व्युत्क्रम का ख्याल अवश्य होना चाहिए। और यदि सचमुच ही उन्हे कुछ ख्याल होता, तो वे अपने लिए छद्मस्थ होने के कारण **"पासामि जाणामि"** ही बोलते **"जाणामि पासामि"** नही।

उक्त चर्चा के प्रारम्भ मे मैंने सकेत दिया था, कि आगमो मे कुछ प्रसग ऐसे भी है, जहाँ केवल "पासइ" पाठ ही आता है। भगवती सूत्र मे गणधर गौतम द्वारा प्रात कालीन बालसूर्य को देखने का एक प्रसग वर्णित है—

"तेण कालेण तेण समएण भगव गोयमे अचिरुग्गय बालसूरिय जासुमणाकुसुमपुञ्जप्पगास लोहितग पासइ, पासित्ता जायसड्ढे--जाव--समुप्पन्नकोउहल्ले जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ एव वयासी—किमिद भते सूरिए ?"

—भग० शतक १४, उद्देशक ६

उपर्युक्त पाठ मे भगवान् गौतम तत्काल उदयगत सूर्य को देखते है। सूर्य को देखकर गौतम के मन मे कुतूहल होता है, कि यह सूर्य क्या है ? अनन्तर गौतम भगवान महावीर के पास जाते है और अपने मन के कुतूहल को व्यक्त करते हुए प्रश्न पूछते है, कि "किमिद भते ! सूरिए ?" अर्थात् भगवन् ! यह सूर्य क्या है ?[1]

भगवती सूत्र के उपरि उद्धृत पाठ मे केवल "पासइ" पाठ है, "जाणइ" पाठ पहले या पीछे कही है ही नही। तो, क्या इसका तात्पर्य यह लिया जाए, कि गौतम स्वामी को बाल सूर्य का केवल अनाकार

---

[1] श्री गौतम मुख्य गणधर हैं, द्वादशागी के प्रणेता हैं, और ज्ञान से युक्त भी है। यह सब वर्णन भगवती सूत्र के प्रारम्भ मे ही किया हुआ है। ऐसी स्थिति मे नवोदित बालसूर्य को देखकर उनके मन मे कुतूहल का होना, कैसे सगत माना जाए ? यह कुतूहल की बात आगमाभ्यासियो के लिए सविशेष विचारणीय है।

—लेखक

दर्शन ना हुआ साकार ज्ञान नही। यदि प्रस्तुत प्रसग मे केवल अनाकार दर्शन ही मान लिया जाए तो प्रश्न है कि फिर उ ह यह सूर्य क्या है इस प्रकार दृश्यता के रूप मे सूर्य का परिबोध कैसे है ? अर्थात् उन्हे यह सूर्य है इस प्रकार निश्चित अपाय अवाय स्वरूप ज्ञान विद्यमान है। अत यहा केवल अनाकार दर्शन मात्र होने की कुछ भी सभावना नही है।

उपासकदशा सूत्र मे केवल पासइ पाठ का दूसरा प्रसग भी महत्वपूर्ण है। गौतम आनन्द के घर जाने का विचार करते हैं तब गौतम स्वामी स्वय एक पासामि क्रियापद का ही प्रयोग करते हैं। और जब गौतम अवधिज्ञानी सम्यग्दृष्टि आनन्द श्रावक के पास पहुँचते ह तब आनन्द भी उनको आते देखता है— पासइ'। केवल पासइ के उपरि चर्चित दोनो पाठ इस प्रकार है —

त गच्छामि ण आणद समणोवासय पासामि।"
"भगव गोयम एज्जमाण पासइ।

अत केवल 'पासइ से यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि गौतम और आनन्द को केवल अनाकार दर्शन ही हुआ था ज्ञान नही।

आगम साहित्य मे आने वाले जाणइ पासइ' शब्दो का स्वतन्त्र रूप से कोई विशेष अर्थ नही है। यदि उनका परस्पर भिन्न कोई विशेष अर्थ होता तो नन्दी सूत्र मे ऋजुमति और विपुलमति—उभय प्रकारक मन पर्याय ज्ञान के लिए जाणइ पासइ पाठ कैसे दिया जाता ? केवल जाणइ पाठ ही होना चाहिए था पासइ' नही। क्यो कि जैन परिभाषा के अनुसार मन पर्याय ज्ञान ही होना है दर्शन नही।

'दव्वओ ण उज्जुमई अ णते खधे जाणइ पासइ ते चेवविउलमई वितिमिरतराए जाणइ पासइ।"

—नन्दीसूत्र-सूत्र १८

जैन दर्शन की परिभाषा के अनुसार दर्शन केवल सामान्य सत्ता मात्र का ही ग्राहक होता है कभी भी विशेषरूप पर्यायो का ग्राहक नहीं होता। फिर भी आगम के कुछ पाठ ऐसे ह जिनमे दर्शन के साथ भी विशेषरूप *पर्यायो का सम्बन्ध बताया गया है।*

'केवलदसण केवलदसणिस्स सव्वदव्वेसु अ सव्वपज्जवेसु य।'

—अनुयोग द्वार सूत्र सूत्र १४४

जब कि जैन परिभाषा दर्शन को पर्यायो का ग्राहक मानती ही नही है तब अनुयोग द्वार सूत्र मे यह कैसे कहा गया कि केवल दर्शनी सब पर्यायो को देखता है।

श्रुतज्ञान के लिए भी सब द्रव्यो को जानने और देखने का उल्लेख है —

"सुअणाणी उवउत्ते सव्वदव्वाइ जाणइ पासइ।"

—नन्दी सूत्र सूत्र ५८

श्रुतज्ञान ज्ञानरूप ही है, दर्शन रूप नही। और जब वह दर्शनरूप नही है, तब उसके लिए "जाणइ" के साथ "पासइ" का पाठ किस आधार पर है? जब कि "पासइ" पद को केवल सामान्य-बोध स्वरूप दर्शन के लिए ही प्रयुक्त माना जाता हो!

प्रस्तुत प्रसग मे अन्य सूत्रो के भी अनेक पाठ दिए जा सकते है, परन्तु पाठाधिक्य से हम लेख को व्यर्थ ही दीर्घकाय नही बनाना चाहते। विवादास्पद स्थिति की स्पष्टता के लिए उल्लिखित पाठ ही पर्याप्त प्रकाश डाल देते है।

उक्त पाठो पर से यह स्पष्ट हो जाता है, कि सूत्रोक्त "जाणइ पासइ" पद यथाक्रम विशेष ज्ञान और सामान्य ज्ञान के सूचक नही है, जैसा कि कहा जाता है। और न ये पद ज्ञान दर्शन के क्रम या व्युत्क्रम के सम्बन्ध मे ही निर्णायक है। यदि ऐसा कुछ विशेष गूढ आशय नही है, जैसा कि हमने प्रतिपादित किया है, तो सहज ही प्रश्न खडा होता है, कि फिर "जाणइ पासइ" के रूप मे दो दो क्रियापदो के कथन का क्या आशय है? उक्त प्रश्न के समाधान मे हमारा अपना अभिमत सक्षेप मे इस प्रकार है—

प्राचीन आगम-साहित्य की परापूर्व से एक अपनी विशिष्ट कथन शैली चली आ रही है। उक्त शैली मे अनेक जगह ऐसे उल्लेख आते है—जहाँ एक ही भाव-प्रकाशन के लिए अनेक क्रियापदो का एक साथ प्रयोग किया गया है। आइक्खामि, भासामि, पण्णवेमि, परूवेमि,—इस प्रकार अग सूत्रो मे चार क्रिया पदो के एक साथ ही प्रचुर प्रयोग मिलते है। सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिणिव्वाइ, सव्वदुक्खाणं अत करेइ—इस प्रकार चार से अधिक क्रियापदो का एक साथ प्रयोग भी सूत्रो मे स्थान-स्थान पर आता है। क्रियापद ही नही, हट्ठ तुट्ठ चित्ते आणदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए धाराहयनीवसुरहिकुसुमचुचुमालियरोमकूवे-इत्यादि एकार्थक नाम शब्दो के प्रयोग भी, एक ही भाव को अतिशयित रूप से बताने के लिए प्राचीन साहित्य मे व्यवहृत हुए है। यह एक कथन शैली है, अत इस पर से प्रत्येक शब्द के लिए भिन्नार्थ की उद्भावना करना निराधार है।

यह शैली केवल जैन साहित्य मे ही हो, यह बात नही है। प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य मे भी उक्त शैली का प्रयोग होता रहा है। प्राचीन काल मे इस प्रकार के प्रयोग करने की एक विशिष्टभाषा शैली ही प्रचलित थी। बौद्ध पिटक ग्रन्थो मे "जानतो पस्सतो"—(मज्झिम निकाय, सव्वासवसुत्त) जैसे दो वर्तमान कृदन्त शब्द भगवान् बुद्ध के विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुए है। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक एकार्थसूचक नामो एव क्रियापदो के प्रयोग बौद्ध पिटक ग्रन्थो मे उपलब्ध है। पूर्वकाल मे ही नही, वर्तमान मे भी प्रवचन करने वाले प्रवक्ता प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए अपने व्याख्यानो मे क्रियापदो एव नामो के एकार्थक प्रयोग करते ही रहते है। जैसे कि मै मानता हू, मैं समझता हूं, मैं अनुभव करता हूँ और मै प्रत्यक्ष देख रहा हूँ आदि आदि। और भी आप देखिए, सोचिए, समझिए, विचारिए इत्यादि। यह एक प्रकार से बोलने की और अपनी बात पर बल देने की शैली ही है, और कुछ नही। प्राचीन काल से लेकर अब तक साहित्य एव लोक भाषा मे इस शैली का निराबाध प्रयोग होता चला आ रहा है। अत इन पदो का प्रत्येक के लिए कोई विशेष या व्यावर्तक अर्थ होना ही चाहिए, ऐसा कुछ नही

है। और न इस शली के प्रयोगो मे किसी विशेष सिद्धान्त या मान्यता का सम्बन्ध ही जोडना चाहिए। अतएव आगम-साहित्य मे आए 'जाणइ पासइ' अथवा केवल पासइ जस युगल प्रयोग तथा एकाकी प्रयोग का भी इधर कोई विशेष अथ लगाना, युक्ति युक्त नही मालूम होता।

प्रस्तुत लख म अग सूत्रों क ११ मुद्दा पर सक्षप म विचार किया गया है। आगमाभ्यासी या आगम विशारद श्रमण श्रमणी श्रावक और श्राविकाआ स लेखक का सविनय एव सादर निवेदन है कि वे उक्त विषया पर तथा इन्ही जसे अन्य विषया पर भी तटस्थ भाव स विचारणा करें ताकि आगमाभ्यास का दुरूह माग प्रशस्त हो सके।

लखक जिज्ञासु है आगमो का अभ्यासी भी है और भगवान् महावीर के प्रति महामानव क रूप म पूज्यभाव से श्रद्धा भी रखता है। अतएव सूत्रा म उसके अपने अभ्यासकाल म जो जो बातें विशष विचारणीय, सशोधनीय एव तटस्थ भाव से चिन्तन करन योग्य प्रतीत हुई उनम से कुछ ही बातो पर प्रस्तुत लेख म चर्चा करन का अवसर मिला है। और भी बहुत स विचारणीय विषय हैं जिनकी चर्चा सभव है किसी अन्य प्रसग पर की जा सके।

जैन-दर्शन में सप्तभंगीवाद

उपाध्याय अमरमुनि

सांख्य दर्शन का चरम विकास प्रकृति पुरुष-वाद मे हुआ, वेदान्त दर्शन का चिद्अद्वैत मे, बौद्ध दर्शन का विज्ञानवाद मे और जैन दर्शन का अनेकान्त एव स्याद्वाद मे। स्याद्वाद जैन दर्शन के विकास की चरम-रेखा है। इसको समझने के पूर्व प्रमाण एव नय को समझना आवश्यक है, और प्रमाण एवं नय को समझने के लिए सप्तभगी का समझना भी आवश्यक ही नहीं, परमआवश्यक है। जहाँ वस्तुगत अनेकान्त के परिबोध के लिए प्रमाण और नय है, वहा तत्प्रतिपादक वचन-पद्धति के परिज्ञान के लिए सप्त भगी है। यहाँ पर मुख्य रूप मे सप्त भगीवाद का विश्लेषण ही अभीष्ट है। अत प्रमाण और नय की स्वतन्त्र परिचर्चा मे न जाकर सप्त भगी की ही विवेचना करेंगे।

सप्तभंगी

प्रश्न उठता है, कि सप्तभगी क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? उसका उपयोग क्या है? विश्व की प्रत्येक वस्तु के स्वरूप-कथन मे सात प्रकार के वचनो का प्रयोग किया जा सकता है, इसी को सप्तभगी कहते है।[1]

---

[1] सप्तभि. प्रकारैं वंचन-विन्यास : सप्तभङ्गीति गीयते

—स्याद्वाद मंजरी, का० २३ टीका

धर्म और दर्शन

वस्तु के यथार्थ परिबोध के लिए जन दर्शन ने दो उपाय स्वीकार किए हैं—प्रमाण[1] और नय। संसार की किसी भी वस्तु का अधिगम (बोध) करना हो, तो वह बिना प्रमाण और नय के नहीं किया जा सकता।

अधिगम के दो भेद होते हैं—स्वार्थ और परार्थ[2]। स्वार्थ ज्ञानात्मक होता है, परार्थ शब्दात्मक। भंग का प्रयोग परार्थ (दूसर को परिबोध कराने के लिए किए जाने वाले शब्दात्मक अधिगम) में किया जाता है स्वार्थ (अपने आप के लिए होने वाले ज्ञानात्मक अधिगम) में नहीं। उक्त वचन प्रयोग रूप शब्दात्मक परार्थ अधिगम के भी दो भेद किए जाते हैं—प्रमाण वाक्य और नय-वाक्य। उक्त आधार पर ही सप्तभंगी के दो भेद किए हैं—प्रमाण-सप्तभंगी और नय सप्त भंगी। प्रमाण-वाक्य को सकलादेश और नय-वाक्य को विकलादेश भी कहा गया है। वस्तुगत अनेक धर्मों के बोधक वचन को सकलादेश और उसके किसी एक धर्म के बोधक-वचन को विकलादेश कहते हैं। जन दर्शन में वस्तु को अनन्त धर्मात्मक माना[3] गया है। वस्तु की परिभाषा इस प्रकार की है—जिसमें गुण और पर्याय रहते हैं, वह वस्तु है।[4] तत्त्व पदार्थ और द्रव्य—ये वस्तु के पर्यायवाची शब्द हैं।

सप्तभंगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि— प्रश्न उठने पर एक वस्तु में अविरोध भाव से जो एक धर्म विषयक विधि और निषेध की कल्पना की जाती है उसे सप्तभंगी कहा जाता है।[5] *भंग सात ही क्या है? क्योंकि वस्तु के एक धर्म सम्बन्धी प्रश्न सात ही प्रकार से किया जा सकता है।* प्रश्न सात ही प्रकार का क्यों होता है? क्योंकि जिज्ञासा सात ही प्रकार से होती है। जिज्ञासा सात ही प्रकार से क्यों होती है? क्योंकि संशय सात ही प्रकार से होता है। अतः किसी भी एक वस्तु के किसी भी एक धर्म के विषय में सात ही भंग होने से इसे सप्तभंगी कहा गया है। गणित शास्त्र के नियमानुसार भी तीन मूल वचनों के संयोगी एवं असंयोगी अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं कम और अधिक नहीं। तीन असंयोगी मूल भंग तीन द्विसंयोगी भंग और एक त्रिसंयोगी भंग। भंग का अर्थ है—विकल्प प्रकार और भेद।

---

[1] प्रमाणनयैरधिगमः—तत्त्वार्थाधिगम सूत्र १, ६

[2] अधिगमो द्विविधः स्वार्थः परार्थश्च स्वार्थो ज्ञानात्मकः परार्थः शब्दात्मकः।
स च प्रमाणात्मको नयात्मकश्च इयमेव प्रमाण सप्तभंगी च कथ्यते।
सप्तभङ्गीतरंगिणी, पृ० १

अधिगमहेतुः द्विविधः —तत्त्वार्थ राज वार्तिक १, ६ ४

[3] अनन्त धर्मात्मक मेव तत्त्वम्—अन्ययोग व्यवच्छेदिका का० २२

[4] वसन्ति गुण-पर्याया अस्मिन्निति वस्तु—धर्माधर्माऽऽकाश-पुद्गल-काल जीवलक्षण द्रव्यषट्कम्।
—स्याद्वाद मंजरी कारिका २३ टीका

[5] प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेध विकल्पना सप्तभङ्गी।
—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १ ६ ५ ?

सप्तभंगी और अनेकान्त

वस्तु का अनेकान्तत्व और तत्प्रतिपादक भाषा की निर्दोप पद्धति स्याद्वाद, मूलत सप्तभगी मे सन्निहित है। अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है, कि प्रत्येक वस्तु मे सामान्य रूप से और विशेष रूप से, भिन्नता की दृष्टि से और अभिन्नता की दृष्टि से, नित्यत्व की अपेक्षा से और अनित्यत्व की अपेक्षा से तथा सदरूप से और असद्रूप अनन्त धर्म होते है। सक्षेप मे—"प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु मे रहता है"—यह परिवोध अनेकान्त दृष्टि का प्रयोजन है। अनेकान्त स्वार्थाधिगम है प्रमाणात्मक श्रुतज्ञान है। परन्तु सप्तभङ्गी की उपयोगिता इस बात मे है, कि वह वस्तु-गत अनेक अथवा अनन्त धर्मों की निर्दोप भाषा मे अपेक्षा वताए, योग्य अभिव्यक्ति कराए। उक्त चर्चा का साराश यह है कि अनेकान्त अनन्त-धर्मात्मक वस्तु स्वरूप की एक दृष्टि है, और स्याद्वाद अर्थात् सप्तभगी उस मूल ज्ञानात्मक दृष्टि को अभिव्यक्त करने की अपेक्षा-सूचिका एक वचन-पद्धति है। अनेकान्त एक लक्ष्य है, एक वाच्य है और सप्तभगी स्याद्वाद एक साधन है, एक वाचक है, उसे समझने का एक प्रकार है। अनेकान्त का क्षेत्र व्यापक है, जब कि स्याद्वाद का प्रतिपाद्य विपय व्याप्य है, दोनो मे व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्ध है। अनन्तानन्त अनेकान्तो मे शब्दात्मक होने से सीमित[1] स्याद्वादो की प्रवृत्ति नही हो सकती, अत स्याद्वाद अनेकान्त का व्याप्य है, व्यापक नही।

भग कथन-पद्धति

शब्द-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द के मुख्यरूप मे दो वाच्य होते है—विधि और निपेध। प्रत्येक विधि के साथ निपेध है और प्रत्येक निपेध के साथ विधि है। एकान्त रूप से न कोई विधि है, और न कोई निपेध। इकरार के साथ इन्कार और इन्कार के साथ इकरार सर्वत्र लगा हुआ है। उक्त विधि और निषेध के सव मिलाकर सप्तभग होते हैं। सप्त भगो के कथन की पद्धति यह है —

१—स्याद् अस्ति
२—स्याद् नास्ति
३—स्याद् अस्ति-नास्ति
४—स्याद् अवक्तव्य

[1] अभिलाप्य भाव, अनभिलाप्य भावो के अनन्तवें भाग है—'पण्णवणिज्जा भावा, अणन्तभागो दु अणभिलप्पाण"—गोमट्टसार। अनन्त का अनतवाँ भाग भी अनन्त ही होता है, अत वचन भी अनन्त हैं। तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२ के विवरण मे कहा है —"एकत्र वस्तुनि अनन्तानां धर्माणा मभिलापयोग्यनामुपगमादनन्ता एव वचनमार्गा. स्याद्वादिना भवेयुः।" यह ठीक है कि वचन अनन्त है, फलत. स्याद्वाद भी अनन्त है, परन्तु वह अनेकान्त धर्मों का अनन्तवाँ भाग होने के कारण सीमित है, फलत. व्याप्य है।

५—स्याद् अस्ति अवक्तव्य
६—स्याद नास्ति अवक्तव्य
७—स्याद अस्ति-नास्ति अवक्तव्य

सप्तभगी म वस्तुत मूल भग तीन ही हैं—अस्ति नास्ति और अवक्तव्य। इसम तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी—इस प्रकार चार भग मिलान स सात भग होत हैं। द्विसयोगी भग य हैं—अस्ति नास्ति, अस्ति अवक्तव्य और नास्ति अवक्तव्य। मूल भग तीन होन पर भी फलिताथ रूप से सात भगो का उल्लख भी आगमो म उपलब्ध होता है। भगवती सूत्र मे जहाँ त्रिप्रदशिक स्कन्ध का वणन आया है, वहा स्पष्ट रूप से सात भगो का प्रयोग किया गया है।[1] आचाय कुदकुद ने सात भगो का नाम गिना कर सप्त भग का प्रयोग किया है।[2] भगवती सूत्र म अवक्तव्य को तीसरा भग कहा है।[3] जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण भी अवक्तव्य को तीसरा भग मानते है।[4] कुन्दकुद न पञ्चास्तिकाय म इसको चौथा माना है पर अपन प्रवचन सार म इसको तीसरा माना है।[5] उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियो मे दोनो क्रमो का उल्लेख मिलता है।

प्रथम भग स्याद अस्ति घट

उदाहरण के लिए घटगत सत्ता धम के सम्बन्ध म सप्त भगी घटाइ जा रही है। घट क अनन्त धर्मों म एक धम सत्ता है अस्तित्व है। प्रश्न है कि वह अस्तित्व किस अपेक्षा स है? घट है पर वह क्या है और कसे है? इसी का उत्तर प्रथम भग देता है।

घट का अस्तित्व स्यात् है कथचित् है स्व-चतुष्टय की अपक्षा स है। जब हम कहत हैं कि घडा है तब हमारा अभिप्राय यही होता है कि घडा स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल और स्वभाव की दृष्टि से है। यहाँ घट के अस्तित्व की विधि है अत यह विधि भग है। परन्तु यह अस्तित्व की विधि स्व की अपेक्षा है पर की अपेक्षा से नहीं है। विश्व की प्रत्यक वस्तु का अस्तित्व स्वरूप से ही होता है पर रूप स नही। **सव मस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।**" यदि स्वय से भिन्न अन्य समग्र पर स्वरूपो से भी घट का अस्तित्व हो तो घट फिर एक घट ही क्यो रह विश्व रूप क्या न बन जाए? और यदि विश्व रूप बन जाए, तो फिर मात्र अपनी जलाहरणादि क्रियाएँ ही घट म क्या हो अन्य पटादि की प्रच्छादनादि क्रियाए क्यों न हो? किन्तु कभी एसा होता नहीं है। एक बात और है। यदि वस्तुओ म अपन स्वरूप क समान पर

---

[1] भगवती सूत्र, श० १२, उ०१०, प्र० १९ २०
[2] पचास्तिकाय, गाथा १४
[3] भगवती सूत्र, श० १२, उ०१०, प्र० १९ २०
[4] विशेषावश्यक भाष्य गा० २ ३२
[5] प्रवचनसार ज्ञेयाधिकार, गा० ११५

स्वरूप की सत्ता भी मानी जाए[1], तो उसमें स्व-पर विभाग कैसे घटित होगा? स्व-पर विभाग के अभाव में संकर दोष उपस्थित होता है, जो सब गुड़-गोबर एक कर देता है। अतः प्रथम भंग का यह अर्थ होता है कि घट की सत्ता किसी एक अपेक्षा से है, सब अपेक्षाओं से नहीं। और वह एक अपेक्षा है, स्व की, स्व-चतुष्टय की।

द्वितीय भंग : स्याद् नास्ति घट

यहाँ घट की सत्ता का निषेध पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल और पर-भाव की अपेक्षा से किया गया है। प्रत्येक पदार्थ विधि रूप होता है, वैसे निषेध रूप भी। अस्तु, घट में घट के अस्तित्व की विधि के साथ घट के अस्तित्व का निषेध-नास्तित्व भी रहा हुआ है। परन्तु वह नास्तित्व अर्थात् सत्ता का निषेध, स्वाभिन्न अनन्त पर की अपेक्षा से है। यदि पर की अपेक्षा के समान स्व की अपेक्षा से भी अस्तित्व का निषेध माना जाए, तो घट निःस्वरूप हो जाए।[2] और यदि निःस्वरूपता स्वीकार करें, तो स्पष्ट ही सर्वशून्यता का दोष उपस्थित हो जाता है। अतः द्वितीय भंग सूचित करता है कि घट कथंचित् नहीं है। घट भिन्न पटादि की, पर-चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं है। स्व-रूपेण ही सदा स्व है, पर-रूपेण नहीं।

तृतीय भंग : स्याद् अस्ति नास्ति घट

जहाँ प्रथम समय में विधि की और द्वितीय समय में निषेध की क्रमशः विवक्षा की जाती है, वहाँ तीसरा भंग होता है। इसमें स्व की अपेक्षा सत्ता का और पर की अपेक्षा असत्ता का एक साथ, किन्तु क्रमशः कथन किया गया है। प्रथम और द्वितीय भंग विधि एवं निषेध का स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् प्रतिपादन करते हैं, जब कि तृतीय भंग एक साथ, किन्तु क्रमशः विधि-निषेध का उल्लेख करता है।

चतुर्थ भंग : स्याद् अवक्तव्य घट

जब घटास्तित्व के विधि और निषेध दोनों की युगपत् अर्थात् एक समय में विवक्षा होती है, तब दोनों को एककालावच्छेदेन एक साथ अक्रमशः बताने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहा जाता है। शब्द की शक्ति सीमित है। जब हम वस्तुगत किसी भी धर्म की विधि का उल्लेख करते हैं, तो उसका निषेध रह जाता है, और जब निषेध कहते हैं तो विधि रह जाती है। यदि विधि—निषेध का पृथक्-पृथक् या क्रमशः एक साथ प्रतिपादन करना हो तो प्रथम के तीन भंगों में यथाक्रम 'अस्ति', 'नास्ति' और अस्ति-नास्ति शब्दों के द्वारा काम चल सकता है, परन्तु विधि-निषेध की युगपद् वक्तव्यता में कठिनाई है, जिसे अवक्तव्य शब्द के द्वारा हल किया गया है। स्याद् अवक्तव्य भंग बताता है कि घट-वक्तव्यता क्रम से ही होती है, युगपद् में नहीं। स्याद् अवक्तव्य भंग एक और ध्वनि भी देता है।

---

[1] स्वरूपोपादानवत् पररूपोपादाने सर्वथा स्वपर-विभागाभावप्रसंगात्। स चायुक्तः।

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

[2] पररूपापोहनवत् स्वरूपापोहने तु निरुपाख्यत्व-प्रसंगात्। —तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

वह यह कि घट क युगपत् अस्तित्व नास्तित्व का वाचक कोई शब्द नही है अत विधि निषेध का युगपत्व अवक्तव्य है। परन्तु वह अवक्तव्यत्व सवथा सवता भावेन नहीं है। यदि सवथा सवना भावन अवक्तव्यत्व माना जाए तो एकान्त अवक्तव्यत्व का दोष उपस्थित होता है, जो जन दशन म मिथ्या होन स मान्य नही है। अत स्याद अवक्तव्य सूचित करता है कि यद्यपि विधि निषेध का युगपत्व विधि या निषध शब्द स वक्तव्य नही है अवक्तव्य है परन्तु वह अवक्तव्य सवथा अवक्तव्य नही है अवक्तव्य शब्द क द्वारा तो वह युगपत्व वक्तव्य हा है।

पञ्चम भग स्याद अस्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर प्रथम समय म विधि और द्वितीय समय म युगपत् विधि निषध की विवक्षा करने स घट का स्याद् अस्ति अवक्तव्य कहा गया है। इसम प्रथमाश अस्ति स्वरूपण घट की सत्ता का कथन करता है और द्वितीय अवक्तव्य अश युगपत् विधि निषध का प्रतिपादन करता है। पचम भग का अथ है—घट है और अवक्तव्य भी है।

षष्ठ भग स्याद नास्ति अवक्तव्य घट

यहा पर प्रथम समय म निषध और द्वितीय समय म एक साथ युगपत् विधि निषध की विवक्षा होन स घट नही है और वह अवक्तव्य है—यह कथन किया गया है।

सप्तम भग स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य घट

यहाँ पर क्रम स प्रथम समय म विधि और द्वितीय समय म निषध तथा तृतीय समय एक साथ म युगपत् विधि निषध की अपेक्षा म— घट है घट नहीं है घट अवक्तव्य है। यह कहा गया है।

चतुष्टय की व्याख्या

प्रत्यक वस्तु का परिज्ञान विधि मुखेन और निषध मुखन होता है। स्वात्मा स विधि है और परात्मा स निषध है[1] क्योकि स्वचतुष्टयन जो वस्तु सत् है वही वस्तु पर चतुष्टयन असत् है।[2] द्रव्य,

[1] जिसमे घट बुद्धि और घट शब्द की प्रवृत्ति (व्यवहार) है, वह घट का स्वात्मा है और जिसमे उक्त दोनों की प्रवृत्ति नहीं है वह घट का पटादि परात्मा है। 'घट बुद्ध्यभिधान प्रवृत्तिलिङ्ग स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्ति स परात्मा पटादि ।"

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक १, ६, ५

[2] अथ तद्यथा यदस्ति हि तदेव नास्तीति तच्चतुष्क च,
द्रव्येण क्षत्रेण च कालेन तथाऽथवापि भावेन।

—पचाध्यायी १ २६३

क्षेत्र, काल और भाव—इसको चतुष्टय कहते है। घट स्व-द्रव्य रूप मे पुद्गल है, चैतन्य आदि पर द्रव्य रूप मे नही है। स्वक्षेत्र रूप मे कपालादि स्वावयवो मे है, तन्त्वादि पर अवयवो मे नही है। स्वकाल रूप मे अपनी वर्तमान पर्यायो मे है, पर पदार्थो की पर्यायो मे नही है। स्वभाव रूप मे स्वय के रक्तादि गुणो मे है, पर पदार्थो के गुणो मे नही है।[1] अत प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव से सत् है, और पर द्रव्य, पर क्षेत्र पर काल और पर-भाव से असत् है। इस अपेक्षा से एक ही वस्तु के सत् और असत् होने मे किसी प्रकार की वाधा अथवा किसी प्रकार का विरोध नही है। विश्व का प्रत्येक पदार्थ स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से है, और पर चतुष्टय की अपेक्षा से वह नही भी है।

स्यात् शब्द की योजना

सप्तभगी के प्रत्येक भग मे स्व-धर्म मुख्य होता है, और शेप धर्म गौण अथवा अप्रधान होते है। इसी गौण-मुख्य विवक्षा की सूचना "स्यात्" शब्द करता है। "स्यात्" जहाँ विवक्षित धर्म की मुख्यत्वेन प्रतीति कराता है, वहाँ अविवक्षित धर्म का भी सर्वथा अपलापन न करके उसका गौणत्वेन उपस्थापन करता है। वक्ता और श्रोता यदि शब्द-शक्ति और वस्तुस्वरूप की विवेचना मे कुशल है,[2] तो "स्यात्" शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नही रहती। विना उसके प्रयोग के भी अनेकान्त का प्रकाशन हो जाता है। "अहम् अस्मि" मै हूँ। यह एक वाक्य प्रयोग है। इसमे दो पद है—एक "अहम्" और दूसरा "अस्मि"। दोनो मे से एक का प्रयोग होने पर दूसरे का अर्थ स्वत ही गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टता के लिए दोनो पदो का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार 'पार्थो धनुर्धर' इत्यादि वाक्यो मे 'एव' कार का प्रयोग न होने पर भी तन्निमित्तक 'अर्जुन' ही धनुर्धर है—यहाँ अर्थबोध होता है, और कुछ नही।[3] प्रकृत मे भी यही सिद्धान्त लागू पडता है। स्यात्-शून्य केवल "अस्ति घट" कहने पर भी यही अर्थ निकलता हे, कि "कथचित् घट है, किसी अपेक्षा से घट है।" फिर भी भूल-चूक को साफ करने के लिए किंवा वक्ता के भावो को समझने मे भ्रान्ति न हो जाए, इसलिए "स्यात्" शब्द का प्रयोग अभीप्ट है। क्योकि ससार मे विद्वानो की अपेक्षा साधारणजनो की सख्या ही अधिक है। अत सप्त-

---

[1] स्याद्वाद मजरी (का० २३) मे घट का स्वचतुष्टय क्रमश. पार्थिवत्व, पाटलिपुत्रकत्व, शैशिरत्व और श्यामत्वरूप मे छपा है, जो व्यवहार दृष्टि प्रधान हे।

[2] अप्रयुक्तोऽपि सर्वत्र, स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते;
विधौ निषेधेऽप्यन्यत्र, कुशलश्चेत्प्रयोजक ॥६३॥

—लघीयस्त्रय, प्रवचन प्रवेश

[3] सोऽप्रयुक्तोऽपि तज्ज्ञै., सर्वत्रार्थात्प्रतीयते;
तथैवकारो योगादिव्यवच्छेद प्रयोजन. ॥

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५६

भगी जस गम्भीर तत्त्व को ममभन का बहुमत सम्मत राज माग यहा है ,कि सवत्र ' स्यात ' [1] ग द का प्रयाग किया जाए ।

अ य द गनो मे भग योजना का रहस्य

भगा के मम्ब ध म स्पष्टता की जा चुकी है फिर भी अधिक स्पष्टीकरण के लिए इतना समभना आवश्यक है कि सप्तभगी म मूल भग तीन ही हैं—अस्ति नास्ति और अवक्तव्य । गप चार भग मयोग ज य हैं । तीन द्विसयोगी और एक त्रिसयोगी है । अद्वत वेदा त बौद्ध और वशषिक द गन की दृष्टि स मूल तीन भगा की योजना इस प्रकार की जाती है ।

अद्व त वदा त मे एक मात्र तत्त्व ब्रह्म ही है । किन्तु वह अस्ति होकर भी अवक्तव्य है । उसकी सत्ता होन पर भी वाणी से उसकी अभिव्यक्ति नही की जा सकती । अत वेदा त म ब्रह्म अस्ति होकर भी अवक्तव्य है । बौद्ध-दशन म अ यापोह 'नास्ति होकर भी अवक्तव्य है । क्योंकि वाणी के द्वारा अ य का सवथा अपोह करने पर किमी भी विधि रूप वस्तु का बोध नही हो सकता । अत बौद्ध का अ यापोह 'नास्ति होकर भी अवक्तव्य रहता है । वशेषिक द गन मे सामा य और विशप दाना स्वत त्र हैं । सामा य विशेष अस्ति-नास्ति होकर भी अवक्तव्य हैं । क्योंकि व दोनो किसी एक ग द के वाच्य नही हो सकते हैं और न सवथा भिन्न मामा य विशप म कोई अथक्रिया ही हो सकता है । इस दृष्टि स जन सम्मत मूल भगो की स्थिति अ य द गना म भी किसी न किसी रूप म स्वीकृत है । [3]

सकलादेश और विकलादेश

यह बताया जा चुका है कि प्रमाण वाक्य को सकलादेग और नय-वाक्य को विकलादेग कहत हैं । फिर भी उक्त दोना भेदा को और अधिक स्पष्टता मे समभन की आवश्यकता है । पाच नानो म श्रुत नान भी एक भेद है । उस श्रुतनान के दो [4] उपयोग हैं—स्याद्वाद और नय । स्याद्वाद सकलादेग है और नय विकलादेग । य सातो ही भग जब सकलादेगी होते हैं तब प्रमाण और जब विकलादेगी होते हैं, नय

---

[1] स्यादित्य ययम् अनेका त द्योतकम्—स्यादवाद मजरी का० ५ आचाय हेमच द्र स्यात् को अनेका त बोधक ही मानते हैं, अत उ हें स्यात् प्रमाण मे अभीष्ट है नय मे नहीं ।—सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधाय अयोग० का० २८ । तथकि भट्टाकलक लघीय स्त्रय ६२ मे स्यात् को सम्यग अनेकात और सम्यग एकांत उभय का वाचक मानते हैं अत उ हें प्रमाण और नय-दोनों में ही स्यात् अभीष्ट है ।

[2] विगेष व्यावृत्तिहेतुक होने से नास्ति है

[3] प० महे द्रकुमार सपादित—जन दशन पृ० ५४३

[4] उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद नय-सज्ञितौ ।
स्याद्वाद सकलादेशो नयो विकलसकथा ॥

—लघीयस्त्रय श्लो० ६२

नय कहे जाते है। वस्तु के समस्त धर्मो को ग्रहण करने वाला सकलादेश और किसी एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण करने वाला[1] तथा शेष धर्मो के प्रति उदासीन अर्थात् तटस्थ रहने वाला विकलादेश कहा जाता है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे—स्याद्वाद सम्पूर्णार्थ-विनिश्चायी है।[2] अत वह अनेकान्तात्मक पूर्ण अर्थ को ग्रहण करता है। जैसे "जीव" कहने मे जीव के ज्ञान आदि असाधारण धर्म, सत्त्व आदि साधारण धर्म और अमूर्तत्व आदि साधारणासाधारण आदि सभी गुणो का ग्रहण होता है। अत यह प्रमाण-वाक्य है—स्याद्वाद वचन है। नय-वाक्य वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्य रूप मे कथन करता है। जैसे "जो जीव" कहने से जीव के अनन्त गुणो मे से केवल एक ज्ञान गुण का ही बोध होता है, शेष धर्म गौण रूप मे उदासीनता के कक्ष मे पडे रहते है। सकलादेशी वाक्य के समान विकलादेशी वाक्य मे भी "स्यात्" पद का प्रयोग अनेक आचार्यो ने किया है। क्योकि वह शेष धर्मो के अस्तित्व की गौणरूप से मूक सूचना करता है। इस आधार से सप्तभगी के दो भेद किए जाते है—प्रमाण-सप्तभगी और नय-सप्तभगी।

प्रमाण-सप्तभगी

आगम और युक्ति से यह वात निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु मे अनन्त धर्म है। अत किसी भी एक वस्तु का पूर्णरूप से कथन करने के लिए तत् तद् अनन्त धर्म-बोधक अनन्त शब्दो का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु न यह सम्भव है, और न व्यवहार्य ही। अनन्त धर्मो के लिए पृथक्-पृथक् अनन्त शब्दो के प्रयोग मे अनन्त काल वीत सकता है, और तव तक एक पदार्थ का भी समग्र वोध न हो सकेगा। अस्तु, कुछ भी हो, हमे किसी एक शब्द से ही सम्पूर्ण अर्थ के वोध का मार्ग अपनाना पडता है। वह एक शब्द ध्वनि-मुखेन भले ही वाहर मे एक धर्म का ही कथन करता-सा लगता है, परन्तु अभेद प्राधान्य वृत्ति अथवा अभेदोपचार से वह अन्य धर्मो का भी प्रतिपादन कर देता है। उक्त अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार से एक शब्द के द्वारा एक धर्म का कथन होते हुए भी अखण्ड रूप से अन्य समस्त धर्मो का भी युगपत् कथन हो जाता है। अत इसको 'प्रमाण-सप्त' भगी कहते है।

प्रश्न है, कि यह अभेद वृत्ति अथवा अभेदोपचार क्या चीज है? जबकि वस्तु के अनन्त धर्म परस्पर भिन्न है, उन सव की स्वरूप सत्ता पृथक् है, तव उनमे अभेद कैसे माना जा सकता है? सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए केवल कथन मात्र अपेक्षित नही होता, उसके लिए कोई ठोस आधार चाहिए।

---

[1] अनेक-धर्मात्मक-वस्तुविषयक-बोधजनकत्व सकलादेशत्वम्।
एकधर्मात्मक-वस्तु-विषयक-बोधजनकत्वं विकलादेशत्वम्।

—सप्तभंगी तरंगिणी, पृ० १६

[2] नयनामेकनिष्ठानां, प्रवृत्ते श्रुतवर्त्मनि,
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि, स्याद्वाद श्रुतमुच्यते।

—न्यायावतार सूत्र, श्लोक, ३०

समाधान है कि वस्तु-तत्त्व के प्रतिपादन की दो शैलियाँ हैं—अभेद और भेद। अभेद-शैली भिन्नता में भी अभिन्नता का पथ पकड़ती है और भेद शैली अभिन्नता में भिन्नता का पथ प्रशस्त करती है। अस्तु, अभेद प्राधान्य वृत्ति या अभेदोपचार विवक्षित वस्तु के अनन्त धर्मों को काल आत्म रूप, अर्थ सम्बन्ध उपकार गुणिदेश संसर्ग और शब्द की अपेक्षा से एक साथ अखण्ड एक वस्तु के रूप में उपस्थित करता है। इस प्रकार एक ओर अखण्ड वस्तु के रूप में अनन्त धर्मों को एक साथ प्रतिपादित करने वाले सकलादेश से वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ समूहात्मक परिज्ञान हो जाता है।

अभेदावच्छेदक कालादि का निरूपण

जीव आदि पदार्थ कथंचित अस्तिरूप हैं उक्त एक अस्तित्व कथन में अभेदावच्छेदक काल आदि की घटन पद्धति इस प्रकार है—

१ वस्तु में जो अस्तित्व धर्म का समय है काल है वही शेष अनन्त धर्मों का भी है क्योंकि उस समय वस्तु में अन्य भी अनन्त धर्म उपलब्ध होते हैं। अतः एक अस्तित्व के साथ काल की अपेक्षा अस्तित्व आदि सब धर्म एक हैं।

२ जिस प्रकार वस्तु का अस्तित्व स्वभाव है उसी प्रकार अन्य धर्म भी वस्तु के आत्मीय रूप हैं, स्वभाव है। अतः आत्म रूप की अपेक्षा से अस्तित्व आदि सब धर्म अभिन्न हैं।

३ जिस प्रकार वस्तु अस्तित्व का अर्थ है आधार है वैसे ही अन्य धर्मों का भी वह आधार है। अतः अर्थ अर्थात् आधार की अपेक्षा अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है।

४ जिस प्रकार पृथक्-पृथक् न होने वाले कथंचित् अविष्वग्भावरूप तादात्म्य सम्बन्ध से अस्तित्व धर्म वस्तु में रहता है उसी प्रकार अन्य धर्म भी रहते हैं। अतः सम्बन्ध की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न हैं।

५ अस्तित्व धर्म के द्वारा जो स्वानुरक्तत्व करण रूप उपकार वस्तु का होता है वही उपकार अन्य धर्मों के द्वारा भी होता है। अतः उपकार की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है।

६ जो क्षेत्र द्रव्य में अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है। अतः अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद है। इसी को गुणि देश[1] कहते हैं।

---

[1] अर्थ पद से लम्बी चौड़ी अखण्ड वस्तु पूर्णरूप से ग्रहण की जाती है और गुणि-देश से अखण्ड वस्तु के बुद्धि परिकल्पित देशांश ग्रहण किए जाते हैं।

७ जो एक वस्तु-स्वरूप से वस्तु मे अस्तित्व धर्म का ससर्ग है, वही अन्य धर्मों का भी है। अत. ससर्ग[1] की अपेक्षा से भी सभी धर्मो मे अभेद है।

८. जिस प्रकार 'अस्ति' शब्द अस्तित्व धर्म-युक्त वस्तु का वाचक है, उसी प्रकार 'अस्ति' शब्द अन्य अनन्त धर्मात्मक वस्तु का भी वाचक है। 'सर्वे सर्वार्थवाचका।' अत शब्द की अपेक्षा से भी अस्तित्व आदि धर्म अभिन्न है।

कालादि के द्वारा यह अभेद व्यवस्था पर्याय स्वरूप अर्थ को गौण और गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को प्रधान करने पर सिद्ध हो जाती है। प्रमाण का मूल प्राण—अभेद है। अभेद के विना प्रमाण की कुछ भी स्वरूप-स्थिति नही है।

नय-सप्तभंगी

नय वस्तु के किसी एक धर्म को मुख्यरूप मे ग्रहण करता है, वस्तुगत शेप धर्मो के प्रति वह तटस्थ रहता है। न वह उन्हे ग्रहण करता है और न उनका निपेध ही करता है। न हाँ और न ना. एक मात्र उदासीनता' इसको 'सुनय' कहते है। इसके विपरीत, जो नय अपने विपय का प्रतिपादन करता हुआ दूसरे नयो का खण्डन करता है, उसे 'दुर्नय' कहा जाता है। नय सप्तभगी सुनय मे होती है, दुर्नय मे नही। वस्तु के अनन्त धर्मों मे से किसी एक धर्म का काल आदि भेदावच्छेदको द्वारा भेद की प्रधानता अथवा भेद के उपचार से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। इसी को 'नय-सप्तभगी' कहते है। नय सप्त भगी मे वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन भेद-मुखेन किया जाता है।

नय-सम्बन्धित भेदावच्छेदक कालादि

नय सप्त भगी मे गुणपिण्डरूप द्रव्य पदार्थ को गौण और पर्याय स्वरूप अर्थ को प्रधान माना जाता है। अत नय सप्त भगी भेद-प्रधान है। उक्त भेद भी कालादि के द्वारा ही प्रमाणित होता है।

१ वस्तुगत-गुण प्रत्येक क्षण मे भिन्न-भिन्न रूप से परिणत होते हे। अत जो अस्तित्व का काल है, वह नास्तित्व आदि का काल नही है। भिन्न-भिन्न धर्मो का भिन्न-भिन्न काल होता है, एक नही। यदि बलात् अनेक गुणो का एक ही काल माना जाए, तो जितने गुण है, उतने ही आश्रयभेद मे वस्तु भी होनी चाहिए। इस प्रकार एक वस्तु मे अनेक वस्तु होने का दोप उपस्थित होता है। अत काल की अपेक्षा वस्तुगत धर्मो मे भेद है, अभेद नही।

---

[1] पूर्वोक्त सम्बन्ध और प्रस्तुत ससर्ग मे यह अन्तर है कि तादात्म्य सम्बन्ध धर्मो की परस्पर योजना करने वाला है और ससर्ग एक वस्तु मे अशेष धर्मों को ठहराने वाला है।

२ पर्याय-दृष्टि म वस्तुगत गुणा का आत्मस्प भी भिन्न भिन्न है। यदि अनेक गुणो का आत्म स्वरूप भिन्न न माना जाए, ता गुणो म भद की बुद्धि कम होती है ? एक आत्म-स्वरूप वाले ता एक-एक ही होंगे अनेक नही। आत्म स्वरूप स भा अभेद नहा भेद ही सिद्ध हाता है।

३ नाना धर्मों का अपना-अपना आश्रय अथ भी नाना हा होता है। यदि नाना गुणा का आधार भूत पदाथ अनेक न हो ता एक का ही अनेक गुणा का आश्रय मानना पडगा जा कि तक-सगत नहा है। एक का आधार एक ही हाता है। अत अथ भद स भा मन धर्मों म भद है।

४ सम्बन्धिया के भेद स सम्बन्ध म भी भेद होता है। अनेक सम्बन्धियो का एक वस्तु म एक सम्बन्ध घटित नही हाता। देवदत्त का अपने पुत्र म जो सम्बन्ध है वही पिता भ्राता आदि के साथ नही है। अत भिन्न धर्मा म सम्बन्ध की अपक्षा स भा भेद हा सिद्ध होता है अभेद नही।

५ धर्मों क द्वारा हाने वाला उपकार भी वस्तु म पृथक-पृथक हान स अनेक रूप है एक रूप नही। अत उपकार का अपेक्षा म भी अनेक गुणा म अभेद (एकत्व) घटित नही हाता।

६ प्रत्येक गुण को अपेक्षा स गुणी का दश भी भिन्न भिन्न ही हाता है। यदि गुण क भेद से गुणी म देश भेद न माना जाए ता सवथा भिन्न दूसरे पदार्थों के गुणा का गुणी दश भी अभिन्न ही मानना होगा। इस स्थिति म एक व्यक्ति क दुख सुख और ज्ञानादि दूसर व्यक्ति म प्रविष्ट हो जाएँगे जो कि कथमपि इष्ट नही है। अत गुणी-दश म भी धर्मों का अभद नहा किन्तु भद ही सिद्ध हाता है।

७ ससग भी प्रत्यक ससग वान के भेद स भिन्न ही माना जाता है। यदि सम्बन्धिया के भद क होते हुए भी उनके ससग का अभद माना जाए, तो फिर ससर्गियो (सम्बन्धिया) का भेद कस घटित होगा ? लोक-व्यवहार म भा दान्ता का मिश्री पान सुपारी और जिह्वा क साथ भिन्न भिन्न प्रकार का ससग होता है एक नही। अत ससग से भी अभद नही भद हा सिद्ध हाता है।

८ प्रत्यक वाच्य (विपय) की अपक्षा से वाचक शब्द भिन्न भिन्न हाते हैं। यदि वस्तुगत सम्पूर्ण गुणो का एक शब्द के द्वारा ही वाच्य माना जाए तब ता विश्व क सम्पूर्ण पदार्थों का भी एक शब्द के द्वारा वाच्य क्या न माना जाए ? यदि एक शब्द द्वारा भिन्न भिन्न समस्त पदार्थों की वाच्यता स्वीकार करली जाए ता विभिन्न पदार्थों क लिए विभिन्न शब्दो का प्रयोग व्यथ सिद्ध होगा। अत वाचक शब्द की अपेक्षा स भी अभेद वृत्ति नहीं भद वृत्ति ही प्रमाणित होती है।

प्रत्येक पदाथ गुण और पयाय स्वरूप है। गुण और पर्याया म परस्पर भेदाभद सम्बन्ध है। जब प्रमाण-सप्तभगी स पदाथ का अधिगम किया जाता है तब गुण-पर्याया म कालादि के द्वारा अभद वृत्ति या अभेद का उपचार हाता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द क द्वारा ही अनन्त गुण पर्यायो से पिण्ड स्वरूप अखण्ड पदाथ का, अर्थात् अनन्त धर्मों का युगपत् परिबोध होता है। और जब नय-सप्तभगी से पदाथ का अधिगम किया जाता है तब गुण और पर्याया म कालादि क द्वारा भेद वृत्ति

अथवा भेदोपचार[1] होता है और अस्ति या नास्ति आदि किसी एक शब्द के द्वारा द्रव्यगत अस्तित्व या नास्तित्व आदि किसी एक विवक्षित गुण-पर्याय का क्रमश मुख्यरूप से निरूपण होता है। विकलादेश (नय) वस्तु के अनेक धर्मों का क्रमश. निरूपण करता है और सकलादेश (प्रमाण) सम्पूर्ण धर्मों का युगपत् निरूपण करता है। सक्षेप मे इतना ही विकलादेश और सकलादेश मे; अर्थात् नय और प्रमाण मे अन्तर है। प्रमाण सप्तभगी मे अभेद वृत्ति या अभेदोपचार का और नय सप्तभगी मे भेद वृत्ति या भेदोपचार का जो कथन है, उसका अन्तर्मर्म यह है कि प्रमाण सप्तभगी मे जहाँ द्रव्यार्थिक भाव है, वहाँ तो अनेक धर्मों मे अभेद वृत्ति स्वत. है और जहाँ पर्यायार्थिक भाव है वहाँ अभेद का उपचार—आरोप करके अनेक धर्मों मे एक अखण्ड अभेद प्रस्थापित किया जाता है। और नय सप्तभगी मे जहाँ द्रव्यार्थिकता है, वहाँ अभेद मे भेद का उपचार करके एक धर्म का मुख्यत्वेन निरूपण होता है, और जहाँ पर्यायार्थिकता है, वहाँ तो भेदवृत्ति स्वय सिद्ध होने से उपचार की आवश्यकता नही होती।

व्याप्य-व्यापक-भाव

स्याद्वाद और सप्तभंगी मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? यह भी एक प्रश्न है। दोनो मे व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध माना जाता है। स्याद्वाद 'व्याप्य' है और सप्तभगी 'व्यापक'। क्योकि जो स्याद्वाद है, वह सप्तभगी होता ही है, यह तो सत्य है। परन्तु जो सप्तभगी है, वह स्याद्वाद है भी और नही भी। नय स्याद्वाद नही है, फिर भी उसमे सप्तभगीत्व एक व्यापक धर्म है। जो स्याद्वाद और नय-दोनों मे रहता है। "अधिक देश-वृत्तित्वं व्यापकत्वम् अल्प देश वृत्तित्व व्याप्यत्वम्।"

अनन्त भंगी क्यो नहीं ?

सप्तभगी के सम्बन्ध मे एक प्रश्न और उठता है और वह यह है कि जब जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म हैं, तब सप्तभंगी के स्थान पर अनन्त भंगी स्वीकार करनी चाहिए, सप्त-भगी नहीं? उक्त प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु मे अनन्त धर्म हैं और उसके एक-एक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभगी बनती है। इस दृष्टि से अनन्त सप्तभगी स्वीकार करने मे जैन दर्शन का कोई विरोध नही है, वह इसको स्वीकार करता है। किन्तु वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर, एक ही सप्त भगी बन सकती है, अनन्त भगी नही। इस प्रकार जैन-दर्शन को अनन्त सप्त भगी का होना, तो स्वीकार है,[2] परन्तु अनन्त भगी स्वीकार नही है।

---

[1] सकलादेशो हि यौगपद्येन अशेषधर्मात्मकं वस्तु कालादिभिरभेदवृत्या प्रतिपादमति, अभेदोपचारेण वा, तस्य प्रमाणाधीनत्वात्।

विकलादेशस्तु क्रमेण भेदोपचारेण, भेद-प्राधान्येन वा, तस्य नयायत्तत्वात्।

—तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक १, ६, ५४

[2] प्रतिपर्याय सप्तभंगी वस्तुनि-इति वचनात् तथाऽनन्ता. सप्तभंग्यो भवेयुरित्यपि नानिष्टम्।

—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक १, ६, ५२

सकलता विकलता का विचार भेद

आचाय मिद्धसन और अभयदव सूरि न सत्, असत और अवक्तव्य इन तीन भगो को सकलादेशी और शेप चार भगा का विकलादेशी माना है।[1] न्यायावतार-सूत्रवार्तिक वृत्ति म[2] आचाय शान्तिसूरि न भी अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य को सकलादेश और शेप चार को विकलादेश कहा है। उपाध्याय यशोविजय न जन-तर्क भापा और गुरुतत्त्व विनिश्चिय म उक्त परम्परा का अनुगमन न करक साता भगा को सकलादेशी और विकलादेशी माना है। परन्तु अपन अप्ट सहस्री विवरणो[3] म उन्हान तीन भगो का सकलादेशी और शप चार का विकलादेशी स्वीकार किया है। अकलक और विद्यान द आदि प्राय सभी दिगम्बर जनाचाय सातो ही भगा का सकलादेश और विकलादेश के रूप म उल्लख करत हैं।

सत असत और अवक्तव्य भगो को सकलादेशी और शप चार भगा का विकलादेशी मानने वालो का यह अभिप्राय है कि प्रथम भग में द्रव्यार्थिक दृष्टि के द्वारा सत् रूप स अभेद होता है और उसमें सम्पूर्ण द्रव्य का परिबोध हो जाता है। दूसरे भग म पर्यायार्थिक दृष्टि के द्वारा समस्त पर्याया म अभेदोपचार म अभेद मानकर असत् रूप स भी समस्तद्रव्य का ग्रहण किया जा सकता है और तीसरे अवक्तव्य भग म तो सामान्यत भेद अविवक्षित ही है। अत सम्पूर्ण द्रव्य के ग्रहण म कोई कठिनाई नही है।

उक्त तीनो भग अभेदरूपण समग्र द्रव्य ग्राही होने से सकलादेशी है। इसके विपरीत अन्य शेप भग स्पप्ट ही सावयव या अशग्राही होन स विकलादेशी हैं। सातवें भग म अस्ति आदि तीन अश है और शप म दो-दो अश। इस सदभ में आचाय शान्तिसूरि न लिखा है—"ते च स्वावयवापेक्षया विकलादेशा।"[4]

परतु आज क कतिपय विचारक उक्त मत भेद को कोई विशिप्ट महत्व नही दत। उनकी दृष्टि म यह एक विवक्षाभेद क अतिरिक्त कुछ नही है। जब कि एक सत्व या असत्व क द्वारा समग्र वस्तु का ग्रहण हो सकता है तब सत्त्वासत्त्वादि रूप स मिश्रित दो या तीन धर्मो क द्वारा भी अखण्ड वस्तु का बोध क्यो नही हो सकता? अत सातो ही भगा को सकलादेशी और विकलादेशी मानना तर्क सिद्ध राजमार्ग है।

सप्तभगी का इतिहास

भारतीय दर्शनो म विश्व क सम्बन्ध म सत् असत् उभय और अनुभय—य चार पक्ष बहुत

---

[1] प० सुखलाल जी और प० बेचरदास जी द्वारा सपादित—सन्मति तर्क सटीक पृ० ४४६

[2] प० दलसुख मालवणिया सपादित पृ० ९४

[3] पष्ठ २०८

[4] न्यायावतार सूत्र वार्तिक वृत्ति—पृ० ९४

प्राचीन काल से ही विचार-चर्चा के विपय रहे हे। वैदिक काल मे[1] जगत् के सम्वन्ध मे सत् और असत् रूप से परस्पर विरोधी दो कल्पनाओ का स्पप्ट उल्लेख है। जगत् सत है या असत्?—इस विपय मे उपनिषदो मे भी[2] विचार उपलव्ध होते है। वही पर सत् और असत् की उभयरूपता और अनुभयरूपता के, अर्थात् वचनागोचरता[3] के उल्लेख भी प्राप्त होते है। अवक्तव्य तो उपनिपत्साहित्य का एक मुख्य सूत्र है, यह निर्विवाद ही ह। बुद्ध के विभज्यवाद और अव्याकृतवाद मे भी उक्त चार पक्षो का उल्लेख मिलता है। महावीर कालीन तत्त्व-चिन्तक सजय के अज्ञानवाद मे भी उक्त चार पक्षो की उपलब्धि होती है। भगवान् महावीर ने अपनी विशाल एवं तत्त्व-स्पर्शिणी दृप्टि से वस्तु के विराट् रूप को देखकर कहा—वस्तु मे उक्त चार पक्ष ही नही, अपितु एक-एक वस्तु मे अनन्त पक्ष है, अनन्त विकल्प हे, अनन्त धर्म है। विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। अतएव भगवान् महावीर ने उक्त चतुष्कोटि से विलक्षण वस्तुगत प्रत्येक धर्म के लिए सप्त भगी का और इस प्रकार अनन्त धर्मो के लिए अनन्त सप्त-भगी का प्रतिपादन करके वस्तु वोध का सर्वग्राही एव वैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया।

भगवान् महावीर से पूर्व उपनिपदो मे वस्तु-तत्त्व के सदसद्वाद को लेकर विचारणा प्रारम्भ हो चुकी थी, परन्तु उसका वास्तविक निर्णय नही हो सका। सजय ने उसे अज्ञात कहकर टालने का प्रयत्न किया। बुद्ध ने कुछ वातो मे विभज्यवाद का कथन करके शेप वातो मे अव्याकृत कहकर मौन स्वीकार किया। परन्तु भगवान् महावीर ने वस्तु-स्वरूप के प्रतिपादन मे उपनिपद के अनिश्चयवाद को, सजय के अज्ञानवाद को और बुद्ध के एकान्त एव सीमित अव्याकृतवाद को स्वीकार नही किया। क्योकि तत्त्व चिन्तन के क्षेत्र मे किसी वस्तु को केवल अव्याकृत अथवा अज्ञात कह देने भर से समाधान नही होता। अतएव उन्होने अपनी तात्त्विक दृप्टि और तर्क-मूलक दृप्टि से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ और स्पप्ट निर्णय किया। उनकी उक्त निर्णय-शक्ति के प्रतिफल है—अनेकान्तवाद, नयवाद, स्याद्वाद और सप्तभगीवाद।

विभज्यवाद

एक वार बुद्ध के शिष्य शुभमाणवक ने बुद्ध से पूछा—"भते! सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नही होता। आपका क्या अभिप्राय है?" बुद्ध ने इसका जो उत्तर दिया, वह मज्झिम निकाय (सुत्त, ९, ९,) मे उपलव्ध है उन्होने कहा—"माणवक! मै यहाॅ विभज्यवादी हूँ, एकाशवादी नही हूँ।" इस प्रसग पर बुद्ध ने अपने आपको विभज्यवादी स्वीकार किया है। विभज्यवाद

---

[1] एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति,—ऋग्वेद १, १६४, ४६
सदसत् दोनो के लिए देखिए ऋग्वेद १०, १२९

[2] सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—छान्दोग्योपनिषद् ६, २
असदेवेदमग्र आसीत्—वही, ३, १९, १

[3] यतो वाचो निवर्तन्ते—तैत्तिरीय २, ४

का अभिप्राय है—प्रश्न का उत्तर एकान्तवाद में नहीं परन्तु विभाग करके अनेकान्तवाद में देना। इस वर्णन पर से विभज्यवाद और एकांशवाद का परस्पर विरोध स्पष्ट हो जाता है। परन्तु बुद्ध सभी प्रश्नों के उत्तर में विभज्यवादी नहीं थे। अधिकतर वे अपने प्रसिद्ध अव्याकृतवाद का ही आश्रय ग्रहण करते हैं।

जैन आगमों में भी विभज्यवाद शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे? इसके उत्तर में[1] सूत्रकृतांग में कहा गया है कि उसे विभज्यवाद का प्रयोग करना चाहिए। सूत्रकृतांगगत 'विभज्यवाद' शब्द का अर्थ टीकाकार शीलांक स्याद्वाद और 'अनेकान्तवाद' करते हैं। बुद्ध का विभज्यवाद सीमित क्षेत्र में था अतः वह व्याप्य था। परन्तु महावीर का विभज्यवाद समग्र तत्त्व-दर्शन पर लागू होता था अतः व्यापक था। और तो क्या स्वयं अनेकान्त पर भी अनेकान्त का सार्वभौम सिद्धान्त घटाया गया है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—अनेकान्त भी अनेकान्त है। प्रमाण अनेकान्त है और नय एकान्त। इतना ही नहीं यह अनेकान्त और एकान्त सम्यग है या मिथ्या है—इस प्रश्न का उत्तर भी विभज्यवाद से दिया गया है। आचार्य अकलंक की वाणी है[2]—अनेकान्त और एकान्त दोनों ही सम्यक् और मिथ्या के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध परस्पर विरोधी-से प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का ग्रहण करने वाला सम्यग् अनेकान्त है तथा वस्तु में तद् वस्तु स्वरूप से भिन्न अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करना केवल अर्थशून्य वचन विलास मिथ्या अनेकान्त है। इसी प्रकार हेतु विशेष के सामर्थ्य से प्रमाण निरूपित वस्तु के एक देश का ग्रहण करने वाला सम्यग् एकान्त है और वस्तु के किसी एक धर्म का सर्वथा अवधारण करके अन्य अशेष धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकान्त है अर्थात् नय सम्यग् एकान्त है और दुर्नय मिथ्या एकान्त है।

जैन दर्शन का यह अनेकान्तरूप ज्योतिर्मय नक्षत्र मात्र दार्शनिक चर्चा के क्षितिज पर ही चमकता नहीं रहा है। उसके दिव्य आलोक में मानव जीवन की प्रत्येक छोटी बड़ी साधना प्रकाशमान है। छेद सूत्र मूल उनकी चूर्णियाँ और उनके भाष्यों में उत्सर्ग और अपवाद के माध्यम से साध्वाचार का जो सूक्ष्म तत्त्वस्पर्शी चिन्तन किया गया है उसके मूल में सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद का ही स्वर मुखर है। कि बहुना जैन-दर्शन में वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन सर्वत्र अनेकान्त और स्याद्वाद के माध्यम से ही हुआ है जो अपने आप में सदा सर्वथा परिपूर्ण है। यह वाद व्यक्ति देश और काल से अबाधित है अतएव अनेकान्त विश्व का अजर अमर शाश्वत और सर्वव्यापी सिद्धान्त है।

---

[1] विभज्ज वायं च वियागरेज्जा—सूत्रकृतांग १, १४, २२
अनेकान्तोऽप्यनेकान्त, प्रमाण-नय साधन —स्वयम्भू स्तोत्र
[2] तत्त्वार्थराजवार्तिक १ ६ ७

जैन-बौद्ध-दर्शन : एक तुलना

उदयचन्द जैन, एम० ए० (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

दर्शन का अर्थ

मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह प्रत्येक कार्य के समय अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है। इसी विचार-शक्ति को विवेक कहते हैं। मनुष्य और पशुओ मे भेद भी यही है कि पशुओ की प्रवृत्ति अविवेक पूर्वक होती है और मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक पूर्वक होती है। यदि कोई मनुष्य अविवेक पूर्वक प्रवृत्ति करता है, तो उसे नाम से ही मनुष्य कहा जा सकता है, वास्तव मे नही। मनुष्य मे जो विचार-शक्ति या विवेक है, उसी का नाम दर्शन है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक दर्शन होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने। दर्शन हमारे जीवन का एक अभिन्न अग है, हम उसे अपने जीवन से पृथक् नही कर सकते।

दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति

'दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम्'—अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का स्वरूप देखा जाए, वह दर्शन है। यह ससार नित्य है या अनित्य? इसकी सृष्टि करने वाला कोई है या नही? आत्मा का स्वरूप क्या है? इसका पुनर्जन्म होता है या यह इसी शरीर के साथ समाप्त हो जाती है? ईश्वर की सत्ता है या नही? इत्यादि प्रश्नो का समुचित उत्तर देना दर्शनशास्त्र का काम है। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करने से दर्शनशास्त्र वस्तु-परतन्त्र है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ऋषि और महर्षियो ने अपनी तात्त्विक दृष्टि से जिन जिन तथ्यो का साक्षात्कार किया, उनको दर्शन शब्द के द्वारा कहा गया है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि दर्शन का अर्थ साक्षात्कार है, तो फिर विभिन्न दर्शनो मे पारस्परिक

भेद का कारण क्या है। इस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि अनन्त धर्मात्मक वस्तु को विभिन्न ऋषियों ने अपने अपने दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया और तदनुसार ही उसका प्रतिपादन किया। अतः यदि हम दर्शन' शब्द का अर्थ भावनात्मक साक्षात्कार के रूप में ग्रहण करें तो उपर्युक्त प्रश्न का समाधान हो सकता है। क्योंकि विभिन्न ऋषियों ने अपने अपने दृष्टिकोणों से वस्तु के स्वरूप को जानकर उसी का बार-बार मनन और चिन्तन किया और इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी-अपनी भावना के अनुसार वस्तु के स्वरूप का दर्शन हुआ। भावना के द्वारा वस्तु के स्वरूप का स्पष्ट प्रतिभास होता है यह बात अनुभव से सिद्ध है। काम शोक, भय, उन्माद आदि के वशीभूत होकर मनुष्य अविद्यमान पदार्थों को सामने विद्यमान सरीखे देखते हैं। कहा भी है—

> काम शोक भयोन्माद चौर स्वप्नाद्युपप्लुता ।
> अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥ — प्रमाण वार्तिक २ । २८२

कारागार में बन्द कामी पुरुष रात्रि के गहन अन्धकार में आँखों के बन्द होने पर भी कान्ता को सतत भावना के द्वारा कान्ता के मुख को स्पष्ट देखता है। यथा—

> पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्र-दुर्भेद्ये ।
> मयि च निमीलित नयने तथापि कान्तानन व्यक्तम् ॥

भारतीय दर्शन में जैन बौद्ध दर्शन का स्थान

भारतीय दर्शन को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—वैदिक दर्शन और अवैदिक दर्शन। वेद की परम्परा में विश्वास रखने वाले न्याय वैशेषिक सांख्य योग मीमांसा और वेदान्त—ये छह दर्शन वैदिक दर्शन हैं। तथा वेद को प्रमाण न मानने के कारण चार्वाक बौद्ध और जैन—ये तीन दर्शन अवैदिक दर्शन हैं। कुछ लोग जैन और बौद्ध दर्शन को वैदिक दर्शन की शाखा के रूप में ही स्वीकार करते हैं उनकी ऐसी मान्यता ठीक नहीं है। क्योंकि ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि श्रमण परम्परा के *अनुयायी उक्त दोनों धर्मों और दर्शनों का* स्वतन्त्र अस्तित्व है। भारतीय दर्शन के विकास में जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यदि भारतीय दर्शन में से उक्त दोनों दर्शनों को पृथक् कर दिया जाए तो भारतीय दर्शन में एक बहुत बड़ी कमी दृष्टिगोचर होगी।

जैन-दर्शन का प्रारम्भ और विकास

जैन-दर्शन की मान्यतानुसार जैन दर्शन की परम्परा अनादि काल से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस युग में आदि तीर्थंकर ऋषभनाथ से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकरों ने कालक्रम से जैन दर्शन और धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जो लोग जैन दर्शन को अनादि नहीं मानना चाहते हैं उन्हें कम से कम जैन दर्शन को उतना प्राचीन तो मानना ही पड़ेगा जितना प्राचीन और कोई दूसरा दर्शन है। आचार्य कुन्दकुन्द उमास्वामी समन्तभद्र, अकलङ्क विद्यानन्दि माणिक्यनन्दि

प्रभाचन्द, हेमचन्द्र, आदि आचार्यो ने जैन-दर्शन के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है। इन आचार्यो ने इतर दर्शनो के सिद्धान्तो का निराकरण करके अपने सिद्धान्तो का प्रमाण के वल पर व्यापक रूप से समर्थन किया है। भारतीय दर्शन के इतिहास मे जैन-दर्शन का विशेप महत्वपूर्ण स्थान है। भिन्न-भिन्न दार्शनिको ने अपनी-अपनी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या भावना से जिस वस्तु-तत्त्व को देखा, उसी को दर्शन के नाम से कहा। लेकिन किसी भी तत्व के विपय मे कोई भी तात्विक दृष्टि ऐकान्तिक नही हो सकती है। सर्वथा भेदवाद या अभेदवाद, सर्वथा नित्यैकान्त या क्षणिकैकान्त एकान्त दृष्टि है, क्योकि प्रत्येक तत्व अनेक धर्मात्मक है। कोई भी दृष्टि उन अनेक धर्मो का एक साथ प्रतिपादन नही कर सकती है। इस सिद्धान्त को जैनदर्शन ने अनेकान्त दर्शन के नाम से कहा है। जैन-दर्शन का मुख्य ध्येय अनेकान्त सिद्धान्त के आधार पर विभिन्न मतो का समन्वय करना है। अत भारतीय दर्शन के विकास को समझने के लिए जैन दर्शन का विशेप महत्व है।

बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ और विकास

वैदिक दर्शन की परम्परा मे परिस्थिति वश उत्पन्न होने वाली बुराइयो और त्रुटियो को दूर करने के लिए सुधारक के रूप मे महात्मा बुद्ध के द्वारा बौद्ध धर्म का उदय हुआ। और महात्मा बुद्ध के वाद बौद्ध दर्शन का प्रारम्भ हुआ। बुद्ध ने विशेष रूप से धर्म का ही उपदेश दिया था, न कि दर्शन का। अध्यात्म-शास्त्र की गुत्थियो को शुष्क तर्क की सहायता से सुलझाना बुद्ध का उद्देश्य न था, किन्तु दु खमय ससार से प्राणियो का उद्धार करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। 'बुद्ध' ने देखा कि लोग पारलौकिक जीवन की समस्याओ मे उलझकर ऐहिक जीवन की समस्याओ को भूलते जा रहे है। इसीलिए उन्होंने सरल आचार मार्ग का प्रतिपादन करने के लिए अष्टाग मार्ग (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया। तथा आत्मा और शरीर भिन्न है या अभिन्न ? लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? इत्यादि प्रश्नो को अव्याकृत (अकथनीय) वतलाया। बुद्ध ने जिन वातो को अव्याकृत कहकर टाल दिया था, वाद मे उनके अनुयायी दार्शनिको ने उन्ही वातो पर विशेप ऊहापोह करके बौद्ध-दर्शन को प्रतिष्ठित किया। वसुवन्धु, नागार्जुन, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त आदि आचार्यो ने इतर दर्शनो के सिद्धान्तो का निराकरण पूर्वक स्वसिद्धान्तो का व्यापकरूप से समर्थन किया है। बौद्ध दर्शन ससार के दार्शनिक इतिहास मे अपना विशेप स्थान रखता है।

जैन-बौद्ध दर्शन में समानता

जैन और बौद्ध दर्शन मे कुछ वातो की अपेक्षा से समानता है तथा अन्य वातो की अपेक्षा से असमानता भी है। समानता सूचक बाते निम्न है—

१ दोनो ही दर्शन श्रमण-सस्कृति के अनुयायी है।

२ दोनो ही दर्शन वैदिक क्रियाकाण्ड के विरोधी है। बुद्ध और महावीर—दोनो ही समकालीन थे और दोनो ने ही यज्ञो मे विहित क्रियाकाण्डो का विरोध करके समाज को नैतिक पतन से बचाया था।

३ दोनो ही दशन अहिंसा क अनुयायी है। यद्यपि अय दशना न भी अहिसा को माना है लकिन बुद्ध और महावीर ने यज्ञ विहित हिंसा का निषेध करके अहिंसा को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया है। महावीर न तो प्राणीमात्र क प्रति हिंसा को त्याज्य बतलाकर तथा काम क्रोध लाभ आदि को भी हिंसा बतलाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिसा का प्रतिपादन किया है।

४ दोनो ही दशन कम (काय) क अनुसार वण व्यवस्था को मानत हैं, न कि जम के अनुसार। वदिक दशन न ब्राह्मण क्षत्रिय वश्य और शूद्र—इन चार वर्णों की व्यवस्था को जम के द्वारा माना है। लकिन जन-बौद्ध दशन क अनुसार कोई जम लन मात्र स ब्राह्मण या क्षत्रिय नही कहला सकता है किन्तु ब्राह्मण या क्षत्रिय के काय करके ही वसा बन सकता है।

५ दोनों ही दशन सब मनुष्यो म समानता के प्रतिपादक ह। सब मनुष्य समान है सबका अपना अपना विकास करन का अधिकार है, कोई उच्च या नीच नही है तथा स्त्री और शूद्र को भी ज्ञान प्राप्त करन का अधिकार है।

६ दोना ही दशन वद को पौरुषय मानन है। मीमासको न वेद का अपौरुषय माना है। दोनो ही दशनो ने मीमासको की इस मायता का सप्रमाण खण्डन करक वेद को पौरुषय सिद्ध किया है।

७ दोनो ही दशन ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानत है। नयायिक-वशषिक दशन की मायता है कि इस विश्व की सृष्टि एक एसे ईश्वर क द्वारा हुई है जो नित्य व्यापक और सवज्ञ ह। दोनो ही दशना न प्रबल प्रमाणा के आधार पर सृष्टि कतृत्व का खण्डन करके सिद्ध किया है कि यह ससार अनादि परम्परा स इसी प्रकार चला आया है और इसका रचयिता ईश्वर नही है।

८ दोनो ही दशन शुभ और अशुभ कर्मों का फल मानते हैं तथा परलाक म विश्वास रखत हैं।

दोनो दशनों मे तत्त्व व्यवस्था

जन दशन म द्रव्य या वस्तु का लक्षण सत् बतलाया गया है और उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्य से सहित वस्तु को सत् कहा गया है—सद्द्रव्य लक्षणम् उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्। प्रत्येक पदाथ त्रयात्मक है। एक पर्याय का नाश होने ही दूसरी पर्याय उत्पन्न हा जाती है तथा उन दानो पर्याया में एक तत्त्व अविच्छिन्न रूप स बना रहता है। यह बात अनुभव म भी आती है। हम दखत है कि स्वण क कडा का तुडवाकर जब हम उसका कुण्डल बनवा लेत हैं ता कडारूप पयाय का नाश कुण्डलरूप पर्याय की उत्पत्ति और उन दानो म स्वणरूप द्रव्य का अविच्छिन्नता दृष्टिगोचर हाती है। जीव पुद्गल धम अधम आकाश और काल क भेद स द्रव्य छह हैं और प्रत्यक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप है। मूल म जाव और अजीव—य दो ही द्रव्य हैं। जीव और अजीव क सयाग और वियाग जय कुछ एसी पर्याय उत्पन्न होती ह जिहें तत्त्व क नाम से कहा गया है। अत जन दशन म तत्त्व ७ मान गए हैं—जीव, अजीव आस्रव बध सवर, निजरा और माक्ष। इही म पुण्य और पाप को मिलाकर ९ पदाथ कह गए है।

बौद्ध दर्शन मे स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के भेद से दो तत्त्व मानकर भी यथार्थ मे स्वलक्षण को ही परमार्थ सत् माना गया है और सामान्य लक्षण को मिथ्या माना गया है। वस्तु मे दो प्रकार का तत्त्व देखा जाता है। असाधारण और साधारण। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी विशेषता को लिए हुए है, यही असाधारण (स्वलक्षण) तत्त्व है। सब मनुष्यो मे मनुष्यत्व नामक एक साधारण धर्म की कल्पना की जाती है, अत मनुष्यत्व मनुष्यो का साधारण धर्म है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वस्तु का लक्षण—अर्थक्रिया कारित्व है। वस्तु वह है, जो अर्थक्रिया करे—'अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वाद्वस्तुन।' घट की अर्थ-क्रिया जल धारण है पट की अर्थक्रिया आच्छादन है। इस प्रकार प्रत्येक अर्थ की अपनी-अपनी अर्थ-क्रिया होती है। यह अर्थक्रिया स्वलक्षण मे ही बनती है, सामान्य मे नही। घटत्व मे कभी भी जल-धारण रूप अर्थक्रिया सम्भव नही है, अत सामान्य मिथ्या है।

जैन दर्शन मे पदार्थ को सत् माना गया है तथा इस सत् के विषय मे कोई विवाद नही है। किन्तु बौद्ध दर्शन मे सत् की व्याख्या को लेकर बौद्ध दार्शनिको मे मुख्य रूप से चार भेद पाए जाते है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता मानते है तथा उसका प्रत्यक्ष भी मानते है। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ की सत्ता मानकर भी उसे प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानते है। योगाचार के अनुसार ज्ञानमात्र ही तत्त्व है और माध्यमिको के अनुसार शून्य की ही प्रतिष्ठा है। इन चारो सिद्धान्तो का वर्णन निम्न श्लोक मे सुन्दर रूप से किया गया है—

> मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
> योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिल।
> अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिक,
> प्रत्यक्ष क्षणभङ्गुर च सकल वैभाषिको भाषते॥

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अन्य दार्शनिको ने 'शून्य' शब्द का अर्थ 'अभाव' किया है, किन्तु माध्यमिक दर्शन के आचार्यो के मौलिक ग्रन्थो के अनुशीलन मे शून्य का अभाव रूप अर्थ सिद्ध नही होता है। किसी पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय—इन चार कोटियो का प्रयोग सम्भव है। परन्तु परमार्थ तत्त्व का विवेचन इन चार कोटियो मे नही किया जा सकता। अत अनिर्वचनीय होने के कारण परमार्थ तत्त्व को शून्य शब्द से कहा गया है। यथा—

> न सन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
> चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्व माध्यमिका विदु॥ —माध्यमिक कारिका १।७

आत्म-व्यवस्था

जैन दर्शन आत्मा को चैतन्य मानकर अनादि और अनन्त मानता है। आत्मा का स्वभाव अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य है। ससार अवस्था मे कर्मो के द्वारा आवृत्त होने के कारण इन गुणों का पूर्ण विकास नही हो पाता है। लेकिन कर्मो के नाश होने पर ये गुण अपने स्वाभाविक

रूप म प्रगट हो जात ह । ससारी आत्मा कर्म के वश होकर मनुष्य गति, तिर्यञ्च गति नरक गति और देवगति—इन चार गतियो म भ्रमण करता रहता है और काललब्धि आन पर क्रमश कर्मों का नाश करके वह भगवान् भी बन सकता है ।

आत्मा के विषय म बौद्ध दर्शन की मान्यता जन दर्शन स बिल्कुल विपरीत है । बौद्ध दर्शन न चित्त (ज्ञान) को तो माना है लकिन एक स्वतन्त्र आत्म द्रव्य को नही माना है । रूप वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान इन पाच स्कन्धो क समुदाय का नाम हो आत्मा है । इनके अतिरिक्त आत्मा की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहा है । प्रत्यक आत्मा नामरूपात्मक है । यहाँ रूप स अभिप्राय शरीर के भौतिक भाग स है और नाम से तात्पय मानसिक प्रवृत्तियो स है । वेदना सज्ञा सस्कार और विज्ञान—य नाम के ही भेद है । इन पाँच स्कन्धों का सन्तान (परम्परा) बराबर चलती रहता है । अत आत्मा क न होन पर भी जन्म, मरण और परलोक की व्यवस्था बन जाती है । आत्मा को न मानन का कारण यह ह कि आत्मा का सद्भाव सब अनर्थों को जड ह । आत्मा के सद्भाव म ही अहकार का उदय होता है । आत्मा के होन पर स्व और पर का विभाग होता है । इसस स्व क लिए राग और पर क लिए द्वष उत्पन्न होता ह । और राग-द्वष के कारण अन्य समस्त दोष उत्पन्न होत है । अत आत्मा समस्त दोषो की उत्पत्ति का कारण है । यथा—

> आत्मनि सति पर-सज्ञा स्व पर विभागात् परिग्रह-द्वषौ ।
> अनयो सप्रतिब धात् सर्वे दोषा प्रजायन्ते ॥

इस प्रकार सब अनर्थों की जड होन क कारण बौद्ध दर्शन म आत्मा का निषध किया गया है ।

निर्वाण-व्यवस्था

जन दर्शन म ससार ससार क कारण मोक्ष और मोक्ष के कारणो को माना गया है । कर्मों का आस्रव और बध ससार क कारण हैं सवर और निर्जरा मोक्ष के कारण हैं । बौद्ध दर्शन म इन्हीं चार बातो को चार आर्य सत्य क नाम स कहा गया है । दु ख समुदय निरोध और मार्ग—य चार आर्य सत्य ह । ससार दु खरूप है । दु ख के कारण तृष्णा को समुदय कहते हैं । दु खो के नाश का नाम निरोध या निर्वाण है और निरोध क उपाय का नाम मार्ग है । इस प्रकार दोनो दर्शनो म निर्वाण को माना गया है । जन दर्शन के अनुसार कर्मों के नाश होन पर आत्मा की शुद्ध अवस्था का नाम निर्वाण या मोक्ष है । मोक्ष म आत्मा अनन्तकाल तक अनन्त ज्ञान दर्शन सुख तथा वीर्य सम्पन्न रहता है । बौद्ध दर्शन के अनुसार निर्वाण क स्वरूप म बडा विवाद है । हीनयान क अनुसार निर्वाण म क्लेशावरण का ही अभाव होता ह किन्तु महायान के अनुसार निर्वाण म ज्ञेयावरण का भी अभाव हो जाता है । एक दु खा भावरूप है तो दूसरा आनन्द रूप । भदन्त नागसन की सम्मति म निर्वाण क बाद व्यक्तित्व का सर्वथा लोप हो जाता है । निर्वाण का अर्थ है—बुझ जाना । जब तक दीपक जलता रहता है तभी तक उसकी सत्ता है और दीपक क बुझ जान पर उसकी सत्ता हो समाप्त हो जाती है । पञ्च स्कन्ध की सन्तान रूप आत्मा का भी निर्वाण दीपक की तरह हो है । महाकवि अश्व घोष का कहना है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिश न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिश न काञ्चिद् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
—सौन्दरनन्द १६।२८,२६

निर्वाण का मार्ग

जैन दर्शन मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया गया है—'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि-मोक्ष मार्ग' । ये तीनो एक साथ मिलकर मोक्ष के मार्ग है, न कि पृथक् पृथक् । बौद्ध दर्शन मे अष्टाग मार्ग या मध्यम-मार्ग को निरोध का मार्ग कहा गया है । सम्यग्दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि—ये मार्ग के आठ अग है । इसके आठ अग होने से इसका नाम अष्टाग-मार्ग है । इसे मध्यम मार्ग भी कहते है, क्योकि बुद्ध ने प्रत्येक बात मे दो अन्तो को छोडने का उपदेश दिया था । जैसे अत्यधिक भोजन करना और बिल्कुल भोजन न करना—ये भोजन के विषय मे दो अन्त (छोर) है । इन्हे छोडना चाहिए, क्योकि दोनो से ही अहित की सभावना है । अत प्रत्येक विषय मे दो अन्तो को छोडकर मध्यम मार्ग पर चलना चाहिए ।

सर्वज्ञ-व्यवस्था

जैन दर्शन के अनुसार ज्ञानावरण कर्म का पूर्ण नाश हो जाने पर एक ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है, जो समस्त द्रव्यो की त्रिकालवर्ती पर्यायो को एक साथ हस्तामलकवत् जानता है । इसे केवल ज्ञान कहते है । अत चार घातिया कर्मो के अभाव मे आत्मा सर्वज्ञ हो जाता है । सर्वज्ञ की सिद्धि युक्ति के द्वारा भी की जाती है । सूक्ष्म (परमाणु आदि), अन्तरित (राम, रावणादि) और दूरवर्ती (सुमेरु आदि) पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है, क्योकि वे अनुमेय हैं । जो अनुमेय होता है, वह किसी के प्रत्यक्ष भी होता है । जैसे पर्वत मे अग्नि । इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है । यथा—

सूक्ष्मान्तरित दूरार्था प्रत्यक्षा' कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसस्थिति. ।।

बौद्ध दर्शन के अनुसार ऐसा कोई सर्वज्ञ नही है, जो सब पदार्थो को एक साथ जानता हो । बुद्ध को ऐसा सर्वज्ञ न मानकर हेय और उपादेय तत्त्वो का ज्ञाता होने से ही प्रमाण माना गया है । स्व-पर कल्याण के लिए जो आवश्यक बाते हे, उनका ज्ञान होना चाहिए, सारे कीडे-मकोडो के जानने से क्या लाभ है । कोई दूर की बात जाने, या न जाने लेकिन इष्ट तत्त्व को जानना आवश्यक है । यदि दूरदर्शी को प्रमाण माना जाए, तो फिर गृद्धो की भी उपासना करनी चाहिए । तथाहि

हेयोपादेय-तत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदक ।
य प्रमाणमसाविष्टो न तु सवस्य वेदक ॥

तस्मादनुष्ठेयगत ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीट सख्या परिज्ञान तस्य न क्योप युज्य त ।

दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेतान् गृध्रानुपास्महे ॥

—प्रमाण वार्तिक

तीथकर पद की प्राप्ति के कारण

जन दर्शन म दशन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओ को तीथकर प्रकृति के बध का कारण बतलाया गया है। बौद्ध दर्शन म दान शील प्रज्ञा वीय क्षान्ति और समाधि इन छह पारमिताओ को बुद्धत्व प्राप्ति का कारण माना गया है। बुद्ध न अपन पूवजन्मो म इन पारमिताओ का अभ्यास करके बुद्धत्व को प्राप्त किया था। पारमिता का अथ है—पूणता। दान की पूणता दान पारमिता है। इस प्रकार छह पारमिताओ की पूणता होन पर बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

प्रमाणवाद

जन दर्शन म अपन और अपूव पदाथ के निश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण माना गया है—'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानप्रमाणम्'। बौद्ध दर्शन म अविसवादी तथा अज्ञात अथ को जानन वाले ज्ञान का नाम प्रमाण है— प्रमाणमविसवादि ज्ञानमज्ञाताथ प्रकाशो वा। जन दर्शन म प्रमाण क प्रत्यक्ष और परोक्ष क भद स दो भेद करके पुन साव्यवहारिक प्रत्यक्ष तथा मुख्य प्रत्यक्ष के भेद स प्रत्यक्ष के दो भेद तथा स्मृति प्रत्यभिज्ञान तक, अनुमान और आगम क भद से परोक्ष क ५ भेद किए गए हैं। विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद ज्ञान को परोक्ष माना गया है। जन दर्शन म वास्तविक प्रत्यक्ष उस ही माना गया है जो इन्द्रिय आदि की सहायता क बिना केवल आत्मा स ही उत्पन्न होता है। अत अवधिज्ञान मन पर्यायज्ञान और केवल ज्ञान को ही मुख्य प्रत्यक्ष माना है। पाँच इन्द्रियो स जन्य और मनोजन्य ज्ञान को लोक व्यवहार की अपेक्षा स ही प्रत्यक्ष कहा गया है। प्रत्यक पदाथ सामान्य और विशेष रूप है और ऐसा ही पदाथ प्रमाण का विषय होता है।

बौद्ध दर्शन क अनुसार कल्पना से रहित और अभ्रान्त ज्ञान का नाम प्रत्यक्ष है— कल्पनापोढम भ्रान्त प्रत्यक्षम्। वस्तु म नाम जाति गुण क्रिया आदि की योजना करना कल्पना है। प्रत्यक्ष इस कल्पना स रहित अथात् निर्विकल्पक होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष-स्वसवेदन प्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष के भेद स प्रत्यक्ष क चार भेद हैं। प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है और अनुमान का विषय सामान्य लक्षण है। बौद्ध—प्रत्यक्ष और अनुमान—य दो ही प्रमाण मानते है।

अन्यापोहवाद

जैन दर्शन आप्त के वचन आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को आगम-प्रमाण मानता है और अर्थ को शब्द का वाच्य स्वीकार करता है। किन्तु बौद्ध-शब्द और अर्थ मे—सर्प और नकुल जैसा वैर मानते हैं। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ मे किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने के कारण शब्द अर्थ का प्रतिपादन न करके अन्यापोह अर्थात् अन्य के निषेध को कहता है। 'गो' शब्द गाय को न कहकर अगोव्यावृत्ति अर्थात् गाय से भिन्न अन्य सब पदार्थों के निषेध को कहता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के अनुसार शब्द का वाच्य अर्थ न होकर अन्यापोह होता है।

नित्यानित्यवाद

जैन दर्शन पदार्थ को न तो सर्वथा नित्य मानता है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य मानता है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्य है। इस मान्यता के विपरीत बौद्ध दर्शन की मान्यता है कि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है। प्रत्येक पदार्थ क्षण-क्षण मे स्वत विनिष्ट होता रहता है। पदार्थ स्वभाव से ही विनाशशील है। **'सर्व क्षणिक सत्वात्'** इस अनुमान से सब पदार्थों मे क्षणिकत्व की सिद्धि की जाती है। बौद्धो की मान्यता है कि नित्य पदार्थ मे न तो युगपत् अर्थक्रिया बन सकती है और न क्रम से। अत क्षणिक पदार्थ मे ही अर्थक्रियाकारित्व रूप सत् की व्यवस्था होती है। सत् होने से ही सब पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे सर्वथा क्षणिकवाद को माना गया है।

ध्यान-योग

जैन दर्शन मे आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल के भेद से चार ध्यान बतलाए गए है और इनमे से प्रत्येक के चार-चार भेद किए गए है। बौद्ध दर्शन मे भी चार प्रकार के ध्यानो का वर्णन उपलब्ध होता है। दीर्घनिकाय के अनेक सूत्रो मे चारो ध्यानो के स्वरूप का विवेचन किया गया है। यथा—

प्रथम ध्यान मे वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता इन पाँच चित्तवृत्तियो की प्रधानता रहती है।

द्वितीय ध्यान इसमे वितर्क और विचार का अभाव हो जाता है।

तृतीय ध्यान इसमे प्रीति भी नही रहती है, और

चतुर्थ ध्यान इसमे सुख का भी अभाव हो जाने पर केवल एकाग्रता शेष रह जाती है। इस प्रकार साधक स्थूलता तथा बहिरगता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरङ्गता मे प्रवेश करता है। ध्यान के विषय मे चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है तथा उस विषय मे चित्त का अनुमज्जन करना विचार है। इससे चित्त मे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह प्रीति है। इसके अनन्तर शरीर मे जो शान्ति या स्थिरता का भाव उत्पन्न होता है, वह सुख है। प्रीति मानसिक आनन्द है, और सुख शारीरिक स्थिरता। विषय मे चित्त का पूर्ण रूप से समाहित हो जाना एकाग्रता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद

बौद्ध दर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है—प्रतीत्यसमुत्पाद । इसका अर्थ है—सापेक्ष कारणतावाद । अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति । अस्मिन् सति इदं भवति । अस्योत्पादादयमुत्पद्यते इति इदं प्रत्ययार्थ प्रतीत्य समुत्पादार्थ । ततश्च हेतु प्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद प्रतीत्य समुत्पादार्थ । घट की उत्पत्ति मिट्टी कुम्भकार दण्ड चक्र आदि से होती है । मिट्टी घट का हेतु है और कुम्भकार दण्ड चक्र आदि प्रत्यय हैं । अत हेतु और प्रत्यय की अपेक्षा से होने वाली पदार्थ की उत्पत्ति को प्रतीत्य समुत्पाद कहते है । अविद्या सस्कार विज्ञान नामरूप षडायतन स्पर्श, वेदना तृष्णा उपादान, भव जाति और जरामरण—ये प्रतीत्यसमुत्पाद के १२ अग है । इन अगो की सज्ञा निदान भी है । इसे भवचक्र भी कहते है ।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्त सिद्धान्त जनदर्शन का एक विशिष्ट सिद्धान्त है जिसे अन्य किसी दर्शन ने नही माना है लेकिन जिसका मानना आवश्यक ही नही अनिवार्य है । दूसरे दर्शनो ने अनन्त धर्मात्मक वस्तु मे एक एक धर्म को लेकर उसका प्रतिपादन किया है और जनदर्शन ने स्याद्वाद के द्वारा उन अनेक दृष्टियो का समन्वय किया है । यदि अन्य दर्शन भी स्याद्वाद सिद्धान्त को अपनालें तो फिर उनमे कोई विरोध शेष नही रहेगा और आपेक्षिक दृष्टि से उन सबका कथन सत्य सिद्ध हो जाएगा । जनदर्शन ने वस्तु मे अनेक धर्मो को मानकर स्याद्वाद के द्वारा उनका प्रतिपादन किया है । वस्तु के उन अनेक धर्मो को आपेक्षिक दृष्टि से कथन करने की शैली का नाम स्याद्वाद है । यह स्याद्वाद न तो सशयवाद है और न अनिश्चयवाद किन्तु अपेक्षावाद है । यहा स्यात् शब्द एक निश्चित अपेक्षा को बतलाता है । जब हम कहते है कि वस्तु स्यात सत् है और स्यात् असत् तो यहाँ प्रथम स्यात का अर्थ है—स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से तथा दूसरे स्यात् का अर्थ है परद्रव्य, क्षेत्र काल और भाव की अपेक्षा से । कोई भी वस्तु स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और वही वस्तु परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा से असत् है । यही स्याद्वाद है । स्याद्वाद के द्वारा विवक्षित किसी एक धर्म का प्रतिपादन मुख्य रूप से होता है तथा अन्य समस्त धर्मों का प्रतिपादन गौण रूप से । इस प्रकार स्याद्वाद के द्वारा हम विचार के क्षेत्र मे होने वाले समस्त विरोधो और सघर्षों को दूर कर सकते है तथा समस्त दर्शनों मे सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं । अनेकान्त और स्याद्वाद जनदर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है । अनेकान्त और स्याद्वाद-जनदर्शन का प्राण है ।

इस प्रकार यहाँ जन बौद्ध दर्शनो के कुछ प्रमुख विषयो पर सक्षेप मे प्रकाश डाला गया है । जिज्ञासुओ को दोनो दर्शनो के सिद्धान्तो को विस्तार से जानने के लिए उनके मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए । प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही दर्शन का अध्ययन नही करना चाहिए किन्तु यथासभव और यथाशक्ति इतर दर्शन के ग्रन्थो का भी अध्ययन करना चाहिए । ऐसा करने से ही हम वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं । हम युक्तिवादी होना चाहिए ।

बुद्ध और महावीर पूर्णत. युक्तिवादी थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार जौहरी आग मे तपा-कर, काट कर और कसौटी पर कसने के बाद स्वर्ण को ग्रहण करता है, उसी प्रकार हे भिक्षुओ ! अच्छी तरह से परीक्षा करने के बाद ही हमारे वचनो को ग्रहण करना, न कि इसलिए कि ये बुद्ध या महावीर के वचन हैं—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डित. ।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥
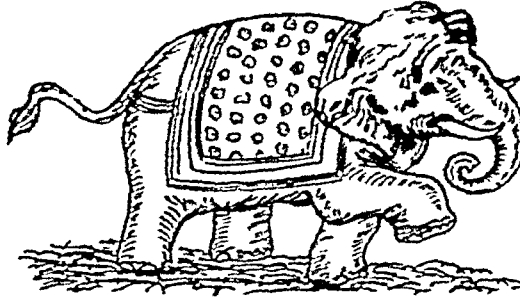
ब्रह्म और सम

पूज्यपाद पण्डित सुखलाल जी संघवी
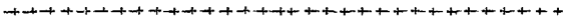
भारतीय तत्त्व विचार के सम्बन्ध में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि उस तत्त्व विचार के अलग अलग दो उद्गम स्थान हैं—एक तो है स्वात्मा और दूसरा प्रकृति। पहला आन्तर है और दूसरा बाह्य।

समता का प्रेरक तत्त्व सम

किसी अज्ञात काल में मनुष्य अपने विषय में विचार करने के लिए प्रेरित हुआ कि मैं कौन क्या हूँ? कैसा हूँ? और अन्य जीवों के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? ऐसे कई प्रश्न उद्भूत हुए। इनका उत्तर पाने के लिए वह अन्तर्मुख हुआ और अपने संशोधन के परिणाम-स्वरूप उसे ज्ञात हुआ कि मैं एक सचेतन तत्त्व हूँ और अन्य प्राणी वर्ग में भी ऐसी ही चेतना है। इस विचार ने उसे अपने और दूसरे प्राणिवर्ग के बीच समता का दर्शन कराया। उस दर्शन में से समभाव के विविध अर्थ और उसकी भूमिकाएँ तत्त्व विचार में आयी। बुद्धि के इस प्रवाह को सम के नाम से पहचाना जाता है।

ब्रह्म और उसके विविध अर्थ

बुद्धि का दूसरा उद्गमस्थान है बाह्य प्रकृति। जो लोग विश्वप्रकृति के विविध पहलुओं, घटनाओं और उसके प्रेरक बल की ओर आकर्षित हुए थे उनको उसमें कवित्व का बल्कि कहना चाहिए कि कवि स्वभाव चिन्तन की भूमिका मिली। उदाहरणार्थ—ऋग्वेद के किसी कवि ने उषा के रमणीय-मनोहर और रोमांचकारी दर्शन का संवेदन किया उसने उषा का गान एक स्वतन्त्र देवता रूप में उसी सूक्त में

किया। समुद्र की उछलती हुई तरगो और तूफानो के बीच नौका विहार करते हुए ऋग्वेद के जिन कवि को समुद्र के अधिष्ठायक वरुण का रक्षणहार के तौर पर स्मरण हो आया, उसने वरुणसूक्त मे इन वरुण देव का अपने सर्वशक्तिमान रक्षणहार के तौर स्तवन किया। जिनको अग्नि की ज्वालाओ और प्रकाश-उत्पादक शक्तियो का रोमाचक सवेदन हुआ, उसने रात्रि-सूक्त की रचना की। इसी प्रकार वाक्, स्कम्भ, काल आदि सूक्तो के बारे मे भी कहा जा सकता है। प्रकृति के ये अलग-अलग पहलू हो या उनमे कोई दिव्य सत्त्व हो या फिर इन सबकी पृष्ठ-भूमि मे कोई एक परम गूढ तत्त्व हो, परन्तु उन भिन्न-भिन्न कवियो की प्रार्थनाएँ, दृश्यमान प्रकृति के किसी न किसी प्रतीक का आश्रय लेकर उद्भूत हुई है। इस प्रकार की भिन्न-भिन्न प्रतीको को स्पर्श करती हुई प्रार्थनाएँ 'ब्रह्म' रूप मे पहचानी जाती थी।

ब्रह्म के इस प्राथमिक अर्थ से क्रमश अनेक अर्थ फलित हुए। जिन यज्ञो मे इन सूक्तो का विनियोग होता है, वे भी ब्रह्म कहलाए। उनके निरूपक ग्रन्थ और विधिविधान करने वाले पुरोहित भी ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण के तौर पर व्यवहार मे आए। और प्राचीन काल मे ही प्रकृति के ये विविध पहलू या दिव्य सत्त्व, इन सभी की एक ही तत्त्व के रूप मे पहचान कराई गयी। और ऋग्वेद के प्रथम मडल मे ही स्पष्ट दिखलाया गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि इत्यादि अलग-अलग नामो से जिनका स्तवन या गान होता है—वे सभी आखिर मे तो एक ही तत्त्व है और वह तत्त्व है सत्। इस प्रकार प्रकृति के अनेक प्रतीको का विश्राम अपने अतिम सत्रूप मे ही हुआ। यह विचार अनेक रूप मे आगे चलकर विकसित और विस्तृत होता गया।

श्रमण और ब्राह्मण विचारधारा की एक भूमिका

समभाव के उपासक समन या समण कहलाए। सस्कृत मे उनका शमन और श्रमण रूपान्तर हुआ है। परन्तु 'सम' शब्द सस्कृत होने के कारण सस्कृत मे उसका रूप 'समन' होना है। ब्रह्म के उपासक और चिन्तक ब्राह्मण कहलाए। प्रथम वर्ग मुख्यरूप से आत्मलक्षी रहा, दूसरे वर्ग ने विश्व-प्रकृति से प्रेरणा प्राप्त की थी और वह उसी के प्रतीको द्वारा सूक्ष्मतम तत्त्व तक पहुँचा था, अतएव मुख्यरूप से वह प्रकृतिलक्षी बना रहा। इस प्रकार दोनो वर्गो की बुद्धि का आद्यप्रेरक स्थान अलग-अलग था, परन्तु दोनो वर्गो का बुद्धि-प्रवाह तो किसी अन्तिम सत्य की ओर ही बहता चला जा रहा था।

बीच के अनेक कालखण्डो मे इन दोनो प्रवाहो की दिशा पृथक् होती या पृथक् होती-सी जान पडती थी। कभी-कभी उनमे संघर्ष भी होता। परन्तु सम का आत्मलक्षी प्रवाह अन्त मे समग्र विश्व मे चेतन तत्त्व है, और ऐसा तत्त्व सभी देहधारियो मे स्वभाव मे ही समान है—इस स्थापना मे जाकर अटका। और इसीलिए उसने पृथ्वी, जल और वनस्पति तक मे चेतन तत्त्व को देखा और अनुभव किया। दूसरी तरफ प्रकृतिलक्षी दूसरा विचार प्रवाह विश्व के अनेक वाह्य पहलुओ को स्पर्श करता हुआ अन्तर की ओर मुडा और उपनिषद्काल मे उसने यह स्पष्ट रूप से स्थापित कर दिया कि अखिल विश्व की जड मे जो एक सत् या ब्रह्म तत्त्व है, वही देहधारी जीवित सभी व्यक्ति मे भी है। इस तरह पहले प्रवाह मे व्यक्तिगत चिन्तन समग्र विश्व के समभाव मे परिणत हुआ और उसी के आधार पर जीवन का

आचार मार्ग का प्रचलित हुआ। दूसरी ओर विश्व के मूल में दृष्ट परम तत्त्व ही व्यक्तिगत जीव है, जीव व्यक्ति परम तत्त्व से भिन्न है ही नहीं—इस प्रकार का अद्वैत भी स्थापित हुआ। और उसी अद्वैत के आधार पर ही अनेक आचारों की योजना भी हुई। गंगा और ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थान तो अलग अलग हैं परन्तु अन्त में वे दोनों प्रवाह एक ही महासमुद्र में जा मिलते हैं। ठीक उसी प्रकार आत्मलक्षी और प्रकृतिलक्षी दोनों—विचारधाराएँ अन्त में एक ही भूमिका पर आ मिलीं। भेद अगर कहीं भी दिखाई देता है तो वह मात्र शाब्दिक है और ज्यादातर तो बीच में समय के होने वाले संघर्ष में उत्पन्न संस्कारों के कारण ही है।

शाश्वत विरोध परन्तु एकता की प्रेरक परमार्थ दृष्टि

यह सत्य है कि समाज में, शास्त्रों में और शिलालेख आदि में भी ब्रह्म और सम के आसपास प्रवर्तित विचार और आचार के भेदों या विरोधों का लेखा जोखा है, बौद्ध पिटकों, जैन आगमों और अशोक के शिलालेखों तथा दूसरे अनेक ग्रंथों में ब्राह्मण और श्रमण—इन दोनों वर्गों के उल्लेख हम देखते हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने इन दोनों वर्गों का शाश्वत विरोध के रूप में भी निर्देश किया है। फिर भी जैसा कि ऊपर कहा गया है ये दोनों प्रवाह अपनी अपनी परम्परा के अनुसार एक ही परम तत्त्व का स्पर्श करते हैं—यदि ऐसा प्रतिपादन किया जाए तो किस दृष्टि से? इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर दिए बिना तत्त्व जिज्ञासा को संतुष्ट नहीं किया जा सकता।

वह दृष्टि है परमार्थ की। परमार्थ दृष्टि कुल, जाति, वर्ण, भाषा, क्रियाकाण्ड और वेश आदि के भेदों का अतिक्रमण करके वस्तु के मूलभूत स्वरूप को देखती है। अतः वह स्वाभाविक रूप से अभेद या समता की ओर झुकती है। व्यवहारजन्य भेद और विरोध सम्प्रदायों तथा उनके अनुगामियों में प्रवर्तित हुए थे और उसके फलस्वरूप समय-समय उनमें संघर्ष भी उत्पन्न हुआ था। उस संघर्ष के सूचक ब्राह्मण श्रमण वर्गों का लेखा-जोखा तो सुरक्षित रहा परन्तु साथ ही साथ परमार्थ दृष्टि को प्राप्त ऐसे प्राज्ञ पुरुषों ने जिस सत्य को देखा या अनुभव किया उसका लेखा जोखा भी अनेक परम्परा के शास्त्रों में सुरक्षित है। जैन आगम जिनमें कि ब्राह्मण और श्रमण वर्गों के भेद का निर्देश है उन्हीं में सच्चे ब्राह्मण और श्रमण वर्गों का समीकरण दिखाई देता है। बौद्ध पिटकों में भी वैसा ही समीकरण है। महाभारत में व्यास ने स्थान-स्थान पर सच्चे ब्राह्मण की व्याख्या सच्चे श्रमण के रूप में ही की है। वनपर्व में अजगर के रूप में अवतीर्ण नहुष ने सच्चा ब्राह्मण कौन? इस प्रकार का प्रश्न युधिष्ठिर से पूछा था। उत्तर में युधिष्ठिर के मुख से महर्षि व्यास ने कहा है कि हर जन्म लेने वाली संकर प्रजा है। मनु के शब्दों का उद्धरण करके व्यास ने समर्थन किया है कि प्रजामात्र संकरजन्मा है। और सद्वृत्ति वाला शूद्र भी जन्म के ब्राह्मण से भी उत्तम है। व्यक्ति में सच्चरित्र और प्रज्ञा के होने पर भी वह सच्चा ब्राह्मण बनता है। यही है परमार्थ दृष्टि। गीता में ब्रह्मपद का अनेक जगह उल्लेख मिलता है। साथ ही सम पद भी उसके अर्थ में मिलता है। 'पण्डिताः समदर्शिनः' यह वाक्य तो सुप्रसिद्ध है। सुत्तनिपात नामक बौद्ध ग्रंथ में एक परमट्ठक सुत्त है जिसमें जोर देकर कहा गया है कि दूसरे निम्न या हीन और मैं श्रेष्ठ—यह परमार्थ दृष्टि नहीं है।

गगा और ब्रह्मपुत्र के उद्गम स्थान अलग-अलग है। तिस पर भी दोनो महानदियो के प्रवाह अलग, किनारे की वसतियाँ अलग, उनकी भाषा और आचार भी अलग-अलग है। इस जुदाई मे रत रहने वाले मिलन स्थान की एकता को देख ही नही पाते। फिर भी वह एकता तो सच्ची है ही। उसी तरह भिन्न-भिन्न प्रभवस्थान से उदभूत विचार प्रवाह भिन्न भिन्न प्रकार से पुष्ट होने से उनके स्थूल आवरण मे रत ऐसे अनुगामी, दोनो प्रवाहो का समीकरण नही देख पाते, परन्तु वह तथ्य तो अवाधित है। उसको देखने वाले प्रतिभासम्पन्न पुरुष समय-समय पर जन्म लेते ही रहे है, और सो भी उन्ही सव परपराओ मे। श्रमण परम्परा का मुद्रालेख समत्व है। फिर भी जैन और बौद्ध जैसी श्रमण परम्पराओ मे ब्रह्मचर्य और ब्रह्म-विहार शब्द इतने प्रचलित हुए हे कि उनको उन परम्पराओ से अलग किया ही नही जा सकता। उसी प्रकार जिनका मुद्रालेख ब्रह्मतत्त्व है, उस वर्ग मे भी सम पद ऐसा एकरस हो गया है कि ब्रह्मभाव से से या ब्राह्मी स्थिति मे उसे अलग करना सम्भव ही नही है।

प्राचीन काल से चली आ रही इस परमार्थदृष्टि का उत्तरकाल मे भी सावधानी से पोषण हुआ है। इसलिए जन्म से ब्राह्मण परन्तु सप्रदाय से बौद्ध ऐसे वसुवन्धु ने अभिधर्मकोष मे स्पष्ट कहा है कि—**"श्रामण्यममलो मार्ग ब्राह्मण्यमेव तत्।"** उसके ज्येष्ठ वन्धु असग ने भी इसी से मिलती-जुलती सूचना कही दी है।

साप्रदायिक कहे जा सके, ऐसे नरसिह महेता मे परमार्थदृष्टि की यह परम्परा व्यक्त हुई है। अखिल विश्व मे एक ही तत्त्व के रूप मे उन्होने हरि का कीर्तन किया है और फिर उस हरि के भक्त वैष्णवजन के एक लक्षण रूप समदृष्टि और तृष्णात्याग को कहा है। उसी तरह साम्प्रदायिक माने जाने वाले उपाध्याय यशोविजयजी ने भी कहा है कि—समत्व को प्राप्त करना ही ब्रह्मपद की प्राप्ति है।

अन्त मे इस परमार्थ और व्यवहार दृष्टि का भेद और परमार्थ दृष्टि की यथार्थता डा० ए० वी० ध्रुव ने भी दिखाई है। एक ब्राह्मणी के हाथ के भोजन को अस्वीकार करते हुए उन्होने कहा कि यह तो मेरा एक कुटुम्वगत नागर सस्कार है, उसके औचित्य को मैं तर्क-सिद्ध नही मानता, केवल सस्कार का ही अनुसरण करता हूँ। सच्ची दृष्टि का उन्होने दूसरी जगह निर्देश किया है। जैन आगम सूत्रकृताग की प्रस्तावना लिखते हुए उन्होने कहा हे कि जैन (श्रमण) वने विना ब्राह्मण नही बना जा सकता, और ब्राह्मण वने विना जैन नही वना जा सकता। तात्पर्य यह कि जैन धर्म का तत्त्व इद्रियो को और मनोवृत्तियो को जातने मे है और ब्राह्मण धर्म का तत्त्व विश्व की विशालता को आत्मगत करने मे है।

इस सक्षिप्त निरूपण से हम इतना प्राप्त कर सकते है कि वुद्धि आखिरकार एक ही सत्य पर जा अटकती है और साथ ही यह भी समभ सकते है कि व्यवहार के चाहे जितने भेद और विरोध अस्तित्व मे हो, फिर भी परमार्थ दृष्टि कभी लुप्त नही होती।

—अनुवादक : रमेश मालवणिया

यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ

आचार्य श्री तुलसीजी

यज्ञ भारतीय साहित्य का बड़ा विश्रुत शब्द है। इसका सामान्य अर्थ था देवपूजा। वैदिक विचार धारा के योग से यह विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया—वैदिक कर्म-काण्ड का वाचक बन गया। एक समय भारतीय जीवन में यज्ञ संस्था की धूम थी, आज वह निष्प्राण-सी है। वेद-काल में उसे बहुत महत्त्व मिला और उपनिषद् काल में उसका महत्त्व कम होने लगा।

ऋग्वेदकालीन मान्यता था— जो यज्ञ रूपी नौका पर सवार न हो सके वे अकर्मी हैं ऋणी हैं और नीच अवस्था में दबे हुए हैं।[1]

इसके विपरीत मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है— यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ इनको श्रेय मानते हैं वे बार बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।[2]

यज्ञ का विरोध

श्रमण परम्पराएं अहिंसा निष्ठ थीं इसलिए वे प्रारम्भ से यज्ञ का विरोध करती रही थीं। उसका प्रस्फुटित रूप हमें जैन बौद्ध साहित्य और महाभारत में मिलता है। महाभारत यद्यपि श्रमणों का विचार

---

[1] ऋग्वेद संहिता १०।४४।६
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ।

[2] मुण्डकोपनिषद् १।२।७
प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

ग्रय नही हे, पर उसका एक वहुत वडा भाग उनकी विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। माख्य और शैव भी यज्ञ-सस्था के उतने ही विरोधी रहे हे, जितने जैन और वौद्ध। प्रजापति दक्ष के यज्ञ मे शिव का आह्वान नही किया गया। महर्पि दधीचि ने अपने योग-वल से जान लिया कि ये मव देवता एक मत हो गए हैं, इसलिए उन्होने शिव को निमन्त्रित नही किया है।[1] उन्होने प्रजापति दक्ष से कहा—"मै जानता हूँ, आप सव लोगो ने मिल-जुलकर, शिव को निमन्त्रित न करने का निश्चय किया हे, परन्तु मै शकर से वढकर किसी को देव नही मानता। प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ नष्ट हो जाएगा।"[2]

आखिर वही हुआ। पार्वती के अनुरोध पर शिव ने वीरभद्र की मृष्टि की। उसने प्रजापति दक्ष के यज्ञ का विध्वश कर डाला।[3]

यह कथा बताती है कि शिव उम सस्कृति के थे, जिमे यज्ञ मान्य नही था। इमीलिए देवताओ ने उन्हे निमन्त्रित नही किया था।

साख्य-कारिका मे स्पष्ट है कि साख्य लोग यज्ञ मे विश्वास नही करते थे। वे इसे हेय मानते थे।

महर्पि कपिल और स्यूमरश्मि के सवाद मे भी यही प्राप्त होता है। स्यूमरश्मि हिसा का ममर्थन करता है और महर्पि कपिल अहिसा की प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हे। उन्होने त्वष्टा के लिए नियुक्त गाय को देखकर नि श्वास लेते हुए कहा—हा वेद! तुम्हारे नाम पर लोग ऐमा-ऐमा अनाचार करते हैं।

स्यूमरश्मि ने कहा—आप वेदो की प्रामाणिकता मे सदेह करते है। महर्पि कपिल वोले—मै वेदो की निन्दा नही करता हूँ। किन्तु वैदिक मत से भिन्न दूमरा मत हे—कर्मो का आरम्भ न किया जाए—उसका प्रतिपादन कर रहा हूँ। यज्ञ आदि कार्यो मे आलम्वन (पशु-वध) न करने पर दोप नही होता और आलम्वन करने पर महान् दोप होता है। मै अहिमा मे परे कुछ भी नही देखता।[4]

राक्षस, नाग आदि यज्ञ विरोधी थे। पुराणो के अनुसार असुर आर्हत धर्म के अनुयायी हो गए थे।[5] रावण ने भी राजा मरुत को हिंसात्मक यज्ञ से विमुख किया था।[6]

---

[1] महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २८४। १६

[2] वही अध्याय २८४। २१

[3] वही अध्याय २८४। २६-५०।

[4] वही अध्याय २६८, श्लोक ७-१७।

[5] विष्णु पुराण ३। १७, १८।

[6] त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व ७, सर्ग २, पत्र ७।

यज्ञ के प्रकार

यज्ञ के मुख्य तीन प्रकार मिलते हैं—

(१) औषधि-यज्ञ—जिसमे फल-फूल आदि का व्यवहार होता ।
(२) प्राणी-यज्ञ—जिसमे पशु और मनुष्य की बलि दी जाती ।
(३) आत्म-यज्ञ—जो आध्यात्मिक व्रत से सम्पन्न होता ।

१ औषधि यज्ञ

अजयष्टव्यम्—इस वैदिक श्रुति का अर्थ-परिवर्तन किया गया तब पशु-बलि प्रचलित हुई । इससे पूर्व औषधि-यज्ञ किए जाते थे । महाभारत का एक प्रसग है—एक बार ब्रह्म ऋषि यज्ञ के लिए एकत्रित हुए । उस समय देवताओ ने कहा—'अज से यज्ञ करना चाहिए और इस प्रकरण में अज का अर्थ बकरा ही है ।' ब्रह्मर्षियो ने कहा—'यज्ञ मे बीजो द्वारा यजन करना चाहिए, यह वैदिक श्रुत है । बीज का नाम ही अज है, बकरे का वध करना उचित नही । यह सतयुग चल रहा है इसमे पशु का वध कैसे किया जा सकता है ?'[1] देवता और ऋषि सवाद कर रहे थे, इतने मे राजा वसु उस मार्ग से निकला । वह सत्यवादी था । सत्य के प्रभाव से उपरिचर था—आकाश मे चलता था । उसे देख ब्रह्मर्षियो ने देवताओ से कहा—वसु हमारा सन्देह दूर कर देगा । वे सब उसके पास गए । प्रश्न उपस्थित किया । राजा ने दोनो का मत जान अपना निर्णय देवताओ के पक्ष मे दिया । वह जान-बूझकर असत्य बोला अत ब्रह्मर्षियो ने उसे शाप दिया और वह आकाश से नीचे गिर पाताल में चला गया ।[2]

जैन साहित्य में भी अजयष्टव्यम्—इस विवाद का उल्लेख मिलता है । एक बार साधु-परिषद् में अज शब्द को लेकर विवाद उठ खडा हुआ । उस समय ऋषिनारद ने कहा—जिसमें अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई वैसा तीन वर्ष पुराना जौ अज कहलाता है । पर्वत ने इसका प्रतिवाद किया । वह बोला—अज का अर्थ बकरा है ।[3]

---

[1] महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३३७ । ३ ५

[2] वही अध्याय ३३७ । ६ १७

[3] उत्तरपुराण, पर्व ६७ श्लोक ३२९ ३३२

गच्छत्येव तयो काले कदाचित्साधुससदि ।
अजहोतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे ॥
विवादो भून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम् ।
यवबीज त्रिवर्षस्थमज मित्यभिधीयते ॥
तद्विकारेण सप्तार्चिमुखे देवार्चन विदु ।
यर्वत्ति पर्वमित्याल्यदनुपद्धति नारद ॥
पर्वतोप्यत्रनाश्न्ेन पशुभेद प्रकीर्तित ।
पशोनतो तद्विकारेण होत्रमित्यवदन्पिधी ॥

उस परिषद् में पर्वत का अर्थ मान्य नही हुआ। वह क्रुद्ध होकर वहाँ से चला गया। उसने महाकाल असुर से मिलकर जाल रचा। स्थान-स्थान पर यह प्रचार शुरू किया—"पशुओ की सृष्टि यज्ञ के लिए की गई है। उनका वध करने से पाप नही होता, किन्तु स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं।" राजा सगर को विश्वास दिलाकर पर्वत ने साठ हजार पशु यज्ञ के लिए प्राप्त किए। मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हे यज्ञ-कुण्ड मे डालना शुरु किया। महाकाल असुर ने दिखाया कि वे सब पशु विमान मे बैठकर सदेह स्वर्ग जा रहे हैं। उस माया से लोग मूढ हो गए। यज्ञ मे मरने को स्वर्ग प्राप्ति का उपाय मानने लगे।[1] राजा वसु की सभा मे भी नारद और पर्वत का विवाद हुआ। राजा वसु ने पर्वत की माँ (अपने गुरु की पत्नी) के आग्रह से पर्वत का पक्ष ले 'अज' का अर्थ बकरा किया। उसने कहा—पर्वत जो कहता है, वह स्वर्ग का साधन है। भय-मुक्त होकर सब लोग उसका आचरण करें। इस असत्यवाणी के साथ-साथ वसु का सिंहासन भूमि मे धस गया।[2]

इन दोनो आख्यानो से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ मे वैदिक लोग भी यज्ञ मे पशु-बलि नही देते थे। महाभारत के अनुसार वह देवताओ और उत्तर पुराण के अनुसार महाकाल असुर और पर्वत ब्राह्मण के आग्रह से शुरु हुई।

राजा वसु पहले पशु-यज्ञ का विरोधी और अहिंसा प्रिय था। उसने एक बार यज्ञ किया। उसमे किसी पशु का वध नही हुआ। उसने जगल मे उत्पन्न फल-फूल आदि पदार्थ ही देवताओ के लिए निश्चित किए। उस समय देवाधिदेव भगवान नारायण ने प्रसन्न होकर राजा को प्रत्यक्ष दर्शन दिया, किन्तु दूसरे किसी को उनका दर्शन नही हुआ।[3]

इस प्रकरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वसु अहिंसा-धर्मी और निराशी कामनाओ से मुक्त था। उसने सभव है, परम्परा के निर्वाह के लिए यज्ञ किया। पर उसका यज्ञ-पूर्णत औषधि-यज्ञ था। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भी पशु-बलि के नितान्त विरोधी थे। उन्होने वसु को दर्शन इसीलिए दिया कि उसने अपने यज्ञ मे पशु-बलि का सर्वथा तिरस्कार किया था।

---

[1] उत्तर पुराण, पर्व ६७ श्लोक ३४३-३६२

[2] वही, पर्व ६७, श्लोक ४१३-४३९

सम्भूता : सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैव स्थितोऽभवत् ॥
अहिंस्र· शुचिरक्षुद्रो निराशी कर्मसस्तुत·।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिता ॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेव· पुरातन।
साक्षात् तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥

[3] महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १०-१२

प्राणी यज्ञ

जन पुराणा क अनुसार पशु बलि वाल यज्ञा का प्रारम्भ बीसवें तीर्थकर मुनि सुव्रत क तीथकाल म हुआ। यही काल राम-लक्ष्मण का अस्तित्व काल है। इस काल म महाकाल असुर और पवत के द्वारा पशु यज्ञ का विधान किया गया।[1] महर्षि नारद न उसका घोर विरोध किया था।[2]

वश्य तुलाधार न पशु हिंसा का विरोध किया तो मुनि जाजलि न उस नास्तिक कहा। इस पर तुलाधार ने कहा—जाजल! मैं नास्तिक नहा हूँ और यज्ञ का निन्दक भी नही हूँ। मैं उस यज्ञ का निन्दा करता हूँ जो अर्थ लोलुप नास्तिक व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित है।[3] हिंसक यज्ञ पहल नहा थ। यह महाभारत से प्रमाणित होता है। राजा विचरन्नु ने देखा—यज्ञशाला म एक बल की गदन कटी हुई है बहुत-सी गौए आतनाद कर रही हैं और कितनी हा गौए खडा हैं। यह देख राजा ने कहा—गौओ का कल्याण हो। यह तब कहा जब हिंसा प्रवृत्त हो रहा था।[4] जन साहित्य म मिलता है कि ऋषभ पुत्र भरत क द्वारा वदो की रचना हुई थी। उसमे हिंसा का विधान नहा था। बाद म कुछ व्यक्तियो द्वारा उनमें हिंसा क विधान कर दिए गए। इस विषय म महाभारत की भी सहमति है कि वदो म पहल हिंसात्मक विधान नही थे। वहाँ लिखा है—सुरा आसव मधु मास मछली तिल और चावल का खिचडी—इन सब वस्तुओ को धूर्तों न यज्ञ म प्रचलित कर दिया है। वदो म इसक उपयोग का विधान नही है। उन धूर्तों न अभिमान मोह और लोभ के वशीभूत होकर उन वस्तुओ के प्रति अपना लोलुपता ही प्रगट की है।[5]

जन साहित्य का उल्लख ह—ऋषभ पुत्र भरत द्वारा स्थापित ब्राह्मण स्वाध्यायलीन थ। फिर बाद म उनका स्थान लालची ब्राह्मणो न ले लिया। महाभारत म भी एसा उल्लख मिलता ह। वहाँ लिखा ह—प्राचीन काल मे ब्राह्मण सत्य यज्ञ और दम यज्ञ का अनुष्ठान करत थे। व परम पुरुषार्थ—मोक्ष क प्रति लोभ रखत थे। उन्ह धन का प्यास नहीं रहता थी। व उसस सदा तृप्त थ। व प्राप्त वस्तु का त्याग करन वाल और ईर्ष्या द्वष से रहित थ। व शरीर और आत्मा के तत्त्व को जानन वाल और आत्मयज्ञ परायण थे।

---

[1] उत्तरपुराण पव ६७ श्लोक ३२७ ३८४

[2] वही पव ६७, श्लोक ३८५ ४४५

[3] महाभारत शान्तिपव अध्याय २६३। २ १८

छिन्नस्थूणं वृष दृष्ट्वा विलाप च गवां भृशम्।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाण स पार्थिव ॥
स्वस्ति गोभ्यो ऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचन कृतम्।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ॥

[4] महाभारत शान्तिपव अध्याय २६५। २३

सुरा मत्स्या मधु मांसमासव कृसरौदनम्।
धूर्तै प्रवर्तित ह्येतन्नतद् वेदेषु कल्पितम् ॥

[5] महाभारत शान्तिपव अध्याय २६५ श्लोक ६ १०

वे ब्राह्मण वेद के अध्ययन मे तत्पर रहते थे। स्वय सन्तुष्ट थे और दूसरो का सतोप की शिक्षा देते थे।[1]

वैश्य तुलाधार ने उक्त बात ब्राह्मण ऋषि जाजलि से कही। इसमे उस प्राचीन परम्परा की सूचना है, जिसके अनुयायी ब्राह्मण भी अहिंसा-प्रधान थे।

आत्म-यज्ञ

नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर—इन चार तीर्थकारो के काल मे हिंसा-पूर्ण यज्ञ का प्रतिरोध होता रहा। हिंसा के जो सस्कार सुदृढ हो गए थे, वे एक साथ ही नही टूटे। उन्हे टूटते-टूटते लम्बा समय लगा।

तीर्थकर अरिष्टनेमि के तीर्थकाल मे हिसक यज्ञ के विरोध मे आत्म-यज्ञ का स्वर प्रवल हो उठा था। श्रीकृष्ण, जो अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, आत्म-यज्ञ के प्रतिपादन मे वहुत प्रयत्नशील थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण दोनो के समवेत प्रयत्न ने जो विशेप स्थिति का सूत्रपात किया, उसका परिणाम भगवान् महावीर और वुद्ध के अस्तित्वकाल मे सदृष्ट हुआ।

राजा विचरन्नु का वह स्वप्न साकार हो उठा—"धर्मात्मा मनु ने सब कामो मे अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की वाह्य वेदी पर पशुओ का वलिदान करते है। विद्वान् पुरुप प्रमाण के द्वारा धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे। अहिसा सव धर्मो मे ज्येष्ठ है। यह वेद की फल-श्रुतियो—काम्य कर्मो का परित्याग करदे। सकाम कर्मो के आचरण को अनाचार समझ उनमे प्रवृत्त न हो।"[2]

उञ्छ वृत्ति ऋषि के यज्ञ मे धर्म ने मृग का रूप धारण कर यही कहा था—"अहिसा ही पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है।"[3]

★

[1] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३, श्लोक १८-२१

[2] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, ५-७
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहित

[3] महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २७२, श्लोक २०

भारतीय सस्कृति मे बुद्ध और महावीर

मुनि श्री नयमलजी

ढाई हजार वष पहले का काल धम दशन का उत्कष काल था। उस समय विश्व क अनेक अचलो म महान् धम पुरुष अवतीण हुए थे।

उसी समय भारतीय क्षितिज पर दो पुरुष अवतीण हुए। दोनो क्षत्रिय दोनो राजकुमार और दोनो जन सत्ताक राज्य के अधिवासी। एक का नाम था सिद्धाथ और एक का नाम था वद्धमान। सिद्धाथ न नपाल की तराई म अवस्थित कपिलवस्तु म जन्म लिया। वद्धमान का जन्म वशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डपुर म हुआ। सिद्धाथ के माता पिता थे—माया और शुद्धोदन। वद्धमान क माता पिता थे—त्रिशला और सिद्धाथ। दोनो श्रमण-परम्परा के अनुयायी थे। दोनो श्रमण बन और दोनो न उसका उन्नयन किया।

सिद्धाथ का धम चक्र प्रवतन

सिद्धाथ गुरु की शोध म निकले। व आलाराम क शिष्य हुए। सिद्धान्तवादी हुए पर उन्हे मानसिक शान्ति नही मिली। व वहाँ स मुक्त होकर उद्रक क शिष्य बने। समाधि का अभ्यास किया। पर उसस भी उन्हे सन्तोष नही हुआ। व वहाँ स मुक्त हो गया क पास उरुवल गाँव म गए। वहाँ देह-दमन की अनेक क्रियाओ का अभ्यास किया। उनका शरीर अस्थि-पजर हो गया पर शान्ति नही मिली। देह-दमन म उन्होन ढाई मार नहा दाला। अब व स्वय अपन माग की शोध म लग। वशाखी पूर्णिमा को उन्हे बोधि-लाभ हुआ। महाभिनिष्क्रमण क छह वष बाद बुद्ध बन। सारनाथ म उन्होन धम चक्र प्रवतन किया।

वर्द्धमान का धर्म-तीर्थ प्रवर्तन

वर्द्धमान प्रारम्भ से ही अपने निश्चित मार्ग पर चले। उन्होने कोई गुरु नही बनाया न केवल कठोर तप ही तपा और न केवल ध्यान ही किया। तप भी तपा और ध्यान भी किया। उनका तप ध्यान के लिए था, लेकिन ध्यान तप के लिए नही। उन्हे अपनी साधना पद्धति से पूर्ण सन्तोष था। महाभिनिष्क्रमण के साढे बारह वर्ष के पश्चात् उन्हे केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। वे वर्द्धमान से महावीर बन गए। मध्यम पावापुरी मे उन्होने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

भारतीय संस्कृति

भारतीय सस्कृति श्रमण और वैदिक—इन दो धाराओ का सगम है। फिर भी कुछ विद्वान् इस विषय मे उलझे हुए है। श्रमण सस्कृति को वैदिक सस्कृति की शाखा मानने मे गौरव का अनुभव करते है। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—"जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक सस्कृति की ही शाखाएँ है, यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हे वैदिक नही मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है—मूलत इन शाखाओ के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनो और बौद्धो की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, ससार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।

हिन्दू सस्कृति को वैदिक सस्कृति का विकास तथा विस्तार मानने में बीती हुई सदी के उन आधुनिक विद्वानो को आपत्ति है, जिन्होंने भारतीय सस्कृति और हिन्दू धर्म का अध्ययन किया है। वे इस निर्णय पर पहुँचे है कि विद्यमान हिन्दू सस्कृति असल मे वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगो की विविध सस्कृतियों का सम्मिश्रण स्वरूप है। इन मनीषियो के मत मे मूर्तिपूजा करने वालो की पौराणिक सस्कृति अवैदिक एव अनार्य समूहो द्वारा निर्मित सस्कृतियो की उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिक धर्म के प्रतिद्वन्द्वी है, वैदिको को परास्त करने वाले प्रबल विद्रोही है। इनके कथनानुसार विद्यमान् हिन्दू सस्कृति भिन्न-भिन्न विचारको की चार धाराओ के मेल से बनी है। पहली धारा है वेदो के पूर्ववर्ती अनार्यो की मूल सस्कृति की, दूसरी वेदो के पूर्ववर्ती काल के भारतीय अनार्यो पर विजय पाने वाले आर्यो द्वारा स्थापित वैदिक सस्कृति की, तीसरी वेदो के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जैनो तथा बौद्धो के द्वारा निर्मित सस्कृति की, और चौथी वेदपूर्व सस्कृति के आविष्कार के रूप मे अवस्थित मूर्तिपूजक पौराणिक धर्म की।"[1]

शास्त्रीजी ने जिन अन्तिम कल्पनाओ—कर्म-विपाक, ससार का बधन और मोक्ष या मुक्ति-को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वे मूलत अवैदिक है।

वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है। इनके बिना कर्म-विपाक और बन्धन की कल्पना का विशेष अर्थ नही रहता। ए० ए० मैक्डॉनेल का अभिमत है—"बाद मे विकसित पुनर्जन्म

---

[1] 'वैदिक सस्कृति का विकास' पृ० १५, १६

के मिद्धान्त का वदों म कोई मकेत नहीं मिलता किन्तु एक ब्राह्मण म यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् सस्कारादि नहा करत वह मृत्यु के बाद पुन जन्म लत हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं। [1]

वदिक सस्कृति के मूल तत्त्व

वदिक मस्कृति क मूल तत्त्व है—यज्ञ ऋण और वर्ण-व्यवस्था। यज्ञ के मुख्य प्रकार तीन हैं—पाक-यज्ञ हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ [2]।

ऋण तीन प्रकार के मान जाते थे—देव ऋण ऋषि ऋण और पितृ ऋण। यज्ञ और होम स देव ऋण चुकाया जाता ह। वेदाध्ययन के द्वारा ऋषि ऋण चुकाया जाता ह। सतान उत्पन्न कर पितृ ऋण चुकाया जाता है।[3] शतपथ ब्राह्मण म चौथ ऋण—मनुष्य ऋण का भी उल्लेख है। उस आतिथ्य या दान से चुकाया जाता है।[4]

वर्ण-व्यवस्था का आधार है—सष्टि की उत्पत्ति क्रम। ब्राह्मण ब्रह्मा क मुख स उत्पन्न हुआ क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरु से और शूद्र पैरों स।[5]

यज्ञ की कल्पना लौकिक और पारलौकिक दोनों है। उसका लौकिक फल है—सुख शान्ति और पारलौकिक फल है स्वर्ग।[6] ऋण और वर्ण-व्यवस्था इन दोनों का फल है समाज की सस्थापना और सघटना। तीन ऋण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के मूल है। ब्रह्मचर्य आश्रम म रहकर वेदाध्ययन किया जाता और गृहस्थ आश्रम म प्रविष्ट होकर सतान का उत्पादन। वानप्रस्थ और सन्यास जैसे आश्रम उस व्यवस्था म अपेक्षित नहीं थ।

वर्ण-व्यवस्था क सिद्धान्त न जातिवाद को तात्त्विक रूप दिया और ऊच-नीच आदि विषमताओं की सृष्टि की।

---

[1] Vedic Mythology p 326

[2] विस्तृत विवरण के लिए देखिए—वदिक कोश पृ० ३६१–४२५

[3] तत्तिरीय सहिता ६।३।१०।५

[4] शतपथ ब्राह्मण १।७।२।१६

[5] ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
ऋग्वेद सहिता १०।६०।१२

[6] Vedic Mythology, p 3?0.

श्रमण-सस्कृति के मूल तत्त्व

श्रमण-सस्कृति के मूल तत्त्व है—व्रत, मन्याम और ममता । व्रत और मन्याम का मूल है—मोक्षवाद। समता का मूल हे—आत्मवाद । आत्मा का ध्येय है बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण । श्रमण-मस्कृति मे ममाश्वस्त समाज का ध्येय भी यही है। इसीलिए मामाजिक जीवन ममानता की अनुमति मे परिपूर्ण हुआ। आर्थिक जीवन को व्रत से नियमित किया गया । वैयक्तिक जीवन को मन्याम मे माधा गया। इम प्रकार जीवन के तीनो पक्ष—वैयक्तिक, आर्थिक, और मामाजिक—विशुद्धि से प्रभावित किए गए । इन्ही तत्त्वो के आलोक मे बुद्ध और महावीर ने वैदिक मस्कृति के मूल-तत्त्वो—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था ।

संस्कृति-सगम

वैदिक और श्रमण सस्कृति का यह विचार-द्वन्द्व बुद्ध-महावीर कालीन नही था । वह बहुत पहले से ही चला आ रहा था । इसमे कोई सदेह नही कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उम विचार-क्रान्ति को इतना तीव्र स्वर दिया कि हिमा, अहिंसा के सामने निष्प्राण बन गई । "अहिंसा परमोधर्म." का स्वर प्रबल हो उठा । "अपुत्रस्य-गतिर्नास्ति" के स्थान पर मन्याम की महिमा गाई जाने लगी। जन्मना जाति का स्वर कर्मणा जाति के स्वर मे विलीन हो गया । भगवान् पार्श्व के काल मे श्रमण और वैदिक सस्कृति का जो मगम आरब्ध हुआ था, वह अपने पूरे यौवन पर पहुँच गया ।

श्रमण परम्परा मुख्यत क्षत्रियो की, और वैदिक परम्परा ब्राह्मणो की है । क्षत्रियो ने आत्म-विद्या और अहिसा का विस्तार किया और आगे चलकर वे दोनो परम्पराओ की सगम स्थली बन गई । क्षत्रियो ने 'आर्य' शब्द वैदिक आर्यो से लिया ।

क्षत्रियो ने वैदिक परम्परा या आर्य जाति को महत्व देते हुए 'आर्य' शब्द को अपनाया किन्तु उसका अर्थ अपनी परम्परा के अनुमार किया । वैदिक आर्य यज्ञ अनुष्ठान मे हिंसा करते थे उमे प्रतिपक्ष मे क्षत्रिय परम्परा मे यह घोष उठा कि प्राणियो की हिमा करने वाला आर्य नही होता । आर्य वह होता है जो किसी की हिंसा न करे—अर्थात् अहिमा ही आर्य है ।[1] सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य है, यह अनार्य वचन है । सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य नही है, यह आर्य वचन है ।[2]

इस प्रकार भारतीय सस्कृति का वर्तमान रूप अनेक धाराओ का सगम है ।

---

[1] धम्मपद धम्मट्ठवग्ग

न तेन अरियोहोति, येन पाणानि हिंसति ।

अहिंसा सब्ब पाणानं, अरियो ति पवुच्चति ॥ १५ ॥

[2] आचाराग, १ । ४ । २

बुद्ध महावीर की भारतीय सस्कृति को देन

व्रत सयास ओर समता की स्थापना तथा यम ऋण और वण-व्यवस्था का प्रतिकार बुद्ध और महावीर की दन नही है वह श्रमण परम्परा का दन है। उसम उन दोना व्यक्तियो का महान् योग है। उन्हान प्राचीन परम्परा की समद्धि म केवल योग ही नहीं दिया किन्तु उस नए उन्मष भी दिए।

बुद्ध ने दो नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—(१) प्रतीत्य-समुत्पाद वाद (२) और आय-चतुष्टय।

प्रतीत्यसमुत्पाद

भिक्षुओ! जो कोई प्रतीत्य (समुत्पाद) को समझता है वह धम को समझता है। जो धम को समझता है वह प्रतीत्य-समुत्पाद को समझता है। जसे भिक्षुओ गाय से दूध दूध म दही दही से मक्खन मक्खन मे घी घी म घीमण्ड होता है। जिस समय म दूध होता है उस समय न उसे दही कहत हैं न मक्खन न घी न घी का मण्डा। जिस समय वह दही होता है उस समय न उस दूध कहत हैं न मक्खन, न घी न घी का मण्डा। इसी प्रकार भिक्षुओ! जिस समय मेरा भूतकाल का जन्म था उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था यह वतमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत काल का जन्म होगा, उस समय मेरा भविष्यत् काल का जन्म ही सत्य होगा यह वतमान और भूतकाल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वतमान म जन्म है सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है भूतकाल का और भविष्यत् काल का जन्म असत्य है।

भिक्षुओ! यह लौकिक सज्ञा है, लौकिक निरुक्तियाँ हैं लौकिक व्यवहार हैं लौकिक प्रज्ञप्तियाँ है— इनका तथागत व्यवहार करत हैं लेकिन इनम फसत नहीं। भिक्षुओ! जीव (आत्मा) और शरीर भिन्न भिन्न है ऐसा मत रहन म श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। और जीव (आत्मा) तथा शरीर—दोनो एक है ऐसा मत रहन से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इसलिए भिक्षुओ! इन दोनो सिरे की बातो को छोडकर तथागत बीच से धम का उपदेश देत है—

अविद्या के होन स संस्कार संस्कार के होन स विज्ञान विज्ञान के होने स नामरूप, नामरूप के होन स छ आयतन छ आयतन के होन स स्पश स्पश के होन से वेदना वेदना के होन से तृष्णा, तृष्णा के होन स उपादान उपादान के होन स भव भव के होन स जन्म, जन्म के होन से बुढ़ापा मरना शोक रोना-पीटना दुःख मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है।

इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ! इस प्रतीत्य-समुत्पाद कहत है।[1]

---

[1] बुद्ध वचन प० २६ ३०

आर्य-चतुष्टय

आर्य सत्य चार हे—(१) दुःख (२) दुःख समुदय, (३) दुःख निरोध, (४) दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग।

भिक्षुओ! दुःख-आर्य सत्य क्या है?

पैदा होना दुःख है बूढा होना दुःख है, मरना दुःख हे, शोक करना दुःख है, रोना-पीटना दुःख है, पीडित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है—थोडे मे कहना हो, तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख है।[१]

भिक्षुओ! यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो जहाँ-कहीं मजा लेती है, यह जो तृष्णा हे, जैसे—काम-तृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभव-तृष्णा—यही दुःख के समुदय के बारे मे आर्य सत्य है।[२]

भिक्षुओ! दुःख के निरोध के बारे मे आर्य सत्य क्या है? उसी तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति—यही दुःख के विरोध के बारे मे आर्य सत्य है।[३]

अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है, जो कि इस प्रकार है—

[प्रज्ञा]
१—सम्यक् दृष्टि
२—सम्यक् संकल्प

[शील]
३—सम्यक् वाणी
४—सम्यक् कर्मान्त
५—सम्यक् आजीविका

[समाधि]
६—सम्यक् व्यायाम
७—सम्यक् स्मृति
८—सम्यक् समाधि

महावीर ने तीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किए—१ त्रिपदी, २ रत्नत्रयी ३ स्याद्वाद।

महावीर की इस चिन्तन-धारा ने सत्य को सर्व-संग्राही बना दिया। उसके फलित हुए—सह-अस्तित्व और समन्वय। इन तत्वो ने भारतीय मानव को इतना प्रभावित किया कि ये भारतीय-संस्कृति के मूल आधार बन गए।

---

[१] दीघनिकाय, पृ० २२
[२] वही, पृ० २२
[३] वही, पृ० २२
[४] संयुक्त निकाय, पृ० २२

जैन-दर्शन : एक चिन्तन

हीराकुमारी व्याकरण-सांख्य-वेदान्त-तीर्थ

जैनदर्शन—इस वाक्य मे 'दर्शन' एक पद है और इसका व्युत्पत्तिगत अर्थ है "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाता है, उसका नाम है दर्शन। यहाँ देखने का अर्थ केवल आँखो से से देखना ही नही, बल्कि अन्य चारो इन्द्रियो, मन तथा ज्ञान से देखना अर्थात् जानना है। इस व्यापक अर्थ मे इसका प्रयोग किया जाता है। कौन जानता है? किसे जानता है? जानने वाले का स्वरूप क्या है? इत्यादि प्रश्न तथा उन प्रश्नो के विचार पूर्वक समाधान को ही हम दर्शनशास्त्र कहते है। जब हम विचार करना आरम्भ करते है, तो पहले हमारे सामने जो वस्तु उपस्थित होती है, उसके सम्बन्ध मे विचार करते है। तब यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि मुझे जो पदार्थ जिस रूप मे भासित होता है, क्या वही रूप उसका सही रूप है? सरसरी तौर पर इसका उत्तर है "हाँ", अर्थात् मुझे जिस वस्तु का जो रूप भासित होता है, वही उसका यथार्थ रूप है। पर जब हम सोचते है, तो कहना कठिन है कि मुझे भासित होने वाला स्वरूप ही उसका यथार्थ स्वरूप है। मेरे सामने कोई चीज है, उसे मैं जिस रूप से देखना चाहता हूँ, दूसरे व्यक्ति को उसी समय वही वस्तु दूसरी तरफ से दूसरे रूप मे भासित होती है। तीसरा व्यक्ति उसे तीसरे रूप मे देखेगा। प्रकाश के तारतम्य से अथवा निकटता और दूरता के कारण से एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप मे भासित होती है। एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न व्यक्ति विविध रूप से सुनता है। स्पर्शादि के विषय मे भी यही कहा जा सकता है। एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे जब विभिन्न व्यक्ति विचार करते है, तो प्रत्येक का विचार तो भिन्न होता ही है पर एक ही व्यक्ति का विचार भी एक ही वस्तु के सम्बन्ध मे समयान्तर मे बदल जाता है। अतएव कैसे कहा जा सकता है कि मुझे भासित होने वाला वस्तु का स्वरूप सत्य है और उसका अन्य रूप सत्य नही है। वस्तु का जितना भी रूप भासित होता है, वह सब काल्पनिक है और इसका मौलिक रूप कुछ और ही है

यह कहना पड़ेगा। या तो वस्तु के स्वरूप ही अनेक हैं अथात् वस्तु अनेक धर्मात्मक है यह कहना पड़ेगा। कालिक, दशिक और वयक्तिक भेद से उसका विविध रूप ग्रहण होता है और विभिन्न व्यक्ति अपने अपने ढंग से उन्हें समझने हैं और समझाने की कोशिश करते हैं।

परिदृश्यमान जगत् का स्वरूप क्या है ? इसको जानने वाला इन्द्रिय मन तथा ज्ञान का स्वरूप क्या है ? इत्यादि विषय के प्रश्न को भिन्न भिन्न रूप में सुलझाने के प्रयत्न को हम दर्शन शब्द में जन बौद्ध, सांख्य योग, न्याय वैशेषिक वेदान्त आदि विशेषण लगाकर सूचित करते हैं। दर्शन-शास्त्र परिदृश्यमान जागतिक वस्तु को प्रधानत दो दृष्टियों में विचार करता है अतएव हम दर्शन-शास्त्र को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पहला वास्तववादी दर्शन दूसरा मायावादी दर्शन। जन दर्शन वास्तववादी दर्शन है। वह जागतिक प्रत्यक्ष वस्तु को और उस वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को सत्य मानता है। कार्य कारण दोनों की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। कारण यद्यपि विनिष्ट हो जाता है तथापि जन-दर्शन कार्य रूप में परिणत वस्तु की सत्ता को यथार्थ कहता है। न्याय वैशेषिक सांख्य योग बौद्धों के सौत्रान्तिक और वभाषिक मत वाले दर्शन वास्तववादी दर्शन हैं। अद्वत वदान्त विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध दर्शन को हम मायावादी दर्शन कह सकते हैं। मायावादी दर्शन परिदृश्यमान जागतिक वस्तुओं की पारमार्थिक सत्ता नहीं मानता है। इन सब कल्पित रूपों के मूल में वह एक मात्र तत्त्व को स्वीकार करता है और उसी एकमात्र तत्त्व को सत्य भी मानता है परिदृश्यमान शेष सभी वस्तुओं को कल्पित कहता है। जनदर्शन जागतिक वस्तु को जिस दृष्टि से विचार करता है उस दृष्टि बिन्दु को हम अनेकान्त दृष्टि कह सकते हैं। क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का अनेक रूप में विश्लेषण करता है। सभी दर्शन अपने अपने प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को सत्य और अन्य दर्शन प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को मिथ्या कहते हैं। पर जन दर्शन अन्य दर्शन प्रतिपादित वस्तु के स्वरूप को सर्वथा मिथ्या न कहकर, उसे किसी न किसी रूप में सत्य भी कहता है। मैं पहले ही बतला चुका हूँ कि उसके मत से वस्तु अनेक धर्मात्मक है। अतएव प्रतीयमान विरोधी धर्म भी एक ही वस्तु में किसी अपेक्षा से रह सकता है और सदृश विसदृश गुणों का एक ही वस्तु में प्रतीत होना असम्भव-सा दीखने पर भी वस्तु का वही यथार्थ स्वरूप है। जन दर्शन वस्तु के प्रत्यक्ष रूप को सत्य मानकर अनेकान्त दृष्टि से उसका विचार करता है। अब देखना है कि जन दर्शन का मुख्यरूप से विचारणीय विषय क्या है ? जागतिक वस्तु का मौलिक तत्त्व क्या है ? मौलिक कारण, कार्यरूप में कैसे परिणत होता है ? यदि एक से अधिक मौलिक तत्त्व हों तो परस्पर का सम्बन्ध किस प्रकार का है—इन्हीं तीन प्रश्नों के विचार की भित्ति पर ही सारा दर्शनशास्त्र निर्मित है।

जन-दर्शन जब जागतिक वस्तु का विश्लेषण करता है तो मौलिक रूप से दो तत्त्वों को पाता है। पहला चैतन्य तत्त्व और दूसरा जड़ तत्त्व।

मैं जानता हूँ मैं गाता हूँ, मैं जाता हूँ—इत्यादि वाक्यों में ज्ञातारूप में या कर्ता रूप से जो वस्तु भासित होती है वही वस्तु चैतन्य तत्त्व है। हम चैतन्य तत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि जिस ज्ञान के द्वारा चैतन्य को अस्वीकार किया जाता है उसी ज्ञान के आधार रूप में चैतन्य या आत्मा आप ही सिद्ध हो जाता है।

गुण और क्रिया अथवा पर्याय के आधार को 'द्रव्य' कहा जाता है। आत्मा एक द्रव्य है और ज्ञानादि को उसका विशेष गुण माना गया है। आत्मद्रव्य अनन्त, नित्यानित्य तथा शरीर परिमित है। आत्मा द्रव्य रूप से नित्य है, पर इसका विशेष गुण स्वकीय रूप मे नित्य होने पर भी अवस्थान्तर को प्राप्त होता रहता है, अतएव गुण की पर्यायदृष्टि मे आत्मा अनित्य भी है। कारण, इस दर्शन मे गुण को गुणी मे कथंचित् अर्थात् कुछ अशो मे भिन्न तथा अभिन्न—दोनो कहा गया है। इसलिए गुण मे परिवर्तन होने के कारण उसके आधार द्रव्य मे भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। आत्मा स्वय जिसको प्रकाशित करता है तथा स्वातिरिक्त दूसरे को भी प्रकाशित करता है, यह उसका विशेष गुण है। यही गुण चैतन्य को जड से भिन्न करता है। एक ही आत्मा शुद्ध और अशुद्ध—दो रूप मे भासित होता है। हम जब कोई अच्छा या बुरा कार्य करते है, तो आत्मा अपने ही आप को कहता है कि अरे! यह कार्य तुमने अच्छा किया, यह कार्य तुम्हे नही करना चाहिए था। यहा विचार करने वाला आत्मा शुद्ध रूप मे और जिसके बारे मे विचार किया जाता है, वह आत्मा राग-द्वेष-अज्ञान आदि से युक्त होकर अशुद्ध रूप मे भासित होता है। तब प्रश्न उपस्थित होता है कि अज्ञान रागद्वेष आदि से युक्त जो आत्मस्वरूप भासित होता है, वह या जो विशुद्धस्वरूप भासित होता है, वह—इन दोनो मे कौन-सा स्वरूप यथार्थ है? इन प्रश्नो के जवाब मे जैन दार्शनिको ने अनन्त ज्ञानादियुक्त राग-द्वेषादि विरहित अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप को ही आत्मा का सत्य स्वरूप बतलाया है, तथा उसे मुक्तात्मा या परमात्मा कहते है। शुद्धाशुद्ध स्वरूप वाले आत्मा को ससारी आत्मा कहा गया है।

ससारी आत्मा या जीव कितने प्रकार के होते है? उनका किन नामो से उल्लेख किया जाता है? इत्यादि विषयो का वर्णन नही करके मै अब जड-तत्त्व के सम्बन्ध मे कुछ कहना चाहती हूँ।

जैनदर्शन जिसमे ज्ञान नही है, अथवा जिसमे अनुभव करने की शक्ति नही है, उसे जड कहता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और काल रूप से जड पाँच प्रकार का है। वे अपने विशेष गुणो के कारण परस्पर भिन्न है। आकाश एक व्यापक पदार्थ है। पर इसे कल्पित रूप से दो भागो मे विभक्त किया गया है। धर्म, अधर्म, काल, आत्मा और पुदगल के आधारभूत आकाश को 'लोकाकाश' तथा तद्व्यतिरिक्त आकाश को 'अलोकाकाश' कहा जाता है। सभी को अपने मे स्थान देना, यही इसका विशेष गुण है। धर्म, अधर्म एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं, और लोकाकाश को व्याप्त करके रहते है। जीव और पुद्गल को क्रिया करने मे तथा स्थिर रहने मे सहायता करना, यही इन दोनो का विशेष गुण है। अनन्त समयात्मक द्रव्य को काल कहा जाता है।[१] द्रव्यो मे जो परिवर्तन होता रहता है, वह द्रव्य का स्वभाव-सिद्ध गुण है। पर इस परिवर्तन का परिचय हम काल के द्वारा देते हैं और कहते है कि काल ही सब वस्तुओ मे परिवर्तन लाता है। इसलिए परिवर्तन करना, यही इसका विशेष गुण है। पुद्गल के दो रूप हैं—अणु और स्कन्ध। पुद्गल का सूक्ष्मतम अश जिसका विभाग नही किया

[१] श्वेताम्बर-शास्त्रो मे काल को पचास्तिकाय का पर्याय बताकर उपचार से द्रव्य माना है।

जा सकता, उसे परमाणु कहते हैं। पुद्गल परमाणु अनन्त और निरवयव है। दो या दो से अधिक परमाणुओं का परस्पर सम्बन्ध होने से स्कन्ध बनता है। रूप रस-गन्ध-स्पर्श शब्द आदि का पुद्गल गुण कहा गया है। जब मूल तत्त्व के रूप में चैतन्य और जड स्वीकृत हो जाता है तब इन दोनों तत्त्वों का आपस में कोई सम्बन्ध है या दोनों परस्पर निरपेक्ष होकर अपना कार्य करते हैं? यह प्रश्न उपस्थित होता है। जन-दर्शन पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करता है। जीव और पुद्गल के साथ धर्म अधर्म काल और आकाश के सम्बन्ध को साधारण सम्बन्ध कहा जा सकता है। क्योंकि जीव या पुद्गल को यदि क्रिया करना हो तो धर्म, स्थिर रहना हो तो अधर्म, स्थान पाना हो तो आकाश, अवस्थान्तर प्राप्त करना हो तो काल उन्हें सहायता मात्र देता है। वे चारों जीव और पुद्गल पर अपना प्रभाव विस्तार नहीं करते हैं न सृष्टि विचित्रता में उनका कोई शक्ति होती है। पर आत्मा के साथ पुद्गल का सम्बन्ध घनिष्ठ सम्बन्ध है। अचेतन होने पर भी पुद्गल अपनी शक्ति से आत्मा को प्रभावित करता है। आत्मा भी पुद्गल पर अपना प्रभाव विस्तार करता है। यों तो पुद्गल द्रव्य बहुत प्रकार के हैं पर जो पुद्गल परमाणु आत्मा पर अपना प्रभाव विस्तार करता है उसे कर्म कहा जाता है। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि सिद्ध है। जीव और पुद्गल का सम्बन्ध अनादि क्यों है? यह प्रश्न युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि उन दोनों का स्वभाव ही वैसा है। युक्ति या तर्क से हम वस्तु के स्वभाव को बदल नहीं सकते तथा अस्वीकार भी नहीं कर सकते। कहा भी गया है— **यदीय स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।"** पुद्गल के साथ आत्मा का सम्बन्ध अनादि होने के कारण कर्म पुद्गल आत्मा के विशुद्ध ज्ञानादि गुण को प्राय आवृत कर देता है और जीव अज्ञानता और मोहवश पुद्गल को अपना कहकर अपना लेता है। फलस्वरूप वह राग-द्वेष के वशीभूत होकर कभी चैन नहीं पाता है और उस अपना समझ कर विविध रूप में रूपान्तरित करता है। इस चैतन्य तथा पुद्गल का जो परस्पर प्रभाव है तथा इसके कारण जो सुख-दुःख व्याकुलता आदि उत्पन्न होता है उससे आत्मा को ही क्षति पहुँचता है न कि पुद्गल को। आत्मा में अनुभव शक्ति है इसलिए दुःखादि का अनुभव करता है और अपना ज्ञानमय आनन्दमय स्वरूप से प्रच्युत रहता है। दूसरी तरफ पुद्गल का विचित्र रूप में परिणत होना स्वभाव ही है। अतएव आत्मा पुद्गल के विचित्र परिणामों में सहायक ही बनता है।

पुद्गल के बन्धन में आबद्ध आत्मा उस बन्धन को तोड सकता है या नहीं इस पर जनदर्शन ने काफी विचार किया है। पाप पुण्य आस्रव संवर बन्ध कर्म कर्म का स्वरूप इत्यादि विषयक विचार भी इस विचार से फलित होता है। जन-दर्शन आत्मा में एक ऐसी शक्ति स्वीकार करता है कि जिसके बल से आत्मा अनादि पौद्गलिक सम्बन्ध को छिन्न भिन्न करके अपने स्वरूप को पा जाता है। जीव सुख पाने के लिए सब समय प्रयत्न करता है और पौद्गलिक साधनों का संग्रह करता है। जब उसमें सुख नहीं मिलता तो और अधिकाधिक पौद्गलिक साधनों का संग्रह करता है। फिर भी जब वह उसमें सुख शान्ति नहीं पाता तो सब जीव नहीं पर विकसित होने वाला जीवात्मा अशान्ति के कारणों की खोज में लग जाता है। धीरे धीरे उसका चित्त बाह्य विषयों से हटकर अन्तर्मुखी होता रहता है और जैसे-जैसे उसे आत्म उपलब्धि होती जाती है वैसे-वैसे उसे पौद्गलिक स्वरूप भासित होता है और उससे उसका सम्बन्ध छूटता

जाता है। आखिर मे वह पूर्णरूप से पौद्गलिक सम्बन्ध को विच्छिन्न कर देता है और अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है।[1]

तीसरा प्रश्न यह है कि—परिदृश्यमान जगत का मौलिक कारण कार्यरूप मे कैसे परिणत होता है? इसके उत्तर मे दर्शनशास्त्र मे चार विभिन्न प्रकार की चार प्रक्रियाएँ बतलाई गई है। आरम्भवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद और प्रतीत्य-समुत्पादवाद नाम से उन चारो प्रक्रियाओ का परिचय दिया जाता है।

आरम्भवाद—इसमे परमाणुओ को परिदृश्यमान इन्द्रियग्राह्य जागतिक वस्तुओ का मौलिक कारण कहा गया है। परमाणु अनन्त, नित्य और अविभाज्य है। वे परमाणु जब आपस मे सम्बन्धित होते है, तो उससे स्थूल एक नया कार्य उत्पन्न होता है। वह कार्य अपने कारण से अत्यन्त भिन्न है तथा उत्पन्न होने से पहले कारण मे उसकी कोई सत्ता नही रहती है। परिमाण मे वह अपने कारण से बृहत् होता है। उदाहरण के तौर पर वस्त्र को लीजिए। कुछ सूत्रो को एकत्रित करके बुनने पर वस्त्र उत्पन्न होता है, कार्यरूप वस्त्र अपने कारण रूप सूत्र से परिमाण मे बृहत् ही होता है तथा उत्पन्न होने के पहले वस्त्र की सत्ता भी उसके कारणभूत सूत्र मे प्रतीत नही होती है, न्याय, वैशेषिक और मीमासक इस मत के समर्थक है।

परिणामवाद—वह ठीक आरम्भवाद के विपरीत है। वह परिदृश्यमान जागतिक वस्तु के मौलिक कारण को अतिसूक्ष्म, व्यापक, एक तथा परिणामी नित्यानित्य मानता है। वह कार्य को कारण से अत्यन्त भिन्न मानता है तथा कारण मे कार्य की सत्ता को स्वीकार करता है। समुद्र के उदाहरण से हम इस विषय को स्पष्ट कर सकते है। समुद्र मे तरग के बाद तरग उत्पन्न होता है, और उसी मे विलीन हो जाता है। परिणामवादी कहता है कि कारणरूप समुद्र मे कार्यरूप तरग की सत्ता विद्यमान रहती है, तभी तरग उससे आविर्भूत होता है और उसी मे विलीन हो जाता है। कारणरूप समुद्र से कार्यरूप तरग क्षुद्र ही होता है। इस मत मे प्रधानरूप कारण से क्षुद्र कार्य स्थूलरूप मे आविर्भूत होता है और उसी मे विलीन होता है। यह मत साख्य और योग दर्शन का है। जैन दर्शन कारण का कार्यरूप मे परिणत होने के बारे मे अपने विशेष तरीके से आरम्भवाद तथा परिणामवाद—इन दोनो प्रक्रियाओ को मानता है। कारणरूप से वह परमाणुओ को तथा एकत्रित परमाणुओ से कार्य को स्थूलरूप से उत्पन्न होना मानता है। इसलिए इस अश मे जैन दर्शन आरम्भवादी और कारण मे कार्य की सत्ता को स्वीकार करने से तथा कारण का ही कार्यरूप मे परिणत होना मानने से इस अश मे परिणामवादी है।

---

[1] आत्मा का क्रोधादिक स्वभाव जब तथाभव्यता के आधार पर व्यक्त होता है, तब उसकी सासारिक अवस्था रहती है। और जब तथाभव्यता के आधार से ज्ञानादि स्वाभाव का आविर्भाव होता है, तब उसकी मोक्षावस्था आविर्भूत होती है। कषायादिक और ज्ञानादिक—दोनो आत्म-पदार्थ के स्वभाव है। मोक्षावस्था के आविर्भाविक स्वभावो के उपादेय होने की अपेक्षा कषायादि भाव हेय होने से वैभाविक स्वभाव कहे जाते हैं। वैभाविक और स्वाभाविक कहे जाने वाले सभी स्वभाव आत्मद्रव्य के पर्याय है।

जैन-दर्शन में प्रतीत्य-समुत्पादवाद और विवर्तवाद—इनका कोई स्थान नहीं है। क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद वाद प्रत्येक वस्तु को अनित्य और क्षण-स्थायी मानता है और विवर्तवाद जगत् को स्वप्न के समान अलीक मानता है।[1]

भारतीय दर्शनशास्त्र मुख्य ज्ञान मात्र अथवा विद्वानों के मनोविनोद का साधन मात्र नहीं है। भारत में दर्शन तथा धर्म का तत्त्वज्ञान और जीवन का गहरा सम्बन्ध है। जीव विविध प्रकार का त्रास पाता है—इन कष्टों की निवृत्ति कैसे हो, जीव जड़ के बन्धन से कैसे मुक्त हो सकता है? यह बतलाना भारतीय दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है। जड़ पदार्थों के विश्लेषण से नाना प्रकार की सांसारिक उन्नति होती है। सुख प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का साधन बनता है। पर भारतीय दर्शन ने इन सुखों को दुःख मिश्रित सुख कहकर इसकी उपेक्षा की है और आत्मविश्लेषण पर अधिक भार दिया है। आत्मविश्लेषण का फल है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि नैतिकता। इसी नैतिकता का अभाव मानव जीवन को दुःखपूर्ण बनाता है। क्योंकि जितना ही नैतिकता का विकास होता है उतना ही मानव जीवन सुखी होता है। इसलिए आज के जगत् में इतनी यान्त्रिक उन्नति होने पर भी सुख के प्रचुर साधन उपस्थित होने पर भी इन सभी के पीछे आत्मविश्लेषण नहीं रहने से नैतिकता के अभाव में आज का मानव समाज धीरे धीरे सुख और शान्ति से दूर होता हुआ न तो स्वयं ही सुख पाता है और न दूसरे को शान्ति देता है।

[1] दृश्यमान जगत् का मौलिक तत्त्व क्या है? यदि स्वप्न से अधिक मौलिक तत्त्व हो तो परस्पर का सम्बन्ध है या नहीं? मौलिक कारण कार्यरूप में कैसे परिणत होता है? मैंने पूर्वोक्त इन तीन प्रश्नों का उत्तर जैन-दर्शन के अनुसार संक्षेप में वर्णन किया है।

जैन मतानुसार अभाव-प्रमाण-मीमांसा

साध्वी श्री निर्मलाश्रीजी, एम. ए., साहित्यरत्न

प्रमेय की सिद्धि प्रमाण द्वारा होती है। जैसा कि कहा गया है—**मेयसिद्धिर्मानाधीनत्वात्**।[1] प्रमाण के द्वारा प्रमेयात्मक वस्तु स्वरूप को जानने के पश्चात् ही मानव अपने इष्ट विषय की प्राप्ति और अनिष्ट विषय के परिहार के लिए तत्पर होते हैं। जैसा कि न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने लिखा है—**प्रमाणेन खल्वयं ज्ञातार्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा**।[2]

जिसका निश्चय किया जाए उसे प्रमेय कहते है, और जिस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का निश्चय किया जाए, उस सर्वागग्राही बोध को प्रमाण कहते है। प्रमेयात्मक पदार्थों का दुर्नय, नय और प्रमाण से निश्चय किया जाता है। नय का अर्थ है—जिस ज्ञान के द्वारा अनन्त धर्मो मे से किसी विवक्षित एक धर्म का निश्चय किया जाए, अर्थात् अनेक दृष्टिकोण से परिष्कृत वस्तु तत्त्व के एकाग-ग्राही ज्ञान को नय कहते है। नय, प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नही है, अभिन्न भी नही है। प्रमाण यदि अगी है, तो नय अश है। प्रमाण यदि सूर्य है, तो नय रश्मिजाल। प्रमाण सत् को ग्रहण करता है और नय स्यात्सत्—इस तरह सापेक्ष रूप से जानता है, जबकि दुर्नय 'सदेव ऐसा अवधारण कर अन्य का तिरस्कार करता है। जैसा कि आचार्य श्री हेमचन्द्र ने कहा है—**सदेव सत् स्यात् सदितित्रिधार्थो मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणै.**, (अन्ययोगव्य० श्लोक) २८ निष्कर्ष यह है कि सापेक्षता ही नय का प्राण है। जैसा कि स्वामी समतभद्र ने कहा है—**निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्** (आप्त—मीमासा श्लोक १०८)। प्रमाण सर्वनयरूप है। नय वाक्यो मे 'स्यात्' शब्द लगाकर वोलने को प्रमाण कहते है। जिस प्रकार रसो के सयोग से लोहा अभीष्ट फल को देने वाला बन जाता है, उसी तरह नय

---

[1] न्यायदर्शन प्रसन्नपदा १

[2] न्यायदर्शन, पृ० १

म 'स्यात् श' लगान स इष्टफल दन हैं। जसा कि स्वामी समतभद्र न बृहत्स्वयभू स्तोत्र (का० ६५) म विमलनाथ भगवान् क स्तवन म लिखा ह—

नयास्तव स्यात्पदलाछना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातव ।
भवन्त्यभिप्रतफना यनस्ततो भव तमार्या प्रणता हितषिण ॥

नय नगमादि भद से सात प्रकार का हाना ह। जिसके द्वारा वस्तु म अनक धर्मों का ज्ञान हो उस प्रमाण कहत हैं। प्रमाण स्याद्वादरूप होता ह। जसा कि आचाय श्री मल्लिषेण न लिखा ह—प्रमीयत परिच्छिद्यतऽर्थोऽनकान्तविशिष्टोऽनन इति प्रमाणम्।[1] प्रमाण का सामान्य लक्षण ह—प्रमाया करणप्रमाणम्। प्रमा का करण ही प्रमाण ह। तद्वति तत्प्रकारानुभव प्रमा—जो वस्तु जसी है उसको वस ही जानना प्रमा ह। करण का अथ ह साधकतम। प्रमाण के सामान्य लक्षण म किसी को आपत्ति नहीं ह। विवाद का विषय करण बनता ह। बौद्ध दाशनिक सारूप्य और योग्यता को करण मानत हैं नयायिक इद्रिय को, और जन दाशनिक केवल ज्ञान को ही करण मानते है। प्रमाण क फल की सिद्धि उस (प्रमाण) को ज्ञानस्वरूप मान बिना नही हो सकती। अत करण जनन का श्रय ज्ञान को ही मिल सकता ह।

ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथाथ और अयथाथ दोनो प्रकार का होता है। सम्यक निर्णायक ज्ञान यथाथ होता है और सशय विपयय आदि ज्ञान अयथाथ। कवल यथाथज्ञान प्रमाण होता है। अथ का सम्यक निणय प्रमाण है। जसा कि आचाय श्री हेमचन्द्र न लिखा है—सम्यगथनिणय प्रमाणम्।[2] यह जन-सम्मत प्रमाण का परिष्कृत लक्षण है।

प्रमाण की सख्या सब दशनो म एक-सी नहीं है। नास्तिक (चावाक) केवल एक प्रत्यक्ष मानत हैं। बौद्ध दो—प्रत्यक्ष और अनुमान। साख्य तीन—प्रत्यक्ष अनुमान और आगम। नयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द (आगम)। मीमासा (प्रभाकर) पाँच—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान आगम अर्थापत्ति। मीमासा (भाट्ट वदान्त) छ—प्रत्यक्षादि पूर्वोक्त और अभाव। पौराणिक इनके अतिरिक्त संभव ऐतिह्य भी प्रमाण मानत हैं। जन दाशनिक दो प्रमाण मानत है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। जसा कि वादिदेवसूरि न लिखा है—तच्च द्विभद प्रत्यक्ष च परोक्ष चति।[3]

आचाय श्री हेमचन्द्र न इसी का समथन इस प्रकार किया है—प्रमाण द्विधा। प्रत्यक्ष परोक्ष च।[4] साव्यवहारिक और पारमार्थिक—प्रत्यक्ष क य दो भेद हैं। साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इद्रिय और मन स पदा

[1] स्याद्वाद मजरी, पृ० २२१
[2] प्रमाण मीमांसा १।१।२
[3] प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार परि० २, सूत्र १
[4] प्रमाण-मीमांसा पृ० ७

होता है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले साव्यवहारिक प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा अपाय और धारणा भेद से चार प्रकार है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मे केवल आत्मा की सहायता रहती है।

प्रत्येक द्रव्य का अपना असाधारण स्वरूप होता है। उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव होते है, जिनमे उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्मविचार करने पर द्रव्य क्षेत्र काल, भाव भी अन्तत द्रव्य की असाधारण स्थितिरूप ही फलित होते है। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूप चतुष्टय से सत् होता है और पररूप चतुष्टय मे असत्। पदार्थ स्वरूप से सत् और पररूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है। जैसा कि आचार्य मल्लिषेण ने कहा है—स्वरूपेण सत्त्वात् पररूपेण चासत्त्वात् भावाभावात्मक वस्तु।[1] यदि वस्तु को सर्वथा भावरूप स्वीकारा जाए, तो एक वस्तु के सद्भाव मे सपूर्ण वस्तुओ का सद्भाव मानना चाहिए। आचार्य श्री हेमचन्द्र इसी बात को इस प्रकार कहते है—सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्व-सत्त्व स्यात् स्वरूपस्याप्यसभव।[2]

पदार्थ सद्-असदात्मक है। उसमे सद् अश को भाव और असद् अश को अभाव या प्रतिषेध कहा गया है। वह अभाव पुन चार प्रकार का है। जैसे—प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—विधि सदश इति। प्रतिषेधोऽसदश इति। स चतुर्धा प्रागभाव प्रध्वसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च।[3]

यह तो ध्रुव सत्य है कि द्रव्य की न उत्पत्ति होती है और न विनाश। किन्तु जो उत्पत्ति और विनाश होते है, वे पर्याय के। द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और पर्यायरूप से कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रहा है, वह उत्पत्ति के पहले पर्याय रूप मे नही है। अत उसका जो यह अभाव है, वह प्रागभाव है। घट-पर्याय जब तक उत्पन्न नही हुआ, तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है, उसे घट का प्रागभाव कहा जाता है।

द्रव्य का विनाश नही होता है। विनाश होता है पर्याय का। अत कारण-पर्याय का नाश कार्य-पर्यायरूप होता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तरपर्यायरूप होता है। घट पर्याय नष्ट होकर कपाल-पर्याय बनता है। अत घट-विनाश कपालरूप है, जिसे प्रध्वसाभाव कहा जाता है।

एक पर्याय का दूसरे पर्याय मे जो अभाव है, वह इतरेतराभाव है, जिसे अन्यापोह भी कहते है। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभाव से निश्चित है। एक का स्वभाव दूसरे का नही होता। एक द्रव्य का दूसर द्रव्य मे जो त्रैकालिक अभाव है, वह अत्यन्ताभाव है।

---

[1] स्याद्वाद मंजरी, पृ० १७६

[2] प्रमाण-मीमासा, पृ० १२

[3] प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार, परि० ३, सूत्र ५२-४

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में विभिन्न प्रकार के विचार प्रवृत्त हैं। कोई दार्शनिक अभाव को मानते ही नहीं हैं कोई उसे कल्पित मानते हैं कोई उसे स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं कोई उसे अभावात्मक मानते हैं और कोई उसे भावस्वरूप मानते हैं।

पुन इस अभाव पदार्थ के ग्राहक—प्रमाण के बारे में भी कई मत हैं। प्रमाण प्रमेय-साधक होता है इसमें कोई विवाद नहीं है। फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। एक ही पदार्थ के निर्णय के लिए दार्शनिकों द्वारा विभिन्न प्रकार के प्रमाण माने गए हैं।

यदि कहा जाए कि अभाव निःस्वरूप होने के कारण असिद्ध है तो यह शंका अनुचित है क्योंकि जैन मतानुसार अभाव पदार्थ भाव स्वभाव वाला है अत निःस्वरूप नहीं है। यह भी शंका नहीं करनी चाहिए कि भाव स्वभाव वाले प्रागभावादि अभाव की सिद्धि कैसे हो सकती है? जैन दार्शनिकों के मतानुसार ऋजुसूत्र नय और प्रमाण के द्वारा उन (प्रागभावादि अभाव) की सिद्धि हो जाती है। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—नय प्रमाणादिति और विद्यानन्दस्वामी ने भी अष्टसहस्री में इसी बात को इस प्रकार कहा है ऋजुसूत्रनयार्पणादिति।[1] वर्तमान क्षण के पर्यायमात्र की प्रधानता से वस्तु का कथन करना ऋजुसूत्र है। जैसा कि आचार्य मल्लिषेण ने लिखा है—ऋजु वर्तमान-क्षणस्थायि पर्यायमात्र प्राधान्यत सूत्रयन्नभिप्राय ऋजुसूत्र।[2] ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से प्रागभाव घटादिकार्य के अव्यवहितपूर्व में रहने वाला उपादान-परिणाम अर्थात् मत्पिण्ड स्वरूप ही है और व्यवहार नय की अपेक्षा से मदादि द्रव्य ही घट प्रागभाव है।

प्रध्वंसाभाव की सिद्धि भी ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से होती है। प्रध्वंसाभाव स्थल में उपादेय क्षण (घटोत्पत्तिस्थितिक्षण) ही उपादान (मृत्पिण्डरूपकारण) का प्रध्वंसाभाव है। उपादेय क्षण को ही उपादान का प्रध्वंसक्षण मान लेने पर यह शंका हो सकती है कि उपादेय के उत्तरोत्तर क्षण में प्रध्वंसाभाव का अभाव होने से घटादि की पुनरुत्पत्ति की आपत्ति होगी। पर ऐसी शंका उचित नहीं क्योंकि कारण से कार्य का नाशत्व नहीं है अर्थात् उपादान कारण का नाश होने पर उत्तर पर्याय रूप कार्य की उत्पत्ति होती है न कि कार्य के नाश से कारण की उत्पत्ति का नियम है। प्रागभाव उपादान है और प्रध्वंस उपादेय। प्रागभाव का नाश करता हुआ प्रध्वंस उत्पन्न होता है। घट पर्याय कपाल पर्याय का प्रागभाव है और कपाल-पर्याय घट पर्याय का प्रध्वंस। पर यहाँ शंका हो सकती है कि दो अभाव पदार्थों में उपादान उपादेय सम्बन्ध कैसे होगा? किन्तु जैन दर्शन के अनुसार प्रागभाव पूर्वक्षणवर्ती कारण रूप तथा प्रध्वंस उत्तरक्षणवर्ती कार्य रूप है अर्थात् वस्तुत दोनों अभाव कथंचित् भावरूप हैं अतएव उक्त स्थल में दो अभावों में सम्बन्ध मानने का प्रसंग ही नहीं है। व्यवहार नय की अपेक्षा से मदादि मृद्द्रव्य ही घटोत्तर-काल में घट प्रध्वंस कहलाता है। जैसा कि वादिदेव सूरि ने कहा है—

---

[1] स्याद्वाद रत्नाकर पृ० ७७५। अष्ट सहस्री पृ० १००

[2] स्याद्वाद मंजरी पृ० ३१७

अभाव-प्रमाण का अन्तर्भाव नैयायिको ने प्रत्यक्ष प्रमाण मे किया है और साख्य-दर्शन मे भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना गया है। किन्तु उसके उत्पादन का मार्ग तीनो ही दार्शनिको का भिन्न-भिन्न है। साख्य के मतानुसार भूतल के स्वरूप मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कभी भूतल घट-युक्त होता है और कभी घट के हट जाने से केवल भूतल शेष रह जाता है। जब केवल भूतल रह जाता है, तब इसी अवस्था को घटाभाववद् भूतल कहते है। अत घटाभाव भी भूतल का स्वरूप विशेष ही है। भूतल का ग्रहण इन्द्रिय से होता है। अत उसका कैवल्यरूप भेद भी जिसे घटाभाववद् भूतल कहा जाता है, प्रत्यक्ष ही है। इसलिए उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष मे ही हो जाता है। नैयायिक विशेष्य-विशेषणभावरूप सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष मानते है। वैशेषिक ने अभाव का अनुमान मे अन्तर्भाव दिखाते हुए कहा है—अभावोऽप्यनुमानमेव यथोत्पन्न कार्यकारणसद्भावे लिगम् एवम नुत्पन्न कार्य कारणासद्भावे लिगम्।[1] वेदान्तियो के मत मे घटाभावदि अभावो के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध सम्भव नही होने से प्रत्यक्ष द्वारा अभाव का ग्रहण नही हो सकता है। अत वे अभाव के ग्रहण के लिए अभाव या अनुपलब्धि नामक एक पृथक् प्रमाण मानते है। बौद्ध दार्शनिक भी अपने कल्पित अभाव की सिद्धि अनुपलब्धि-हेतुक अनुमान के द्वारा ही मानते है।

"अभाव प्रमाण के पृथक् अस्तित्व का वाद बहुत पुराना जान पडता है, क्योकि न्यायसूत्र[2] और उसके वाद के सभी दार्शनिक ग्रन्थो मे तो उसका खण्डन पाया ही जाता है, पर अधिक प्राचीन माने जाने वाले कणाद-सूत्र मे भी प्रशस्तपाद की व्याख्या[3] के अनुसार उसके खण्डन की सूचना है।

विचार करने से जान पडता है कि यह पृथक् अभाव प्रमाणवाद मूल मे मीमासक परम्परा का ही होना चाहिए[4]। अन्य सभी दार्शनिक परम्परा उस वाद के विरुद्ध हैं। शायद इस विरोध का मीमासक परम्परा पर भी असर पडा और प्रभाकर उस वाद से सम्मत न रहे (अस्ति चेय प्रसिद्धि र्मीमासकाना षष्ठ किलेद प्रमाणमिति केय तर्हि प्रसिद्धि ? प्रसिद्धिर्वट यक्षप्रसिद्धिवत्[5] यदि तावत् केचिन् मीमासका प्रमाणान्यत्व मन्यन्ते ततश्च वय कि कुर्म[6]। ऐसी स्थिति मे कुमारिल ने उस वाद के समर्थन मे बहुत जोर लगाया, और सभी तत्कालीन विरोधियो का सामना किया।"[7] कुमारिल ने कहा है—

---

[1] प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १११। वै० सू० ६-२-५

[2] न्यायसूत्र २,२,२

[3] प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० २२५। वै० सू० ६-२-५

[4] शावर भा० १-१-५

[5] वृहती, पृ० १२०

[6] वही, वृ० पृ० ६ १२३ प्रकरण०, पृ० ११८-१२५

[7] प्रमाणमीमासा का टीप्पण (पंडित श्री सुखलाल कृत), पृ० २६ से उद्धृत

अभावो वा प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते ।
प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्मादभावात्मकात् पृथक ॥[1]

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक म प्रागभावादि अभाव विचार के प्रसग म क्षीरे दध्यादि इत्यादि श्लोक द्वारा निम्नोक्त आशय का व्यक्त किया है[2]—दूध म दही का अभाव प्रागभाव है दही म दूध का अभाव प्रध्वसाभाव है घट म पटका अभाव अन्योन्याभाव है और खरविषाण का अभाव अत्यन्ताभाव है। पर अभाव को भावस्वभाव बिना माने य चारो ही अभाव नही घट सकत । अत अभाव प्रकारान्तर स भावरूप ही ह। अभाव स्वतन्त्र पदाथ नही है किन्तु वह भी वस्तु का उसी तरह एक धर्म है जिस प्रकार भावाश। अथात् वस्तु भावाभावात्मक है और इसलिए अनुपलब्धि नामक स्वतन्त्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नही है।

[1] श्लोक वा०, अ० श्लो० ४५

मी० श्लो० अभाव० श्लो० २ ४

स्याद्वाद की सर्वप्रियता

चन्द्रशकर शुक्ल

स्याद्वाद' अथवा 'अनेकान्तवाद' जैन दर्शन का शब्द है। एक हाथी को देखने वाले सात अधो का दृप्टान्त स्याद्वाद के समर्थन के रूप मे प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का सार यह है कि किसी एक पदार्थ का वर्णन भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। वह वर्णन अपनी-अपनी दृप्टि से सच्चा होता है। किन्तु समग्र सत्य की दृष्टि से अधूरा ही रहता है। जिस समय वर्णन की सभी दृष्टियाँ एकत्र की जाती है, उसी समय पदार्थ का यथार्थ वर्णन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न अनेक दृप्टिकोणो से वस्तु का दर्शन करना ही सम्यग् दर्शन का वास्तविक मार्ग है और वही 'अनेकान्त' है। एक ही दृप्टि से किया हुआ वर्णन एकान्त अर्थात्, अधूरा होता है, इसलिए वह मिथ्या है। इसी बात को दार्शनिक परिभाषा मे हेमचन्द्र ने यो कहा है—'**अनन्त धर्मात्मकमेव तत्वम्**" अर्थात् तत्त्व अनन्त धर्मयुक्त है। उन्होने और स्पष्ट करते हुए कहा कि दीपक से लगाकर व्योम पर्यन्त वस्तु का यही स्वभाव है। कोई भी पदार्थ स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लघन नही कर सकता—"**आदीपमाव्योम समस्वभाव स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु**" (अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, ५)

उपनिषद् मे एक शिष्य ने गुरु से पूछा—"हे भगवन् ! ऐसी कौन-सी वस्तु है, जिसके ज्ञान से वस्तुमात्र का ज्ञान हो जाए ?"—(मुण्डक १-१-३) ऐसा ही एक प्रश्न पूछने वाले दूसरे विद्यार्थी श्वेतकेतु को उसके पिता आरुणि ने कहा कि मिट्टी के लोदे को जान लेने से मिट्टी की बनी हुई सभी वस्तुओ का ज्ञान हो जाता है—"**एकेन मृत्पिण्डेन विज्ञातेन मृण्मय विज्ञातं स्यात्**"—(छान्दोग्य ६-१-४)। जैन दर्शन ने यह बात तो बताई सो बताई, किन्तु साथ ही मे उससे फलित होने वाले एक उपसिद्धान्त का भी निर्माण किया और स्याद्वाद का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा कि जो एक पदार्थ को सर्वथा जानता

ह वह सभी पदार्थों को सवथा जानता ह । जो सव पदार्थों को सवथा जानता है वह एक पदाथ को भी सवथा जानता ह ।

एको भाव सवथा येन दृष्ट
सर्वे भावा सवथा तेन दृष्टा ।
सर्वे भावा सवथा येन दृष्टा
एको भाव सवथा तेन दृष्ट ॥"

अर्थात्—' सभी पदार्थों को उनके सभी स्यात्तग सहित जानने वाला सवज्ञ ही एक पदाथ को पूण रूप स जान सकता है । सामान्य व्यक्ति एक ही पदाथ का पूरा नही जान सकता । ऐसी अवस्था म अमुक व्यक्ति न अमुक बात मिथ्या कही ऐसा कहन का हम काई अधिकार नही । यह अधिकार ता सवज्ञ का ही है । व्यक्ति का पदार्थ विषयक ज्ञान अधूरा होता है । अत यदि कोई अपने अधूरे ज्ञान का पूण ज्ञान क रूप म दूसरो के सामने रखने का साहस करता हो और वही सच्चा और दूसरे सब झूठे ऐसा कहता हो तो हम उसे इतना अवश्य कह सकते हैं कि तुम अपनी मर्यादा का उलघन कर रहे हो । इससे अधिक उसे हम कुछ नही कह सकते । जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित ' स्याद्वाद' सिद्धान्त स ऐसा फलित होता है ।

स्याद्वाद' का सुव्यवस्थित निरूपण जैन-दर्शन न किया, यह ठीक है किन्तु यह नियम तो जगत् जितना ही प्राचीन तथा व्यापक है । मल्लिषेण क कथनानुसार स्याद्वाद ससार विजयी और निष्कटक राजा है—'एव विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्र ।' इस सिद्धान्त का उल्लेख ऋग्वेद तक म मिलता है—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।' (ऋग्वेद १।१६४।४६) एक ही सत् तत्व को विप्र अर्थात् विद्वान् विविध प्रकार स वणन करत हैं—यह स्याद्वाद का बीजवाक्य है । जैन-दर्शन की दृष्टि के अनुसार एक ही पदाथ के विपरीत वणन अपनी अपनी दृष्टि स सच्चे ह । पारिभाषिक शब्दों म कहा जाए तो प्रत्यक पदाथ म विरुद्धधर्माश्रयत्व है । इस प्रकार का परस्पर विरोधी वणन उपनिषद् म भी एक जगह आता है । आत्मा के विषय म उपनिषद्कार कहते हैं— वह चलता है वह स्थिर ह वह दूर है वह समीप है वह सर्वान्तगत है वह सभी स बाहर है । तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तद सर्वस्यास्य बाह्यत । —(ईश ५)

सॉक्रेटीज को अपन ज्ञान की अपूणता का—उसकी अल्पता का पूरा भान था । इस मर्यादा क भान को ही उसने ज्ञान अथवा बुद्धिमत्ता कहा है । वह कहता था कि मैं ज्ञानी हू क्योकि मैं जानता हूँ कि मैं अज्ञ हूँ । दूसरे ज्ञानी नही हैं क्योकि व यह नही जानते कि व अज्ञ हैं ।

प्लेटो न इस स्याद्वाद अथवा सापेक्षवाद का निरूपण विस्तार से किया । उसने कहा कि हम लोग महासागर के किनारे खेलने वाले उन बच्चो के समान हैं जो अपनी सीपियो म सागर के पूरे पानी को नापना चाहते हैं । हम उन सीपियो स महोदधि का पानी खाली नही कर सकते फिर भी अपनी छोटी-छोटी सीपियो म जो पानी इकट्ठा करना चाहते हैं वह उस अणव के पानी का ही एक अश है इसम कोई

संशय नही। उसने और भी कहा है कि भौतिक पदार्थ सम्पूर्ण सत् और असत् के बीच अर्धसत् जगत् में रहते हैं।[1] जैन की तरह उसने भी जगत् को सदसत् कहते हुए यह समझाया कि स्थायी, वृक्ष, पक्षी अथवा मनुष्य आदि "है" और "नही" है, अर्थात् एक दृष्टि से "है" और अन्य दृष्टि से "नहीं है", अथवा एक समय मे "है" और दूसरे समय मे "नही है" अथवा न्यून या अधिक है अथवा परिवर्तन या विकास की क्रिया से गुजर रहे हैं। वे सत् और असत्—दोनो के मिश्रणरूप से है अथवा सत् और असत् के बीच मे हैं।[2] उसकी व्याख्या के अनुसार नित्यवस्तु का आकलन अथवा पूर्ण आकलन "सायन्स" (विद्या) है, और असत् अथवा अविद्यमान वस्तु का आकलन अथवा सम्पूर्ण अज्ञान "नेस्यन्स" (अविद्या) है, किन्तु इन्द्रियगोचर जगत्—सत् और असत् के बीच का है। इसीलिए उसका आकलन भी सायन्स तथा नेस्यन्स के बीच का है।[3] इसके लिए उसने 'ओपिनियन' शब्द का प्रयोग किया है। उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि "नालेज" का अर्थ—पूर्णज्ञान है और "ओपिनियन" का अर्थ अल्प-ज्ञान है। अपने "ओपिनियन" की व्याख्या "सम्भावना विषयक विश्वास" (Trust in Probabilties) भी की है—अर्थात् जिस व्यक्ति मे अपने अगज्ञान या अल्पज्ञान का भान जगा हुआ होता है, वह नम्रता से पद-पद पर कहता है कि ऐसा होना ही सम्भव है—मुझे ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए स्याद्वादी पद-पद पर अपने कथन को मर्यादित करता है। स्याद्वादी जिद्दी की तरह यह नहीं कहता कि मैं सच्चा हूँ, और बाकी झूठे हैं। लुई फिशर ने गांधी जी का एक वाक्य लिखा है—"मैं विश्वास से ही समझौता पसन्द व्यक्ति हूँ, क्योकि मैं ही सच्चा हूँ, ऐसा मुझे कभी विश्वास नहीं होता।"[4]

बौद्ध भी इसी तरह स्याद्वाद की दिशा मे है। क्योकि वे भी मध्यममार्गी है। मध्यमार्ग स्याद्वाद का ही एक रूप है। जैन स्याद्वादी जिस प्रकार से जगत् को सदसत् कहता है, उसी प्रकार से माध्यमिक बौद्ध भी कहता है कि अस्ति और नास्ति—ये दोनो अन्त है, शुद्धि और अशुद्धि—ये दोनो भी अन्त है। इसीलिए ज्ञानी मनुष्य इन दोनो अन्तो का त्याग करके मध्य मे स्थित होता है—

> अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता.,
> शुद्धि - अशुद्धीति इमे पि अन्ता· ।
> तस्मादुभे अंत विवर्जयित्वा,
> मध्ये हि स्थान प्रकरोति पण्डित. ॥
>
> —(समाधिराजसूत्र)

माध्यमिको ने परमार्थ, लोकसवृत्ति और अलोकसवृत्ति—इस प्रकार से सत्य की तीन अवस्थाएँ स्वीकृत की हैं। यह भी स्याद्वाद है।

---

[1] सी० ई० एन० जोड—फिलासोफी फार आवर टाइम्स पृ० ४१

[2] एरिक-लेअन—प्लेटो, पृ० ६०

[3] वही, पृ० ६४

[4] **"I am essentiality a man of compromise because I am never sure I am right."**—*Louis Fischer* —**The Great Challenge.**

स्याद्वाद की सर्वप्रियता

शंकर तो तत्व-ज्ञान के क्षेत्र में स्याद्वाद का अधिक से अधिक प्रयोग करने वाला एक चिन्तक है। उसने भी माध्यमिकों की भांति सत्य की तीन अवस्याएँ मानी और उन्हें नाम दिया—परमार्थ व्यवहार और प्रतिभास।

वास्तविक रीति में देखा जाए तो शंकर ने किसी भी मत का खण्डन नहीं किया। उसने यह बताया कि प्रत्येक मत किस दृष्टि से और किस अवस्था में सच्चा है और उसने अपनी मर्यादा का अतिक्रमण न करने वालने का अनुरोध किया। दूसरे ढंग से कहा जाए तो शंकर ने जो जो विषय अपने हाथ में लिए उन्हें तालाब के ऊंच-नीचे सोपान वाले घाटों का रूप दिया। इसीलिए शंकर को सोपानवादी कह सकते हैं। हिरियन्ना ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है, कि शंकर के मतानुसार प्रत्येक उपलब्धि अपनी अपनी सीमा तक तो सत्य है किन्तु अपनी सीमा का अतिक्रमण करने पर वह उपलब्धि मिथ्या हो जाती है। स्वप्न-दशा की दृष्टि से स्वप्न सत्य होता है, किन्तु जागृति की दृष्टि से वही स्वप्न मिथ्या हो जाता है। उसी प्रकार जागृतावस्था का ज्ञान व्यवहार की दृष्टि से तो सत्य है, किन्तु परमार्थ की दृष्टि से मिथ्या है।[1]

इस 'मिथ्या' शब्द का विशिष्ट अर्थ जो शांकर वेदान्त में है वह स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुकूल है। मिथ्या अर्थात अविद्यमान नहीं सम्पूर्ण सत अथवा नित्य नहीं—अर्थात सत और असत के बीच का मिथ्या है। शांकर वेदान्त में भ्रान्ति (Error) मात्र असत भ्रान्ति है क्योंकि प्रत्येक भ्रान्ति में सत्य का यत् किंचित अंश तो रहता ही है।[2] दूसरे शब्दों में शांकर वेदान्त के अनुसार व्यवहार दशा में सम्पूर्ण ज्ञान अथवा सम्पूर्ण अज्ञान—इन दोनों में से एक भी सम्भव नहीं है अर्थात ऐसा जो कुछ ज्ञान है वह अज्ञान है। दूसरी ओर उसने यह भी कहा है कि जिसकी उपलब्धि होती हो वह वस्तु असत् अर्थात् अविद्यमान नहीं कही जा सकती।[3] इन दोनों बातों को एकत्र करके ब्रेडले ने एक ही वाक्य में कहा कि—' झूठी से झूठी बात में भी सत्य रहता है। अल्प से अल्प पदार्थ में भी सत तत्व रहता है।[4] इसलिए शांकर मतानुसार किसी भी व्यक्ति का कथन सर्वथा भ्रष्ट नहीं हो सकता।

इसलिए सभी धर्म और सभी दर्शन जैसा कि गांधी जी ने कहा है सच तो हैं किन्तु अधूरे हैं अर्थात् प्रत्येक में सत्य का न्यूनाधिक अंश है। किसी एक में सम्पूर्ण सत्य नहीं है। टैगोर ने कहा है कि 'सभी धर्म और दर्शन ईश्वर के ही स्फुलिंग हैं। किन्तु सत्यनारायण स्वयं उन सभी में बद्ध न होकर उनसे दशांगुल ऊंचा ही रहता है।'[5]

---

[1] हिरियन्ना—Outlines of Indian Philosophy p 361

[2] वही पृ० ३६१

[3] न ह्ययोपलभ्यमानस्याभावो भवितुमर्हति।" ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २ २ २७

[4] "There is truth in every idea however false There is reality in every existence however slight Bradley : Appearance and Reality

[5] ऋग्वेद १० ६ १

They are but broken Light of thee
And then O Lord ! art more than they.[1]

नीति और सदाचार के विपय मे भी यही बात है। एक तामिल लोकोक्ति मे कहा है कि 'मलयतन पापई कडिय तन पुण्य" अर्थात् मलय पर्वत जितने पाप मे भी तृण जितना पुण्य रहता ही है। पुण्य के आधार या अधिष्ठान के विना पाप खडा नही रह सकता। वडे से वडे पापी मनुष्य मे भी पुण्य का कुछ अश तो होता ही है। एक सस्कृत वाक्य मे इसी बात को यो कहा है—इस जगत् मे दोप-रहित और गुणरहित वस्तु या मनुष्य कही भी नही है—"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोष न निर्गुणम्।"

इस निरूपण मे दो बाते फलित होती है—एक तो यह कि हमे सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नही हो सकता। अतएव जब-जब हमे जो-जो सत्य मालूम हो, तदनुसार ही चलना चाहिए। दूसरे के पास भले ही सौ कैण्डिल पावर का देदीप्यमान दीप हो, किन्तु वह हमारे लिए किस काम का ? हमारे पास भले ही काँच की बत्ती के अन्दर रखा हुआ तेल का छोटा-सा दीपक ही क्यो न हो, आखिर पथ-प्रदर्शन तो वही करेगा।

ऐसा होते हुए भी हमारे दृष्टिविन्दु के साथ ही साथ अन्य दृष्टिविन्दु भी है, ऐसा जानने और समझने के बाद हम उन्हे समझने का प्रयास करते है अथवा यो कहिए कि उन्हे समझने का प्रयास करना चाहिए। यह तभी हो सकता है, जब हम अपने आपको दूसरे के स्थान पर रखें। इसी बात को अग्रेजी मे यो कहा है—**To Put one self into another shoes** (दूसरे के जूते मे अपना पैर डालना) और **To get under his skin** (उसकी चमडी मे घुस जाना)। यह क्रिया उस समय तक के लिए परकाया प्रवेश रूप है। इसी का नाम **Sympathy** सहानुभूति (सह अनुभूति) है। **Sympathy** शब्द की व्याख्या डी० क्विन्सी ने इस प्रकार की है—**Act of reproducing in our minds the feelings of another**—किसी अन्य व्यक्ति की भावनाओ की अपने मन मे पुनरुत्पत्ति की क्रिया। डी० क्विन्सी ने कहा कि सहानुभूति अर्थात् दया या अनुमति नही, अपितु सहृदयता अर्थात् दूसरे की भावनाओ मे प्रवेश करके उन्हे समझने की क्रिया। गाँधीजी ने १९३३ मे डा० पट्टाभि से कहा था कि जब मैं किसी मनुष्य को सलाह देता हूँ, तब अपनी दृष्टि से नही, किन्तु उसी की दृष्टि से देता हूँ। इसके लिए मैं अपने को उस स्थान मे रखने का प्रयत्न करता हूँ। जहाँ मैं यह क्रिया नही कर सकता, वहाँ सलाह देने से इन्कार कर देता हूँ। **I advise a man not from my stand point but from his, I try to put myself in his shoes when I cannot do so I refuse to advise**[1]

उनकी इस आदत का परिणाम यह हुआ, कि कितना भी मतभेद रखने वाले के प्रति भी वे सहिष्णु रहते और उसके साथ मित्रता रखने मे समर्थ होते। १९२६ मे सावरमती आश्रम मे गाधी जी ने एक बार मुझे कहा (उन्ही के शब्दो मे) मैं स्वय Puritan हूँ, किन्तु दूसरो के लिए Catholic हूँ।[2]

★

[1] **More conversations of Gandhiji—by** *Chandra Shanker Shukla* **(Unpublished).**

[2] गाँधी जी ना समागमो—स० चन्द्रशकर शुक्ल

जैन दर्शन का इतिहास और विकास

पण्डित महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

दर्शन शब्द का सीधा अर्थ देखना या साक्षात्कार करना होता है पर यदि दर्शनशास्त्र में 'दर्शन' शब्द का अर्थ साक्षात्कार होता, तो दर्शनों में परस्पर इतना मतभेद नहीं हो सकता था। प्रत्यक्ष तो मतभेदों का अन्त कर देता है। आत्मा नित्य है या अनित्य इन दो पक्षों में से यदि किसी एक पक्ष का दर्शन साक्षात्कारात्मक होता, तो आत्मा का नित्यत्व या अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए सांख्य और बौद्धों को दिमागी कसरत न करनी पड़ती। अतः दर्शन शास्त्र का 'दर्शन' शब्द दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। बल्कि सत्य तो यह है, कि पदार्थ के जिस अंश का प्रत्यक्ष हो सकता है, उस अंश की चर्चा दर्शनशास्त्रों में बहुत कम है। जिन आत्मा परमात्मा जगत् का पूर्ण रूप परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता उन्हीं पदार्थों के विचार में विभिन्न दर्शनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण रखे हैं, और उनके समर्थन में पर्याप्त कल्पनाओं का विकास किया है। विशेष बात तो यह है कि प्रत्येक दर्शन अपने अपने आदि पुरुष को उनमें बताए गए अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप का द्रष्टा साक्षात्कर्ता मानता है और दर्शन शब्द के 'दृष्टिकोण' विचार की दिशा इन अर्थों को गौण करके उसके साक्षात्कार अर्थ की आड़ में अपनी सत्यता की छाप लगाने का प्रयत्न करता है। दर्शन शब्द के अर्थ में यह घोटाला करने से एक ओर जहाँ तर्क-द्वारा से पदार्थ के स्वरूप की सिद्धि करने में तर्क का सार्वत्रिक प्रयोग किया जाता है तो 'तर्काप्रतिष्ठानात्' जैसे सूत्रों द्वारा उसकी अप्रतिष्ठा कर दी जाती है और वस्तु के स्वरूप को अनुभव-गम्य या शास्त्रगम्य कह दिया जाता है। दूसरी ओर जब पदार्थ का उस रूप से अनुभव नहीं होता तब अधूरे तर्कों का आश्रय लिया जाता है। अतः दर्शन-शास्त्र की निर्णयरेखाएँ

उतनी स्पष्ट और सुनिर्णीत नही है, जितनी विज्ञान की। आचार्य हरिभद्र[1] तो अतीन्द्रिय पदार्थों के तर्कवाद की निरर्थकता ही एक प्रकार से बताते है। इस तरह दर्शन-शास्त्र के 'दर्शन' शब्द के अर्थ की पेचीदगी ने भारतवर्ष के विचारको मे जबरदस्त बुद्धिभेद उत्पन्न किया था। एक ही वस्तु को एकवादी 'सत्' मानता था दूसरा 'असत्', तीसरा 'सदसत्' तो चौथा 'अनिर्वचनीय'। इन मतभेदो ने अपना विरोध विचार के क्षेत्र तक ही नही फैलाया था, किन्तु वह कार्यक्षेत्र मे भी पूरी तरह जम गया था। एक-एक विचार-दृष्टि ने दर्शन का रूप लेकर दूसरी विचारदृष्टि का खडन करके अहकार का दुर्दम मूर्त रूप लेना प्रारम्भ कर दिया था। प्रत्येक दर्शन को जब धार्मिक रूप मिल गया, तो उसके संरक्षण और प्रचार के लिए बहुत से अवाछनीय कार्य करने पडे। प्रचार के नाम पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुए। शास्त्रार्थो मे पराजित विरोधी को कोल्हू मे पेल डालना, तप्त तेल के कडाहो मे डाल देना जैसी कठोर शर्ते लगाई जाने लगी। राजाश्रय पाकर इन शास्त्रार्थियो ने भारतीय जल्पकथा के इतिहास को भीषण हिंसाकाडो द्वारा रक्तरजित कर दिया था।

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के आध्यात्मिक क्षितिज पर भगवान् महावीर और बुद्ध दो महान् नक्षत्रो का उदय हुआ। इन्होने उस समय के धार्मिक वातावरण मे सर्वतोमुखी अद्भुत क्रान्ति की। उस समय धर्म के नियम उपनियमो के विषय मे वेद और तदुपजीवी स्मृतियो का ही एक मात्र निर्बाध अधिकार था। उसमे पुरुष के अनुभव का कोई स्थान नही था, और इसी आधार से धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के मेध, जिनमे अजमेध से नरमेध तक शामिल थे। रक्तवती और चर्मणवती जैसी सार्थक नामवाली नदियो की सृष्टि कर रहे थे। इन दो महापुरुषो ने धर्म के नाम पर होने वाली विडम्बना के विरुद्ध आवाज उठाई और स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया, धर्म का साक्षात्कार किया जा सकता है, वह अनुभव के आधार पर रचा जा सकता है। 'उन्होने प्राणिमात्र को सुख, सन्तोष और शान्ति देने वाली 'अहिंसा' की पुन प्रतिष्ठा की। वीतरागी और तत्वज्ञ व्यक्ति अनुभव से धर्म और उसके नियमोपनियम का यथार्थ ज्ञान कर सकता है, इस प्रकार की अनुभव-प्रतिष्ठा के बल से वेद धर्म के नाम पर होने वाले क्रियाकाडो का तात्त्विक और व्यावहारिक विरोध हुआ। अहिंसक वातावरण ने जगत् को शान्ति की साँस लेने का क्षण मिला। महात्मा बुद्ध ने आत्मा आदि अनेक अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय मे प्रश्न किए जाने पर उन्हे अव्याकृत या अव्याकरणीय बताया। उन्होने सीधी सादी भाषा मे जगत् को दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्यो के स्वरूप का स्पष्ट निरूपण किया और दु खसन्तप्त जगत् को निराकुलता की ओर ले जाने का अतुल प्रयत्न किया। उन्होने जगत् को शून्य, क्षणिक, मायोपम जलबुद्-बुदोपम बताकर प्राणियो को विज्ञानरूप अर्न्तमुख होने की ओर प्रेरित किया। आगे जाकर इन्ही क्षणिक, शून्य आदि भावात्मक शब्दो ने क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि वादो का रूप धारण किया।

---

[1] "ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रिया।
कालेनैते तेषा कृत. स्यादर्थनिर्णय.॥
अर्थात् यदि तर्कवाद से अतीन्द्रिय पदार्थो का ज्ञान किया जा सकता होता, तो इतने काल मे अनेको प्रखर तर्कवादी हुए उनके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निर्णय कभी का हो गया होता।

भगवान् महावीर अहिंसा के उत्कट साधक थे। वे मानहृदय बुद्ध की तरह मृदुमार्गी न होकर पितृमनस्क दीर्घतपस्वी थे। अहिंसा के कायिक, वाचिक तथा मानसिक स्वरूपों को आत्मसात् करना तथा संघ में उनका ही जीवन्त रूप लाना उनका जीवन-कार्य था। विषय-कषाय की ज्वालाओं में झुलसे हुए इस जगत् को सर्वांगीण अहिंसा द्वारा स्थायी शान्ति की ओर ले जाना उनका जीवन-व्रत था। कायिक अहिंसा के लिए जिस प्रकार व्यक्तिगत सम्यक् प्रवृत्ति, अप्रमत्त आचरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वाचनिक अहिंसा के लिए वचन की अमुक शैली तथा मानसिक अहिंसा के लिए विचारसहिष्णुता एवं पदार्थ के विराट स्वरूप के यथार्थ ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। भगवान् महावीर ने वस्तु के विराटस्वरूप का अनुभव करके बताया कि अचेतन जगत् का प्रत्येक अणु तथा चेतन जगत् का हर एक आत्मा अनन्त धर्मवाला है। उसके पूर्ण रूप को पूर्णज्ञान ही जान सकता है। उसके अनन्त स्वरूप को हमारा क्षुद्र ज्ञानकण अंशतः ही स्पर्श कर सकता है। उस समय प्रचलित सत्, असत्, अवक्तव्य, क्रिया, अक्रिया, नियति, यदृच्छा, काल आदि वादों का उन्होंने अपने पूर्ण ज्ञान में ठीक स्वरूप देखा और वस्तुस्थिति के आधार से विचार की उस मानस-अहिंसा-पोषणी दिशा की ओर ध्यान दिलाया, जिससे वस्तु के यथार्थ ज्ञान के साथ ही साथ चित्त में समता और विचार-सहिष्णुता जैसे अहिंसा के अंकुरों का आरोपण हो सकता था। उन्होंने आत्मा, परलोक आदि के विषय में प्रश्न होने पर मौनावलम्बन नहीं किया और न उन्हें अव्याकरणीय बताया, किन्तु उन पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विवेचन किया। उन्होंने अपनी पहली देशना में 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' (स्थानांग—स्थान १०) इस त्रिपदी का उच्चारण किया था। यह मातृकात्रिपदी कही जाती है। इसका तात्पर्य है कि जगत् का प्रत्येक चेतन अचेतन पदार्थ उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी होता है और स्थिर भी रहता है। मूल अस्तित्व स्थिर रहता है, अवस्थाओं में उत्पाद और विनाशरूप परिवर्तन होता रहता है। सांख्य और योग परम्परा में ऐसा परिणाम वाद केवल अचेतन प्रकृतितत्त्व में माना है। पुरुषतत्त्व इस परिणाम से सर्वथा अछूता कूटस्थ नित्य स्वीकार किया गया है।

भगवान् महावीर के उपदेशों का अन्तिम संग्रह देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने वि० स० ५१० में किया था। ये आगम उस समय की लोकभाषा अर्धमागधी में रचे हुए हैं। भगवान् महावीर और बुद्ध ने अपने उपदेश जनता की बोली में ही दिए थे। आगमों की रचना शैली में तर्क के स्थल-स्थल पर दर्शन होते हैं। महावीर के मुख्य गणधर गौतम स्वामी भगवान् से हर एक उपदेश में तर्क करते हैं 'से केणट्ठेण भन्ते एवमुच्चइ' अर्थात्—भगवन् ऐसा क्या कहते हैं ? इस तर्क गर्भ प्रश्न के उत्तर में महावीर अपने द्वारा उपदिष्ट मार्ग की सत्यता तथा प्रामाणिकता को युक्तियों से सिद्ध करते हैं।

इस तरह आगमों में जैनदर्शन के बीज बिखरे हुए हैं। उनका संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम संग्रह आ० उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में किया। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रमाणनयैरधिगमः[1] 'उत्पादव्ययध्रौव्य

---

[1] त० सू० ५।२९

युक्तंसत्"[1]"अर्पितानर्पितसिद्धि.[2]" "गुणपर्यायवद्द्रव्यम्[3]" इत्यादि सूत्र ऐसे है, जिन पर जैन-दर्शन का महाप्रासाद खडा किया गया है। इनके समय की उत्तरावधि वि० स० ४०० तक हो सकती है। इनका 'तत्वार्थसूत्र' ग्रन्थ जैनमत की दिगम्वर श्वेताम्वर उभय शाखाओ को मान्य है। जैनदर्शन के विकास का कुछ विचार ही (१) उपाय या ज्ञापक तत्त्व (२) उपेय या ज्ञेयतत्त्व इन दो स्थूल भागो मे विभाजित कर सकते है।

ज्ञापक-तत्व

(१) आगमिक परपरा मे मति, श्रुत, अवधि, मन पर्याय और केवल ये पांच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेय के जानने के साधन माने गए है। उत्तराध्ययनसूत्र (२८/२४) मे प्रमाण और नय को भी उपाय तत्व वताया है। आगमिक काल मे ज्ञान की सत्यता और असत्यता वाह्य पदार्थो को ठीक प्रकार से जानने और न जानने के ऊपर निर्भर नही थी, किन्तु जो ज्ञान आत्मसशोधन और अन्तत. मोक्षमार्गोपयोगी होते थे, वे सच्चे तथा जो मोक्षमार्गोपयोगी नही थे, वे भूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टि से शतप्रतिशत सत्यज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी नही है, तो वह भूठा और लौकिक दृष्टि से मिथ्या ज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है, तो वह सच्चा। इस तरह सत्यता और असत्यता की कसौटी वाह्यपदार्थो के अधीन न होकर उसकी मोक्षमार्गोपयोगिता के अधीन थी। इसीलिए सम्यक्दृष्टि के सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्या दृष्टि के सभी ज्ञान भूठे कहलाते थे। वैशेपिक सूत्र मे विद्या और अविद्या शव्द के प्रयोग कुछ इसी भूमिका पर हैं।

इन पाँच ज्ञानो का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से विभाजन आगमकाल मे एक विभिन्न आधार पर ही था। वह आधार था—आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्र सापेक्ष था, वह प्रत्यक्ष तथा जिनमे इन्द्रिय और मन की सहायता अपेक्षित होती थी, वे परोक्ष। लोक मे जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानो को प्रत्यक्ष कहते थे, वे ज्ञान आगमिक परम्परा मे परोक्ष थे। आगमो मे प्रमाण, नय, निक्षेप आदि साधन वताए तो गए है, पर उनकी विभाजन रेखाएँ इस काल मे उतनी स्पष्ट नही थी, जितनी कि आगे जाकर हुई।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति के "तत्वार्थसूत्र" और कुन्दकुन्द के "प्रवचनसार" मे "स्थानागसूत्र" (२/१/७१) की तरह ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष विभाग स्पष्ट है। इनके युग मे ज्ञान की सत्यासत्यता का आधार तथा लौकिक प्रत्यक्ष को परोक्ष कहने की परम्परा जैसी-की-तैसी चालू रही। कुन्दकुन्द के "प्रवचनसार" और "पचास्तिकाय" ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैलो के सुन्दर नमूने हैं। इनके युग की भी उत्तरावधि चौथी शताव्दी तक मानी जा सकती है।

---

[1] त० सू० ५।३०
[2] त० सू० ५।३२
[3] त० सू० ५।३८

समन्तभद्र सिद्धसेन—जब बौद्ध दर्शन में नागार्जुन, वसुबन्धु असंग तथा बौद्धन्याय के पिता दिङ्नाग का युग आ गया और दर्शनशास्त्रियों में बौद्धदार्शनिकों के प्रबल तर्क प्रहारों से बेचैनी पैदा हो रही थी, वह एक तरह से दर्शनशास्त्र के तार्किक अंश या परपक्ष खंडन अंश का प्रारम्भकाल था। उस समय जैन परम्परा में सिद्धसेन दिवाकर और स्वामी समन्तभद्र का उदय हुआ। इनके सामने आगमिक परिभाषाओं और शब्दों को तर्कशास्त्र के चौखटे में बैठाने का महत्वपूर्ण कार्य था। इस युग में जो धर्मसंस्था प्रतिवादियों के आक्षेपों का निराकरण कर स्वदर्शन प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरे में था। अतः परचक्र से रक्षा के लिए अपना दुर्ग स्वतः संवृत करने के महत्वपूर्ण कार्य का प्रारम्भ इन दो आचार्यों ने किया।

दिङ्नाग ने बौद्धन्याय में प्रवेश पाने के लिए न्यायप्रवेश ग्रन्थ तथा प्रमाणसमुच्चय आदि प्रकरणों की रचना की। सिद्धसेन दिवाकर ने जैनन्याय का अवतार स्वरूप 'न्यायावतार' ग्रन्थ तथा 'सन्मतितर्क' और 'द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशतिका' की रचना की। इन्होंने न्यायावतार में प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद करके परोक्ष का वर्णन अनुमान और आगम इन दो विभागों में किया। अर्थात् इनके मत से सांख्य परम्परा की तरह प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण फलित होते हैं। यह प्रमाण त्रित्ववाद सिद्धसेन दिवाकर से प्रारम्भ हुआ और यहीं तक सीमित रहा। उत्तरकालीन आचार्यों ने इसे नहीं अपनाया। इन्होंने न्यायावतार के प्रथम श्लोक में ही ज्ञान की प्रमाणता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान में मेयविनिश्चय बताया है अर्थात् जो ज्ञान पदार्थों का यथार्थ निश्चय करे वह प्रमाण अन्य अप्रमाण।

स्वामी समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा (का० ८७) में बुद्धि और शब्द की प्रमाणता और अप्रमाणता बाह्यार्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति से होती है, यह लिखा है। अर्थात् जिस बुद्धि के द्वारा प्रतिभासितपदार्थ ठीक उसी रूप में उपलब्ध हो जाए वह प्रमाण अन्य अप्रमाण। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग में ज्ञान की सत्यता का आधार मोक्षमार्गोपयोगिता के स्थान में मेयविनिश्चय या अर्थाप्तिअनाप्ति अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति—बना।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० ७ वीं० शताब्दी) ने लौकिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष को जिसे अभी तक परोक्ष ही कहा जाता था और इससे एक प्रकार से लोक व्यवहार में असमंजसता आती थी, अपने 'विशेषावश्यक भाष्य (गा० ९५) में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष संज्ञा दी अर्थात् आगमिक परिभाषा के अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है पर लोक-व्यवहार के निर्वाहार्थ इन्द्रियजन्य ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कह सकते हैं। इस तरह आगमिक तथा दार्शनिकों एवं लौकिक परम्परा का समन्वय किया गया।

भट्टारक अकलंकदेव ने (वि० ८ वीं), जो सचमुच ही जैन प्रमाण-शास्त्र के सजीव प्रतिष्ठापक कहे जाते हैं अपने 'लघीयस्त्रय (का० ३, १०) में प्रथमतः प्रमाण के दो भेद करके फिर प्रत्यक्ष के स्पष्टतः मुख्यप्रत्यक्ष और सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष—ये दो भेद किए हैं। और परोक्ष प्रमाण के भेदों में स्मृति

प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम इन पाच को स्थान दिया। इस तरह प्रमाण-शास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा यहाँ से प्रारम्भ होती है।

अनुयोगद्वार, स्थानाग, और भगवतीसूत्र मे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आगम इन चार प्रमाणो का निर्देश है। यह परम्परा न्यायसूत्र की है। पर तत्त्वार्थधिगमभाष्य मे इस परम्परा को 'नयवादान्तरेण' कह कर जैन परम्परा के रूप मे स्पष्ट स्वीकार नही किया है, और न उत्तराकालीन किसी जैनतर्कग्रन्थ मे इसका कुछ भी विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तराकालीन जैनदार्शनिको ने अकलकदेव द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाण पद्धति को पल्लवित और पुष्पित करके जैनन्यायाराम को सुवासित किया है।

उपायतत्व

उपायतत्व मे महत्वपूर्ण स्थान नय तथा स्याद्वाद का है। नय एक जैन पारिभाषिक शब्द है जो सापेक्ष दृष्टि का नामान्तर है। स्याद्वाद, भाषा का वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा वस्तु के परिपूर्ण या यथार्थरूप के अधिक से अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। मैं पहले लिख आया हूँ कि भगवान् महावीर ने वस्तु के अनन्त धर्मात्मक विराट्रूप के दर्शन किए और उन्हे उस समय के प्रचलित सभी सद्वाद और असद्वाद या अनिर्वचनीय आदि वाद वस्तु के एक-एक अश को स्पर्श करने वाले प्रतीत हुए। यहाँ तक तो ठीक था, पर जब महावीर ने उन वादियो को अपने-अपने वाद की सत्यता को चौराहो पर उद्घोषणा कर दूसरो का प्रतिक्षेप करते देखा, तो उनका तत्त्वद्रष्टा अहिंसक हृदय इस अज्ञान एव हिंसा से अनुकपित हुआ। उन्होने उन सब के लिए वस्तु के विराटस्वरूप का निरूपण किया। कहा देखो, वस्तु के अनन्तधर्म हैं, लोगो का ज्ञान स्वल्प है, वह वस्तु के अश को स्पर्श करता है, अपने दृष्टिकोण को ही सत्य मान कर या अपने ज्ञान पल्लव मे वस्तु के अनन्त रूप को समाया समझकर दूसरे वादी के दृष्टिकोण का प्रतिक्षेप करना मिथ्यात्व है। उसका भी दृष्टिकोण वस्तु के दूसरे अश को स्पर्श करता है। अत अपनी अपनी दृष्टि मे पूर्णसत्य का मिथ्या अहकार करके दूसरो के प्रति असत्यता का आरोप करके उनसे हिंसक व्यवहार करना, तत्वज्ञो का कार्य नही है। उसके स्वरूप का वर्णन करने वाली प्रत्येक दृष्टि नय है, वह अपने मे उतनी ही सत्य है, जितनी उसकी विरुद्ध दृष्टि। शर्त यह है कि कोई भी दृष्टि दूसरी दृष्टि का प्रतिक्षेप न करे, उसके प्रति सापेक्ष भाव रक्खे। यह नयदृष्टि विचार का निर्दोष प्रकार है, तथा स्याद्वाद भाषा की समता का प्रतीक है। स्याद्वाद मे "स्यात्" शब्द एक "निश्चित दृष्टिकोण" का प्रतिपादन करता है, अर्थात् अमुक निश्चित दृष्टिकोण से वस्तु सत् है, अमुक निश्चित दृष्टिकोण से असत्। स्यात् को शायद का पर्यायवाची कहकर उसे ढुलमुल यकीनी की कक्षा में डालना, उसके ठीक स्वरूप के अज्ञान का फल है। मालूम होता है, शकराचार्य जी ने भी स्यात् और शायद को पर्यायवाची समझकर उसमे सशय दूषण देने का विफल प्रयास किया है। भगवती-सूत्र मे हम "सिया अत्थि, सिया णत्थि, सिया अवतव्वं"—इन तीन भंगो का निर्देश पाते हैं। अर्थात् वस्तु एक दृष्टिकोण से सत् है, दूसरे दृष्टिकोण से असत् तथा तीसरे दृष्टिकोण से अवक्तव्य। वस्तुत. मनुष्य एक विराट अखड अनन्त वस्तु को पहले

सद्रूप से वर्णन करने का प्रयत्न करता है, और देखता है कि उसकी दूसरी बाजू अभी वर्णन में नहीं आई तब उसका असद्रूप से विवेचन करता है। पर जब वह देखता है कि सद् और असत् जैसे अनन्त विरोधी धर्मों की लहरें वस्तु के असीम समुद्र में लहरा रही हैं जिन्हें एक साथ वर्णन करना वचनों की शक्ति के बाहर है तो वह कह उठता है यतो वाचो निवर्तन्ते। इस तरह वस्तु का परिपूर्ण रूप अवक्तव्य है उसका एक-एक रूप से आंशिक वर्णन होता है। जैन दर्शन में अवक्तव्य को भी एक दृष्टि माना है जिस प्रकार वक्तव्य को।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में सर्व प्रथम सत् असत् और अवक्तव्य के संयोग से बनने वाले सात भंगों का उल्लेख है। इसे सप्तभंगी-नय कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमांसा में इसी सप्तभंगी का अनेक दृष्टियों में विवेचन है। उसमें सत् असत् एक अनेक नित्य अनित्य द्वैत अद्वैत, दैव और पुरुषार्थ आदि अनेक दृष्टिकोणों का जैन दृष्टि से सुन्दर समन्वय किया है। सिद्धसेन के सन्मतितर्क में अनेकान्त और नय का विशद वर्णन है। इन युग प्रधान आचार्यों ने उपलब्ध समस्त जैनेतर दृष्टियों का नय या स्याद्वाद दृष्टि से वस्तुस्पर्शी समन्वय किया। दैव और पुरुषार्थ का जो विवाद उस समय दृढ़मूल था उसके विषय में स्वामी समन्तभद्र ने आप्त मीमांसा (७ वां परिच्छेद) में हृदयग्राही सापेक्ष विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है कि कोई भी कार्य न केवल दैव से होता है और न केवल पुरुषार्थ से। दोनों रस्सियों से दधि मथन होता है। हां जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न के अभाव में फल प्राप्ति हो वहाँ दैव को प्रधान मानना चाहिए तथा पुरुषार्थ को गौण तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से कार्यसिद्धि हो वहां पुरुषार्थ प्रधान तथा दैव गौण। किसी एक का निराकरण नहीं किया जा सकता इन में गौण मुख्य भाव है। इस तरह सिद्धसेन और समन्तभद्र के युग में नय सप्तभंगी अनेकान्त आदि जैनदर्शन के आधारभूत पदार्थों का सांगोपांग विवेचन हुआ। इन्होंने उस समय के प्रचलित सभी वादों का नय दृष्टि से जैन दर्शन में समन्वय किया। और सभी वादियों में परस्पर विचार सहिष्णुता और समता लाने का प्रयत्न किया। इसी युग में न्यायभाष्य योगभाष्य शाबरभाष्य आदि भाष्य रचे गए हैं। यह युग भारतीय तर्क शास्त्र के विकास का प्रारम्भयुग था। इसमें सभी दर्शन अपनी अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अतः तर्कशास्त्र रूपी शस्त्र पैना कर रहे थे। सबसे पहला आक्रमण बौद्धों की ओर से हुआ जिसमें मुख्य सेनापति का कार्य आचार्य दिङ्नाग ने किया। इसी समय वैदिक दार्शनिक परम्परा में न्यायवार्तिककार उद्योतकर मीमांसा श्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदि हुए। इन्होंने वैदिकदर्शन के संरक्षण में पर्याप्त प्रयत्न किया। इसके बाद (वि० ६वीं सदी) पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि तथा मल्लवादी ने नय चक्र नामक महान् आकर ग्रंथ बनाए। नय चक्र में नय के विविध भंगों द्वारा जैनेतर दृष्टियों के समन्वय का सफल प्रयत्न हुआ। यह ग्रंथ आज मूलरूप में उपलब्ध नहीं है। इसकी सिंहगणि क्षमाश्रमण की टीका मिलती है। इसी युग में सुमति श्रीदत्त पात्रस्वामी आदि आचार्यों ने जैन न्याय के विविध अंगों में स्वतन्त्र तथा व्याख्यारूप ग्रन्थों का निर्माण किया।

वि० ७वीं सदी दर्शनशास्त्र के इतिहास में विप्लव का युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति का तार्किक उदय हुआ। शास्त्रार्थों की धूम थी।

धर्मकीर्ति तथा उनकी शिष्यमडली ने प्रबल तर्कबल से वैदिक दर्शनो पर प्रचड प्रहार किए। जैन दर्शन पर भी आक्षेप किए जाते थे। यद्यपि अनेक मुद्दो मे जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन समानतन्त्रीय थे। परन्तु क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्धवादो का दृष्टिकोण ऐकान्तिक होने के कारण जैनदर्शनो मे इनका उसी प्रबलता के साथ विशद खडन किया गया है। धर्मकीर्ति की मडली के आक्षेपो के उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर व्योमशिव, मडनमिश्र, शकराचार्य, भट्टजयन्त, वाचस्पति मिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिको का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने वैदिक दर्शनो के सरक्षणार्थ अच्छे प्रयत्न किए। इसी सघर्ष युग मे जैन न्याय के प्रस्थापक दो महान आचार्य हुए। वे है—अकलक और हरिभद्र। अकलक और हरिभद्र के बौद्धो से जम कर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थो का बहुभाग बौद्ध दर्शन के खडन से भरा हुआ है। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक का खडन अकलक के सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, अष्टशती आदि प्रकरणो मे पाया जाता है। हरिभद्र की 'अनेकान्त-जय-पताका' और 'अनेकान्त-वाद-प्रवेश इसके लिए खास द्रष्टव्य है। एक बात विशेप ध्यान देने योग्य है, कि जहाँ वैदिक दर्शनो के ग्रन्थो मे इतर मतो का मात्र खडन ही खडन है, वहाँ जैन दर्शन के ग्रन्थो मे इतर मतो नय और स्याद्वाद दृष्टि से विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस तरह मानस-अहिसा की उस उदारदृष्टि का परिपोषण किया गया है।

समन्तभद्र की 'आप्त-मीमासा' हरिभद्र के 'शास्त्र-वार्तासमुच्चय' 'षड्दर्शन-समुच्चय और धर्म सग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण है। अकलकदेव ने अपने लघीयस्त्रय आदि प्रकरणो मे जैन न्याय की रूप रेखाएँ बाँधकर उसकी हदबन्दी करने का स्थिर प्रयत्न किया है। यहाँ यह लिखना अप्रासागिक न होगा, कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेपिक, साख्य, एव मीमासक आदि मतो के खडन मे धर्मकीर्ति ने जो अथक श्रम करके एक मार्ग दर्शन किया, उससे इन आचार्यो का उक्त मतो के खडन का कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिक-टीका, प्रमाण-वार्तिकालकार, प्रमाणवार्तिक स्ववृत्तिटीका, तत्त्व सग्रह, वाद-न्यायटीका, हेतुबिन्दु-टीका आदि ग्रन्थ रच चुके, और इनमे कुमारिल्ल, ईश्वरसेन, मडनमिश्र आदि के मतो का खडन कर चुके और वाचस्पति मिश्र, जयन्त आदि उस खण्डोद्धार के कार्य मे व्यस्त थे, इसी युग मे जैन दार्शनिक अनन्तवीर्य ने भी बौद्ध दर्शन के खडन मे अपनी सिद्धि-विनिश्चय टीका बनाई। विद्यानन्दि ने तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक अष्ट सहस्री, आप्त-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा जैसे जैन न्याय के मूर्धन्य ग्रन्थ बना कर, अपने नाम को सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य, भट्ट श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिको ने वाचस्पति मिश्र के अवशिष्ट कार्य को पूरा किया। यह युग विक्रम की ८ वी और नवी सदी का युग था। इसी समय माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख सूत्रो मे अकलकन्याय का सग्रह किया।

वि० १० वी सदी सिद्धर्षिसूरि ने न्यायावतार पर टीका रची।

वि० ११ १२ वी सदी का युग जैनदर्शन का एक प्रकार से मध्याह्नोत्तर युग समझना चाहिए। इसमे वादिराज सूरि ने न्यायविनिश्चयविवरण, प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र जैसे

वृहत्काय टीका ग्रन्था का निर्माण किया। शान्तिसूरि ने जनतर्कवार्तिक अभयदेव ने सन्मतितर्क टीका जिनेश्वरसूरि का प्रमाण-लक्षण हेमचन्द्रसूरि की प्रमाण मीमासा, वादिदेवसूरि का प्रमाण नयतत्त्वा लोकालकार और स्याद्वादरत्नाकार और मुनिचन्द्रसूरि का अनेकान्तजयपताका टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युग की कृतियाँ हैं। तरहवी शताब्दी मे मलयगिरि आचाय एव समय टीकाकार हुए। इनके टीका ग्रन्थो म दाशनिकता की अद्भुत छाप है। इसी तरह प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीय, जिनेश्वरसूरि, रत्नप्रभसूरि, गुणरत्नसूरि, मल्लिषेणसूरि आदि आचार्यों न प्रचुर ग्रथराशि का निर्माण कर भारतीय भण्डार म अपनी पूजी जमा की है। धमभूषणयति ने न्यायदीपिका रचा।

अन्त म १८ वी सदी क उपाध्याय यशोविजय जी का नाम विशेष रूप स उल्लखनीय है। इन्होंने नव्यन्याय की परिष्कृत शली म अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया और उस युग तक के विचारा का समन्वय तथा जन परिभाषाओं को नव्य ढग से परिष्कृत करने का आद्य प्रयत्न किया है। विमलदास की 'सप्तभगिनीतरगिणी'' सप्तभगी का प्रतिपादन करन वाली अकेली और अनूठी रचना है। इस प्रकार जनतार्किका के जन-दशन न विकास म जो भगीरथ प्रयत्न किए हैं उनकी एक झलक दिखान का मैंन यह एक लघु प्रयत्न किया है।

ज्ञेय-तत्त्व

जन दशन म प्रमेयतत्त्व छह हैं—

१ जीव
२ पुद्गल
३ धम
४ अधम
५ आकाश
६ काल

जीव अनन्त हैं। ज्ञान, दशन और सुख आदि उसके स्वभावभूत गुण हैं यह मध्यम परिमाण वाला या शरीर परिमाण वाला है, कर्त्ता है एव भोक्ता है। रूप रस गध तथा स्पश वाल सभी पदाथ पुद्गल हैं। य पुद्गल अणुरूप हैं अनन्त हैं। जीव और पुद्गल की गति का माध्यम धमद्रव्य तथा स्थिति का माध्यम अधमद्रव्य होता है। य लोकपरिमाण हैं एक एक द्रव्य हैं अमूर्तिक हैं। आकाश अनन्त है, अमूर्तिक है। काल अणुरूप असख्यात द्रव्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा म कुछ आचाय कालद्रव्य को नहीं मानते। इस तरह प्रमय तत्त्वों का प्रारम्भ से ही एक जसा निरूपण सभी दाशनिक ग्रन्था में है। जन लोग महावीर की आद्य उपदश वाणी 'उपनइ वा, विगमेइ वा धुवइ वा।' क अनुसार प्रत्यक द्रव्य म पर्याय-अवस्था की दृष्टि से उत्पादन और व्यय तथा द्रव्यमूल अस्तित्व की दृष्टि से ध्रौव्य स्वीकार करत हैं। जो भी सत् है, वह परिवतनशील है परिवतनशील हान पर भी वह अपनी मौलिकता नही खोता, अपना द्रव्यत्व कायम रखता है। जसे एक पुद्गल मिट्टी क पिड की

हालत से घडे की आकृति मे आया, घडा फूटकर ठपरियाँ बनी, ठपरिया चूर्ण होकर मैत मे जा पडी ? उसके कुछ परमाणु गेहूँ बने। इस तरह अवस्थाओ में परिवर्तन होते हुए भी मूल अणुत्व का नाश नही हुआ। यही परिणाम जैनियो के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप है। गीता का यह सिद्धान्त—नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत।" अर्थात असत् का उत्पाद नही और सत् का सर्वथा अभाव नही होता। इसी परिणामवाद को सूचित करता है। जगत् मे कोई नया द्रव्य उत्पन्न नही होता। जितने द्रव्य है, उनमे से एक अणु का भी सर्वथा विनाश नही होता। उनकी अवस्थाओ मे परिवर्तन होते रहते है, एक दूसरे के सयोग से विचित्र प्रकार के भौतिक-अभौतिक परिवर्तन हमारी दृष्टि से छिपे नही है। इस तरह उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यवाद या परिणामवाद जैनतार्किको को प्रारम्भ से ही इष्ट रहा है, और इसी का द्रव्यपर्यायवाद, गुणपर्यायवाद आदि नामो से प्रत्येक ग्रन्थ मे उत्कट समर्थन है। नय-दृष्टि मे पर्यायदृष्टि से बौद्धो के क्षणिकवाद का तथा द्रव्य दृष्टि से सांख्यो के कूटस्थनित्यवाद तक का समन्वय जैनाचार्यो ने किया है। यहा तक कि चार्वाक मत का भी सग्रह किया गया है। साराश यह है, कि जैनाचार्यो ने यद्यपि परपक्ष का खडन किया है, फिर भी उनमे समन्वय की अहिंसा और उदारता बराबर जागृत रही, जो भारत के अन्य दार्शनिको मे कम देखी जाती है। इसी समन्वय-शालिता के कारण उन्होने नयदृष्टि या स्याद्वाद के द्वारा प्रत्येक मत का समन्वय कर, अपनी विशाल-दृष्टि तथा तटस्थता का परिचय दिया है।

मूलत जैन परम्परा आचार प्रधान है। इसमे तत्वज्ञान का उपयोग भी आचार शुद्धि के लिए ही है। यही कारण है कि तर्कशास्त्र जैसे शास्त्र का उपयोग भी जैनाचार्यो ने समन्वय और समता के स्थापन मे किया। इसका अनेकान्तवाद या स्याद्वाद, मति-सहिष्णुता की ही प्रेरणा देता है। दार्शनिक कटाकटी के युग मे भी इस प्रकार की समता उदारता तथा एकता के लिए प्रयोजन समन्वय-दृष्टि का कायम रखना अहिंसा के पुजारियो का ही कार्य रहा है। इस स्याद्वाद के स्वरूप-निरूपण तथा प्रयोग करने के प्रकारो का विवेचन करने के लिए भी जैनाचार्यो ने अनेक ग्रन्थ लिखे है। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करने मे जैनदर्शन का अद्‌भुत और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार-सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती है। यथा—

"भवबीजाङकुर-जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।"

अर्थात् जिसके ससार को पुष्ट करने वाले रागादि दोष विनष्ट हो गए है, चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन, उसे नमस्कार हो।

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेष कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रह ॥"

अर्थात् मुझे महावीर से राग नही है और न कपिल आदि से द्वेष है। जिसके भी युक्ति-युक्त वचन हो, उनको ग्रहण करना चाहिए। ★

आदि उपसर्ग शब्द हैं और एव आदि निपात कहलाते है। इन चार प्रकार के शब्दो मे निक्षेप का सबध केवल नाम शब्दो से है, अन्य तीन प्रकार के शब्दो मे नही। क्योकि क्रिया शब्द, उपसर्ग शब्द और निपात शब्द वस्तु वाचक नही होते। वस्तु वाचक तो केवल नाम शब्द अर्थात् सज्ञा शब्द ही होते हैं। सर्वार्थ सिद्धिकार श्री पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि निक्षेप विधि से नाम शब्द के अर्थो का विस्तार किया जाता है।[१] निक्षेप हमे यह बतलाता है कि प्रत्येक नाम शब्द के कम से कम चार अथवा आठ या छह सात अर्थ अवश्य होगे। गो, हरि एव राजन् आदि शब्दो के कोश से जो अनेक अर्थ होते है, उन अर्थो से यहाँ कोई प्रयोजन नही है। यहाँ तो कोश से जिस शब्द का केवल एक ही अर्थ होता है, उसके भी निक्षेप के अनुसार अनेक अर्थ जरूर होगे। निक्षेप सिद्धान्त अप्रस्तुत अर्थ का निराकरण कर प्रस्तुत अर्थ के प्रयोग की दिशा बतलाता है। जैसे किसी ने कहा 'राजा तो मेरे हृदय मे है' यहाँ राजा शब्द का अर्थ राजा का ज्ञान है, क्योकि शरीरधारी राजा का किसी के हृदय मे रहना असम्भव है। उक्त वाक्य मे 'राजा का ज्ञान' यह अर्थ प्रस्तुत है, न कि स्वय राजा। इसलिए इस अप्रस्तुत अर्थ को यहाँ कभी नही लेना चाहिए। निक्षेप सिद्धान्त की यही उपयोगिता है कि वह अप्रासगिक अर्थ का निराकरण कर प्रासगिक अर्थ का निरूपण करता है। निक्षेप तत्त्व का उपयोग केवल शास्त्रो मे ही नही, अपितु व्यावहारिक क्षेत्र मे ही बराबर होता है। यदि निक्षेपानुसार शब्द प्रयोग न हो, तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। विभिन्न निक्षेपो के स्वरूप के निरूपण के अवसर पर यह बातें आगे स्वय ही स्पष्ट हो जाएँगी।

निक्षेप के भेद और नाम-निक्षेप

निक्षेप के चार भेद हैं—नाम-निक्षेप, स्थापना-निक्षेप, द्रव्य-निक्षेप और भाव-निक्षेप। लौकिक व्यवहार चलाने के लिए किसी वस्तु का कोई नाम रख देना नाम निक्षेप कहलाता है। जैसे किसी व्यक्ति का नाम महावीर रख देना। यहाँ महावीर शब्द का जो अर्थ है, वह बिल्कुल अपेक्षित नही है। मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी का कोई भी नाम रख सकता है। नाम निक्षेप मे नामानुसार जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया की आवश्यकता नही है। क्योकि यह नाम तो केवल व्यवहार चलाने के लिए ही रखा जाता है, अन्यथा महावीर केवल उसी का नाम रखा जाता है, जो वास्तव मे बहुत बडा बहादुर है। किन्तु ऐसा तो कभी नही होता है।

किन्तु यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि कोई वीरता गुण की अपेक्षा से किसी का महावीर नाम रखे, तो क्या वह नाम निक्षेप न कहलावेगा? इसका उत्तर यह है कि वह भाव निक्षेप कहलावेगा, नाम निक्षेप नही। यदि ऐसा न माना जावे, तो 'महावीर तो वास्तव मे महावीर हैं' इस वाक्य मे दोनो महावीर शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ कैसे किए जा सकेंगे। स्पष्ट है कि उक्त वाक्य मे पहला महावीर शब्द नाम-निक्षेप और दूसरा भाव-निक्षेप की अपेक्षा से है।

---

[१] स किमर्थं ? अप्रकृत-निराकरणाय प्रकृत-निरूपणाय च।

—सर्वार्थ-सिद्धि

स्थापना निक्षेप

किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु में यह कल्पना करना कि यह वह है स्थापना निक्षेप कहलाता है। इसके दो भेद हैं—एक तदाकार-स्थापना दूसरी अतदाकार-स्थापना। मूर्ति अथवा चित्र आदि में किसी की स्थापना करना तदाकार और मूर्ति रहित शतरंज के मोहरे आदि में हाथी घोड़े वजीर, बादशाह आदि की कल्पना अतदाकार स्थापना है। मूर्तिमान अथवा मूर्तिरहित वस्तु में यह राजा है इस प्रकार की कल्पना स्थापना राजा कहलाता है। इसका मतलब यह हुआ कि जैसे राजा शब्द का एक वाच्य वह है जिसका नाम राजा है उसी तरह राजा शब्द का अर्थ वह प्रतिमा भी है जिसमें राजा की स्थापना की गई है।

प्रश्न—नाम निक्षेप में भी किसी का कोई नाम रखा जाता है और स्थापना निक्षेप में भी मूर्ति आदि का राजा नाम रखा जाता है तो फिर इन दोनों में क्या भेद रह जाता है जिससे इसकी भिन्नता जानी जा सके।

उत्तर—नाम निक्षेप में आदर या अनादर आदि की बुद्धि नहीं होती जबकि स्थापना निक्षेप में यह अवश्य होता है। महावीर नाम वाले व्यक्ति का भगवान् महावीर की तरह आदर आदि नहीं होता, किन्तु महावीर की प्रतिमा का तो महावीर की तरह ही आदर भक्ति पूजा उपासना आदि किए जाते हैं।

प्रश्न—कई लोग किसी की मूर्ति में भी आदर अनादर नहीं करते इसलिए यह उत्तर सर्वांश में ठीक नहीं है।

उत्तर—जो मूर्ति आदि में स्थापना ही नहीं करते उनके लिए आदर अनादर आदि का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। किन्तु जो लोग स्थापना का आरोप करते हैं वे उन मूर्ति आदि में आदर अनादर आदि भी करते ही हैं।

प्रश्न—कुछ लोग नाम में भी आदर अनादर बुद्धि करते हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि इस प्रकार की बुद्धि केवल स्थापना निक्षेप में ही होती है।

उत्तर—यदि कोई किसी के देवता आदि के नाम वाले व्यक्ति अथवा भक्ति के वश से उसी प्रकार आदर आदि करते हों तो वहाँ स्थापना निक्षेप ही कहलायगा नाम निक्षेप नहीं।

यहाँ पर शंका उपस्थित होती है कि किसी में भी स्थापना किसी नाम वाले पदार्थ की ही की जाती है और नाम का व्यवहार तो प्रायः ही निक्षेप से होता है। इसलिए किस नाम वाले पदार्थ की स्थापना की जाती है? इसका उत्तर यह है कि प्रायः ही नामों में स्थापना की जा सकती है। महावीर आदि पूज्य पुरुषों की जो मूर्ति वगैरह में स्थापना की जाती है वह नाम निक्षेप से रखे गए नाम वाले पदार्थों की स्थापना है। तथा जो महावीर आदि की प्रतिमा के चित्र में महावीर आदि की स्थापना

की जाती है, वह स्थापना-निक्षेप से निक्षिप्त नाम वाले पदार्थों की स्थापना है। द्रव्य-निक्षेप मे युवराज भी राजा कहा जाता है। अत युवराज की मूर्ति आदि मे राजा की स्थापना द्रव्य-निक्षेप मे रखे हुए नाम वाले पदार्थ की स्थापना कहलाती है और भाव-निक्षेप मे जो राजा है उसकी स्थापना भाव-निक्षेप मे निक्षिप्त नाम वाले पदार्थ की स्थापना है।

स्थापना नित्य भी होती है और अनित्य भी। नन्दीश्वर आदि द्वीपो मे स्थित जो नित्य चैत्य हैं, उनकी स्थापना नित्य और अनित्य प्रतिमा एव चित्र आदि की स्थापना अनित्य कहलाती है।

द्रव्य-निक्षेप

होने वाली पर्याय वाला पदार्थ द्रव्य-निक्षेप कहलाता है। उसके दो भेद है—एक आगम द्रव्य-निक्षेप और दूसरा नो आगम द्रव्य-निक्षेप। तद्विपयक शास्त्र का जानने वाला अनुपयुक्त आत्मा आगम द्रव्य निक्षेप कहा जाता है। जैसे राजा के ज्ञान वाला अनुपयुक्त (उस समय राजा के ज्ञान के उपयोग रहित) आत्मा आगम द्रव्य राजा है। यहाँ विषयी अर्थात् ज्ञान मे विषय अर्थात ज्ञेय पदार्थ का उपचार किया जाता है। इसलिए विषय-विषयी-भाव सबध से राजा का ज्ञान ही राजा कहलाता है। जैसा कि पहले हुआ है। जब कोई कहता है कि राजा तो मेरे हृदय मे है, तब उसका अर्थ होता है कि राजा का ज्ञान मेरे हृयय मे है। क्योकि लबे चौडे राजा का कभी किसी के हृदय मे रहना सभव नही है।

प्रश्न—यदि यहाँ ज्ञान मे ज्ञेय का उपचार किया गया है, तो ज्ञान में निक्षेप होना चाहिए न कि ज्ञाता मे। इसलिए ज्ञाता को निक्षेप का आधार मानना कैसे उचित कहा जा सकता है?

उत्तर—यह प्रश्न बिल्कुल उचित है और ज्ञान मे ज्ञेय के उपचार से उसका ज्ञान ही वह वस्तु कहलाती है, तो भी ज्ञान ज्ञाता के बिना नही रहता। अत ज्ञाता आत्मा ही आगम निक्षेप कहा जाता है।

दूसरे नो आगम निक्षेप के तीन भेद हैं—पहला ज्ञान-शरीर दूसरा भावि और तीसरा तद्व्यतिरिक्त। पहले भेद से राजा के जानने वाले का शरीर राजा कहलाता है। ज्ञाता और शरीर का एक क्षेत्रावगाह सबध होने से ज्ञाता का त्रिकाल गोचर शरीर ही इसका विषय है।

कार्य का उपादान कारण ही भावि नो आगम द्रव्य कहलाता है। इस भेद के अनुसार युवराज भी राजा कहा जा सकता है। क्योकि वह भावी राजा का उपादान कारण है द्रव्य-निक्षेप के इस भेद मे उपादानोपादेय भाव की प्रयोजकता है।

पदार्थ के निमित्त कारण उसके आधार आदि अन्य सभी वस्तुएँ तद्व्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य कहलाती है। जैसे राजा के शरीर आदि। द्रव्य-निक्षेप के इस भेद के अनुसार न केवल राजा का शरीर, अपितु राजा की माता, राजा का पिता एव उसके अन्यान्य परिवार आदि सभी राजा कहला सकते है। यहाँ यह ध्यान रखने की जरूरत है कि सभी शुद्ध पदार्थों मे तद्व्यरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप

भी नही हाता। जस कि मुक्तात्मओ क। इसी प्रकार नित्य पदार्थों में नो आगमभावि द्रव्य निक्षप भी नही हाता। क्यो कि वे उपादय (काय) नही होत। यही कारण है कि वहाँ उपादान की जरूरत नहीं होती।

शका—स्थापना निक्षप स द्रव्य निक्षप का क्या भद है ?

समाधान—इन दोनों म यहा भद है कि स्थापना निक्षप भिन्न पदार्थों म हाता है और द्रव्य निक्षप अभिन्न म।

आपत्ति—आपका यह युक्ति उचित नहा हैं कि द्रव्य निक्षप अभिन्न पदार्थों म ही होता है। क्या कि जस देव और दव प्रतिमा भिन्न है वस ही राजा और राजा का शरार भी भिन्न है।

समाधान—यह आपत्ति ठीक नही ह। क्यो कि नान ज्ञयादि सबधो स भिन्न वस्तुओ म भा अभिन्नत्व का उपचार कर लिया जाता है। अत वे अभिन्न रूप स प्रतीत हान लगती हैं। एसे ही पदाथ द्रव्य निक्षप क विषय बनत है किन्तु स्थापना निक्षप म यह बात नही है। स्थापना म जो अभिन्नत्व है वह निक्षप के द्वारा किया जाता है। किन्तु द्रव्य निक्षप म तो उपचार स अभिन्नत्व पहल ही है। बात यह है कि स्थापना निक्षप म अभिन्नता काय है जब कि द्रव्य निक्षप म वह कारण है। यही इन दोनो म भद है।

भाव निक्षेप

वतमान पयाय सहित द्रव्य को भाव निक्षप कहत ह। इसके भी द्रव्य निक्षप की तरह दो भेद है–एक आगम भाव निक्षप और दूसरा नो आगमभाव निक्षप। तत् तत् वस्तु विषयक शास्त्र को जानने वाला वतमान म उपयाग सहित आत्मा आगमभाव निक्षप है। जस राजा के ज्ञान स सयुक्त उपयोग सहित मनुष्य भावागम राजा है। वतमान म उस पर्याय सहित वस्तु को नो आगमभाव निक्षप कहत है जसे जो वस्तुत राजा है उस राजा कहना नो आगम निक्षप ही वास्तविक वस्तु का कहता है। आग का आग, पानी को पानी घड का घडा निक्षेप क इसा भेद स कह सकत हैं। भाव निक्षप का सम्बध वचन वतमान पर्याय स ही है। अत इस निक्षप म द्रव्य निक्षप की तरह ज्ञायक-शरीर आदि भद नही होत। इन दानो निक्षपो म यहा भद है।

प्रश्न—नाम निक्षप और भाव निक्षेप म क्या भेद है ?

उत्तर—नाम निक्षप म व्यक्ति वाचकत्व और भाव निक्षप म भाव वाचकत्व अथवा जाति वाचकत्व है।

नय और निक्षेप का सम्बन्ध

नय और निक्षेप मे विषय और विषयि-भाव संबंध है। नय ज्ञानात्मक है और निक्षेप ज्ञेयात्मक। निक्षेप को जानने वाला नय है। शब्द-अर्थ मे जो वाच्य-वाचक संबंध है, उसके स्थापन की क्रिया का नाम निक्षेप है और वह नय का विषय है, तथा नय उसका विषयी है।

आदि के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय और अंतिम निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है। बाल, युवा एवं मनुष्य आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं वाले मनुष्य मे नाम का विच्छेद नहीं देखा जाता। अतः नाम निक्षेप अन्वयी है और यही कारण है कि वह द्रव्यार्थिक का विषय है इसी प्रकार तीर्थङ्कर की प्रतिमा आदि मे काल भेद होने पर भी स्थापना ज्यो की त्यों बनी रहती है। इसलिए अन्वयी होने के कारण स्थापना निक्षेप भी द्रव्यार्थिक नय का विषय मानने मे तर्क की जरूरत ही नहीं है, किन्तु इस प्रकार का अन्वयित्व भाव-निक्षेप मे नहीं है। इसलिए यह पर्यायार्थिक नय का विषय माना गया है।

निक्षेप का विवेचन भाषा को शुद्ध बनाने की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विषय है, और इसलिए इस निबंध मे इसे विस्तार से बतलाया गया है।
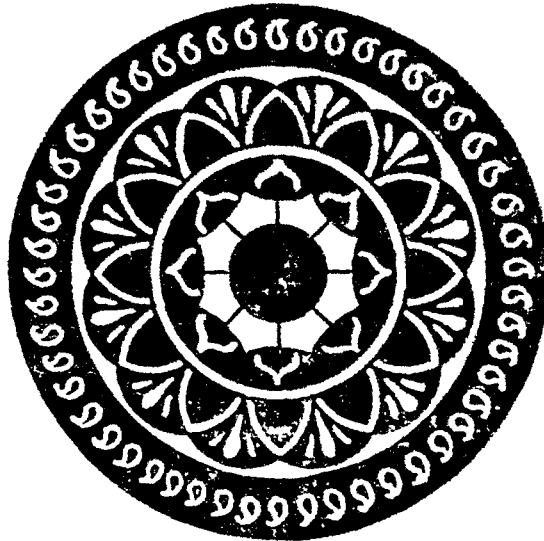
यथार्थवाद और भारतीय दर्शन

डा० सुरेन्द्र बारलिंगे

यथार्थवाद शब्द का Realism के प्रतिशब्द जैसा प्रयोग किया जाता है। यथार्थवाद शब्द बहुत संदिग्ध है। बहुधा यही आक्षेप Realism शब्द के प्रति भी किया जा सकता है। किन्तु Realism शब्द का अर्थ पाश्चात्य तत्वज्ञान में बहुतांश निश्चित हुआ है। वैसा यथार्थवाद का अर्थ निश्चित नहीं हुआ है। एक दृष्टि से देखा जाए तो भारत के सभी दर्शन विश्व का या ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप सोचने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु जब तक वे उसका यथार्थ स्वरूप निश्चित रूप में नहीं समझते—और वह समझना मेरे मत में मुश्किल है—तब तक किसी भी दर्शन को यथार्थ-दर्शन नहीं कह सकते। पुनश्च 'यथार्थ शब्द में अर्थ' शब्द अति संदिग्ध है। उसका एक अर्थ वस्तु ऐसा है। और दूसरा अर्थ अर्थ है। वस्तु और अर्थ का सम्बन्ध महत्वपूर्ण होने के बाद भी वस्तु और अर्थ एक नहीं हो सकते। अतः यथार्थ में के अर्थ का अर्थ यानी meaning लिया तो विषय की संदिग्धता और बढ़ेगी। अतः लेख के लिए यथार्थ का अर्थ यथावस्तु ऐसा ही लेना होगा। किन्तु यथावस्तु यह भी विकट समस्या है। अतः यथावस्तु की इस लेख के लिए व्याख्या इस प्रकार करनी पड़ेगी वस्तु वह जो अपने अस्तित्व के लिए ज्ञाता पर (या मन पर) अवलंबित नहीं है। अधिकांश लोग घट पट आदि वस्तु को एक प्रकार मानते हैं। किन्तु घटपटादि वस्तु एक प्रकार हो या न हो ज्ञातृ स्वतन्त्र वस्तु है यह यथार्थवाद का मतलब है। अतः यथार्थवाद का मतलब अ-विज्ञान-वाद इस प्रकार लेना होगा।

यथार्थवाद या Realism का इस प्रकार अर्थ निश्चित करने के बाद यह भी समझना जरूरी है कि Realism की कल्पना जिस प्रकार आज पैदा की जाती है पाश्चात्य है। और वहाँ भी बीसवीं शताब्दी के पहले कुछ दशकों में खासकर इस कल्पना का अधिकांश प्रसार हुआ। किन्तु किसी भी शास्त्रकार तत्वज्ञ

ने, सामान्यत विश्व के बारे म सामान्य जन का जिस प्रकार दृष्टिकोण रहता है—(और उसमें भी कई विरोधी मत एक जगह रह सकते हैं) उस प्रकार का दृष्टिकोण नही रहा है। आधुनिक इतिहास मे अनुभववादी 'लॉक' की परिणति ह्यूम मे हुई और बुद्धिवादी 'देकार्ट' की परिणति 'स्पायनोजा' और 'लायब्निज' मे हुई। इस परिणाम से यह स्पष्ट होता है कि बुद्धि या अनुभव को प्रमाण मानने पर भी—यथार्थवाद का पूर्णतया अवलम्ब कोई भी नही कर सका। बीसवी शताब्दी मे Common scense realist, Realist और Critical Realist पैदा हुए। किन्तु उनके तत्त्व ज्ञान के आलोडन मे यह साफ होता है कि सामान्य जन की कल्पना मे उनकी जगत् के स्वरूप की कल्पना बहुत दूर है। ये विज्ञानवादी नहीं, इतना ही उनके बारे मे कह सकते हैं। मार्क्सवाद के तत्वज्ञान को कभी-कभी Realist तत्त्वज्ञान कहते हैं, किन्तु समाज, जगत् इत्यादि मार्क्सवाद के लिए गृहीत प्रमेय हैं। गृहीत प्रमेय का स्वरूप ढूँढने का मार्क्सवाद सामान्य दृष्टि से प्रयत्न नहीं करता। मार्क्सवाद को यदि Realism का सिद्धान्त समझना है तो कोई भी अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र या डार्विन जैसे जीवशास्त्रज्ञ का सिद्धान्त भी Realism का सिद्धान्त बनकर रहेगा। वस्तुस्थिति यह है कि विश्व को आज सामान्यत कोई 'असत्' 'अजात' ऐसा नही मानता। किन्तु Realism जैसे प्रश्न की चर्चा भी आज प्राय नही होती। तत्वज्ञान मे या दर्शनशास्त्र मे आज अन्य प्रश्नो की चर्चा की जाती है। इस दृष्टि से भी इस समय भारतीय दर्शन मे यथार्थवाद का संशोधन करना एक दृष्टि से अनावश्यक सा मालूम हो सकता है।

मेरी दृष्टि मे प्राचीन काल मे भारतीय दर्शनो का विभाजन यथार्थवाद और अयथार्थवाद, इस तत्त्व पर नही हुआ। भारतीय दर्शनो के सामने बहुत भिन्न प्रश्न थे—व्याकरण, वैशेषिक, न्याय या सांख्य दर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। पूर्व मीमांसा-कर्मकाण्ड का पुरस्कार करने वाले इस दर्शन का स्वरूप भी मूल मे यथार्थवादी-अयथार्थवादी इस प्रकार के मानदण्ड से तौल नही सकते। जैसे कोई वस्तु मन से स्वतन्त्र जैसे अस्तित्व मे रह सकती है वैसे ही कोई वस्तु मन के संयोग से भी रह सकती है। वैशेषिको का 'पदार्थ' का सिद्धान्त, या सांख्य का तन्मात्र और महाभूत का सम्बन्ध या व्याकरणशास्त्र का नाम, विशेषण, क्रियापद आदि भेद, यह मेरी दृष्टि मे इसके द्योतक है कि भारतीय दर्शनो मे मूल मे 'यथार्थवाद' जैसा प्रश्न ही नही था।

भारतीय दर्शन मे यथार्थवाद जैसा प्रश्न प्रारम्भ मे उत्पन्न नही हुआ। बौद्ध तत्वज्ञान के एक उप-दर्शन ने विज्ञानवाद का सिद्धान्त पेश किया। इस सिद्धान्त की परिणति प्रथम माध्यमिक सिद्धान्त मे हुई। और पश्चात् शंकराचार्य के विवर्तवाद या मायावाद द्वारा बौद्ध विज्ञानवाद के बहुतांश का ग्रहण करने से, विज्ञानवाद का धर्म जैसा प्रचार भारत मे हुआ। ऐसे प्रचार मे आद्य शंकराचार्य का हिस्सा कितना है, यह मैं नही कह सकता। (इतना ही नही, एक प्रकरण मे शंकराचार्य ने जगत् के यथार्थवाद का Defence भी दिया है। (बॉन युनिवर्सिटी के प्राध्यापक डा० पॉल हँकर का यह मत है कि जगन्मिथ्यावादी शंकर-तत्वज्ञान का प्रचार विद्यारण्य के समय हुआ)। मूलत मिथ्या शब्द का असार यह अर्थ नही है। किन्तु शंकराचार्य के बाद यह अर्थ प्रसृत हुआ। और जगत् असत् है याने वह वास्तव मे नही है, यह कल्पना दृढमूल हुई। इस कल्पना के साथ जीव ब्रह्म की एक होने की कल्पना, और जगत् ब्रह्म के

तत्त्व की कल्पना इतनी पक्की हो गई कि रामानुज मध्व और अभिनवगुप्त जगत् का सत्यत्व मानने के बाद भी एक दृष्टि से विज्ञानवाद के, कर्मकाण्ड के या तन्त्र के उपासक बन रहे।

शंकराचार्य और उनके अद्वैतवाद का इतना प्रभाव भारत में पड़ा कि यद्यपि शंकराचार्य के बाद घट पट आदि वस्तु के सत्यत्व की चर्चा न्यायशास्त्र ने जारी रखी फिर भी वह केवल एक प्रकार की ग्रंथिक चर्चा रही। अन्त में भारत में सांख्य योग मीमांसा और न्याय इनका एक प्रकार—मेरी दृष्टि में गौर प्रकार—सम्मिलित किया गया। इस प्रकार का सबसे अच्छा उदाहरण श्रीमद्भगवद्गीता में पाया जाता है जो कि हिन्दू धर्म का आज एक प्रधान ग्रन्थ है।

यथार्थवाद का अर्थ अविज्ञानवाद जैसा लेना चाहिए यह मैंने कहा। किन्तु आज का मूल विज्ञानवाद मूल स्वरूप में केवल ग्रंथों में ही दिखाई देता है। मूल विज्ञानवाद से मुझको बौद्ध दर्शन का योगाचार और माध्यमिकवाद अभिप्रेत है। किन्तु मूल विज्ञानवाद के हिन्दुस्तान में नष्ट होने के बाद भी विज्ञानवाद की जड़ें भारत में पक्की हो गई —और उसने उत्तर मीमांसा दर्शन को ग्रस लिया। अद्वैत दर्शन का मायावाद दृष्टि-सृष्टिवाद या अजातवाद—ये विज्ञानवाद के ही तीन रूप हैं। (मूल उत्तर मीमांसा शास्त्र या उपनिषद् ग्रंथ विज्ञानवादी हैं या नहीं इसमें मुझको बहुत सन्देह है। इतना ही नहीं वे विज्ञानवादी नहीं हैं ऐसी मेरी भावना है।) अद्वैत दर्शन का यह परिणाम होने से अद्वैतवाद और विज्ञानवाद सामान्य जनों के लिए समानार्थी हो गए। और अद्वैत का या अद्वैत विचारधारा का सबसे बड़ा असर जनता पर होने से और अद्वैत के धर्म का स्वरूप धारण करने से उत्तर मीमांसा उपनिषद् और गीता यानी अन्त में यह समीकरण हो गया। सामान्य लोगों के लिए यथार्थवाद या विज्ञानवाद यह सचमुच महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है। अपना सारा जीवन स्वार्थ में व्यतीत करते हुए भी मनुष्य संसार को असार मान सकता है। और संसार को असार मानना सामान्य मनुष्य के लिए वेदान्ती और विज्ञानवादी सिद्धान्त में श्रद्धा रखने के लिए काफी है। असार से अजात या असत् यह केवल एक और कदम है। अतः संसार को असार मानने वाले मनुष्य का विज्ञानवाद का अनुयायी बनना बहुत सीधी-सी बात है। वेद प्रामाण्य धर्म पर श्रद्धा जगत् में दुःख का अनुभव ईश्वर शरण्यता आदि सभी घटक भारतीय मनुष्य को वेदान्ती बनाने के लिए कारण हुए। और सामान्य मनुष्य के लिए विष्णु और कृष्ण या विष्णु और शंकर जैसे देवता जिस प्रकार एक ही हैं वैसे सब वेदान्त भी एक ही हैं। भारतीय दर्शन अयथार्थवादी है ऐसा समझे जाने का कारण इस प्रकार है।

किन्तु वेद प्रामाण्य, धर्म-श्रद्धा जगत् में दुःख का अनुभव ईश्वर शरण्यता आदि घटक यथार्थवादी के विरोधी नहीं हैं। अंश में या पूर्ण में यह घटक मानने के बाद भी मनुष्य बाह्य जगत् को सत्य मान सकता है। वस्तुतः देखा जाए तो वेद प्रामाण्यादि विज्ञानवाद के ही विरोध में हैं। अद्वैत वेदान्त के दृष्टिकोण में ईश्वर का (जगत् के कर्ता का) भी अस्तित्व नहीं मान सकते। किन्तु यह भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास की घटना है कि यह सब घटक जगन्मिथ्यावाद की पूर्ति के लिए काम में लाए गए।

इस दृष्टि से भी सभी भारतीय दर्शन विश्व का सत्य स्वरूप जानने की इसलिए इच्छा करते हैं कि

इस संसार मे दुःख है और मनुष्य दुःखमुक्त होना चाहता है। ईश्वरकृष्ण की साख्य कारिका दुःखत्रया-भिघातात् जिज्ञासा-तदभिघातार्थ हैं, या बुद्ध की संसार त्याग की कथा इसी स्थिति की द्योतक है, कि ससार का दुःख, यह तत्त्वज्ञान का कारण और दुःख मुक्ति, यह तत्त्वज्ञान की सिद्धि है। किन्तु यह वास्तव मे नैतिक या मूल्य-विषयक प्रश्न है। 'ससार असार है—इसका मतलब 'ससार असार है, ऐसा नही। किन्तु ससार मूल्यहीन है, ऐसा है। असार ससार भी सत्य हो सकता है। किन्तु असार ससार को असत् ससार या अज्ञात संसार मानना, यह एक 'Repression' का प्रकार है। बहुधा सभी भारतीय दर्शनो मे, कम ज्यादा प्रमाण मे, इस तत्र का अवलम्ब हुआ है। कारण, विश्व का ज्ञान दुःख मुक्ति का कारण समझा गया है। यदि विश्व का अस्तित्व ही नही रहा, तो जगत् मे दुःख भी कहाँ रहेगा ? असार ससार से मुक्त होने का इस प्रकार का मार्ग अद्वैत वेदान्त ने ढूँढ़ लिया। अतः सम्पूर्ण बाह्य सृष्टि वेदान्त के लिए मिथ्या हो गई।

सृष्टि कम-अधिक प्रमाण मे मनुष्य स्वय निर्माण करता है, इसमे मुझको सदेह नही है। साख्य के पच महाभूत इस प्रकार बने हैं। वैशेपिको के द्रव्य को छोड़कर बाकी के पदार्थ भी इसी प्रकार बने हैं, ऐसा मेरा आग्रह है। लेकिन कोई चीज 'मैंने' बनाई हो, इसलिए वह असत् है, ऐसा समझना मेरे लिए कठिन है। मेरी बनाई हुई सभी चीजें 'Private' नही होती। मेरे सामने का रेडियो, टेपरिकार्डर, मैं जिस घर में रहता हूँ, वह घर—ये सभी चीजें 'मनुष्य' ने बनाई हैं, जिन ग्रन्थो का मैं पठन करता हूँ, वे भी 'मनुष्य' ने बनाए है। क्या उन सभी को असत्य मानना जरूरी है ? इस लेख मे सत्यासत्य की दार्शनिक ढंग से चर्चा करना अप्रस्तुत है। किन्तु ऐसी विचारधारा का मैं समर्थन नही कर सकता। इसी प्रकार बहुत सारा जगत् 'मनुष्य निर्मित' है, ऐसा मैं मानता हूँ। ('मिथ्या' का मूल मे निर्माण ऐसा अर्थ है, ऐसा मैं समझता हूँ।) लेकिन सृष्टि मे, (मनुष्य निर्मित वस्तु मे भी) मनुष्य निर्मितेतर ऐसी कोई वस्तु-अग नही है, ऐसा मैं नही समझ सकता। जहाँ तक मेरे 'अध्ययन' से यह बात मुझको स्पष्ट हुई है, मैं यह समझता हूँ कि वेदान्त को छोड़कर सभी दर्शनो मे, और प्रारम्भ मे वेदान्त दर्शन मे भी, जगत् का, बाह्य वस्तु का अ-मनुष्य-निर्मित अस्तित्व मान लिया गया था। इसी अ-मनुष्य-निर्मित अस्तित्व पर मनुष्य अपनी बुद्धि से एक और विश्व साकार करता है।

किन्तु मनुष्य ने कोई चीज पैदा की, इसलिए वह असत् हो गई, यही तो शकराचार्य के बाद के मायावादियो का कहना है। अद्वैत सिद्धि में प्रपञ्चो मिथ्या जडत्वात्, दृश्यत्वात्, परिच्छिन्नत्वात् अशित्वात् कहा है। तर्क के साहाय्य से जगत् का असत्व सिद्ध करने का अद्वैत सिद्धि का प्रयत्न है। किन्तु इस प्रकार का विचार सत्याभासात्मक है, ऐसा मेरा विश्वास है। (नागपुर-विश्वविद्यालय जर्नल १९४५ Maya-vada मेरा यह लेख कृपया देखे)। मेरी दृष्टि से इस प्रकार के तर्क से विज्ञानवाद का मण्डन नही हो सकता और बाह्यवस्तु का अस्तित्व मानना पड़ता है।

भारतीय दर्शन ने (१) ससार दुःखात्मक है, यह स्थिति (२) शब्द प्रामाण्य, और (३) सृष्टि-निर्मित मे मनुष्य का कुछ हिस्सा है, यह बात मान ली। किन्तु भारतीय दर्शन अयथार्थवादी थे, ऐसा

निष्कर्ष मैं नहीं कर सकता। भारतीय दर्शन यथार्थवाद विरोधी नहीं है, यह बात कला-स्वरूप के दृष्टान्त से और स्पष्ट हो जाएगी।

यथार्थवादी शब्द का साहित्य और कला में भी प्रयोग होता है। किन्तु दर्शनशास्त्र का यथार्थवाद और कला का यथार्थवाद इनके तादृश सम्बन्ध नहीं है। सृष्टि और समाज का सत्य मानकर जब उसका 'जैसा का तैसा' चित्रण कलाकार कला में करता है तब उस कला को यथार्थवादी कला कहते हैं। यथार्थवादी कला कोई खास आदर्श अपने सामने नहीं रखती। फिर भी— जैसे के तैसे चित्रण में, यथार्थवादी कला में क्या कलाकार का कर्तृत्व कुछ भी नहीं? वास्तविक अनुभव का संस्करण करके, उसको स्फुटित करके उनके परमाणुओं को फिर से नया संकलपण क्या कलाकार नहीं करता? यदि ऐसा नहीं होता तो यथार्थवादी कथा और चरित्र में भेद नहीं होता। एक दृष्टि से देखा जाए, तो सभी कला फिर वह आदर्शवादी हो या यथार्थवादी— 'शशशृंग' या 'वन्ध्या पुत्र' या 'रज्जुसर्प' की तरह ही होती है। किन्तु शशशृंग और वन्ध्यापुत्र या रज्जुसर्प असत्य होने पर भी शश, शृंग, वन्ध्या, पुत्र, रज्जु और सर्प ये वस्तुएँ असत्य नहीं होतीं। दिक्काल-सापेक्ष सृष्टि में बिखरे हुए सृष्टिकण को इकट्ठा करके ही असत् की या कला की निर्मिति हो सकती है। कोई भी असत् सत् के अधिष्ठान पर ही जीता है। हम जब यथार्थवादी साहित्य की बात करते हैं तब हम यह चीज मान लेते हैं कि एक दृष्टि से मनुष्य निर्मिति होने के बाद भी साहित्य में मानव निरपेक्ष सत्य का अंश होता है। वैसे ही दर्शनशास्त्र में ज्ञातृसापेक्ष सृष्टि का अधिष्ठान ज्ञातृनिरपेक्ष सृष्टि पर ही होना चाहिए। अतः किसी भी दर्शनशास्त्र की मूल सृष्टि ज्ञातृनिरपेक्ष ही माननी चाहिए, ऐसा मैं समझता हूँ। मैं जानता हूँ कि अपनी विचारधारा मैंने सप्रमाण सिद्ध नहीं की। उस पर कई आक्षेप किए जा सकते हैं। लेकिन अपनी विचारधारा को सप्रमाण सिद्ध करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। अपनी विचारधारा का निष्कर्ष प्रस्तुत करना इतना ही प्रस्तुत लेख का विषय है।

तात्पर्य यह कि विज्ञानवादी दर्शन मानना मैं आवश्यक नहीं समझता। भारतीय दर्शन ने विज्ञानवाद का ही अवलम्ब लिया है ऐसा भी मैं नहीं समझता। यथार्थवाद का विचार करते समय बालिश यथार्थवाद (Naive Realism) की विचार धारा का स्वीकार करना भी अत्यन्त कठिन समस्या है यह जानना चाहिए। विश्व के दो यथार्थवादी भी ऐसे यथार्थवाद का स्वरूप निश्चित करने में सहमत नहीं होंगे। ऐसा स्वरूप निश्चित करना यथार्थवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। किन्तु अनुभव की सृष्टि की सभी वस्तुओं को सत्य मानना यह भी यथार्थवाद के उतने ही विरोध में है जितने सभी असत्य हैं। दोनों का परिणाम एक ही है। विज्ञानवाद वन्ध्यापुत्र या Square Circle ऐसी कल्पना हम करते हैं इसलिए उन्हें कहीं तो सत्य होना चाहिए यह तो Platonism का प्रमुख सिद्धान्त है। सत्य और असत्य का नारक्षीर विवेक करने जाएँ तो यथार्थवाद के सामने एक पेचीदा प्रश्न उत्पन्न हो जाता है। ऐसा पेचीला प्रश्न निर्माण करना यही विज्ञानवाद का सबसे बड़ा शस्त्र है। वस्तु के या विश्व के स्वरूप का जब हम निर्णय करने जाते हैं हमारे सामने अन्तर्विरोध खड़े हो जाते हैं कि हम सोचने लगते हैं कि यथार्थवाद सत्य नहीं है। किन्तु क्या ये अन्तर्विरोध या अवलम्बन करने से मिट जाते हैं? अ—

ऐकान्तिक यथार्थवाद या विज्ञानवाद विश्व का गूढ रहस्य सुलझाने मे समर्थ है, ऐसा मानना मैं गैर समझता हूँ। वहुधा विश्व का, इस प्रकार का सच्चा स्वरूप जानना मानव को शक्य ही नही। उसकी दो आँखें हैं, इसलिए उसको विश्व त्रिमित (Three Dimensional) दिखाई देता है। और उसके नासिका और कान है, इसलिए उसको सुगन्ध और आवाज आती है। विश्व का सभी प्रकार का 'नाद' वह सुन नही सकता। यह तो विज्ञान (Science) ने सिद्ध किया है। किन्तु क्या हम जिसका अनुभव करते है, वह विश्व का 'सच्चा' स्वरूप नही है ? क्या विज्ञान के Laws को ही विश्व का सच्चा स्वरूप मान सकते हैं ? वैसा ही यदि हुआ तो विश्व को 'Electro-Magnetic Quanta' ही समझना पडेगा। केवल कारण ही 'सत्य' है, ऐसा मानने की ही आवश्यकता है ? सत् कारणवाद मे ही तो अद्वैत वेदान्त उत्पन्न हो गया। परिणाम भी उतना ही सत्य है, जितना कि कारण। फिर उस परिणाम मे कुछ मानसिक अंश क्यो न हो। मेरी दृष्टि से भारत के अधिकाश दर्शनो ने विश्व का इस प्रकार का स्वरूप मान लिया था। अतः उसके सामने पाश्चात्य 'Naive Realism' के सामने जिस प्रकार के प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, उस प्रकार के प्रश्न कभी उत्पन्न ही नही हुए। जिस प्रकार मार्क्सवाद Matter को सत्य मानता है, लेकिन साथ-साथ समाज को भी सत्य मानता है, Matter से ही समाज निर्माण हो गया, ऐसा मानता है। उसी प्रकार ज्ञातृ-निरपेक्ष 'कण' को या 'तन्मात्र' को सत्य मानने के बाद भी न्याय, वैशेषिक या साख्य जैसे दर्शन पदार्थ को या पञ्चमहाभूतो को सत्य मान सकते हैं। ऐसा मानना विज्ञानवाद नही, किन्तु यथार्थवाद का यथार्थवादी स्वरूप समझना है

विश्व का कुछ अश ज्ञातृनिरपेक्ष है, यह समझना सच्चे यथार्थवाद का तत्व है। विश्व को इस प्रकार ज्ञातृस्वतन्त्र होने से ही विश्व मे व्यवहार हो सकता है। और विश्व केवल मानसिक और वैयक्तिक खेल नही रहता। विश्व मे दो या अनेक व्यक्तियो मे व्यवहार होता है, यही मेरी दृष्टि मे इस प्रकार यथार्थवाद के सिद्धान्त का सबसे वडा गमक है। विश्व का स्वरूप एव प्रकार यथार्थवादी होने से ही समाज, शासन, शास्त्र, विद्या और कला उत्पन्न हो सकते है। जव यह ससार केवल मृगजल या स्वप्न है, ऐसी पूरे समाज की धारणा हो जाती है, तव समाज की अवनति शुरु होती है—कम से कम उसकी मानसिक पार्श्वभूमि निर्माण हो जाती है। ग्यारहवी शताब्दी से हमारी जो अवनति शुरु हो गई, उसका केवल इतना ही कारण है, ऐसा यद्यपि मैं नही मानूंगा, तथापि ससार को 'असार', 'असत्य', अजात' और केवल मनोनिर्मित या विज्ञान का खेल मानना, यह उस अवनति का सबसे वडा कारण है, ऐसा मैं समझता हूँ। अवनति की पार्श्वभूमि उत्पन्न होने के वाद अवनति को देर नही लगती।

धर्म की, ईश्वर की, या वेद-प्रामाण्य की कल्पना यथार्थवाद की विरोधी नही है। जगत्, ससार 'असत्य' है, यही एक कल्पना यथार्थवाद की विरोधी है। जगत् मिथ्या है, यह कल्पना भी सचमुच यथार्थवाद की विरोधी नही है। जव मिथ्या असत्य का दूसरा नाम हो जाता है, तभी जगत् मिथ्यावाद यथार्थवाद का विरोधी तत्व वनता है। और यह कल्पना कि ससार मेरे विकार जैसी मेरी कृति है, और वह मुझ पर अस्तित्व के लिए अवलम्वित है, इस प्रकार के दृष्टिकोण से पैदा होती है। "आप मर गए, डूब गई दुनियाँ"—यह तत्व स्वीकार करने के वाद सामान्य मानव ससार से निवृत होगा या पूरा स्वार्थी

यनवर नीति और मूल्य का कद्र न करते हुए निज आत्मा को फँसाएगा। मेरा दृष्टि म भारत म कुछ हद तक य दोनों परिणाम दिखाई देते हैं। अत यद्यपि यथार्थवाद की कल्पना दर्शन शास्त्र म आज महत्त्व की कल्पना नहीं है फिर भी भारत के लिए आज भी वह महत्त्वपूर्ण कल्पना है भारतीय दर्शन म केवल विज्ञानवाद ही है और यथार्थवाद दिखाई नहीं देता एसी विचारधारा का त्याग करना आवश्यक है। इतना ही नहीं यह जानना जरूरी है कि उपनिषद का भी अजातवादी व्याख्या करना जरूरी नहीं और इष्ट तो बिल्कुल नहीं। रामानुज और मध्व ससार को असत्य मानते हैं। शकराचार्य भी जगत् को मिथ्या मानते हैं तब वे जगत् को असत्य नहीं समझते (यद्यपि जगत् को असत्य समझना यह एक प्रकार प्रारम्भ है) यह जानना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन यथार्थवाद के विरोधी हैं यह कल्पना सत्य नहीं है।

कुण्डलिनी-योग का महत्त्व

मुनि सुशील कुमारजी
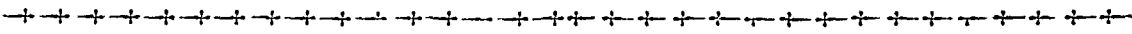
आत्मा की खोज करते हुए अनेक प्रकार की नई विधाओं का सिंहद्वार खुला है। वे सब आत्म-विद्या के अन्तर्गत भी है और उनका सम्बन्ध जीवन के बाह्य क्षेत्रो से भी है। धर्म-विद्या, दार्शनिक-चिन्तन और यौगिक अनुसन्धान ये सब आत्म-विद्या की आनुषगिक विद्याएँ है। इन सबके सम्बन्ध मे हजारो वर्षो से गहरी शोध हुई है। धर्म के अभ्यासियो ने, दर्शन के आचार्यो ने और योग के साधको ने जीवन की अनुभूतियो को और चमत्कारी शक्तियों को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है, कि सारा विश्व इन उपलब्धियो के पीछे अभिभूत हो गया है।

इन पिछले पाँच हजार वर्षो से अकेला धर्म सारे विश्व के तन्त्र को सचालित करता रहा है। दशन ने मनुष्य की बुद्धि को अनेको विश्वासो के साँचे मे ढाला है और योग ने देश मे विदेह और अणु मे महत्-तत्व की प्रतिष्ठा की है। आखिर हम सब अपने सम्बन्ध मे और इस दृश्य या अदृश्य-जगत के सम्बन्ध मे जितनी भी धारणा या विश्वास बनाए बैठे है, ये सब हमारे पूर्वज विचारको की ही तो देन है।

आत्मा, अन्त करण, चेतना, रूह, सोल या पदार्थो का सघीभूत पुद्गल-पिण्ड आदि जितने भी शब्द है, जिनके पीछे हम अपने स्वरूप को स्थापित किए बैठे है, और अपने को चेतनावान् या आत्मवान् माने बैठे है, ये सब हमारे विश्वास ही तो है। हमारे इन विश्वासो के पीछे सत्य कितना है और असत्य का कुहरा कितना छाया हुआ है, यह तो शोध का विषय है। किन्तु अगर धर्म सत्य है, तो दर्शन भी सत्य है। योग भी सत्य है चाहे आशिक रूप मे ही या सर्वाश मे।

धर्म का क्षेत्र इन पिछले हजारो वर्षो मे इतना विस्तृत हो गया, कि जीवन के सभी क्षेत्रो मे

उसका आधिपत्य जम गया। मानवीय सभी समस्याओ म व जागतिक व्यवस्थाओ और ब्रह्माण्ड की विविध रचनाआ म धम ही एक ऐसा प्रवक्ता बन गया कि उसन जीवन और जगत के सभी क्षेत्रा को अपने अन्तगत कर लिया। धीरे धीरे विश्व विद्यालयो न और शोध शालाआ न धम से कितन ही क्षत्रो को छीन लिया जस पदाथ विद्या वनस्पति विज्ञान नक्षत्र विद्या आदि सकडा प्रकार क विद्या के क्षत्रो को विश्वविद्यालयो एव शोध-शालाओं ने अपना स्वतन्त्र विषय बना लिया है।

धार्मिक विश्वासों के साथ उनका किसी प्रकार स भी सम्बन्ध नही रह गया है। अब धम केवल आत्म विद्या और आध्यात्मिक विकास के क्रमिक रूप के सिवाय और कुछ नही रहा है। धम का राजनीतिक या सामाजिक जीवन की उपेक्षा आध्यात्मिक जीवन से ही यथाथ सम्बन्ध है यही सिद्धान्त सव सम्मत मान लिया गया है।

इसी प्रकार योग के सम्बन्ध म भी हम ध्यान रखना होगा कि योग का सम्बन्ध शारीरिक विकास के साथ-साथ प्राणोत्थान मानसिक एकता और आत्म-साक्षात्कार ही है। मन की एकता स आत्मा के साथ मिलन हो सके और हम अपनी देह गत सभी द्वन्द्वात्मक अवस्थाआ से ऊपर उठ कर प्राण, मन बुद्धि और अहंकार के लोक स आग जा सकें और देह में रही हुई चेतना के साथ-साथ अनन्त शक्ति स्रोतों को उद्बुद्ध कर सके और इस नियति के अधीन विश्व की व्यवस्था के चक्कर से परम चेतन्य तत्व को उन्मुक्त कर सके यही योग का सबसे बडा ध्येय है।

दशन भारतीय धर्माचार्यों के अनुसार धम के सिद्धान्तो की बुद्धि-सगत व्याख्या है। इसी प्रकार योग भी धम के द्वारा परम पुरुषाथ का सिद्धि का श्रेष्ठतम उपाय है। धम अगर हमारे जीवन की व्यवस्था का नाम है तो योग जीवन की उस परम सिद्धि का नाम है जिस अमृत को पाकर कुछ भी पाने की इच्छा नही रहती। अत धम और दशन के क्षेत्र से योग हटा दिया जाए तो हमारे हाथ म धम की आचार-पद्धति और कुछ पारम्परिक विश्वास व दशन की बौद्धिक व्याख्याए ही रह जाएँगी किन्तु आत्म-साक्षात्कार अथवा आत्म-बल का सहारा सदा के लिए हम से विलग हो जाएगा। योग धर्म की साक्षात् अनुभूति है। उसके बिना न अमृतत्व की प्राप्ति होती है न धर्म का मवस्व ही प्रपत होता है।

योग इतना व्यापक शब्द है और इस पर हजारो वर्षों से इतनी खोज हुई है कि हम उसे किसी एक विश्वास म पद्धति म या अनुशासन म बाँध नही सकते। ससार म जितन महात्मा-पुरुष हुए हैं उन सब क पास जो शक्ति या चमत्कार था वह सब उन्ह योग के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। और जिस जिस महात्मा को जिस जिस ढग की साधना सयोग सिद्धि प्राप्त हुई उस-उस महात्मा न उसी पद्धति को सवश्रेष्ठ उद्घोषित कर दिया। सहज-योग हठ-योग मन्त्र-योग, लय-योग राज-योग कुण्डलिनी-योग, कुल-कुण्डलिनी-योग, चक्र-भेदन, बिन्दु भेद नाटक छाया पुरुष आदि आदि अनेकों यौगिक साधनो का इतन विस्तृत रूप म विकास हुआ है कि उन सब यौगिक-पद्धतियो को संकलित किया जाए तो हम इस छोटे से लेख मे उनका नामोल्लेख भी नही कर सकते। योग के सभी साधनो म कुण्डलिनी-योग की चर्चा

आसन से उसे जगाया जा सकता है, ध्यान से उसे संचालित किया जा सकता है। और जप से उसे उद्बुद्ध किया जा सकता है। संकल्प बल की तो आवश्यकता है ही। किन्तु यह विश्वास रखिए कि कुण्डलिनी-जागरण के पीछे आप लगते हैं तो चक्र-भेद बिन्दु भेद या यौगिक हठ-क्रिया के झमेले में पड़ने की आपको जरूरत नहीं रहेगी। जब कुण्डलिनी जरा सी भी करवट बदल लेगी तो आपका मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणीपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रा चक्र सब जगमगा उठेंगे। परामुख से उन्मुख हो जाएँगे, विरसता से सरसता बहने लगेगी। शरीर के सभी तन्त्र, सभी चक्र और सभी नाड़ियाँ अमृत और आनन्द को इस तरह उडेलना शुरू करेंगी कि आप उस परमानन्द में बेसुध होकर लय हो जाएँगे।

दैनिक कुण्डलिनी का अभ्यास करने से तथा अभ्यास छोड़ देने में इस आनन्द का कुछ न कुछ अनुभव हर साधक को अवश्य मिल जाता है। यदि व्यवस्थित रूप से इस की साधना की जाए तो इसका कहना ही क्या। अरिहन्त या सिद्ध प्रभु की शरण लेकर आसन शुद्धि कर ली जाए, इसके लिए आवश्यक है कि पद्मासन या सिद्धासन लगाना सही आना चाहिए। मूलबन्ध लगाकर प्राण और अपान की ग्रंथी बन्धन कर धीरे धीरे प्राण प्रवाह के साथ साथ चक्रमण करते हुए, लम्बे श्वास के साथ-साथ कुण्डलिनी पर प्राण को केन्द्रित कर लिया जाए और संकल्प बल से और प्राणायाम क्रिया के सहारे सुषुम्ना के द्वार के ब्राह्मी नाड़ी के बीच में कुण्डलिनी को सहस्र की ओर उत्क्षेपण किया जाए तो कुण्डलिनी जागरण का कुछ न कुछ रसास्वादन मिल जाता है। खैर, मेरा उद्देश्य कुण्डलिनी जागरण की साधना स्पष्ट करने का नहीं है, अपितु कुण्डलिनी-योग के प्रति पाठकों की रुचि बढ़े, उसे जानने की जिज्ञासा जागे, कुण्डलिनी जागरण के रसास्वादन के लिए उत्कण्ठा बढ़े, यही इस लेख का उद्देश्य है।

मेरा विश्वास है कि कुण्डलिनी योग से बढ़ कर शब्दातीत बनाने के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी साधना नहीं है। जहाँ सत्य अभय के साथ मिलता है, जहाँ शक्ति शिव के साथ में विहार करता है, जहाँ श्रम और कला विदग्ध हो जाते हैं, जहाँ महापरिनिर्वाण की अवस्था साक्षात् हो जाती है, वहीं कुण्डलिनी योग का जागरण होता है।

अहिंसा का वैज्ञानिक प्रस्थान

श्री काका कालेलकर

जैन-दृष्टि की जीवन-साधना मे, अहिंसा का विचार काफी सूक्ष्मता तक पहुँचा है। उसमे अहिंसा का एक पहलू है—जीवो के प्रति करुणा और दूसरा है, स्वय हिंसा के दोष से बचने की उत्कट भावना। दोनो मे फर्क है। करुणा मे प्राणी के दु:ख-निवारण करने की शुभ भावना होती है। प्राणियो का दु:ख दूर हो, वे सुखी रहे उनके जीवनानुभव मे बाधा न पडे। जिस इच्छा के कारण मनुष्य जीवो के प्रति अपना प्रेम बढाता है, सहानुभूति बढाता है और जितनी हो सके सेवा करने दौडता है।

इसके विपरीत दूसरी दृष्टि वाला कहता है, कि सृष्टि मे असख्य प्राणी पैदा होते है, जीते है, मरते है, एक-दूसरे को मारते है, अपने को बचाने की कोशिश करते है। यह तो सब दुनियाँ मे चलेगा ही। हर एक प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार सुख-दु:ख का अनुभव करेगा। हम कितने प्राणियो को दु:ख से बचा सकते है? दु:ख से बचाने का ठेका लेना या पेशा बनाना अहंकार का ही एक रूप है। इस तरह का ऐश्वर्य कुदरत ने या भगवान ने मनुष्य को दिया नही है। मनुष्य स्वय अपने को हिंसा से बचावे। न किसी प्राणी को मारे, न मरावे और न मारने मे अनुमोदन देवे। अपने आप को हिंसा के पाप से बचाना यही है—अहिंसा।

इस दूसरी दृष्टि मे यह भी विचार आ जाता है, कि हम ऐसा कोई काम न करे, कि जिसके द्वारा जीवो की उत्पत्ति हो और फिर उनको मरना पडे। अगर हमने आस-पास की जमीन अविवेक से गीली कर दी, कीचड इकट्ठा होने दिया, तो वहाँ कीट-सृष्टि पैदा होने के बाद उसे मरना ही है। वह सारा पाप हमारे सिर पर रहेगा। इसलिए हमारी ओर से जीवोत्पत्ति को प्रोत्साहन न मिले, उतना तो हमे देखना ही चाहिए। यह भी अहिंसा की साधना है।

इसी दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन भी अहिंसा की साधना ही होगी। जीव को पैदा नहीं होने दिया तो उसे पैदा करके मरणाधीन बनाने के पाप से हम बच जाएँगे।

करुणा इससे कुछ अधिक बढ़ता है। उसमें कुछ प्रत्यक्ष सेवा करने की बात आती है। प्राणियों को दुःख से बचाना, उनके भले के लिए स्वयं कष्ट उठाना, त्याग करना, संयम का पालन करना, यह सब क्रियात्मक बातें अहिंसा में आ जाती हैं।

आजकल जैन समाज में इसकी चिन्ता नहीं चलती कि हम हिंसा के दोष से कैसे बचें। जो कुछ जैनों के लिए आचार बताया गया है, उसका पालन करके लोग सन्तोष मानते हैं। धर्मबुद्धि जाग्रत है लेकिन धार्मिक पुरुषार्थ कम है। जो साधक अणुव्रत का पालन करेंगे। साधना बढ़ने पर दीक्षा लेकर महाव्रतों का पालन करेंगे।

अब जिन लोगों ने जीवदया के अहिंसक आचार का विस्तार किया, उन लोगों ने अपने जमाने के ज्ञान के अनुसार बताया कि पानी गरम करके एवं फिर ठण्डा करके पीना चाहिए। आलू जैसे पदार्थ नहीं खाने चाहिए। क्योंकि हर एक बीज के साथ और हर एक अंकुर के साथ जीवोत्पत्ति की सम्भावना होती है। एक आलू खाने से जितने अंकुर उतने जीवों की हत्या करने का पाप लगेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों की हत्या से बचने के लिए इतना सतर्क रहना पड़ता है कि वही जीवन-व्यापी साधना बन जाती है। पानी गरम करके एकदम ठण्डा करना, मुँह पट्टी लगाना, शाम के बाद भोजन नहीं करना आदि रीति-धर्म का विकास हुआ।

शुरू-शुरू में यह वैज्ञानिक खोज-खोज थी। हमारा वैज्ञानिक ज्ञान जैसा बढ़ेगा, उसके अनुसार हमारा अहिंसा धर्म भी। कपिल ने जब साम्य-दृष्टि और आत्मौपम्य भावना के रूप में धर्म-व्यवस्था कायम की, तब उसका नाम तक जैन धर्म नहीं था। यह कहा जा सकता है कि इस धर्म-व्यवस्था का श्री गणेश हुआ, उस साम्य भावना से जिसका सम्बन्ध था मानव के पारस्परिक बाहरी व्यवहार के साथ। आत्म-तत्त्व की जीवमात्र में अनुभूति होने पर आत्मौपम्य भावना जाग्रत हुई। इस दृष्टि और भावना में से ही अहिंसा-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। तब तक जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था। भगवान् नेमिनाथ और भगवान् पार्श्वनाथ ने उसमें अपरिग्रह भावना का समावेश किया क्योंकि इसके बिना सामान्य जन के लिए अहिंसा धर्म का पूर्ण रूपेण पालन कर सकना सम्भव न था। भगवान् पार्श्वनाथ के बाद के जिन प्रकट होते हैं जो वीतरागता पर जोर देते हैं। उनकी दृष्टि यह होती है कि कठोर इन्द्रिय के निग्रह के बिना राग-द्वेष, कलह, वैमनस्य तथा विरोधभाव पैदा करने वाली दुर्वासनाओं पर विजय प्राप्त नहीं की जा सकती। ऐसा विचार करने वाले जिनों में भगवान् महावीर का स्थान सर्वोपरि है। जिन का अभिप्राय है जितेन्द्रियता। इन्द्रिय निग्रह की कठोर साधना को जीवन-व्यवहार में पूरा उतारने वाले जिन कहे गए और उन्हीं के नाम पर जिन शब्द से 'जैन' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान् महावीर ने ३० से ४२ वर्ष की आयु में साढ़े बारह वर्ष घोरातिघोर तपस्या की कठोरतम साधना में वीतराग स्थिति का जो उत्कृष्ट आदर्श उपस्थित किया उसी के कारण उन्हें

भारतीय-संस्कृति में अहिंसा

मुनिश्री श्रीमल्ल

"मातेव सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी"

भेद-ज्ञान पूर्वक अभेद आचरण ही अहिंसा है। जब तक समस्त प्राणियो मे अभेद दृष्टि रखकर नही वरता जाता, तव तक अहिंसा का आचरण नही हो सकता। प्रत्येक आत्मा का स्वरूप एक ही प्रकार का है, ऐसा समझकर सभी प्राणियो के साथ अपने ही जैसा सरल, सत्य व्यवहार करना अहिंसा की साधना है। क्योकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिए उसके धर्म का और उसकी अहिंसा का स्वरूप भी पूर्णत सामाजिक ही हो सकता है। मनुष्य का विकास समाज के विना सभव नही है। विना दूसरो की सहायता के मनुष्य जी नही सकता। इसीलिए आचार्य उमास्वाति ने **"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** कहा है। अर्थात् जीवो का जीवन एक दूसरे के सहयोग से ही चल सकता है। अतएव धर्म और अहिंसा के आचरण मे भी सामाजिकता की दृष्टि अनिवार्य है। सामाजिकता की दृष्टि अभेद आचरण की प्रेरणा देती है। पर भेद-ज्ञान का होना भी जरूरी है। शरीर के अगोपाग एक-दूसरे से भिन्न आकृति वाले प्रतीत होते है, फिर भी उन सवमे एकात्म-वृत्ति है। इसलिए वे अलग-अलग होते हुए भी एकरूप है। पैर मे कॉटा चुभते ही मन की प्रेरणा से हाथ अविलव कॉटे को निकालने के लिए तत्पर हो जाते है। हाथो को ऐसा करने के लिए सिखाना नही पडता। पैर का कॉटा निकालते समय हाथ यह नही सोचते कि पैर गदे है, हमसे नीचे है—हम इनका स्पर्श कैसे करे? क्योकि हाथ और पैर मे आकृति-भिन्नता के वावजूद चैतन्य का एकत्व है। **"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे"** अर्थात् जो इस शरीर मे है, वही पूरे विश्व मे है। शरीर के भिन्न आकृति और भिन्न काम वाले अग-प्रत्यग की तरह ही सारे ससार मे भी अलग-अलग

प्राणी हैं। पर एग आया के सिद्धान्त के अनुसार समस्त आत्माएँ एक ही स्वरूप की है। इसी एकत्व अनुभूति के आधार पर अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

शरीर तथा काय सबधी गौण उपाधिया के मोह म पडकर जब मानव स्वय को बाँध लेता है तब अहिंसा का पूर्ण विकास नहीं सध पाता। वयक्तिक और सामुदायिक—सब प्रकार के बधन अहिंसा के विकास को रोकने वाले हैं। बधन और सकीर्णता का अहिंसा म जन्मजात विरोध है। गगा की मुक्त जलधारा क समान अहिंसा का प्रवाह भी मुक्त और व्यापक होता है। अहिंसा कुटुम्ब प्रान्त भाषा पथ, सम्प्रदाय या तथाकथित धर्म के गड्ढा म बद कर दी जाए तो उसकी भी वही हालत होगी जो हालत गगा के शुद्ध जल की किसी गड्ढे मे बन्द कर देने म होती है। सम्प्रदायवाद के घेरो म बन्द कर देने से अहिंसा ने अनेक विकृतियाँ पदा की—कायरता पनपायी और धर्म खतरे म का नारा देकर हिंसा को प्रोत्साहित किया। इसलिए अहिंसा के पालन और प्रचार के लिए उसे समस्त बाहरी बधनो स मुक्त रखना होगा।

मानव ने अपनी सुविधा के लिए भाई-बहन पति-पत्नी माँ-बाप आदि सबध बनाए। इन सबधो का उपयोग यदि मानवता के विकास म किया जाए तब तो ठीक है किन्तु इन्हीं सबधो को सकीर्ण घेरों का रूप द दिया जाए और इन सबधो के कारण समाज से द्वेष किया जाए तो अहिंसा पनप नही सकेगी। इसी तरह समाज म सुविधा के लिए कुछ वर्ग बनाए गए तथा व्यवस्था की दृष्टि स पृथ्वी पर सीमा रेखाएँ खीची गयी। किन्तु इन सबकी उपादेयता केवल व्यवस्था और सुविधा क लिए है। यदि इस मौलिक उद्देश्य को भुला दिया जाए और प्रान्त तथा राष्ट्रीय सीमाओ का व्यामोह हो जाए तो यह व्यवस्था ही हिंसा का रूप धारण कर लेती है। क्योंकि सारे विश्व के मनुष्यो म एक ही स्वरूप वाली आत्मा बसती है—यह विचार जब तक कायम रहेगा तब तक भाषा प्रान्त या राष्ट्र क नाम पर सकीर्णता को प्रश्रय नहीं मिलेगा।

भाषा के नाम पर मन के टुकड़े कर लेना निहायत नासमझी है क्योंकि भाषा भावों को व्यक्त करने का एक साधन मात्र है। यदि उस साधन का दुरुपयोग किया जाएगा तो उसका परिणाम हिंसा के रूप म ही प्रगट होगा। इसी तरह सम्प्रदायों और पथो ने भी अहिंसा के नाम पर सकुचित मत-वादो को प्रश्रय देने के कारण हिंसा को ही प्रोत्साहित किया है। जो आत्म-साधना के भिन्न भिन्न प्रकार मात्र थीं वे धार्मिक परपराएँ ही यदि मानव को मानव स अलग करने का साधन बन जाएँगी तो अहिंसा के विकास का इतिहास आगे कसे बढ़ेगा? मेरा आशय इतना ही है कि मानव समाज क बीच म भेद की दीवार खड़ी करना सर्वाधिक हिंसा का काय है। इसलिए अहिंसा का पहला रूप यही हो सकता है कि इस प्रकार के जडतापूर्ण भेदों को नष्ट किया जाए।

यह भेद की दीवार मनुष्य ने अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए खड़ी की है। वरना समाज म कार्मों का समुचित बँटवारा बहुत ही अच्छे ढग से किया गया था। समाज की आवश्यकता के अनुसार कुछ लोगो को ज्ञान-विज्ञान की साधना और उसके प्रचार का काम सौंपा गया। कुछ लोगों को रक्षा

की रक्षा का कार्य सौपा गया । कुछ लोगो को लकडी, लोहा, चमडा आदि का उपयोग कर आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन करने के लिए कहा गया । कुछ लोगो को वस्तुओ के विनिमय के जरिए एक-दूसरे की जरूरत पूरी करने का काम सौपा गया । इस तरह एक ही शरीर के अलग-अलग अगो से जिस तरह अलग-अलग काम लिया जाता है, उसी तरह समाज के अलग-अलग अग बनाकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण किया गया, ताकि विकास के मार्ग मे कही बाधाएँ उत्पन्न न हों, पर मनुष्य के कुटिल मन ने अपने स्वार्थो को पूरा करने के लिए एक काम को ऊँचा और दूसरे को नीचा माना। फलस्वरूप जाति-पाँति आदि सकीर्ण भावनाएँ उत्पन्न हुई । किसी एक कार्य को श्रेष्ठ बताना और दूसरे को अश्रेष्ठ बताना, इसी तरह ऊँचे-नीचेपन की कल्पना करके पारस्परिक व्यवहारो मे भेद उत्पन्न करना—सबसे बडी हिंसा है। चाहे समाज का कोई भी काम क्यो न हो, सब समान हैं । उन कामो को करने वाले समस्त मानव भी समान है । इस तरह का समानता-मूलक दृष्टिकोण ही सरल, सत्य व्यवहार करने की प्रेरणा देता है और वही सच्ची अहिंसा का रूप है ।

युग के आरम्भ मे भगवान ऋषभदेव ने समाज का तीन भागो मे बटवारा किया—असि, मसि और कृषि मानव के मन मे पैदा होने वाली पशुता को, अपराध भावना को रोकने के लिए रक्षक दल है, वह 'असि' विभाग मे आता है । ज्ञान-विज्ञान की साधना और शिक्षण का काम करने वाले 'मसि विभाग' मे जाते हैं। उत्पादन, विनिमय और व्यापार की जिम्मेदारी उठाने वाले कृषि विभाग मे आते हैं। उस युग की जरूरत के अनुसार यह बटवारा था । ऐसा मानना आवश्यक नही है कि आज भी ठीक उन शब्दो को पकडकर चलना पडेगा । परिस्थितियो के अनुसार कुछ परिवर्तन अनिवार्य होगा । लेकिन भावना की दृष्टि से समाज मे इसी तरह काम का बटवारा करना होगा और सब प्रकार के काम करने वाले समान स्तर के है, ऐसा मानना होगा । क्योकि जनसख्या का विस्तार अधिकाधिक हो रहा है और आज कृषि को शोषण का जरिया बना दिया गया है, इसलिए आज की परिस्थिति मे शायद पूरे समाज के लिए कृषि अनिवार्य मानी जाए । पर मूल प्रश्न तो यह है, कि अहिंसा की दृष्टि से असि, मसि और कृषि काम करने वाले मनुष्यो मे किसी तरह का भेद नही है, कोई ऊँचा-नीचा नही है, जाति-भेद केवल मानव का स्वार्थ और दुराग्रह मात्र है ।

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥"

अहिंसा का प्रारम्भ मनुष्य से होता है । जैसे शिक्षा का आरम्भ "क–ख–ग" मे होता है, उसी तरह अहिंसा की दृष्टि से मनुष्य जल्दी समझ मे आता है । किसी भी दुख से पीडित मनुष्य को जब छोटा बच्चा भी देखता है, तो उसकी आत्मा मे कम्पन-सा छा जाता है । एक सहज सहानुभूति की भावना उसके अन्त करण मे उठती है । यह जो सहज हमदर्दी, है वही अहिंसा का प्रवेश-द्वार है । किसी को दुखी देखते ही उसके दुख को दूर करने का प्रयत्न करने की इच्छा होती है । मनुष्य के दुखो का प्रभाव आत्मा पर बहुत ही शीघ्र पडता है । यह सही है, कि अहिंसा का आरम्भ मनुष्य से होगा और

ज्यों-ज्यों आत्मा की संवेदनशीलता तीव्र-तीव्रतर होती जाएगी, त्यों-त्यों प्राणीमात्र का आत्मौपम्य समझने की भावना जागृत होगी और प्राणीमात्र की रक्षा के लिए मानव न केवल प्रयत्न करेगा बल्कि अपना बलिदान करने को भी तैयार रहेगा।

यह कैसी विडम्बना है कि कुछ अहिंसा का दावा करने वाले कीड़े मकोड़ों को बचाने का प्रयत्न तो करते हैं किन्तु भूखे नंगे दरिद्र मानव को छटपटाते हुए देखकर भी मन में करुणा नहीं लाते। वास्तव में इस प्रकार कीड़े मकोड़े को बचाने का प्रयत्न अहिंसा नहीं है। यह तो अहिंसा के रूप में आत्मा पर आवरण है। जिससे कृत्रिम संतोष होता है। जिसे कीड़े और मकोड़े के दुःख पर दया आती है वह व्यक्ति दलित शोषित और दुःखी मानव की रक्षा के लिए अपने प्राण भी अर्पण कर सकता है। इस प्रकार हमें समझना चाहिए कि अहिंसा का जीवन में व्यवहार कैसे हो? बहुत बड़े-बड़े अहिंसावादी लोगों का उनके नौकरों के साथ जब व्यवहार होता है तब तो दांतों तले अंगुली दबानी पड़ जाती है। वे हरी सब्जी खाने में हिंसा मानते हैं पर अपने आश्रितों को प्रताडित करने में या उनकी आवश्यकताओं का शोषण करने में चातुर्य और कुशलता समझते हैं। यह हमारी अहिंसा की विडंबना है। काम क्रोध मोह आदि विकारों को नष्ट करके मानव प्रेम समानता शोषण का त्याग और समभाव की आराधना करना ही अहिंसा का सम्यक् स्वरूप है। जैसे दांतों के बीच जीभ के कुचल जाने पर भी हमें दांतों पर क्रोध नहीं आता क्योंकि हमारा मन यह जानता है कि जीभ मेरी है और दांत भी मेरे हैं इसी प्रकार मानव के साथ भी अपनापन जुड़ना चाहिए और जब यह जुड़ेगा तभी मन के सारे विकार और दोष मिट सकेंगे।

मैंने ऊपर यह बताया है कि अहिंसा का स्वरूप केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित नहीं है। मंदिर में जाना सामायिक करना, भजन कीर्तन करना—यह सब व्यक्तिगत साधना के तरीके हैं। यदि कोई समझता हो कि इन तरीकों से अहिंसा की साधना पूरी हो जाएगी तो वह निरा भ्रम है। अहिंसा की प्रतिष्ठा तो जीवन के हर मोड़ पर होनी चाहिए। हमारा व्यवहार-व्यापार आदि कैसा है यह देखकर ही अहिंसक जीवन की कसौटी की जा सकती है। अधिक से अधिक शोषण के जरिए पैसा एकत्रित करने की धुन अहिंसा की साधना में सबसे बड़ी बाधा है। जो अहिंसा की साधना चाहता है उसे सत्य और अपरिग्रह की साधना अनिवार्य रूप से करनी पड़ेगा। कदम-कदम पर यह समझना होगा कि मैं समाज के लिए कहीं भारभूत तो नहीं बन गया हूँ? मेरे कारण कहीं विषमता को, दरिद्रता और शोषण को प्रोत्साहन तो नहीं मिल रहा है? इस प्रकार संतुलित चिन्तन करते हुए जीवन-व्यवहार चलाना अहिंसक चर्या के लिए आवश्यक है।

★

कर्म और अनीश्वर-वाद

श्रीप्रकाश दुबे एम० ए०

भारतीय दर्शनो मे लोकायत (चार्वाक) को छोडकर सभी दर्शन कर्मवाद को मानते हैं। कर्मवाद का सरलतम एव स्पष्टतम अर्थ है कि जो जैसा करेगा, वह वैसा भोगेगा। भारत के ऋषि-महर्षियो ने सतत चिंतन के उपरान्त जिस विशाल प्रज्ञा-मन्दिर का निर्माण किया है, उसका स्वर्ण कलश यदि मुक्ति है, तो उसकी आधारशिला कर्मवाद। इस ससार मे कोई धनी है, तो कोई निर्धन। कोई सुखी है, तो कोई दुखी। कोई स्वस्थ और सुन्दर है तो कोई रुग्ण व कुरूप। कोई सदाचारी है, तो कोई दुराचारी। कोई भला है तो कोई बुरा। इन सब विषमताओ का मूल कारण क्या है ? क्यो अच्छे लोग प्राय. कष्ट उठाते है, और दुष्ट लोग मखमल की सेज पर सोते हैं ? क्यो किसी का एक मात्र पुत्र मर जाता है और दर्जनो पुत्रो वाले निर्धन पिता की वश-वृद्धि लगातार होती जाती है ? प्रत्येक जागरूक व्यक्ति के अन्दर अनायास ही यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि अन्ततोगत्वा इसका कारण क्या है, कहाँ है ? इन सारे प्रश्नो और विषमताओ का एक मात्र उत्तर है "कर्म"।

कर्म का साधारण अर्थ होता है—कार्य, अथवा क्रिया। हम जो भी कार्य करते है, वे उस काय तक ही सीमित नही रह जाते। प्रत्येक कार्य-कलाप एक ऐसा सस्कार छोड जाता है, जो बाद मे उपयुक्त समय व स्थान पाकर फल देता है। हम आज जो कर रहे हैं, उसका फल कल अवश्य मिलेगा। आज जो भोग रहे हैं, वह भूतकाल के कृत्यो का परिणाम है। हमने जो पेड़ दस वर्ष पहले लगाया था, उसी का फल आज खाने को मिलता है। जो बीज आज बोया जाएगा, वह तुरन्त फल न देकर भविष्य मे फल देगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य या फलभोग मे भूत, वर्तमान और भविष्य की शृखला बनी रहती है। इसी सिद्धान्त को जरा बडे पैमाने पर लागू करने से हम पूर्वजन्म व पुनर्जन्म का निष्कर्ष निकालते हैं। हम

अपने किए हुए कर्मों के कारण ही दुःख या सुख भोगते हैं। संत तुलसीदास ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में इस तथ्य को स्पष्ट किया है — 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।' जब एक सज्जन व्यक्ति को हम इस जन्म में कष्ट उठाते देखते हैं तो एक पूर्वजन्म का अनुमान लगाना पड़ता है जिसमें किए गए कृत्यों के कारण व्यक्ति विशेष सज्जन होने के बावजूद भी कष्ट उठाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति यदि इस जीवन में अनेक अत्याचार व दुष्कृत्य करता है तथापि बड़े आराम से दिन काट ले जाता है तो उसके लिए भी एक भावी जीवन की निष्पत्ति करनी होगी है क्योंकि कर्म का बिना भोग के क्षय नहीं होता— 'बिना भोगान्न तत्क्षयः'। तथा 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटि शतैरपि।'

कर्म की शक्ति बड़ी अद्भुत है। जड़ चेतन स्थावर जंगम सुर असुर आदि कोई भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं। सारे संसार का संचालन कर्म के द्वारा ही होता है। रवि शशी नक्षत्र तथा तारे सभी कर्म के नियम से परिचालित होते हैं। सूर्य की प्रत्येक रश्मि वर्षा की प्रत्येक बूंद धूल का हर एक कण सागर की सभी तरंगें काल का एक एक क्षण—यह सब कर्म के कानून के पाबन्द हैं। वैदिक साहित्य में कर्म को ऋत के समकक्ष माना गया है। कर्म स्वयं में अचेतन या निर्जीव है परन्तु इसका शासन चेतन जगत् पर भी है। ईश्वरवादियों को यह बड़ा अटपटा लगता है। वे यह नहीं समझ पाते कि निर्जीव कैसे सजीव पर शासन कर सकता है। वे कर्म के समुचित संचालन के लिए चेतन ईश्वर की आवश्यकता बताते हुए यह कहते हैं कि कर्म ईश्वर में उत्पन्न हुआ है और ईश्वर कर्माध्यक्ष है— 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' (गीता) तथा 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' (श्वेताश्वर उपनिषद्)। परन्तु यदि हम कर्मवाद पर दृढ़तापूर्वक स्थिर रहें तो निश्चित रूप से ईश्वर का त्याग करना होगा। ईश्वर की कल्पना करने में हम जगत् के सारे श्रेय व प्रेय का समावेश कर डालते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान भक्त-वत्सल करुणागार उदार व कृपालु है। परन्तु यदि ईश्वर दया की मूर्ति है और साथ ही साथ जगत् का स्रष्टा भी है तो क्यों उसने दुनियाँ में विभीषिकाएं महामारियाँ निर्धनता व्याधियाँ तथा कलह आदि बनाए? यदि उसने इनका निर्माण या सृजन कर ही दिया, तो बाद में क्यों नहीं इनको समूलतः नष्ट कर डाला? वह सर्वशक्तिमान है तो कोई कारण नहीं कि इनका उन्मूलन न कर सके। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि करता है तो प्रश्न है कि जब सृष्टि के आदि में जीव था ही नहीं तो कर्म भी नहीं रहा तब कैसे सृष्टि में विषमता आई? यदि सृष्टि व कर्म तथा जीव सभी को अनादि मान लिया जाए तो यह विवेकपूर्ण उत्तर की अपेक्षा पलायनवाद ही कहा जाएगा।

कर्मवाद और ईश्वरवाद—दोनों को साथ मानकर चलने से हम एक ऐसी जगह पहुँचते हैं जहाँ नीचे खाई और ऊपर पहाड़ है। यदि ईश्वर कूटस्थ व अक्रियाशील है क्योंकि वह आप्तकाम है तो वह जगत की सृष्टि नहीं कर सकता। और यदि वह क्रियाशील है तो कर्मवाद के अधीन हुआ। सत् और निरर्थक या सार्थक और असत् ये दो ऐसे विकल्प हैं जो ईश्वरवादियों को कभी ग्राह्य नहीं हो सकते। यदि कर्म ईश्वर का बनाया हुआ है और ईश्वर कर्म के अनुसार सृष्टि निर्माण करता है तथा सुख-दुःखादि

का विभाजन करता है, तो ईश्वर कर्मवाद के अधीन हुआ ही। यहाँ पर ईश्वर की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचता है। यदि वह कर्मवाद की उपेक्षा या उल्लघन करता है, तो वह उन्मत्त एव अनियन्त्रित तानाशाह कहा जाएगा, जिसकी हुकूमत का कोई नियम ही नही।

ईश्वरवादी मतो मे ईश्वर की कृपा या अनुग्रह से जीव को मोक्ष देता है। परन्तु यदि कर्मवाद को वास्तविक अर्थ मे लिया जाए, तो ईश्वर के अनुग्रह को कोई स्थान ही नहीं—कोई अर्थ ही नही। कहा जाता है कि ईश्वर की कृपा कर्म की अपेक्षा नही करती। वाइविल के अनुसार ईश्वर के दरवार मे निकृष्ट—उत्कृष्ट वन जाता है और अतिम–प्रथम। पापी को मोक्ष पहले मिल जाता है और पुण्यात्मा को वाद मे। कर्मवाद की अवहेलना करके यदि ईश्वर जीवो को मोक्ष देता हे, तो एक साथ सभी जीवो को मोक्ष दे देना चाहिए, ताकि सारा किस्सा ही समाप्त हो जाए। परन्तु ऐसा नही होता। शायद ईश्वर ऐसा करने को स्वतन्त्र नही है। परन्तु जव कर्म का ध्यान रखे विना ही वह कुछ को मोक्ष दे देता है और कुछ को नही, तो पक्षपाती होगा तथा वैपम्य नैर्घृण्य का प्रमग उपस्थित हो जाएगा, जिसे ईश्वरवादी कदापि नही मानेगे। दूसरी ओर यदि पापी को कृपा से मोक्ष प्रदान कर देता है और पापी के सारे कर्म विना भोग के ही नष्ट हो जाते है, तो कर्मवाद की आधारशिला ही चलायमान हो जाती है। तव तो कोई पापी असख्य पाप करने के पश्चात् ईश्वर के समक्ष हाथ जोडकर, कृपापात्र वनकर मुक्ति पा जाएगा। परन्तु लोगो को ईश्वर की ऐसी कृपा का विश्वास हो जाए, तो सभी लोग श्रमसाध्य नैतिक आचार-विचार छोडकर दुष्कर्मो मे ही प्रवृत्त हो जाँए और सामाजिक जीवन मे अराजकता एव नृशसता का नग्न नर्तन होने लगे।

इस प्रकार कर्मवाद व ईश्वर दोनो को मानने से हम एक ऐसी स्थिति पर पहुँचते है, जिमे दार्शनिक शब्दावली मे 'उभयत पाशारज्जु' की मज्ञा दी जाती है। यहाँ साँप-छछूँदर की दशा हो जाती है। न निगलना वनता है, न उगलना। ईश्वरवादी यद्यपि इन कठिनाइयो को दूर करने का प्रयत्न करते है, परन्तु उन्हे इस प्रयास के फलस्वरूप कुछ भी हाथ लगता हो, ऐसा प्रतीत नही होता। अनीश्वरवादी ईश्वर को नही मानते, उनका काम विना ईश्वर के ही चल जाता है। वे तो प्रयत्नलाघव के न्याय को मानते है। यदि ताजा व शुद्ध दूध हमे वाजार से मिल जाए तो गाय घर मे रखकर उसके लात सहने से क्या फायदा? ईश्वर को न मानने से अनेक समस्याएँ सुलझ जाती है। कितनी ही चीजे सम्भव हो जाती है। पश्चिम के दार्शनिक नीत्शे ने घोपणा की—"ईश्वर मर गया।" और यदि ईश्वर मर गया, तो नैतिक आदर्शो व समाज की व्यवस्था का सारा दायित्व मनुष्य के कन्धो पर आ पडता है। पश्चिम के मानवतावादी व अस्तित्ववादी विचारो की पूर्वपीठिका यही है। और यही है भारतवर्प मे अनीश्वरवादी दर्शनो व सम्प्रदायो के विकास की आधारशिला। मानव जाति के विकास के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो पता लगेगा कि ईश्वर के विचार ने मनुष्य के अन्तर मे हीनता की ग्रन्थि उत्पन्न कर दी है। जो कुछ है सव ईश्वर है, जो भी हम करते है सब ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर करते है, ऐसी भावना ने मानवता का पतन अधिक किया है, उत्थान कम। आत्म-निर्भरता का पाठ पढने वाले अनीश्वरवादियो ने विकास के नाम पर चार चाँद लगाएँ है। क्योकि उन्हे मानव-शक्ति की थाह लगानी थी, उसे प्रकट करने

की प्रदशनी लगाना थी। जब आत्मा पर अपना नियन्त्रण होता है, तब आत्मा का विकास होता है। परन्तु जब आत्म पर किसी दूसर का नियन्त्रण हाता है तब ह्रास हाता है अवनति होती है। आत्मा पर परमात्मा का कब्जा नही होना चाहिए। उस स्वच्छन्द आकाश म पख फडफडान देना चाहिए, तभी वह शक्तिशाली होगा और अपन स्वरूप को समझगा। दीन हीन बनकर ईश्वर के समक्ष घुटन टेकना क्या किसी जमीदार की गुलामी स कम है? आत्मा को सबल बनान क लिए इसी की सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करना अनिवाय है।

इन्ही सब कारणा स जन बौद्ध व मीमासका न ईश्वरवाद का त्याग कर कमवाद को माना। यदि यह कहा जाए कि अनीश्वरवाद—कर्मवाद का स्वाभाविक निष्पन्न रूप है तो अवाछनीय या अनुपयुक्त न हागा। कम की सवतामुखी एव युक्ति-युक्त व्याख्या करन पर ईश्वर की धारणा लुप्त हो जाता है। प्रश्न यह उठता है कि तब इश्वरवादी कम म विश्वास कसे करन ह? उत्तर है कि व कम को मानत तो है, परन्तु सर्वोच्च नियम क रूप म नहीं। कम ज्ञान व भक्ति से बढ़कर नही है। यहाँ तक कि वह ईश्वर क अनुग्रह क भी आधीन है। इसी कारण ईश्वरवादी सप्रदाया म सुविधानुसार कमवाद को परिमार्जित व सशाधित करन क पश्चात् ग्रहण किया गया है। कही कही तो यह विकृत भी हो गया है। कही राजा के दुष्कर्मो स सारी प्रजा की हानि बताई जाती है ता कही पत्नी के पुण्य स पति काल क गाल स भी लौट आता है। कही भिक्षा न दन पर गृहस्थ के सार पुण्य भिक्षुक को स्थानान्तरित हो जात है तो कहा एक त्रुटि क कारण आजीवन का तपस्वी अनन्त नरक भागन वाला बताया जाता है। पाश्चात्य विद्वान श्री हापकिन्स न रायल एशियाटिक सोसाइटी क जनल (१६०६ ई०) म इस दिशा म सम्यक प्रकाश डाला है, जा रोचक होन के साथ साथ माननीय भी है।

सार अनीश्वरवादी इस बात पर एक मत है कि कम स्वय फल दता है। इसके सचालन के लिए किसी चतन की आवश्यकता नही है। अचतन कम जब चतन जीव के सपक म आता है तब कम म एक एसी शक्ति आ जाती है जा जीव के सुख-दुख को उसक कार्यो क अनुसार निश्चय करती है। मीमासक लोग इस शक्ति को 'अपूव' या अदृष्ट कहत ह तथा जनमतावलम्बी— कम पुदगल। जब हम कोई काय करते हैं ता आत्मा म एक प्रकार का स्फुरण उत्पन्न हाता है जिसम आन्दोलित होकर कम-पुद्गल आत्मा के साथ चिपक जात है और समय पाकर फल दत हैं। इन कम पुद्गलो का आस्र निरतर होता रहता है और क्रियाशील जीव मे य बधत जात है। सम्यग् दशन ज्ञान व चारित्र द्वारा ही इनका सवर क उपरान्त निजरा हो सकती है। कम स मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दशन म इसी कम को सस्कार कहत हैं जिसका कारण अविद्या है। जो काय हम करत है उसका सस्कार बनता है और वही फल दता है। यह एक स्वत चालित व अविच्छिन्न नियम है जिसम नियन्ता की आवश्यकता नही है।

ईश्वरवादी यहाँ पर प्रतिवाद कर सकत है कि कम को फल दन के लिए आखिर चतन की शरण लनी ही पडी तो अनीश्वरवादी ईश्वर स क्या चिढ़त हैं उस मान क्या नही लत? इसका उत्तर यह है कि कमवाद यह अवश्य मानता है कि कम चतन क साथ काय करता है परन्तु इसका यह

तात्पर्य नही कि वह चेतन ईश्वर ही है। कर्म को फलित होने के लिए ईश्वर की कोई आवश्यकता नही। यदि कर्म के फल के लिए ईश्वर आवश्यक होता, तो ईश्वर के न मानने वालो के कर्मो का कोई फल ही न होता। पर ऐसा नही होता है। यदि चेतन का अर्थ ईश्वर लगाया जाए, तो इस दृष्टि से सारे मतो के अनुयायी ईश्वरवादी हो जाएँगे। परन्तु ईश्वरवादी ईश्वर को साधारण चेतन अर्थ मे नहीं समझते। और भी, कर्म, चेतन पर आश्रित है, यह कथन ठीक नही। चेतन जीव कर्म का विषय है और विषय कदापि विषयी का आधार नही होता। यदि यह प्रश्न उठाया जाए, कि बिना चेतन के कर्म कैसे हुआ तथा बिना कर्म के चेतन बन्धन मे आया तो कैसे, तो इसका उत्तर यह है कि कर्म एव जीव—दोनो बीजाकुर की भाँति अनादि है। दोनो मे पौर्वापर्य का भेद नही है। इस बात को ईश्वरवादी भी मानते है।

यद्यपि कर्म व अनीश्वरवाद पर अनेक ऐसे प्रश्न व विचार है, जिनका विचारपूर्ण अध्ययन काफी रुचिकर एव लाभकारी होगा, परन्तु वह सब लघु निबध की सीमा के बाहर है। उनके लिए तो स्वतन्त्र ग्रन्थो का विशाल क्षेत्र ही उपयुक्त होगा। मैंने यहाँ पर इतना ही प्रयास किया है कि मुख्य समस्याओ व उलझनो को दृष्टि-पथ मे लाया जाए। यद्यपि मैं स्वय ईश्वरवादी हूँ, परन्तु कर्मवाद को सही रूप मे ग्रहण करने पर जैसा कि मैंने पहले कहा है, ईश्वर विषयक विचारो पर आघात पहुँचाता है। आशा है कि विद्वज्जन इस दिशा मे कुछ नयी विचार शृंखलाओ का प्रवर्तन करेंगे, ताकि इस विषय पर पूर्ण प्रकाश पड सके।
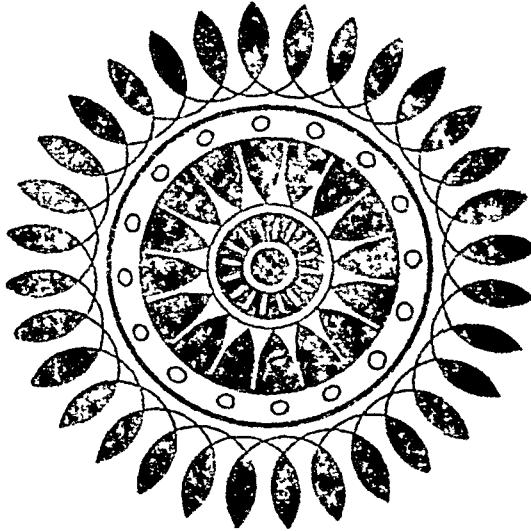
अहिंसा का मूल आधार : समत्व-योग

सुरेशमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

अहिंसा का मौलिक मूल्य

मनुष्य का जीवन जब स्वार्थ की संकीर्ण सीमाओं से घिर जाता है तो समाज में चारों ओर विषमता का दुश्चक्र चल पड़ता है। परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्तराल में दुःख, पीड़ा, बेचैनी और व्याकुलता अपने पर पसारने लगती है। स्वार्थी मनुष्य अपने ही खान-पान के लिए, अपने मौज-मजे के लिए, अपने ही सुख-भोग के लिए दूसरों का शोषण करता है, दूसरों को लूटता है, दूसरों को धोखा देता है, दूसरों की आँखों में धूल झोंक कर अपना उल्लू सीधा करता है। अपने आराम के लिए दूसरों का आराम छीनता है, दूसरों की लाश पर अपनी जिन्दगी का महल खड़ा करने की कोशिश करता है, अपनी खुशी के लिए औरों की जिन्दगी को कुचलता है, दूसरों के प्राणों के साथ खिलवाड़ करता है। दूसरों के ऊपर क्या गुजर रही है, इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जा पाता। वह तो अपने को ही देखता है। अपने आप में ही बन्द हो जाता है वह। अपनी ही इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं तथा सुख-सुविधाओं का महत्त्व देता है। इस स्वार्थपरता तथा संकीर्ण दृष्टि के फलस्वरूप परिवार, समाज और राष्ट्र में हिंसा, शोषण, भेद-भाव तथा दानवता का नंगा नाच होने लगता है। मानव, मानव न रहकर दानव बन जाता है।

जैन संस्कृति के वरिष्ठ विधायकों ने मानव को जीवन के इस संकुचित घेरे से बाहर निकालने के लिए, स्वार्थ को परमार्थ में परिवर्तित करने के लिए, दानवता को मानवता का रूप देने के

लिए मानव-जगत् को अहिंसा का अचूक प्रयोग बतलाया। मानव के अन्तर को झकझोरते हुए उन्होंने कहा — मानव! जब तक तू अपने-आप मे बन्द रहेगा, तो सुख शान्ति के तुझे कभी भी दर्शन नही हो सकते। कोरा अपने प्रति प्रेम जहर है, तेरा भी विनाश करेगा और दूसरो का भी विनाश करेगा। यदि तेरा यह प्रेम जन-जन के मन-मन तक पहुँच जाए, यदि तू विराट् रूप धारण कर प्राणिमात्र को अपने प्रेम की डोरी मे लपेट ले, आत्मसात् करले तो तेरा यह प्रेम अमृत बन जाएगा, स्व-पर के लिए मंगल वरदान बन जाएगा। तेरे मन के अन्तराल की गहराइयो मे से करुणा की अमृत-धारा फूट निकलेगी। जब तू व्यष्टि से निकलकर समष्टि के रूप मे सुख दुःख की बात सोचने लगेगा, तो तेरे जीवन मे अहिंसा का देवता जाग उठेगा! तेरा मन वचन-कर्म अहिंसा के मधुर सांचे मे ढल जाएगा और तू सच्चे अर्थो मे मानव बन जाएगा। तेरे परिवार, समाज तथा राष्ट्र मे सर्वत्र समता का, सुख का, शान्ति का सुखद-मंगल वातावरण बन जाएगा! इधर-उधर कही भी दुःख, भय, त्रास, शोषण, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, हाहाकार का अभिशाप नजर नही आएगा।

अहिंसा का मूल आधार : समत्व योग

अहिंसा-तत्त्व का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से करने पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि, अहिंसा की भावना आतंक-दर्शन तथा समत्व-योग से ही पैदा होती है। समत्व-योग ही अहिंसा का मूल आधार है। जो व्यक्ति दुःख से नहीं, दुःख के कारणो से बचना चाहता है, वह आतंकदर्शी है, अथवा दूसरो को दुःख देने मे जो अपना दुःख देखे, वह आतंकदर्शी है! आतंक-दर्शी ही समदर्शी-समत्व-योगी बन सकता है—यह अनुभव की कसौटी पर परखा हुआ एक निश्चित-निश्चल एवं स्थिर-स्पष्ट तथ्य है। दुःख अपने को अप्रिय है, तो सबको अप्रिय है—इस संवेदना, अनुभूति और आत्मा के समत्वयोग मे ही अहिंसा उपजती है। इसीलिए तो जैन-संस्कृति के उन्नायको तथा भाग्य विधाताओ ने एक दिन उद्घोषणा की थी —"अपने को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, तो दूसरो को भी सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। हिंसा अपने लिए अनिष्ट है, तो दूसरों के लिए भी अनिष्ट है—यह सोचकर दूसरो की हिंसा नही करनी चाहिए।[1]

समत्वयोग का मूलमंत्र : जीओ और जीने दो

अहिंसा की मूल-भावना प्राणि-मात्र को जीने का समान अधिकार प्रदान करती है। जिओ और जीने दो, यह अहिंसा का स्वर्णिम-सूत्र, जीवन के प्रति प्रत्येक प्राणी के अन्तर की आशा-आकाक्षा का आदर स्वागत करता है और जीने के लिए प्राणि-मात्र के दावे को हृदय से स्वीकार करता है—यही तो प्रत्येक प्राणी के मन-मानस की सहज, स्वाभाविक एवं प्रबल आकांक्षा है।

---

[1] आत्मवत्सर्व भूतेषु, सुख-दु:खे प्रियाप्रिये।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टा, हिंसामन्यस्य नाचरेत्॥

—आचार्य हेमचन्द्र

श्रमण भगवान् महावीर से एक जिज्ञासु साधक ने प्रश्न किया : भंते ! आपके शिष्य, ये निर्ग्रन्थ भिक्षु हिंसा का त्याग क्यों करते हैं ? अहिंसा का पथ क्यों अपनाते हैं ? अनेक भयंकर कष्ट और घोर यातनाएं सहन करते हुए भी इस दुर्गम विषम मार्ग पर क्यों चलते हैं ?

अहिंसा के उस परम द्रष्टा का सहज उत्तर था : आयुष्मन् ! संसार में सब जीव जीना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता ! सब अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते हैं, जूझते हैं, प्रयत्न करते हैं ! मरना कोई चाहता ही नहीं। इसीलिए निर्ग्रन्थ भिक्षु घोर जीव हिंसा का परित्याग करते हैं।[1] सब प्राणियों के जीवन की धारा एक है ! सभी प्राणी दीर्घायु चाहते हैं, सुख पसन्द करते हैं और दुःख से घबराते हैं ! सबको मरण अप्रिय है, जीवन प्रिय है ! सभी जीने की कामना करते हैं ! संसार में जीवन सब को प्यारा है।[2]

सब प्राणियों की आवाज एक है

जन-संस्कृति के महान् आचार्यों का यह साम्य मूलक स्वर भारत के मैदानों में गूंजता रहा है कि जीवन का मोह और मृत्यु का भय सब प्राणियों का एक समान है। सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता ! एक गन्दगी के कीड़े और स्वर्ग के अधिपति इन्द्र के अन्तर में जीवन की आकांक्षा समान है और मृत्यु का भय भी समान है ![3] जिन्दगी का मोह बराबर है ! सब प्राणियों की आवाज एक है। तुम अपने अन्दर दृष्टि डालकर देखो, अपने अंतर में झांक कर देखो कि, तुम्हारी चाह क्या है ? तुम्हारा आत्मा सुख चाहता है तो दूसरे की आत्मा सुख चाहती है। तुम्हें दुःख प्यारा नहीं तो संसार के अन्य जीवों को भी दुःख प्यारा नहीं ![4] जीवन को नापने का एक ही गज है।

समत्वयोग का उद्गाता ऋषि

जन संस्कृति के अमर उद्गाता ऋषि गर्दभालि ने राजा संयति को इसी समत्वयोग का सन्देश देते हुए कहा था—राजन् जैसे तुम गिड़गिड़ा रहे हो, पीपल के पत्ते की तरह थर थर कांप रहे हो, ऐसे

---

[1] सव्व जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं॥

—दशवैकालिक-सूत्र

[2] सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्ख-पडिकूला अप्पिय-वहा पिय-जीविणो जीविउ-कामा सव्वेसिं जीवियं पियं।

—आचारांग-सूत्र, १।२ ६२ ६३

[3] अमेध्य मध्ये कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालये।
समाना जीविताकांक्षा समं मृत्यु भयं द्वयोः॥

—आचार्य हेमचन्द्र

[4] जह मम न पियं दुक्खं, जाणिय एवमेव सव्व जीवाणं

—अनाचार्य

ही दूसरे सत्रस्त प्राणी भी दुःख से त्रास पाते हैं, गिडगिडाते है। जैसे तुम भयभीत हो रहे हो, ऐसे ही दूसरे प्राणी भी मरने से भय खाते हैं, घबराते हैं! मूक पशु, जो बेचारे अपना दुःख प्रकट भी नही कर सकते, उनके खून से तुमने अपने हाथ रंगे हैं! दूसरो को भय देकर, दूसरो की जिदगी लूटकर, दूसरों को मौत के घाट उतारकर, तुम निर्भय हो सकते हो, राजन्! पैर मे काटा लग जाए, तो तुम्हे न दिन मे चैन न रात को नीद ही आती। तो फिर, जिसकी गर्दन पर छुरी चलती है, बाण की चोट लगती है, तो क्या उनको पीड़ा नही होती? क्या उनका जीवन, जीवन नही है? क्या उनको अपने प्राण प्यारे नही हैं? सबके अन्दर एक ही चेतना की धारा बह रही है। सब सुख तथा निर्भयता चाहते हैं! जो दूसरो को हँसाएगा, वह हँसेगा, जो दूसरो को रुलाएगा, वह रोएगा, आसू बहाएगा। दूसरो को निर्भय करोगे, तो निर्भय बनोगे और दूसरो को भय दोगे तो, भय मिलेगा, जैसी ध्वनि, वैसी प्रतिध्वनि! हे पार्थिव! तुम्हे अभय है, डरो नही, गिडगिडाओ नही। यदि सचमुच, तुम निर्भय रहना चाहते हो, तो दूसरो को तुम भी अभय देने वाले बनो, निर्भय बनाओ। इस अनित्य-नश्वर ससार मे चार दिन की जिन्दगी पाकर क्यो हिंसा मे डूबे हो, क्यो दूसरो के खून से हाथ रगते हो।[1]

समत्वयोग से पाप-निवृत्ति

जैन-सस्कृति के महान् तीर्थकरो ने समत्व-योग पर बल देते हुए एक दिन तुमुल उद्घोष किया था, सब आत्माओ को अपनी आत्मा के समान समझो और जितने भी ससार के अन्य प्राणी हैं, उनमे अपने आपको देखो तथा ससार की सब आत्माओ को अपने अन्दर मे देखो![2] यदि तुम विश्व की समस्त आत्माओ मे अपने-आपको समझोगे, अन्य आत्माओ के अन्दर भी आत्म-दर्शन करोगे, तो उस स्थिति मे, यदि तुम किसी को कष्ट दोगे, तो तुम्हे यही अनुभूति होगी कि, मैं अपनी आत्मा को कष्ट दे रहा हूँ! किसी को गाली दोगे, तो यही तुम महसूस करोगे कि मैं अपने आपको गाली दे रहा हूँ! क्योकि सारे विश्व की आत्माओ मे मेरी आत्मा भी आत्मसात् है, तो किसी को कष्ट पहुँचाने अथवा गाली देने से अपनी चोट अपने ऊपर ही तो पडेगी। ससार के प्राणियो को अपनी आत्मा के समान मानकर यदि समूचे जगत् को तुमने एक विराट् रूप मे स्वीकार कर लिया, तो तुम्हारा जीवन विकार-वासनाओ से मुक्त होता चला जाएगा। कर्म के आस्रव का निरोध होता जाएगा, आत्म-दमन तथा इन्द्रिय सयम का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा, फिर ससार मे रहते हुए भी तुम्हे पाप-कर्म का बन्ध नही हो पाएगा। तुम्हारा जीवन निष्पाप हो जाएगा।[3]

---

[1] अभओ पत्थिवा! तुब्भ, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीव-लोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र १८।११

[2] सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।

वैकालिक-सूत्र, ४।९

[3] पिहिआसवस्स दतस्स पाव-कम्म न बधइ।"

—दशवैकालिक, ४।९

समत्वयोग बनाम आत्मोपमता

जिन बातों से जिन व्यवहारों से, जिन चेष्टाओं से हमें दुःख होता है वह बातें वह व्यवहार वह चेष्टाएँ हम दूसरों के प्रति भी कभी न करें — यह अनमोल शिक्षा हमें अहिंसा परक समत्व-योग से ही है।[1] जिन बातों से हमारे अन्तर में हर्ष एवं आनन्द की लहर दौड़ जाती है, उनसे दूसरों को भी लाभ प्राप्त हो ऐसा सक्रिय प्रयत्न हमारा होना चाहिए यह आत्मोपमता की बात हमें अहिंसा सिखलाती बतलाती है। जो तुम अपने लिए चाहते हो दूसरों के लिए —समूचे संसार के लिए भी चाहो और जो तुम अपने लिए नहीं चाहते उसे दूसरों के लिए भी मत चाहो मत करो।[1] —यह आत्म-दृष्टि जैन-संस्कृति की अहिंसा में ओत प्रोत होकर अखण्ड आत्म जगत् का उज्ज्वल अनुभूति का विराट आदर्श प्रस्तुत करती है।

समत्वयोग एक श्रेष्ठ आचरण

कहना न होगा कि, जैन-संस्कृति की अहिंसात्मक भावना के मूल में सर्वत्र साम्य-दर्शन तथा समत्व-योग का स्वर गूंज रहा है। समत्व-योग का अर्थ है—सब प्राणियों के साथ एक-रूप हो जाना अपने पराये का भेद न रहना। संसार में परायेपन का ही अर्थ है दुःख तथा हिंसा होना और साम्य भाव अथवा समत्व योग का ही अर्थ है सुख एवं अहिंसा होना। सुख दुःख की सारी परिभाषा समत्व तथा असमत्व पर ही केन्द्रित है।

दुःख के परिहार तथा सुख के स्वीकार के लिए प्रयत्नशील मानव को अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले इस साम्य दर्शन तथा समत्व-योग की भावना की उपासना करना ही होगी। संसार में सर्वत्र दृष्टि-गोचर होने वाले परायेपन के अंधेरे को दूर करने के लिए ही जैन-संस्कृति के ज्योतिधर आचार्यों ने अहिंसा को महाप्रदीप बतलाया था। जिसका अभिप्राय यह था—हमारे जैसा ही दूसरों को भी सुख दुःख मान अपमान तथा भोग-त्याग की अनुभूतियाँ होती है। क्योंकि सबके अन्दर वही एक चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है।[2] जैसे हमारे मन बुद्धि हृदय हैं ऐसे ही वह सब दूसरों के भी हैं। सब प्राणियों के साथ यह समत्व का व्यवहार ही सर्वश्रेष्ठ आचरण है।[3]

---

[1] जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि मा वा एत्तियगं जिणसासणयं ॥
—बृहत्कल्प भाष्य

[2] एगे आया—ठाणांग-सूत्र १ १

[3] सर्व-सत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमाचरणम्।
—आचार्य सोमदेव नीतिवाक्यामृत

जीव और चैतन्य को हम अभौतिक मान लेते है, तो उस नियम का उल्लघन होता है । विज्ञान ने सिद्ध किया है, कि शरीर भौतिक तत्त्वो से वना है, इसलिए भौतिक है। जीवन और चैतन्य का अधिष्ठान वही है। हम देखते है, कि भौतिक पदार्थों (जैसे अन्न, जल, गर्मी) आदि से जीवन शक्ति वढती है। अव यदि जीवन शक्ति, भौतिक शक्ति से भिन्न हे, तो इसका मतलव होगा, कि वढी हुई जीवन शक्ति के रूप मे नई शक्ति की उत्पत्ति हुई है। क्योकि उसे अभौतिक होने से भौतिक शक्ति (अन्न, जल, आदि से प्राप्त शक्ति) का रूपान्तर नही कहा जा सकता। हम यह भी देखते है, कि मानसिक इच्छाओ के कारण शरीर के अङ्गो का सचालन होता है। यहाँ भी मन या चैतन्य अभौतिक मानने का मतलव होगा, कि शारीरिक क्रियाओ के रूप मे व्यक्त भौतिक शक्ति मन की इच्छाओ मे अभौतिक शक्ति से उत्पन्न नई शक्ति है। क्यो कि भौतिक होने के कारण उसे अभौतिक शक्ति का रूपान्तर नही माना जा सकता। इस प्रकार जीव और चैतन्य को अभौतिक मानने का निष्कर्ष नई शक्ति की उत्पत्ति होती है। किन्तु ऐसा होने से विश्व की कुल शक्ति मे वृद्धि हो जाएगी, जो कि उपर्युक्त नियम के विरुद्ध है। अव, चूंकि वह नियम सत्य है, उसका विरोधी निष्कर्ष सत्य नही हो सकता। अत॰ जीव और चैतन्य को अभौतिक नही माना जा सकता।"[1] भौतिकवादियो के इस तर्क का निराकरण जैन दर्शन के आधार पर सहजतया हो सकता है। जैन-दर्शन के जिन तथ्यो का विवेचन हम कर चुके हैं, उनमे से इन तथ्यो को ध्यान मे रखना होगा।

१ पचास्तिकाय रूप विश्व का प्रत्येक अस्तिकाय "अस्तित्व" की दृष्टि से एक दूसरे से स्वतन्त्र हे। अत जीव और पुद्गल का अस्तित्व भी परस्पर स्वतन्त्र है।

२ सत् (वास्तविकता, की परिभाषा[2] मे ही प्रत्येक अस्तिकाय की "अनश्वरता" (Conservation) का नियम निहित है। पदार्थत्व की अपेक्षा से सत् उत्पन्न और नष्ट होता रहता है, फिर भी द्रव्यत्व को अपेक्षा से तो सदा ध्रुव ही रहता है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि पर्याय (अवस्था) के सतत प्रवाह मे प्रतिसमय परिवर्तन पाता हुआ भी पुद्गल द्रव्य सदा ही पुद्गल रहता है और जीव सदा जीव रहता है। न पुद्गल कभी जीव के रूप मे परिणत होता है और न जीव कभी पुद्गल के रूप मे।

३ पुद्गल–द्रव्य मे सभी पदार्थो का और भौतिक शक्तियो का समावेश हो जाता है। अत पुद्गल द्रव्य की अनश्वरता के नियम मे भौतिक पदार्थो और भौतिक शक्तियो के परस्पर रूपान्तरण का निषेध नही है। अव पदार्थ और शक्ति की सुरक्षा का नियम वैज्ञानिक जगत् मे सयुक्तरूप धारणा कर चुका है। इसके अनुसार विश्व के सभो प्रकार के भौतिक पदार्थ और भौतिक शक्ति की तुलाराशि सदा अचल रहती है। यह नियम केवल भूत तत्व पर ही लागू होता है। जैन-दर्शन आत्मा को पुद्गल से भिन्न मानता है। अत जैन-दर्शन मे आत्मा की अनश्वरता और पुद्गल की अनश्वरता के दो नियम बन गए हैं। प्रथम नियम के अनुसार पुद्गल तत्व, चाहे वह भौतिक पदार्थ के रूप मे हो या भौतिक शक्ति के रूप मे हो, द्रव्य की अपेक्षा से अक्षय और ध्रुव रहता है। दूसरे नियम के अनुसार जीव-तत्व द्रव्य की अपेक्षा से शाश्वत और अचल रहता है।

---

[1] दर्शन-शास्त्र की रूप-रेखा ५०७४

[2] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्

इन दा पथक नियमो के आधार पर ऊपर न्ए गए तक का सहजतया निराकरण हा जाता है। नरीर सम्बन्धी समस्त क्रियाए पौदगलिक है अत अन्न, जल और गर्मी जिस नक्ति का उत्पादन करत हैं वह भी पौद्गलिक ही है।

ऊपर दिए गए तक म जिस जीवन शक्ति को भौतिक नक्ति स भिन्न कहा गया है वह वस्तुत भिन्न नही है, वल्कि भौतिक (पौद्गलिक) ही है। क्योकि अन्नादि की परिणति रस रक्त वीय आदि म होती है, जो सारे पौद्गलिक है और इनक ही रूपान्तर को ऊपर 'जीवन शक्ति कहा गया है। उसी प्रकार मन या चतन्य से नारीरिक क्रियाओ का उत्पत्ति मानना भी गलत है। जन-दशन के अनुसार कम-पुद्गलो स आवृत और मश्लिष्ट आत्मा तो पौदगलिक क्रियाओ का केवल प्रेरक बनता है। नारीरिक क्रियाओ म जो शक्ति व्यक्त होती है वह कोई आत्मा म उत्पन्न नही होता बल्कि वह तो पौद्गलिक पदाथ और पौद्गलिक शक्तिया का ही रूपान्तर होता है। इसलिए चतन्य को अभौतिक मानने पर अनश्वरता का नियम जरा भी खण्डित नही होता।

दूसरे प्रकार से भी उक्त तक का खण्डन किया जा सकता है। जस यह तक तभी कारगर हो सकता है जब कि पहले यह मान लिया जाए कि जीव तथा जड सब की व्याख्या भौतिक रासायनिक नियमो द्वारा हो सकती है। क्योकि शक्ति की अनश्वरता का नियम भौतिक रासायनिक नियम ही ह।[1] किन्तु यह मान लेना तो भौतिकवाद का ही मान लेना है। अतएव यह तक भौतिकवाद को प्रमाणित करन क पहल ही उस मान लेता ह जो कि उचित नही ह। कुछ प्रमुख वज्ञानिको का मत ह कि उक्त नियम भौतिक रासायनिक जगत के पहल ही है जीव या चतन जगत के लिए नही है। उस हालत म तो निसदेह ही वह भौतिकवाद की पुष्टि नहीं कर सकता।[2] इस प्रकार भौतिकवाद के समथन म दिए जान वाले उक्त तक का निराकरण हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद चेतन की सत्ता का इन्कार तो नही करता किन्तु चेतन भूत के गुणात्मक परिवतन म अदभूत हो जाता है। द्वद्वात्मक भौतिकवादियो का कहना है कि पृथ्वी की आयु २० ००० लाख वष की है, जब कि मन (आत्मा) की आयु ५०० लाख वष पुरानी नही है अर्थात विश्व म पहले केवल भूत ही था और ५०० लाख वष पूव उस भूत के गुणात्मक परिवतन से चतन की उत्पत्ति हुई।[3] अब इस मान्यता का विचार यदि हम आधुनिक विज्ञान, जन-दशन और सामान्य तक के आलोक म करेंग तो सहसा ही इसकी निमूलता का पता चल सकता है।

---

[1] देखें एन इन्टोडक्शन टू फिलोसफी डबल्यू

जेससलेय ५ १४७

[2] दशनशास्त्र की रूपरेखा रजिन्द्रप्रसाद ५ ७८ ७६

भौतिकवाद के समथक तक और उसके निराकरण के लिए देखें वही पृ० ७२ ७६

[3] वज्ञानिक भौतिकवाद (प्रथम सस्करण ५ ३६)

आधुनिक विज्ञान न तो विश्व (Universe) को केवल पृथ्वी तक ही सीमित मानता है, और न जीवन को ही। पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य आकाशीय पिंडों पर भी जीव के अस्तित्व की सम्भावना की जा रही है और भावी अन्तरिक्ष-यात्राएँ सम्भवत इसके स्पष्ट प्रमाण उपस्थित कर सकेंगी ऐसी आशा की जाती है। पृथ्वी पर भी जीवन कब अस्तित्व मे आया, यह अब तक निश्चय नही हो पाया। भूत के गुणात्मक परिवर्तन मे जीव की उत्पत्ति क्यो और कैसे होती है। इसका कोई उत्तर वैज्ञानिक आधारो पर नही दिया जा सकता।[1] अत यदि यह मान भी लिया जाए, कि पृथ्वी पर "जीवन" का प्रारम्भ पृथ्वी की उत्पत्ति के बहुत समय बाद हुआ तो भी "भूत" के गुणात्मक परिवर्तन से ही "चेतन" की उत्पत्ति हुई, ऐसा किसी भी वैज्ञानिक आधार पर नही कहा जा सकता। यह तो केवल आनुमानिक कल्पना ही है।

सामान्य अनुभव के आधार पर भी उक्त मान्यता की असिद्धि सरलतया हो सकती है। सामान्य अनुभव हमे यह बतलाता है, कि "जीव" और "भूत" इन दोनो तत्वो मे गुणो की मौलिक भिन्नता है। आत्मा के चैतन्य गुण का भूत मे सर्वथा अभाव है। जिस पदार्थ मे जिस गुण का सर्वथा अभाव हो, वह गुण किसी भी प्रकार से परिवर्तन द्वारा प्रकट नही हो सकता। तर्क-शास्त्र मे उपादान की यह मर्यादा सर्वमान्य है। अत गुणात्मक परिवर्तन का उक्त प्रकार का सिद्धान्त ही गलत हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी हम अनुभव करते है, कि जब आज भी जीवन की उत्पत्ति भूत पदार्थ से होनी शक्य नही है, तो अतीत मे ऐसा हुआ है, यह कैसे माना जा सकता है।

अब यदि जैन दर्शन के आलोक मे उक्त मान्यता का अवलोकन किया जाए, तो सहसा इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जाती है। जैन दर्शन बतलाता है, कि आत्मा और पुद्गल, ये दोनो तत्व सदा से इस विश्व मे थे और सदा रहेगे। दोनो के अस्तित्व को अनादिकालीन माने बिना "विश्व—आयु" सम्बन्धित अनेक प्रश्नो का समाधान नही मिल सकता। अब यदि विकास-वादियो द्वारा कथित पृथ्वी की जीवन-विकास की कहानी को सत्य माना भी जाए, तो भी यह मानना जरूरी नही है, कि "भूत" ही स्वय परिवर्तित होकर चेतन का रूप धारण कर विकसित हो रहा है। जैन दर्शन के काल-चक्र का सिद्धात यह तो निरूपण करता ही है, कि विकास और ह्रास का क्रम विश्व के कुछ क्षेत्रो मे चलता रहता है। 'पृथ्वी' के आदिकाल मे पौद्गलिक परिस्थितियो की प्रतिकूलता के कारण जीवो के उत्पन्न होने के योग्य योनियो के अभाव मे यहाँ जीवन का अभाव हो, यह सम्भव है। बाद मे जैसे-जैसे जीवनानुकूल स्थिति बनी और जीवो के उत्पादन होने के योग्य योनियो का प्रादुर्भाव हुआ, तो जीव उसमे आकर जन्म लेने लगे। ऐसे ही सम्भवत जीवन विकास का क्रम बना हो। इस प्रकार भूत के गुणात्मक परिवर्तन से चेतन की उत्पत्ति को मानने के बजाए जीव और भूत को पृथक्-पृथक् सत्ता के रूप मे स्वीकार करना तर्क सगत है।

इस चर्चा के निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है, कि भौतिकवाद, चाहे वह प्राचीन रूप मे हो, या नवीन रूप मे विश्व क्या है ? का जो उत्तर प्रस्तुत करता है, वह न्याय सगत नही है। केवल भूत को चरम वास्तविक मान लेने से "विश्व क्या है" ? की पहेलिका सुलझ नही सकती।[2]

★

---

[1] दर्शनशास्त्र की रूपरेखा ५-७८

[2] विस्तृत चर्चा के लिए देखें लेखक द्वारा लिखित "विश्व-पहेलिका"

जीवन मे अनेकान्त

●

श्री मनोहरमुनिजी शास्त्री साहित्यरत्न

अनेकान्त-वाद जैन दर्शन की मौलिक देन है। प्रत्येक वस्तु अपने आप मे अनेकान्त है। उसका एक गुण और एक स्वरूप नहीं है। उसके अनन्त गुण धर्मो को स्वीकार करके ही हम उसके सही रूप को जान सकते है। किन्तु जब हम किसी आग्रह के वशीभूत होकर उसके दूसरे गुण धर्मों को स्वीकार करने के लिए इन्कार कर देते हैं तभी हम सत्य से दूर हटकर अंधकार मे भटक जाते हैं। परिणाम मे हम सिक्के का एक ही बाजू देख सकते है। दूसरी बाजू हमसे अछूती रह जाती है। यह एक प्रकार का कानापन है। दर्शन जगत की भाषा मे इसे एकान्तवाद कहा जाता है और यही संघर्ष की जड है। जब कोई कह उठता है सिक्के की यही बाजू सही है दूसरी गलत तब हम समझ लेते है इसका नाजुक मन अक्ल का बोझ उठाने मे असमर्थ है। यह कैसे संभव है कि सिक्के की एक बाजू देखकर उसे सही मान लिया जाए। आपके दिमाग मे भले ही सही हो पर बाजार मे वह चल नही सकता।

जैन दर्शन यहां कहता है चिंतन के क्षेत्र मे तुम एक सीमा तक पहुँच जाते हो वहां पहुँच कर जब तुम यह कह उठते हो कि मैंने सत्य का सर्वांगीण दर्शन कर लिया है तो तुम एक बहुत बडी गलती कर जाते हो। यह तो ऐसा हुआ कि हिमालय के एक शिखर पर पहुँच कर कोई यह कह बैठे मैंने हिमालय के विराट रूप का सर्वाङ्गीण साक्षात्कार कर लिया है। यह पूर्ण नहीं अर्ध सत्य है। तुम यह कह सकते हो मैंने सत्य के एक शिखर का दर्शन किया है पर दूसरे भी शिखर है वे इससे भी विराट है और इससे भी महान् है। इस विनम्रता की वाणी मे जब तुम बात करते हो तो समझा जा सकता है तुमने सत्य की एक किरण पायी है और वह भली लगती है। क्योंकि उसमे आग्रह की बू नहीं है जो कि सत्य के शिव रूप को अशिव बनाती है।

पदार्थ-विज्ञान हो, या आत्म-विज्ञान, धर्म-विज्ञान हो या जीव-विज्ञान, सभी क्षेत्रो मे जैन-दर्शन ने साधक को आग्रहवादी होने से वचाया है। जव पदार्थ-विज्ञान का सवाल आया, तो कुछ चिन्तको ने बताया कि अमुक पदार्थ का एक गुण धर्म निश्चित है। जैसे उसने पृथ्वी के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा—उसमे गध का ही गुण है।[1] पानी का गुण केवल स्निग्धता है।[2] और हवा मे केवल स्पर्श का तत्व है।[3] तव अनेकान्तवाद ने धीरे से समझाया, आप जरा गलती पर हैं। पृथ्वी मे गध तो है ही, साथ ही उसमे स्पर्श, रस और वर्ण भी है। इसी प्रकार जल, वायु और वनस्पति तत्व भी पाच भौतिक गुणो मे व्याप्त हैं। क्योकि ये परमाणु के गुण हैं और हर परमाणु मे एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो अविरोधी स्पर्श अवश्यभावी है। पदार्थ-विज्ञान पर जैन दर्शन ने गहरा चिन्तन दिया है। उसने कहा है—परमाणुओ मे भी परिवर्तन का नर्तन चालू है। परमाणु अपने समान गुण-धर्म वाले परमाणुओ को अपनी ओर आकर्षित करता है। इसीलिए वे मिलते और बिछुडते हैं।

इसी प्रकार आत्मविज्ञान मे भी अनेकान्तवाद ने मानव को अनाग्रही बनाया है। नित्यत्व और अनित्यत्व के प्रश्न पर जहाँ कितने ही दर्शन एकान्त के सिरे पर पहुँचकर दुराग्रही बन गए, वहाँ जैन दर्शन ने चिन्तन की एक नई-दिशा देते हुए कहा—विश्व का हर पदार्थ एक और अनेक रूप मे है। उसमे एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते हैं, तो दूसरी ओर वही पदार्थ हमे प्रतिक्षण, प्रतिपल परिवर्तित हुआ दृष्टिगोचर होता है।

वस्तु के ध्रुवत्व की ओर हमारा दृष्टि-बिन्दु टिकेगा तो हम उसके शाश्वत सौन्दर्य का दर्शन करते है, किन्तु जव हम उसके स्तर रूपो की ओर दृष्टिपात करते है, तो हमे वस्तु प्रतिक्षण विनाशी दृष्टिगोचर होगी। आचार्य हेमचन्द्र भी द्रव्य और पर्याय का विभेद करते हुए कहते हैं—

जव वस्तु के भेद-प्रभेदो पर हमारी दृष्टि जाती है, तो वस्तु का खण्ड रूप हमारे सामने आता है। किन्तु जव भेद-प्रभेद रहित मूल स्वरूप पर हमारी दृष्टि जाती हे, तव उसका अखण्ड रूप हमारे सामने आता है। इसी अर्थ मे हम आत्मा के दर्शन करना चाहेंगे और उसके भेद प्रभेद रहित रूप को चिन्तन पथ मे लाते हैं, तो हमे अनन्त अनन्त आत्माओ के वीच एक आत्म-तत्त्व के दर्शन होते है। इस तत्त्व दर्शन को हम "एगे आया" या आत्मा द्वैतवाद के रूप मे पहचानते है और जव हमारी दृष्टि भेदानुगामिनी होती है, तव हम आत्मा के नर, नारक, देव और तिर्यञ्च रूप अथवा सुखी-दुखी आदि अवस्था भेदो के दर्शन करते हैं। दार्शनिक शव्दावली मे भेद-गामिनी दृष्टि पर्यायास्तिक दृष्टि कही जाती है और अभेद-गामिनी दृष्टि द्रव्यास्तिक दृष्टि कही जाती है।

---

[1] गधवती पृथ्वी—सिद्धान्त मुक्तावली

[2] रसवत्य आपः

[3] स्पर्शवद् वायु:—सिद्धान्त मुक्तावली

[4] अपर्यय वस्तु समस्यमान
अद्रव्य मेतच्च विविच्यमानम्। (अन्ययोग व्यवच्छेदिका—२२ वीं कारिका)

मूर्ति और मुँहपत्ति के प्रश्न ने हमारे टुकडे कर दिए। जैन-दर्शन आत्मा का पुजारी है। मूर्ति और मुँहपत्ति तो केवल माध्यम है। यदि हम चैतन्य पूजा का दावा करते है और मूर्ति का तिरस्कार करते है, तो प्रश्न सामने आएगा कि मूर्ति जड है, तो मुँहपत्ति कहाँ चैतन्य है? तो फिर क्यो मुँहपत्ति देखते ही हम झुक पडते है और उसके हटते ही हमारा सारा प्रेम घृणा मे बदल जाता है। क्या यह जड-पूजा नही हुई? हमारे चैतन्य के उपासक यह मानते है कि मुँहपत्ति के अभाव मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र सभव नही है। या मूर्ति पूजा के अभाव मे केवल ज्ञान रुक जाएगा? जब हम सिद्धान्तत यह स्वीकार कर लेते है कि अन्य तीर्थ और अन्य लिग मे भी मुक्ति सभव है, तो फिर इन प्रश्नो को लेकर सघर्ष करना कहाँ की बुद्धिमानी है।

इसी प्रकार सवस्त्र और निर्वस्त्र के सघर्ष भी तथ्यहीन है। मुक्ति तो अनासक्ति मे है फिर आसक्ति वस्त्रो मे हो या शरीर मे, सर्वत्र बाधक ही रहेगी। फिर वस्त्र से ही झगडा क्यो? ऐसे ही थोथे सघर्ष है, दया और दान के प्रश्न के। निश्चय और व्यवहार के तत्त्व को ठीक ढग से न समझने के कारण ही ये झगडे है। वास्तव मे मूर्ति या मुहपत्ति सवस्त्रता और निर्वस्त्रता मोक्ष प्राप्ति मे उतने बाधक नही है, जितने कि इनके पीछे रहे हुए वैयक्तिक अहवाद। इस अहवाद से पथवाद का जन्म होता है और वही सघर्षो की जड है। उस जड को तभी उखेडा जा सकता है, जबकि अनेकान्त को सही रूप मे समझा जाए। विरोध मे अविरोध देखने की दृष्टि ही तो जैन-दर्शन की मौलिक देन है। क्योकि उसका जन्म ही विरुद्ध दृष्टियो के बीच हुआ है। आचार्य सिद्धसेन के शब्दो मे कहे तो जैन दर्शन मिथ्या दर्शनो का विलक्षण समूह है।[1]

यदि अनेकान्त को दर्शन के बीहड वन से निकाल कर जीवन की समतल भूमि पर ले आएँ, तो हम जीवन का सही दर्शन पा सकते है। जिसमे सघर्ष नही, समन्वय के दर्शन होगे। जब हम विभेदो मे अभेद की दृष्टि पाएँगे, तभी जीवन के यथार्थ मूल्यो को सही रूप मे पहचान सकेगे।

---
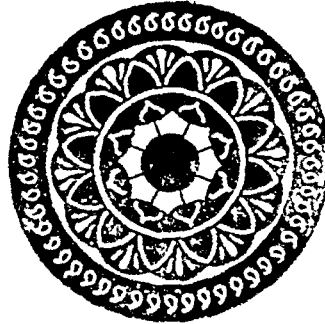
[1] भद्दं मिच्छादसण समूह मइयस्स अमय-सारस्स।
जिण-वयणस्स भगवओ सविग्गा सुहाहिगम्मस्स॥
—सन्मति प्रकरण ३-६९

धारणा बनी हुई है कि अहिंसा केवल धार्मिक क्षेत्र की वस्तु है। राजनैतिक क्षेत्र मे उसका प्रवेश कैसे हो सकता है। इसके लिए मै नम्रतापूर्वक कहूँगा कि वे इस प्रकार के भ्रामक जाल मे न उलझें। मानवीय जीवन के जितने भी क्षेत्र व विषय है, उन सब मे अहिंसा का अप्रतिहत प्रवेश है। धर्म, राजनीति, अर्थनीति समाज, व्यापार, अध्यात्म, शिक्षा, स्वास्थ्य और विज्ञान आदि सभी मे अहिंसा की आत्मा है। अहिंसा का मधुर स्वर है। उक्त सभी क्षेत्र अहिंसा की क्रीडा भूमि रहे है। वह किसी सीमा या काल की परिधि मे ससीमित नही है।

कतिपय राजनैतिको का एक स्वर यह भी है कि शासन जैसे कठोर मार्ग मे यदि अहिंसात्मक नीति को अपनाया गया और जनसमुदाय के साथ नम्रतापूर्ण आचरण किया गया, तो राजकीय दृष्टि से नियत्रण कठिन हो जाएगा। बिना दण्ड पद्धति के अन्याय किस प्रकार रुक सकेंगे। इसके उत्तर मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अहिंसा के प्रयोगो द्वारा महात्मा गाधी ने चालीस करोड जनता को, चिरकाल तक की पराधीनता के पश्चात् स्वाधीनता का अनुगामी बनाया, जिसको जनता जनार्दन ने स्वय अनुभव किया है। गाधी युग की स्वाधीनता की देन तो अविस्मरणीय है ही, पर इससे भी गाधी के दर्शन से स्वभावत जो अहिंसात्मक वायुमण्डल की विश्व व्यापी सृष्टि हुई है, वह अधिक मूल्यवान है। उनकी राजनीतिक अहिंसा ने कम से कम ऐसा वातावरण तो उत्पन्न कर ही दिया है कि आज हमे अहिंसा व उसकी अक्षुण्ण शक्ति के लिए विश्व को अधिक समझाने की आवश्यकता नहीं है।

अहिंसा और विज्ञान

अहिंसा-तत्त्व मानवीय जीवन के आन्तरिक पक्ष को सुदृढ बनाने वाला है तो विज्ञान मानवीय जीवन के बाह्य पक्ष को। एक आध्यात्मिक भावना से अनुस्यूत है, तो दूसरा भौतिकवाद के सुरंगे रग मे अनुरजित। आज विज्ञान ने बाहर की सुख-सुविधाएँ खूब बढाई, मानव के रहन-सहन के स्तर को ऊपर उठाया और युद्धादि की सहारक शक्ति का भी पर्याप्त विकास किया। पर इनसे मानव को आत्मिक लाभ क्या मिला? यह एक ज्वलत प्रश्न है, जिस पर गहराई से चिन्तन करना है। आज विश्व ऐसे संक्रान्ति काल मे गुजर रहा है कि उसके सन्मुख विविध समस्याएँ मुँह बाए खडी है। एक ओर विश्व-शान्ति की समस्या तो दूसरी ओर अणु अस्त्रो के निर्माण की प्रतिद्वन्द्विता, जिसने राष्ट्र के विचारशील नेताओ को चिन्तित बना डाला है। कोई भी राष्ट्र निर्भय प्रतीत नही होता। आणविक युद्धो से सारा विश्व अशात है। न जाने कब किस प्रलय की आधी मे समाप्त हो जाएगे, इस आशका मे मानव समाज के प्राण थिरक रहे हैं। इसी सवेदना मे वैज्ञानिक मूर्धन्य प्रो० आईस्टाइन की अन्तिम आह से मानव समाज के लिए यह सदेश निकला था—'हम मानव होने के नाते अपने मानव बन्धुओ से अनुरोध करते है कि आप अपनी मानवता को याद रखे और शेप सब कुछ भूल जाएँ। यदि आपने ऐसा किया, तो आपके समक्ष स्वर्ग का अभिनय द्वार खुल जाएगा। यदि आप ऐसा नही कर सके, तो ससार की सार्वभौम मृत्यु का खतरा आपके सामने होगा"।[1]

---

[1] **We appeal as human beings to human beings. Remember your humanity and forget the rest If you can do so the way lies open to a new paradise. If you can not do so there lies before you the risk of universe death**
—Elbert Enstiens, July 1955

अहिंसा और विज्ञान

जन-समाज ने विज्ञान का परिणाम जितना अभिलषित समझा था वह उतना नही निकला। भले ही विज्ञान प्रारम्भ मे आकर्षक व भव्य लगता हो पर उसका परिणाम जब मानस के सम्मुख आता है तब उसे परिताप-सताप हुए बिना नही रहता। इस दिशा मे सबका चिंतन व अनुभव एक-सा न हो पर आणविक अस्त्रो की भयकर प्रतिक्रियाओ मे प्रो० आइस्टाइन की आत्मा आज भी बोल रही है। यह बतलाया जाता है कि जब अमेरिका के तात्कालिक प्रेजिडेंट रुजवेल्ट को आणविक बम बनाने की सिफारिश करने के लिए जो पत्र लिखा गया था उसमे आइस्टाइन ने भी अपने हस्ताक्षर किए थे। परन्तु जब उन बमो की विनाश लीला उनके सम्मुख आई तब उसकी मानवीय-आत्मा तडफ उठी और मृत्यु के पूर्व आइस्टाइन ने उन हस्ताक्षरो को अपने जीवन का सबसे बडी भूल कहा।

वस्तुत अणु-युग की अणुशक्ति ने मानव को एक भयकर स्थिति मे डाल दिया है। जहाँ एक ओर वह मानव-समाज को चन्द्रलोक मे पहुँचाने का उपक्रम कर रही है वहाँ दूसरी ओर यमलोक की तैयारी भी। आज आणविक अस्त्रजनित विकीर्ण रेडियो सक्रिय धूलि से—विश्व का वातावरण अत्यन्त दूषित बनता जा रहा है। वैज्ञानिको की खोज के अनुसार कहा जाता है कि रेडियो सक्रिय का वातावरण मानव जाति पर ही नही वरन् हवा पानी मिट्टी ऋतु समुद्र वनस्पति आदि सभी पर उसका बुरा प्रभाव पड रहा है। यहाँ तक कि मानव की प्रजनन शक्ति पर भी उसका प्रभाव पडे बिना नही रहेगा। और फिर तो मानव की भावी सतति का भविष्य अधकारमय ही समझिए। इतना होने पर भी बडे-बडे राष्ट्रो का ध्यान इस ओर कम ही केन्द्रित हुआ है और दिनानुदिन नये-नये परीक्षणो की घुड दौड प्रारम्भ है।

यदि इस आधुनिक युग मे मानव जाति का वास्तविक त्राण खोजा जाए तो वह अहिंसा मे ही मिल सकता है। विज्ञान अब तक इन ध्वसात्मक अस्त्रो का प्रतिकार करने मे असमर्थ रहा और निकट भविष्य में भी आशा नही की जा सकती। ऐसी स्थिति मे विज्ञान के साथ अहिंसा का शान्तिकारी सिद्धान्त सलग्न करना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है।

सारांश—विज्ञान जहाँ नये नये आविष्कारो के द्वारा प्रकृति के रहस्यो का समुद्घाटन करता है तथा आणविक शक्ति के परीक्षणो मे अपना अभिनव अनुभव बढाता है वहाँ अहिंसा उनके द्वारा होने वाले विनाशो को रोकने का सुप्रयास करती है। अत उक्त दृष्टि से अहिंसा को हम विज्ञान का सन्चरी कहे तो अतिशयोक्ति नही होगी।

जैन दर्शन की अपूर्व देन : स्याद्वाद

महासती पुष्पवती साहित्यरत्न

सत्य अनन्त है, और अनन्त रूप मे ही उसके विराट् रूप के दर्शन किए जा सकते है, उसे देश, काल व सम्प्रदाय की सकीर्ण सीमाओ मे आवद्ध नही किया जा सकता। सत्य जब असीम है, तब उसे ससीम बनाया भी कैसे जा सकता है। अनेक रूपात्मक सत्य को अनेक रूपो मे ग्रहण करना अनेकान्त है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार शिला है।

अनेकान्तवाद एक दृष्टि है, एक विचार है। विचार जगत का अनेकान्तवाद जब वाणी मे उतरता है, तब वह स्याद्वाद कहलाता है। "स्याद्वाद मे स्याद् शब्द का अर्थ है अपेक्षा या दृष्टिकोण, और वाद शब्द का अर्थ है सिद्धान्त या प्रतिपादन"। दोनो शब्दो से मिलकर बने हुए प्रस्तुत शब्द का अर्थ हुआ, किसी वस्तु, धर्म गुण या घटना आदि का किसी अपेक्षा से कथन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद का अपर नाम अपेक्षावाद भी है, जिसका अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार करना।

प्रत्येक पदार्थ मे अनेक धर्म है, उन सभी धर्मो का यथार्थ परिज्ञान तभी सभव है, जब अपेक्षा दृष्टि से विचारा जाए। दर्शन शास्त्र मे नित्य-अनित्य, सत्-असत, एक-अनेक, भिन्न-अभिन्न, वाच्य-अवाच्य आदि, तथा लोक-व्यवहार मे—स्थूल-सूक्ष्म, स्वच्छ-मलिन, मूर्ख-विद्वान, छोटा-बडा आदि ऐसे अनेक धर्म हैं, जो सापेक्षिक है। जब हम उन धर्मो मे से किसी एक धर्म का कथन करना चाहेगे, तो अपेक्ष दृष्टि से ही सभव है। क्योकि कोई भी एक शब्द वस्तु के सम्पूर्ण धर्मो की अभिव्यक्ति नही कर सकता। अत विभिन्न शब्दो के माध्यम से ही विभिन्न धर्मो का प्रतिपादन किया जा सकता है।

अपेक्षा दृष्टि से विश्व के समस्त पदार्थ एक, और अनेक रूप हैं। उनमे एक ओर नित्यत्व के दर्शन होते है, तो दूसरी तरफ अनित्यत्व के। वस्तु के ध्रुव तत्त्व की ओर जब दृष्टि केन्द्रित होती है, तब वस्तु

के शाश्वत सौ॰दय के सदर्शन हाने है और उत्तर गुणा की आर दृष्टिपात करने पर प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तित रूप दिखलाई दता है। आचाय हेमच॰द क ॰ादा म 'जब हमारी दृष्टि भ॰-गामिनी बनती है तब वस्तु का परिवतन हान वाला रूप सामने आता है और जब दृष्टि अभेदगामिनी बनती है तब वस्तु का अखण्ड रूप दृष्टि पथ म आता है[1] जब हम आत्मा के अभेद रूप का चि॰तन करत है तब अनन्त अन॰त आत्माओ म एक आत्म-तत्व[2] के दशन होन है आर भद दृ॰ि स चिन्तन करन पर एक ही आत्मा म अनक पर्याय दिखलायी दती है। दार्शनिक ॰ादा म   भ॰-गामिनी दृष्टि पर्याय-दृष्टि है और अभेद गामिनी दष्टि द्रव्यास्तिक दृष्टि है।

पर्याय दृष्टि पदाथ के प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तित होन वाल रूप को स्वीकार करती है और द्रव्य दृष्टि नित्य अ॰ा को। पर विश्व व्यवस्था उभय क सम॰वय म ही सभव है। आचाय सिद्धसेन ने एक युवक का रूपक ॰िया है 'एक युवक बचपन से सवथा भिन्न भी नही है। क्योकि वह बचपन की सुमधुर स्मतियो म जीता है   और उसके साथ पूण सम्ब ध भी नही है अत उस बालक भी नही कह सकत।'[3] जीवन की यही भेदाभेद गामिनी दृष्टि पदाथ के यथाथ स्वरूप को पा सकती है। आत्मा ही नही ससार के समस्त प॰ाथ भदाभेद रूप म अवस्थित है। पर्याय दृष्टि मे उसम उत्पत्ति और विगम प्रारम्भ है तो द्रव्य दृष्टि से वह सदा-सवदा ध्रुव है। आचाय श्री हमच॰द्र न पदाथ का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा है अनित्य प्र॰ीप और नित्य आकाश दोना का एक स्वभाव है। पदाथ मात्र उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है एक नित्य है ॰ाश्वत है और दूसरा अनित्य ह यह कहना बुद्धि की विडम्बना है।[4] दीपक नित्य भी हो मकता है और आकाश अनित्य भी   समस्त प॰ाथ द्रव्य दष्टि स नित्य है और पर्याय दृष्टि से अनित्य हैं। एक घडा फूट जाता है। अत वह अनित्य है पर टुकडा म भी म॰द्र॰य अनुगत है। अत वह अनित्य भी है।

द्र॰य दृष्टि या पर्याय दष्टि दोना का उद्दश्य वस्तु क यथाथ स्वरूप का ॰ान कराना है। परस्पर विरोधी स्वभावो को भी तत् तत अपक्षा मे स्वीकार कराना है। द॰न शास्त्र के दिवाकर आचाय सिद्धसन के ॰ा॰ म— जितन वचन पथ हैं उतन ही नयवाद है और जितन नयवा॰ हैं उतन ही पर

---

[1] अपयय वस्तु समस्यमान मद्र॰य मेतच्च विविच्यमानम्।

—अ॰ययोग व्यवच्छेदिका २३

[2] एगे आया—स्थानाङ्ग

[3] पडिपुण्ण जो॰वणगुणो जह लज्जइ बालभाव चरिएण।
कुणइ य गुण-पणिहाण अणागय सुहो वहाणत्थ

—स॰मति तक १ ४३

[4] आदीपमाव्योम समस्वभाव, स्याद्वादमुद्रानतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवक मनित्यम॰य—दिति त्वदाज्ञा द्विषतां प्रलापा ॥

—अ॰ययोग व्यवच्छेदिका ५

समय है, सभी नय अपनी सीमा मे सत्य है, पर जब वे दूसरे को असत्य घोषित करते है, तब मिथ्या बन जाते है, किन्तु अनेकान्तवादी नयो के मध्य सम्यक् और मिथ्या की विभेद रेखा नही खीचता। उपाध्याय यशोविजय जी ने लिखा, "सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नही करता, वह सम्पूर्ण नयरूप दर्शनो को इस प्रकार वात्सल्य से देखता है, जैसे कोई पिता अपने प्यारे पुत्रो को देख रहा हो।

जैन दर्शन का यह वज्र आघोष है, कि प्रत्येक चिन्तन सापेक्ष्य होना चाहिए। अनेकान्तवादी सम्यग् दृष्टि है और एकान्तवादी मिथ्या दृष्टि है। जिन समस्याओ को एकान्तवादी वर्षो तक नही सुलझा सकता, उन समस्याओ को अनेकान्तवादी एक क्षण मे सुलझा देता है। वह मानव को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र चिन्तन प्रदान करता है। "ही" की कैद से मुक्तकर "भी" के नन्दन वन मे विहार कराता है। विचार सहिष्णु बनाता है। एतदर्थ ही आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्पूर्ण विरोधो का शमन करने वाले अनेकान्तवाद को नमस्कार किया है।[1]

स्याद्वाद के सही अर्थ की उपेक्षा कर भारत के महान् दार्शनिक विज्ञो ने उस पर मिथ्या आरोप लगाए हैं। बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने स्याद्वाद को पागलो का प्रलाप कहा और जैनो को निर्लज्ज बताया।[2] शान्तरक्षित ने भी लिखा "स्याद्वाद जो कि सत् और असत् एक और अनेक, भेद और अभेद सामान्य और विशेष जैसे परस्पर विरोधी तत्वो को मिलाता है, पागल व्यक्ति की बोखलाहट है"[3] इसी तरह आचार्य शकर ने भी स्याद्वा पर पागलपन का आरोप लगाते हुए लिखा "एक ही श्वास शीत और उष्ण नही हो सकता। भेद और अभेद, नित्यता और अनित्यता, यथार्थता और अयथार्थता, सत् और असत्, अधकार और प्रकाश की तरह की एक ही काल मे एक ही वस्तु मे नही रह सकते"[4] डा० राधाकृष्णन ने उसे अर्ध सत्य कहकर त्याज्य बताया। स्याद्वाद का उपहास करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा "दही, दही भी है और ऊँट भी, तो दही खाने के समय ऊँट खाने को क्यो नही दौडते[5]" इस प्रकार अनेक आरोप स्याद्वाद पर लगाए गए हैं, पर चिन्तन करने पर वे सभी निराधार प्रतीत होते है।

प्रश्न है, कि एक ही वस्तु मे नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्म कैसे रह सकते है? उत्तर मे नम्र निवेदन है, कि स्याद्वाद यह नही कहता, कि जो नित्यता है वही अनित्यता है अथवा जो एकता है, वही अनेकता है। किन्तु स्याद्वाद का कहना है, कि एक दृष्टि से एक पदार्थ

---

[1] परमागमस्य बीज निषिध्य जात्यंधसिन्धुरनिधानम्।
सकलनय विलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥

—पुरुषार्थ-सिध्युपाय २

[2] प्रमाण वार्तिक १, १८२—१८५

[3] तत्त्व सग्रह ३११—३२७

[4] शाकर भाष्य २।२।३३

[5] दर्शन दिग्दर्शन —राहुल सांकृत्यायन

आज का युग वैज्ञानिक युग है, विज्ञान के कारण यत्र-तत्र विजली का प्रचार हो रहा है। पखे, वल्ब और स्टोव सभी मे विजली दौड रही है, पर सभी का व्यवहार भिन्न भिन्न है। पखे मे उसकी चालक शक्ति कार्य कर रही है, वल्व मे उसका प्रकाश जगमगा रहा है और स्टोव मे उसका दाहक गुण काम कर रहा है। यदि यह सभव है, तो फिर वस्तु मे द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से नित्य और अनित्य का अस्तित्व क्यो नही सभव है ?

स्याद्वाद के मन्तव्यानुसार प्रत्येक पदार्थ "स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है तथा पर-द्रव्य-क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा असत् है। उदाहरण के रूप मे "एक घडा स्व द्रव्य मिट्टी की अपेक्षा से सत्-अस्तित्व युक्त है और पर द्रव्य प्लास्टिक आदि की अपेक्षा से असत् है अर्थात्-घडा, घडा है प्लास्टिक नही।

द्रव्य की तरह सत्य की सिद्धि के लिए क्षेत्र भी अपेक्षित है, जैसे भगवान् महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्ड नगर मे हुआ। भगवान् के जन्म की प्रस्तुत घटना "क्षत्रिय कुण्ड की दृष्टि से सही है। यदि कोई "पावा" कहेगा, तो असत्य होगी।

द्रव्य-क्षेत्र की तरह काल की भी अपेक्षा है। जैसे-भगवान महावीर का जन्म आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व हुआ। इसके अतिरिक्त अल्पकाल का कथन करना असत्य होगा। इसी तरह भाव भी अपेक्षित है। जैसे पानी मे तरलता होती है। इसका अर्थ है कि तरलता नामक भाव से ही पानी की सत्ता सिद्ध होती है, नही तो वह हिम, वाष्प या कुहरा ही होता, जो कि पानी नही, पर पानी के रूपान्तर है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ की सत्ता स्वद्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है, पर द्रव्यादि की अपेक्षा से नही। जैसे स्वद्रव्यादि की अपेक्षा से उसमे अस्ति गुण है, वैसे ही पर द्रव्यादि की अपेक्षा से "नास्ति" गुण भी है। तात्पर्य यह है, कि स्याद्वाद का सिद्धान्त जिन पदार्थो मे जो-जो अपेक्षाएँ घटित होती है, उन्हे स्वीकार करता है, अपेक्षा रहित सिद्धान्त उसे मान्य नही है। अश्वशृ ग, आकाश कुसुम, और वन्ध्या-पुत्र के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु स्याद्वाद की अपेक्षा अपेक्षित नही है। क्यो कि इनकी तो सत्ता ही असिद्ध है। प्रस्तुत विचार-चर्चा का निष्कर्ष यह रहा, कि दार्शनिक क्षेत्र मे जिस प्रकार स्याद्वाद का सिद्धान्त उपयोगी है, उसी प्रकार व्यावहारिक क्षेत्र मे भी उसकी उपयोगिता कम नही है। वह सत्य-तथ्य का परिज्ञान कराने वाला अपूर्व मन्त्र है।

जैसे जैन दर्शन ने वस्तु की अनेकरूपता की स्थापना स्याद्वाद के आधार पर की, वैसे ही बौद्ध दर्शन ने भी विभज्यवाद के नाम पर, किन्तु अनुकूल वातावरण के अभाव मे वह वही पर मुरझाकर नष्ट हो गया। किन्तु स्याद्वाद के सिद्धान्त को समय-समय पर प्रताप पूर्ण प्रतिभा सम्पन्न आचार्यो ने अपने मौलिक चिन्तन से विकसित किया। भेदाभेदवाद, नित्यानित्य-वाद, निर्वचनीयानिर्वचनीयवाद, एकानेक-वाद, सदसद्वाद, सदसत्कार्यवाद प्रभृति जितने भी दार्शनिक क्षेत्र मे वाद है, उन सभी का मूल आधार स्याद्वाद है।

संस्कृति का स्वरूप

★

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल काशी हि वि. वि.

सस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देने वाली होती है। सास्कृतिक कार्य के छोटे-से वीज से वहुत फल देने वाला वडा वृक्ष वन जाता है। सास्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते है। अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमे अपनी सस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम जितने आवश्यक है, उनसे कम महत्त्व सस्कृति सम्वन्धी कार्यो का नही है। दोनो ही एक रथ के दो पहिए है, एक दूसरे के पूरक हे। एक के विना दूसरे की कुशल नही रहती। जो उन्नत देश है, वे दोनो कार्य एक साथ सम्हालते हें। वस्तुत उन्नति करने का यही एक मार्ग है। मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नही है।

सस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वाङ्गपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढग, हमारी सस्कृति है। सस्कृति हवा मे नही रहती, उसका मूर्तिमान रूप होता है। जीवन के नानाविध रूपो का समुदाय ही सस्कृति है। जव विधाता ने सृष्टि वनाई, तो पृथ्वी और आकाश के वीच विशाल अन्तराल नाना रूपो से भरने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ पड्ऋतु, उपा, सन्ध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश मे भर गए। ये देवशिल्प थे। देवशिल्पो से प्रकृति की सस्कृति भुवनो मे व्याप्त हुई। इसी प्रकार मानवी जीवन के उप काल की हम कल्पना करे। उसका आकाग मानवीय शिल्प के रूपो से भरता गया। इस प्रयत्न मे सहस्रो वर्प लगे। यही सस्कृति का विकास और परिवर्तन है। जितना भी जीवन का ठाठ है, उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घकालीन प्रयत्नो के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नही, पीढी-दर-पीढी आगे वढता ह। सस्कृति के रूपो का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अग है

समाज और संस्कृति

ससार म दश भेद से अनक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी सस्कृतिया भी अनक हैं। यहाँ नानात्व अनिवाय है वह मानवीय जीवन का झझट नही उसकी सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा म बध हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बध किसा एक सस्कृति स ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन मे रमी हुई होती है और उनका सस्कार करती है। यो ता ससार म अनक स्त्रियाँ और पुरुष है पर एक जन्म में जो हमारे माता पिता बनत हैं उन्ही के गुण हम म आत हैं और उन्ह ही हम अपनाते हैं। एस ही सस्कृति का सम्बध है वह सच्चे अर्थों म हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि स सस्कृति हमार मन का मन प्राणो का प्राण और शरीर का शरीर होती है। इसका यह अथ नहा कि हम अपन विचारा को किसी प्रकार सकुचित कर लत हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक सस्कृति के मम को अपनाते हैं उतन ही ऊँचे उठकर हमारा व्यक्तित्व ससार के दूसरे मनुष्या धर्मों विचारधाराओ और सस्कृतिया स मिलन और उन्ह जानन क लिए समथ और अभिलाषी बनता है। अपन केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नीव है। कहत हैं घर खीर ता बाहर भी खीर घर म एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक सस्कृति म जब हमारी निष्ठा पक्की होती है तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है हमारी उदारता का भण्डार भर जाता है। सस्कृति जीवन क लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अग है। सस्कृति राजनीति और अथशास्त्र दोना को अपन म पचाकर इन दोना म विलक्षण मानव मन को जन्म देती है। राजनीति म स्थायी रक्त सचार केवल सस्कृति क प्रचार ज्ञान और साधना म सम्भव है। सस्कृति जीवन के वृक्ष का सवधन करन वाला रस है। राजनीति के क्षत्र म तो उसक इन गिन पत्त ही दखन म आत हैं। अथवा यो कह कि राजनीति केवल पथ की साधना है सस्कृति उस पथ का साध्य है।

जागरूकता की आवश्यकता

भारतीय राष्ट्र अब स्वतन्त्र हुआ है। इसका अथ यह है कि हम अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवान रूप हम प्राप्त होगा वह अकस्मात् अपन आप आ गिरन वाला नही है। उसके लिए जानबूझ कर निश्चित विधि म हम प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र सवधन का सबसे प्रबल काय सस्कृति की साधना है। उसक लिए बुद्धिपूवक प्रयत्न करना आवश्यक है। देश क प्रत्यक भाग में इस प्रकार क प्रयत्न आवश्यक है। इस देश की सस्कृति की धारा अति प्राचीन काल म बहती आई है। हम उसका सम्मान करत हैं किन्तु उसके प्राणवत तत्त्व को अपनाकर ही हम आगे बढ सकते हैं। उसका जो जड भाग है उस गुरुतर बोझ को यदि हम ढाना चाहें ता हमारी गति म अडचन उत्पन्न होगा। निरन्तर गति मानव जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र जो एक पडाव पर टिक रहता है उसका जावन ढलने लगता है। इसलिए चरवेति चरवेति की धुन जब तक राष्ट्र के रथ चक्रों म गूजती रहती है तभी तक प्रगति और उन्नति होती है अन्यथा प्रकाश और प्राण वायु के कपाट बन्द हो जाते हैं और जीवन रुंध जाता है। हम जागरूक रहना चाहिए ऐसा न हो कि हमारा मन परकोटा खींचकर आत्म रक्षा की माध करन लग।

पूर्व और नवीन का मेल

पूर्व और नूतन का जहाँ मेल होता है, वही उच्च सस्कृति की उपजाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त मे कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनो ही ज्ञान रूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्तकाल की स्वर्णयुगीय भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है, वह केवल इसी कारण अच्छा नही माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नही। बुद्धिमान दोनो को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते है। जो मूढ हैं, उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरो के भुलावे मे आ जाते हैं। गुप्त-युग के ही दूसरे महान् विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्‌गार प्रकट किए थे—"जो पुरातन काल था, वह मर चुका। वह दूसरो का था, आज का जन यदि उसको पकडकर बैठेगा, तो वह भी पुरातन की तरह ही मृत हो जाएगा। पुराने समय के जो विचार है, वे तो अनेक प्रकार के है। कौन ऐसा है, जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किए विना अपने मन को उधर जाने देगा।"

जनोऽय मन्यस्य मृत. पुरातन पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु क. पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्॥

अथवा, "जो स्वय विचार करने मे आलसी है, वह किसी निश्चय पर नही पहुँच पाता। जिसके मन मे सही निश्चय करने की बुद्धि है, उसी के विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गए सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचार शक्ति टुटपुजिया है, ऐसा बाबा-वाक्य प्रमाण के ढग पर सोचने वाला मनुष्य केवल आत्म-हनन का मार्ग अपनाता है"—

विनिश्चय नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवान् प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति॥

"मनुष्य के चरित्र मनुष्यो के कारण स्वय मनुष्यो द्वारा ही निश्चित किए गए थे। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारो का दरिद्री बनकर हाथ मे पतवार लेता है, तो वह कभी उन चरित्रो का पार नही पा सकता जो अथाह है और जिनका अन्त नही। जिस प्रकार हम अपने मत को पक्का समझते है, वैसे ही दूसरे का मत भी तो सकता है। दोनो मे से किसकी बात कही जाए? इसलिए दुराग्रह को छोडकर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कसकर देखना चाहिए।" गुप्तकालीन सस्कृति के ये गूँजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ सशोधन और भार-मुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन मे भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण हमे ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहाँ तक कहा था कि राजा और ऋषियो के उन आदर्श चरित्रो को जिन्हे पिता अपने जीवन मे पूरा नही कर सके थे, उनके पुत्रो ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणां चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वै।

नये और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इसमें प्रगति का मार्ग खुला रहता है। अन्यथा भूतकाल कब्र में पड़े खटखट की तरह बार बार टकरा कर हमारी हड्डियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में फंसकर उसी को संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल की रूढ़ियों से ऊपर उठकर उसके नित्य अंश को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा का प्रकाश में भर देने वाला उसकी स्मृति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ाना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है तब वह अनेक दोषों से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारों की उलझन में फंस जाता है तब वह जीवन की किसी नयी पद्धति या संस्कृति को जन्म नहीं दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्व कालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व हैं उन्हें लेकर हम कर्म में लगें और नयी वस्तु का निर्माण करें। इसी प्रकार भूतकाल वर्तमान का खाद बनकर भविष्य के लिए विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पद-पद पर उसमें उलझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नये और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचार धाराएं फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं। हम अपने भूतकालीन साहित्य में आत्म-त्याग और मानव सेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में भी अध्यात्म भावों की प्रतिष्ठा और सौन्दर्य विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारों में से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा जो समन्वय मूल ज्ञान समवाय और सम्प्रीति के जीवन मंत्र की शिक्षा देता है जो विश्व के भावी सम्बन्धों का एक मात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशय वाले धार्मिक सिद्धान्तों को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मत विशेष का आग्रह नहीं है। रुचियाँ रुचि भेद से भिन्न होती हैं और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्न पूर्वक अपने आपको ऊँचा बनाना। जीवन को उत्थान वाले जो नियम हैं वे जब आत्मा में बसने लगते हैं तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य कला दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान सामग्री हमें मिल सकती है उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना यही सांस्कृतिक कार्य की उचित दिशा और सच्ची उपयोगिता है।

मगध और जैन-संस्कृति

डा० गुलाबचन्द्र चौधरी एम ए. पी. एच. डी. आचार्य

गौरव का केन्द्र

प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र मगध देश का गौरव पूर्ण नाम इतिहास के पृष्ठो मे स्वर्णाक्षरो मे अंकित है। यहाँ का इतिहास, नि सन्देह, न केवल भारत मे, बल्कि विश्व मे वे मिसाल रहा है। ऐसे विरले ही देश होगे, जहाँ मे एक साथ साम्राज्यचक्र और धर्मचक्र की धुराएँ अपने प्रबल वेग से शताब्दियो तक जगती-तल पर चलती रही हो। मगध को ही श्रमण-संस्कृति के लिए जीवनदान, सवर्धन एव पोषण करने का श्रेय प्राप्त है तथा विश्व मे उसके परिचय देने और प्रसार का कार्य यही से सम्पन्न हुआ था। भारत के विशाल भूभाग को एक छत्र के नीचे लाने वाले साम्राज्यवाद रूपी नाटक के अनेक दृश्य यही खेले गए थे। वर्धमान महावीर और तथागत बुद्ध की सर्वप्रथम अमरवाणी सुनने का सौभाग्य इसी स्थल को मिला था और जैन तथा बौद्धधर्म के उत्कर्ष के दिन इसी भूमि ने देखे थे। इतना ही नही, आजीवक आदि अनेक सम्प्रदायो और दर्शनो को जन्म देने और उन्हे सदा के लिए इतिहास की वस्तु बना देने का गौरव भी इसी क्षेत्र को प्राप्त है। इसी महीखण्ड पर आध्यात्मिक विचार-धारा और भौतिक सभ्यता ने गठ-बन्धन कर भारतीय राष्ट्रवाद की नीव डाली थी। प्रतापी राजा बिम्बसार श्रेणिक एव अजातशत्रु, नन्दवशी राजा, सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसका पौत्र प्रियदर्शी अशोक शुगवशीय सेनानी पुष्यमित्र तथा पीछे गुप्त साम्राज्य के दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त और उनके वशजो ने इसी प्रदेश से ही विस्तृत भूभाग पर शासन कर इसे विश्व की सारी कला, नाना ज्ञान-विज्ञान और अनेक भौतिक समृद्धि का केन्द्रस्थल बनाया था। यहाँ के कलाकारो, मेधावियो और राजनीतिज्ञो की जगत मे प्रशसा होती थी। प्रसिद्ध कवि अश्वघोष, महान् राजनीतिज्ञ चाणक्य और कामन्दक, महावैयाकरण वररुचि और पतजलि, छन्दकार पिङ्गल, महान ज्योतिर्विद आर्यभट्ट और तार्किक धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि विद्वान् इस प्रान्त की ही विभूतिया थे। ईसा पूर्व छठवी शताब्दी से लेकर छठवी

नताब्दी पश्चात् तक यहाँ से राज्यधुरा का चक्र परिचालित होता रहा। पीछे बंगाल के पाल और सेन वंशी राजाओं की अधीनता में पहुँचने पर यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्त्व कुछ कम हो गया हो, पर सभ्यता और संस्कृति की गरिमा की दृष्टि से इसको जो अंतरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त थी उसमें तनिक भी कमी नहीं हुई। नालन्दा और विक्रमशिला के विश्वविद्यालयों द्वारा मगध ने अपना अन्तरराष्ट्रीय उत्कर्ष पाया। इन विश्वविद्यालयों में ७-८ सौ वर्षों तक भारतीय दर्शनों का, धर्म और साहित्य का, कला और संगीत का तथा भेषज्य एवं रसायनशास्त्र का शिक्षा देश विदेश के विद्यार्थियों को बिना किसी भेदभाव के साथ दी जाती थी। मगध के इतिहास का पृष्ठ यदि राजगृह और पाटलिपुत्र के उत्थान के साथ खुलता है तो वह नालन्दा के पतन के साथ बन्द हो जाता है। इतना विज्ञान गौरव पाने का विरल ही देशों को मौका मिला होगा। इसी प्रांत के कारण ही सारा प्रांत आज बिहार के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रदेश की महिमा न केवल भारतीय विद्वानों ने बल्कि अनेक विदेशी यात्रियों प्लुटार्क, जस्टिन, मेगस्थनीज, फाहियान, ह्वानच्वांग आदि—ने मुक्त कण्ठ से गायी है।

श्रमण संस्कृति का केन्द्र

भारतवर्ष सनातन काल से अनेक संस्कृतियों का संगमस्थल रहा है। उन संस्कृतियों में एक बहुत प्राचीन संस्कृति श्रमणधारा का क्षेत्र पूर्वीय भारत था। मगध के इतिहास की यदि हम सांस्कृतिक पृष्ठभूमि टटोलें तो हमें सुदूर अतीत में ही यह श्रमण-संस्कृति का केन्द्र मालूम होता है। तथाकथित वैदिक संस्कृति के प्रभाव से यह एक प्रकार से मुक्त था। इसकी अपनी भाषा, साहित्य और कला-कौशल था। प्राचीन मगध की राजधानी राजगृह के आस-पास की खुदाई से प्राप्त पकी मिट्टी (Tesserae) के खिलौनों से, जिनमें स्त्री, पुरुष, राक्षस और पशुओं के चित्र हैं, मालूम होता है कि इस क्षेत्र का सम्बन्ध मोहन-जो-दारो और हड़प्पा आदि की प्राचीनतम संस्कृतियों से अवश्य रहा है। आर्यों के आगमन से पहले के कुछ अवशिष्ट तत्त्वों से मालूम होता है कि यहाँ पाषाणयुगीन पुरुषों के वंशज रहते थे। यहीं कृष्णांगो (Negrite) और आग्नेयों (Austric) की संस्कृति का संमिश्रण हुआ था। आर्य और आर्येतर संस्कृतियों का आदान-प्रदान विशेषतः इसी प्रान्त में हुआ था। आर्यों ने यहाँ के निवासियों से कर्मसिद्धान्त, पुनर्जन्म और योगाभ्यास का शिक्षा ली और अपनी होम विधि के मुकाबले में उनकी पूजाविधि अपनाई। वेदों में यहाँ के निवासियों को व्रात्य, नाग, यक्ष आदि नामों से कहा गया है। ऋग्वेदादि ग्रन्थों में व्रात्यों की निन्दा और स्तुति के अनेक प्रसंग मिलते हैं। अथर्ववेद के पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्य शब्द का अर्थ और व्रात्य प्रजापति का सुन्दर वर्णन प्रायः श्रमण नायक स्वयंभू को लक्ष्य कर किया गया जान पड़ता है। वहीं यह भी लिखा है कि व्रात्य की नारी श्रद्धा थी, मागध उनका मित्र था और विज्ञान उसके वस्त्र थे। यहाँ मागध मगधवासी शब्द इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है। मगधवासियों के सम्बन्ध में पूर्वीय जन समुदाय ने आर्यों की दासता से बचने के अनेक प्रयत्न किये थे। ब्राह्मण-संस्कृति के पुरातन ग्रन्थों में श्रमण-संस्कृति के अनुयायी मगधवासी एवं पूर्वीय जनवर्ग तथा उनके भूभाग को बहुत ही हेयता और घृणा के भाव से देखा गया है। शतपथ से लेकर मनुस्मृति तक के अनेक ग्रन्थों में इस बात के प्रमाण भरे पड़े हैं। मागध (मगध जनवासी) शब्द का अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थों में चारण या भाट है। संभव है

जीविकार्जनार्थ कुछ लोग मगध से चारण, भाटों का पेशा करते हुए आर्य देशों मे जाते हों, वहां उन्हें मागध शब्द से कहे-कहते पीछे उसी अर्थ मे मागध शब्द की रूढ़ि आगई हो। मनुस्मृति मे गिनाए गए ब्रह्मर्षि देशों मे मगध का नाम शामिल नहीं है। वहां मागध शब्द का अर्थ वर्ण संकर से है। इस क्षेत्र वासियों ने पुरोहितों और वैदिक देवताओं की सर्वोच्च सत्ता प्राय न के बराबर स्वीकारी थी। इसलिए पुरोहित वर्ग इस क्षेत्र को अपवित्र मानते है और यहां तक कि इस क्षेत्र मे प्राण-त्याग भी पाप गिनते है—'मगह मरे सो गदहा होय'। आज भी मिथिला के ब्राह्मण गंगा पार मगध की भूमि मे मृत्यु के अवसर को टालते है। श्रौत सूत्रों मे यहां रहने वाले ब्राह्मण को ब्रह्मबन्धु कहते है, जिसका अर्थ जातिमात्रोपेत ब्राह्मण है, शुद्धब्राह्मण नहीं। आजकल भी यहां ब्राह्मण 'बाबाजी' नाम से पुकारे जाते है और किसी काम के बिगड़ जाने व किसी वस्तु के नष्ट भ्रष्ट हो जाने पर उसे भी उपहास रूप 'यह बाबाजी हो गया' कहते है। यद्यपि महावीर और बुद्ध के उत्पन्न होने के पहले से मगध आर्यों के अधीन हो गया था पर यहां पुरोहित वर्ग को वैसा सम्मान कभी नहीं मिला जैसा उसे आर्य देशों मे मिला है। वैदिक संस्कृति एक प्रकार से यहां के लिए विदेशी थी, इसीलिए पीछे, महावीर और बुद्ध के काल मे, यहां उसका जो थोड़ा बहुत प्रभाव था, वह भी उठ गया।

मगध में जैन धर्म की प्राचीनता और विकास

मगध मे जहां तक जैनधर्म और संस्कृति का सम्बन्ध है वह साहित्यिक आधारों पर भगवान् महावीर से पहले जाता है। बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्ञफल सुत्त मे भग० पार्श्वनाथ की परम्परा के चतुर्याम संवर (अहिंसा, सत्य, अस्तेय एवं अपरिग्रह) का उल्लेख है। उत्तराध्ययन के केशी गौतम संवाद मे और भगवती-सूत्र मे पार्श्वापत्यों (पार्श्व परम्परा के मुनियों) के संवाद से मालूम होता है कि मगध मे भग० पार्श्वनाथ की शिक्षाओं एवं उनके समय के व्यवहारों का प्रचलन था। भग० महावीर का समकालीन आजीवक मक्खलि गोसाल अपने समय के मनुष्य समाज के छह भेद करता है, जिसमे तीसरा भेद 'निर्ग्रन्थ' समाज था। इससे विदित है कि निर्ग्रन्थ संगठन पहले से ही एक उल्लेखनीय संगठन रहा है। आचारांग सूत्र से मालूम होता है कि भग० महावीर के माता पिता श्रमण भग० पार्श्व के उपासक थे। इन तथा अन्य सबल प्रमाणों से सिद्ध है, कि मगध मे जैनधर्म भग० महावीर से बहुत पहले से था। मगध की राजधानी राजगृह मे जैनों के बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ के—गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान—ये चार कल्याणक हुए थे।

भगवान् महावीर ने दीक्षाकाल से निर्वाण प्राप्ति तक के बयालीस वर्षों मे १४-१५ चतुर्मास इसी मगध मे नालन्दा, राजगृह और पावापुरी मे बिताए थे। यहां की पावन भूमि को ही सौभाग्य प्राप्त है कि उन्हें केवलज्ञान इस क्षेत्र की एक नदी ऋजुकूला (वर्त० किउल) नदी के किनारे जृंभक गाँव (वर्तमान जमुई का क्षेत्र) मे प्राप्त हुआ था और उनका प्रथम उपदेशामृत राजगृह या पावापुरी मे मगध की जनता को सुनने मिला था। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भग० बुद्ध के समय मगध मे जैनों के कई केन्द्र थे जिनमे नालन्दा, राजगृह और पावा प्रमुख थे। मज्झिमनिकाय के अनुसार नालन्दा मे ही

अनक धना जन रहन थे। मगध के कई प्रभावक जन श्रावक और श्राविकाओ का नाम बौद्ध ग्रन्थो मे मिलता है जस राजगृह का मचक नान्दा का उपालि गृहपति आदि।

भग० महावीर क समय राजगृह अनक विद्वाना और प्रसिद्ध वादियो का केन्द्र था। उनक प्रथम उपदेश का समझन और धारण करन वाला प्रथम शिष्य इन्द्रभूति जो गौतम गणधर नाम स प्रसिद्ध हुआ इसी स्थान का एक विशिष्ट ब्राह्मण था भगवान् क ग्यारह गणधरा म स छह तो इसी प्रदश के थे। कहत हैं कि राजगृह म भगवान् महावीर का जन्म जन्मातरो स सम्बन्ध था। और पवित्र पाँच पवता से घिरा हुआ यह नगर अनक महापुरुषा की लीला भूमि तथा मुक्ति प्राप्ति का स्थान रहा है। कवल ज्ञान प्राप्ति क समान ही भग० महावीर का निर्वाण पद लन का सौभाग्य मगध की पावन भूमि का ही प्राप्त ह। ईसा पूव ५२७ म पावा से वधमान मोक्ष प्राप्त हुए थ। पटना क कमलदह (गुलजार बाग) नामक स्थान से महाशीलवान् सुदशन सेठ न समाधि पाई था।

महाभारत और पुराणा म विदित होता है कि प्रागैतिहासिक-युग म मगध क प्रतापी नरेश जरासन्ध न समस्त भारत पर राज्य स्थापित किया था। वह भग० नमिनाथ का युग था। पुन ईसा की छठवी शताब्दी पूव श्रणिक बिम्बसार क नतत्व म मगध न एस साम्राज्यवाद की नीव डाली जो पीछे जन सम्राट चन्द्रगुप्त और उसक उत्तराधिकारियो क सरक्षकत्व म सार भारत पर छा गया था। जन शास्त्रो क अनुसार श्रणिक भग० महावीर का अनुयायी हो गया था। उसकी रानी चलना और उसके अनक पुत्र जन मुनियो क परम भक्त थ। जनागमो का कुणिक और श्रणिक का उत्तराधिकारी-अजातशत्रु जन धर्मानुयायी था। उसका बेटा उदायिभद्द अपन पिता क समान ही पक्का जन था। यहा तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का दखत हुए अपनी राजधानी राजगृह स पाटलिपुत्र ल गया था। पाटलिपुत्र का प्रवश देन का श्रेय उदायि का ही ह। जनागम ग्रन्थ आवश्यक सूत्र क अनुसार उसन नई राजधानी क मध्य एक जन चत्य गृह बनवाया था और अष्टमी चतुदशी का प्रोषध का पालन करता था। उदायि न अनको बार उज्जन क राजा का पराजित किया था।

उदायि क बाद मगध का साम्राज्य अनक राजनीतिक एव धार्मिक प्रतिद्वन्द्विताओ का शिकार बन गया पर जन हृदय पर जन धम क प्रभाव का धारा कम हो क्षीण हो सकी। जन ग्रन्थो म उदायि क बाद और नव नन्दो क आविर्भाव क बीच क राजाओ का नाम नही मिलता। नन्द राजा और उनक मन्त्री गण भी जन थ। उनका प्रथम मन्त्री कल्पक था जिसकी सहायता स नन्दो न क्षत्रिय राजाओ का मान मदन किया था। नव म नन्द का मन्त्री शकटार भी जन था जिसक दो पुत्र थ—स्थूलभद्र और श्रीयक। स्थूलभद्र तो जन साधु हो गया पर श्रीयक न मन्त्रि पद ग्रहण किया। नन्द राजा जनधर्मानुयायी थ यह बात मुद्राराक्षस नाटक म भी मालूम होती है। नाटक का सामाजिक पृष्ठ भूमि म जन प्रभाव स्पष्ट काम कर रहा है। नन्दो के जन होन क अकाट्य प्रमाण सम्राट खारवल का शिलालेख है जिसम उल्लख ह कि नन्द राजा कलिंग देश स भगवान आदिनाथ की प्रतिमा अपनी विजय क चिह्न स्वरूप मगध ल आया था। नन्दो क समय मगध का साम्राज्य चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था।

नन्दो के बाद भारत की विदेशी आक्रमणो से रक्षा करने वाला, सारे भारत को एक छत्र के नीचे लाने वाला सम्राट चन्द्रगुप्त निर्विवाद रूप से जैन था। बौद्ध अनुश्रुति मे इसे मोरिय नामक व्रात्य क्षत्रिय जाति का युवक बताया है। जैन ग्रन्थ 'तिलोय पण्णत्ति' मे इसे उन सम्राटो मे अन्तिम कहा गया है जिन्होने जिन-दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन जैन मुनि के रूप मे व्यतीत किया था। वह श्रुत-केवली भद्रबाहु की परम्परा का अनुयायी था और ई०पू० २६० के लगभग दक्षिण भारत मे कर्नाटक देश के श्रवण बेलगोला स्थान मे उसने समाधि मरण पूर्वक देह त्याग किया था। आचार्य हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व के अनुसार सम्राट चन्द्रगुप्त का महाराजनीतिज्ञ मत्री चाणक्य भी अपने जीवन के शेष दिनो मे जैन धर्म की शरण आया था। उसके अन्तिम दिनो का वर्णन इसीलिए हमे जैन शास्त्रो के अतिरिक्त कही नही मिलता।

आगमो का सग्रह

जैनागमो का सर्वप्रथम सकलन इसी मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र मे आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व मे हुआ था। उस सकलन की एक रोचक कहानी है। भगवान महावीर का जो उपदेश इस मगध की धरा पर हुआ था, वह उनके शिष्यो द्वारा १२ अग और १४ पूर्वो मे विभक्त किया गया था, जो श्रुत परम्परा मे चलकर शिष्य-प्रशिष्यो द्वारा कालान्तर मे विस्मृत होने लगा था। यह बात नन्द-मौर्य साम्राज्य के सक्रमण काल की है। इस समय तक बौद्धो ने अपने आगमो को राजगृह और वैशाली की दो सगीतियो द्वारा बहुत कुछ व्यवस्थित कर लिया था। पर जैनो की ओर से कोई सामूहिक प्रयत्न नही हुआ था। नन्द-मौर्य राज्यतत्र के सक्रमण काल मे जैन सघ के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु थे। हेमचन्द्राचार्य के परिशिष्ट-पर्व के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय मगध मे बारह वर्ष-व्यापी भयकर दुर्भिक्ष पडा था। उस दुष्काल मे जब साधुओ को भिक्षा मिलना कठिन हो गया था, तब साधु लोग निर्वाह के लिए समुद्र तट की ओर चले गए। भद्रबाहु स्वामी नेपाल की ओर चले गए और उन्होने बारह वर्ष के महाप्राण नामक ध्यान की आराधना की थी। दिगम्बर अनुश्रुति के अनुसार भद्रबाहु दक्षिण की ओर अपने सघ सहित चले गए थे। मगध मे कुछ जैन मुनि आचार्य स्थूलभद्र की प्रमुखता मे रह गए थे। भीषण दुर्भिक्ष के कारण मुनि सघ को अनेक विपत्तियाँ झेलनी पडी। अन्त मे आगम-ज्ञान की सुरक्षा के हेतु आ० स्थूलभद्र के नेतृत्व मे एक परिषद् का सगठन हुआ जिसमे अवशिष्ट आगमो का सकलन हुआ। भद्रबाहु के अनुगामी मुनि गण जब मगध लौटे, तो उन्होने संकलित आगमो की प्रामाणिकता पर सन्देह प्रकट किया और तत्कालीन साधु-सघ जो श्वेत वस्त्र का आग्रह करने लगा था, को मान्यता प्रदान नही की। इस तरह इस मगध की धरा पर ही दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से जैन सघ के स्पष्ट दो भेद हो गए। यहाँ जो आगम सग्रह किया गया उसे दो भागो मे बाँटा गया—एक तो वे जो महावीर से पूर्व श्रमण-परम्परा मे प्रचलित थे, इसलिए उन्हे पूर्व, कहा गया और महावीर के उपदेश को '१२ अग' नाम से संगृहीत किया गया।

आगमो की भाषा

मगध देश की भाषा मागधी या मगही कहलाती है। इसका जैन आगमो की भाषा पर खासा

प्रभाव है। जनागमा वा भापा अधमागधी कही जाती है। अधमागधी का अय उम भापा म ह जो आधे मगध म बोली जाती थी अथवा जिमम मागधी भापा की आधी प्रवृत्तियाँ पाई जाता थी। हा सकता है कि मगध की भापा को हा अधिक ममुदाय के लिए बोधगम्य बनाने के हेतु उसम पश्चिम व कोसल शूरसेन आदि प्रदेशों के प्रचलित म नामिल कर लिए गए हा भापाविदा क अनुसार मागधी भापा की मुख्यत तीन विशेषताए थीं--(१) र का उच्चारण ल होना (२) तीना प्रकार क ऊष्म न म प वर्णों के स्थान पर केवल तालव्य श पाया जाना (३) अकारान्त कर्त्ता कारक एक वचन का रूप ओ क स्थान पर ए प्रत्यय होना। इन तीन मुख्य प्रवृत्तिया म अन्तिम प्रवृत्ति अधमागधी म बहुलता स पाई जाती है और र का ल होना कहीं कहीं पाया जाता है। इसकी शेष प्रवृत्तियाँ शौरसनी प्राकृत स मिलती है जिमस अनुमान होता है कि इसका रूपान्तर मगध के पश्चिम दशा म हुआ हागा। जा हो जना न पूर्वी भापा (मागधी) का कुछ परिवतन सस्कार तो अवश्य किया पर बहुत हद तक व उम ही पकड रहे। उनक आगम जिम अधमागधी भापा म ह उसम बौद्धागमा की भापा पालि म मगध की भापा के अधिक तत्त्व पाए जाते है। जन प्राकृता के एगा दुगा आदि अनक शब्द मगध म आज भी बाल जाते हैं। वतमान जन आगमो म अधमागधा भापा क अनक स्तर परिलक्षित हाते हैं। उनम आचाराग आदि कुछ तो प्राचीनतम स्तर वाले हैं पर अधिकाश ग्रथा म मध्ययुगीन आय भापा क दूसरे स्तर की प्रवृत्तियाँ--समीकरण सरलीकरण एव वण लोप आदि प्रवेश कर गई है। सम्भवत य उन आगमा की मौखिक परम्परा के कारण ही कालक्रम म घुस गई हैं।

मगध म चौदह वष व्यापी दुर्भिक्ष की घटना जनधम क इतिहास की वह भयकर घटना थी जिसने मघ भेद क माथ माथ जन धम के पर मगध की भूमि पर कमजोर कर दिए। कम धीर धीरे इस भूमि क जन मानम म विस्मृत-सा हाने लगा और अपन विस्तार का क्षेत्र पश्चिम ओर वाराणसी मथुरा की तरफ पूव म बगाल दक्षिण पूव म कलिङ्ग तथा दक्षिण भारत में ढूढ़ने लगा। पर मगध क वक्षस्थल पर जन इतिहास की जो महत्त्वपूर्ण घटनाए घटी थी उमसे वह जना की पुण्य भूमि तो बन चुका था। आज भी राजगृह की पच पहाड़ियाँ नालन्दा पावा, गुणावा और पाटलिपुत्र एक माथ जना क य पाँच तीर्थस्थान इसी मगध की पुण्य भूमि हैं और इसके पडोमी प्रदेश हजारीबाग म सम्मेद शिखर बालुआ पहाड़ तथा मानभूम जिले के अनक ध्वसावशेष जनधम क गौरव को उद्घाटित कर रहे है।

उपसहार

मौयवश क बाद मगध पर शुङ्ग और कण्ववश का राज्य हुआ। इन वशा क नरेश ब्राह्मण धम के अनुयायी एव पोपक थे। इनके समय म मगध हतप्रभ था और विदेशिया को भारत म राज्य स्थापना करने का मौका मिल गया। पर मगध की श्रमण-सस्कृति का प्रभाव स्वयं नहीं गया। उसने अन्य सस्कृतियों म समन्वय कर उनके रूप निखारने म सहयोग दिया। नवीन ब्राह्मण धम को उसन देवी देवताओ की भक्ति उपासना मूर्तिपूजा एव जीवदया आदि बातें प्रदान की और वदिक धम क पुनरुद्धार काल म वह पददलित एव अवनत हो गया और कुछ अश म उनम समा गया।

इतना सब होने पर भी जैन जनता युगो युगो मे मगध मे अपना सम्बन्ध बनाए रही। जैन कवियो ने उसे अपनी पुण्य भूमि को तीर्थ रूप मे सदा स्मरण किया है। इस बात का प्रकाश हमे नालन्दा बडगॉव के जैनमन्दिर मे पालवशी राजा राज्यपाल के समय (१० वी शताब्दी का पूर्वार्ध) के एक लेख से मिलता है। लेख मे मनोरथ का पुत्र वणिक् श्री वैद्यनाथ अपनी तीर्थ-वन्दना का उल्लेख करता है।

आज मगध के प्रमुख स्थानो मे जैन जनता वाणिज्य के लिए बसी है। मगध के जैन सास्कृतिक केन्द्र उनकी सहायता की राह देख रहे है। चारो ओर विकास की योजनाएँ लागू हो रही है। क्या वह मगध जिसने जैन सस्कृति को जन्मक्षण से पाला पोसा है, आज फिर उसके विकास के लिए पात्र नही हो सकता? तीर्थ-यात्रा के नाम पर जैन जनता हजारो रुपये इस भूमि पर आकर खर्च करती है, पर जैन-सस्कृति के प्रसार सबधी उपादानो से, यह प्रान्त आज भी वचित है, जो बड़े खेद की बात है।

लूट-पाट को जन्म देता। समाज मे उच्छृङ्खलता को रोकने के लिए ही विवाह की पद्धति प्रारम्भ हुई। महाभारत मे एक कहानी है, कि श्वेतकेतु ने अपनी माता को पिता के सम्मुख ही किसी बलिष्ठ युवक द्वारा भगाई जाती हुई देखा। पिता ने क्रुद्ध पुत्र का समाधान प्रचलित प्रथा की स्त्री स्वातन्त्र्य की दुहाई देकर करना चाहा, किन्तु आदर्शवादी सन्तान को इस उत्तर से सन्तोष नही हुआ। तब ही से विवाह की रस्म शुरू हुई और नारी का जीवन स्वेच्छाचारिता से मुक्त होकर मर्यादित हुआ। बाल्यकाल मे वह पिता के आश्रय मे रहने लगी, यौवन मे पति के और वार्धक्य मे पुत्र के। उसकी स्वतन्त्रता, स्वच्छन्दता और स्वेच्छाचारिता सीमित हो गई। उसका कार्य क्षेत्र गृहस्थी हो गई। वह मनुष्य की अन्नपूर्णा बनी। अपने को सुरक्षित पाकर, वह सङ्गीत, चित्रकला, कविता आदि का अवकाश के समय अभ्यास करने लगी और वह ललित कलाओं की जन्मदात्री बन गई। उसके सौन्दर्य मे उससे चार चाँद लग गए। उसका व्यक्तित्व विकसित हुआ।

वैदिक काल मे स्त्री को पुरुष के समान अधिकार प्राप्त थे। वह गुरुकुलो की अधिष्ठात्री देवी थी। विद्यार्थियो का वह पुत्रवत् पालन करती थी, उनके सुख-दुखो के प्रति जागरूक रहती थी। शास्त्रो का अध्ययन करती थी, वाद-विवादो मे भाग लेती थी और उसके सहयोग बिना कोई भी यज्ञ-याग सम्पादित नही होते थे। राम को भी राजसूय यज्ञ करने के लिए सीता के अभाव मे सोने की सीता बनवानी पडी थी। वह भौतिक और दैविक सम्पदा की स्वामिनी थी। ऋषियो की तरह मन्त्रो की द्रष्टा थी, फिर भी वह मर्यादा की अक्षय-रेखा का उल्लघन नही करती थी। विदुषी मैत्री और गार्गी के उदाहरण हमको आज भी स्फूर्ति देते है।

पौराणिक काल मे स्त्री का स्थान अति उच्च था। समाज पर उसके पातिव्रत की धाक थी। वह जीवन की महाशक्ति थी। सावित्री उसी बल के आधार पर अपने पति सत्यवान को यमराज के पाश से छुडा लाई। सीता नारी मात्र का आदर्श है। असह्य विपत्तियो मे फँसने पर भी राम उसके रोम-रोम मे रम रहे थे और उसके प्रति उसकी निष्ठा अगाध है। राम के कहने से जब उसको अपनी पवित्रता प्रमाणित करने के लिए अग्नि-परीक्षा देनी पडी, तो उसके सत से प्रभावित होकर जलता पर्वत समान काष्ठ समूह भी शीतल हो गया। यही सती प्रथा का सक्षिप्त मे वर्णन कर देना असगत नही होगा। जो हमारे देश मे अग्रेजो के आने के बाद ही बन्द हुई। मध्ययुग मे आततायियो से अपने सतीत्व की रक्षा करने के लिए राजपूतललनाएँ जौहर की आग मे सहर्ष अपने को भस्मीभूत कर देती थी। अपने मृत पति की देह को लेकर सती हो जाना, तो यहाँ साधारण बात थी। जो प्रेम मृत्यु के परे देख सकता था, वह कितना अलौकिक और दिव्य था। ससार के इतिहास मे प्रेम की ऐसी निष्ठा और परम्परा दुर्लभ है। प्रेम के लिए पतङ्गो की तरह मर मिटना अपने आदर्श के लिए सर्वस्व स्वाहा कर देना नारी की समाज को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है, जिसका पूर्ण मूल्याकन असभव है। अधे पति से व्याहे जाने के बाद गाधारी ने उम्र भर अपनी आँखो पर पट्टी बाँध स्वेच्छा से अपने को नेत्रहीन बना लिया।

मध्य युग मे भी नारी अन्त पुर मे ही राज्य नही करती रही, किन्तु वह राज-काज मे भी भाग

नती रही। सु तान रजिया न शासनारूढ होकर दिल्ली क मल्तनत की बागडोर अपन हाथ म ली। नूरजहाँ न अपन विलासी पति बादशाह जहाँगीर की राज यवस्था बखूबी सभाली। भास्कराचाय की पत्नी लीलावती न गणित विज्ञान पर अपनी मुहर लगाई। लाला कवियत्री न योग की कठिन साधना कर आत्म साक्षात्कार किया। राजरानी मीरा न अपने गीतों म भक्ति की मन्दाकिनी बहाई। महारानी पद्मिनी न छद्मवश धारण कर अलाउद्दीन खिलजी स अपन पति की रक्षा की। य महिलाए सामाजिक उत्तरदायित्व और वयक्तिक सुख म सतुलन स्थापित कर हमारे लिए एक एसी मिसाल छोड गई है जो आज भी स्तुत्य है।

अराजकता के युग म नारी को चार दीवारी म ब द रहना पडा। उसक समानता क अधिकार छिन गए। उसकी पढाई लिखाई ब द हो गई और पर्दे म सूय भी उसको नहीं दख सकता था। मनुष्य की निगाह म भी वह हीन बन गई। उसका अतीत का गौरव प्राय समाप्त हो गया था। फिर भी स्वत त्रता क प्रथम सग्राम म रानी लक्ष्मीबाई क रूप म उसकी दन नासानी है। साक्षात् भवानी बनकर उसन रणक्षत्र म युद्ध का सञ्चालन किया। उसके दवाङ्गनोपम यक्तित्व स लाखों प्राणी प्रभावित हुए। उसकी सामरिक प्रतिभा अद्भुत थी। यदि उसके समकालीन नता उसकी समर योजना क अनुसार काम करते और उसके छाया म नतत्व साप दत तो आज भारत का इतिहास दूसरा ही होता। लक्ष्मीबाई विश्व के प्रख्यात वीरों की मौलमणि है और आज तक ऐसी नारी न हुई और न होगा। जीनतमहल न भी उस रण म आजादी क सिपाहियों का कुशल नतत्व किया। महारानी अहिल्या बाई न भी योगिनी की तरह नि स्वाथ भाव स राज किया और भारत भर म अपन दान और वदान्य क चिह्न छोड गई।

गाधी युग म भारतीय नारी का दन अविस्मरणीय है। महात्मा गाधी का रणभरी सुनकर वह तपस्विनी अपनी सास्कृतिक परम्परा को ध्यान म रखकर पर्दे का चीरकर बाहर आ गई और स्वत त्रता क सग्राम म उसन अपना पूण योगदान किया। उसन लाठियों और गोलियों क आघात अपन कोमल अङ्गों पर सह और कारागार को कृष्ण मन्दिर समझ उसकी यात्रा करन म भी वह पीछ नहीं रही। गाधी युग की नारियों म दो न विश्वख्याति प्राप्त की—एक स्वर्गीय सरोजनी नायडू और दूसरी श्रीमती पण्डित। देश विभाजन स स्वत त्रता प्राप्त हुई कि तु इसका मूल्य भी नारी न अपन सतीत्व का गुण्डों क बलात्कार की बलिवेदी पर चढा कर दी।

नारी की समाज को मुख्य दन प्रेरणा है। वह मनुष्य की चतना है बुद्धि है। वही क्रान्ति की अग्नि भडकाती है और वही शाति क शीतल जल स उस शात करती है। स्त्री ही अपनी दया माया ममता और प्रेम स जीवन को सरस और अमृत तुल्य बनाती है। वह नर की खानि है नृसिंह की जननी है और आदि शक्ति का भूतल पर प्रतीक है। पुरुष उसके साथ सम्पन्न होकर ही पूणता प्राप्त करता है। कन्या प्रेयसी और माता क रूप म वह वन्दनीय है और सदा रहगी। अपन बुद्धिबल और चातुय से उसने समाज को दृढ और सुसगठित बनाया है और उसक उपकार अनगिनित है। वह भारत की विकसित परम्परा पर हा अनन्त काल तक चलती रहे यही मेरा कामना है। नारी आदशवाद और यथाथवाद युक्तवाद और परम्परा का विचित्र मिश्रण है। युगान्तकारी परिवतनों म भी उसन हमारी

सनातन सस्कृति को अक्षत और अक्षुण्ण वनाए रखा है। उसके पुण्य और पाप, सुकृत और दुष्कृत, त्याग ओर तपोमय जीवन का जनमानम पर पर्याप्त प्रभाव पडा है और भविष्य मे भी पडता रहेगा। माता ही सन्तान की प्रथम गुरु है और इसलिए उसका दायित्व भी मनुष्य से कई गुणा अधिक है। उसके सस्कारो का असर सतति पर पडना स्वाभाविक ही है। वह जीवनोपयोगी विद्याओ की धात्री और सरक्षिका है। उसका जीवन स्वार्थ से ओत प्रोत होने पर भी अनासक्ति प्रधान है। इस्लाम के नवी मोहम्मद साहव ने यथार्थ ही कहा है, स्वर्ग माता के चरणो मे ही मिलता है। अणुवम के युग में भी नारी विश्व को विनाश से वचाने के प्रयत्नो मे सर्वप्रथम है। अपनी प्रजा की रक्षा के लिए वह कितना ही वोझ उठाने के लिए तैयार है। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान मे वह किसी से पीछे नही रहना चाहती। वह स्वय अभिशाप लेकर दूसरो को वरदान देना जानती है। वह विश्व-कल्याण को अपना लक्ष्य मान कर अग्रसर हो रही है और दुर्भावना, असहिष्णुता, ईर्ष्या से उद्वेलित मनुष्य की दुर्वलताओ को दूर कर उसको सर्वहित साधन की ओर प्रवृत्त करना चाहती है। यदि वह आज नर को स्वरचित प्रलयकर हिंसा के नाश से वचाने मे समर्थ होती है, तो यह उसकी समाज को सर्वश्रेष्ठ देन होगी। इस अवसर्पिणी काल मे अपनी पवित्र साधना के द्वारा नारी ही इस अनर्थकारी आसन्न सकट से जन को त्राण दे सकती है। अणु शक्ति से उद्धत नर का एक वार फिर मोहिनी वनकर ही वह उद्धार कर सकती है। क्योकि उसके सहचर ने अपने जीवन की किश्ती उद्दाम तूफा के हवाले करदी है और नारी ही अपनी सहृदयता से उसको किनारे लगा सकती है।

हिन्दू समाज मे जाति भेद

आचार्य धर्मेन्द्रनाथ

जब मैं हिन्दू समाज में जातिभेद की प्रस्तावना पर विचार करता हूँ तो मुझे सबसे पहले इसकी एक ही बुराई का ध्यान आता है और वह है ऊँचनीच की भावना जिसकी चरम परिणति हुई है—अपने ही एक वर्ग को अछूत बनाकर उसको अपमान और नीचता के बोझ से पीस डालने के रूप में। और अपमान भी थोड़ा या थोड़े समय का नहीं—असह्य और पीढ़ी दर पीढ़ी वाला निरंतर अपमान जिसने न केवल अपमानित को ही मानवता से वंचित किया है बल्कि अपमान-कर्ता सवर्ण वर्ग को भी मानवता से गिरा दिया है।

वैसे तो दुनियाँ की हर कौम को अपने आपको दूसरी किसी भी कौम की अपेक्षा अधिक सभ्य मानने का अधिकार है लेकिन कुछ कसौटियाँ हैं जिन पर बिना कसे यह सभ्यताभिमान अपरीक्षित रहता है। किसी भी जाति की सभ्यता के मुख्य पैमाने दो हैं—एक पैमाना है कि वह खाता क्या है? दूसरा पैमाना है कि वह अपने शरीर से निःसृत मल की क्या व्यवस्था करती है। जो जाति इन दो कसौटियों पर खरी उतरती है उसे सभ्य कहा जा सकता है क्योंकि इन्हीं दो प्रश्नों पर जातियों की सामाजिकता नैतिकता आचार विचार व्यवहार संस्कार, कमजोरी या मजबूती को परखा जा सकता है।

इनमें पहली कसौटी है भोजन। भोजन जुटाने की प्रक्रिया के इतिहास से मानवता का सारा इतिहास जुड़ा हुआ है। शुरू में आदमी शिकार मार कर या मौसमी फल मूल-कन्द आदि खाकर निर्वाह करता था और शिकार कम पड़ने पर या फल आदि का मौसम खत्म होने पर लंघन करता था।

लघन के दूसरे नैमित्तिक कारण 'नारी की गर्भावस्था' और 'नर को कभी-कभी चोट-फेट लगाना' भी होते ही थे। ये लोग फलो का मौसम समाप्त होने पर लघन के दुःख को जानते थे, इसलिए उनको फल-संग्रह की युक्ति का आविष्कार करना पडा। फल सड न जाएँ, इसलिए उन्हे सुखाने की विधि ढूँढी गयी। कीडे या दूसरे बलवान् जन्तु आहार पर डाका न डालें, इसलिए दीवारे उठाकर छत डालने का काम शुरु हुआ। पशु रोज नही मिलते, इसलिए उन्हे बन्दी बनाने के लिए बाडे बनाए गए। एक बार मार कर खा जाने की अपेक्षा पालतू पशु का दूध पीना लाभदायक लगा, तो दुधारू पशुओ को छोड कर आदमी ने दूसरे जानवरो को निकाल दिया। घोडा सवारी के लिए और कुत्ता रखवाली के लिए रख लिए गए। कृषि और पशुपालन का ढग आ जाने से आदमी की भोजन की समस्या का समाधान तो हुआ।

भोजन से सभ्यता के सम्बन्ध की बात पर विचार करते समय, एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेनी चाहिए कि मनुष्य न तो हिरन, बकरे या गाय की तरह केवल शस्य-भोजी है, और न शेर-चीते, भेडिया या बाज-गिद्ध की तरह केवल मास-भोजी। बल्कि भालू, चूहे और कौओ की तरह उभय भोजी है। जैसा भोजन मिल जाए, वैसा भोजन पचाकर आत्मसात् करने की क्षमता का नृवश के विस्तार और प्रसार मे बडा हाथ है। सभ्यता का सवाल आता है, भोजन मे सुरुचि और विवेक के साथ। जिन्हे भोजन कभी-कभी मिलता है, वे ठूंस कर खाएँ तो उनके लिए यह स्वाभाविक है, लेकिन जिसने दुष्काल की चिन्ता से उसकी निवृत्ति का उपाय ढूंढ लिया है, वह ठूंस कर क्यो खाए! जिस समाज ने पशु को पालना और दुहना नही सीखा, उसकी मास भक्षण की प्रवृत्ति समझ मे आने योग्य है, लेकिन जो व्यक्ति या समाज अपनी आदिम अवस्था को पार कर चुका है, वह मास क्यो खाए! प्रोटीन खाद्य की पूर्ति का, और उभयभक्षी होने का तकाजा भी है, लेकिन फिर सभ्यता का मतलब, आदि प्रवृत्तियो और अद्यतन आवश्यकताओ के समझौते के अलावा और क्या है?

इसके अलावा हमे ध्यान रखना होगा कि यदि मानव वश इस पृथ्वी पर चिरकाल तक बचा रहे तो हमे उसके भविष्य के भोजन की भी चिन्ता करनी होगी। हम केवल अपनी ही चिन्ता करके, उच्छृंखलता के व्यवहार से, भावी पीढियो के भोजन के स्रोत को रोक देने की असभ्यता नही कर सकते। जिस दर से मानव का वश बढता जा रहा है, उस गति से उसके मासाहार के लिए पशु जुटाने मे तो, स्थल के सारे पशु-पक्षी और तालाबो और झीलो की मछलिया और जल-जन्तु, एक हजार साल से पहले ही नाम शेष हो जाएगे। समुद्र की मछलियाँ जरूर अनन्तकाल तक भोजन का साधन बनी रह सकती है, लेकिन इसके लिए सारी दुनियाँ की आबादी को मत्स्याद बनकर समुद्र के तटो पर आबाद होना पडेगा।

दूर की चिन्ता करने वाले वैज्ञानिको मे से कोई ऐल्गी जाति की काई मे प्रोटीन का प्रतिशत खोज रहा है, और कोई दूसरे ग्रहो मे मानव की बस्तियाँ बसाकर भूतल की भीडभाड कम करने की बात सोचता है। ये सारी बाते हँसकर उडा देने की ही नही है। वस्तुत खतरा इतना ही बडा है। आदमी क्या खाने की आदत डाले कि तन्दुरुस्त भी रह सके—दीर्घ जीवन भी प्राप्त कर सके—और साथ ही

खाद्य का स्रोत भी समाप्त न हो यह वर्तमान में गहरी चिन्ता का विषय है। जब हमारे सामने भविष्यत् काल की अत्यन्त मानवसंकुल भूमि का चित्र आता है तो लगता है कि मांसाहार का आदी मानव किसी दिन मांसपशुओं के समाप्त होने पर फिर से बर्बर प्रागैतिहासिक स्वजातिभक्षण (cannibalism) पर उतर आएगा। इस बर्बरता को टालने का अभी से क्या उपाय है?

सभ्यता के प्रवर्तकों ने इसके लिए एक नया जीवन पद्धति की खोज हमारे देश में की थी। दूसरे के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा तुम अपने लिए चाहते हो। जो बात तुम्हारे प्रतिकूल पड़ती है उसका आचरण दूसरों के साथ मत करो—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' धर्म का सार कहिए नैतिकता का आधार कहिए या सभ्यता कहिए इस एक बात में सबका समावेश हो जाता है।

वस्तुतः सभ्यता की मशाल उन लोगों के हाथों में है जिन्होंने मांसाहार के अलावा प्रोटीन की पूर्ति का प्रबन्ध कर रखा है।

भोजन के नैतिक पहलू पर विचार करते समय हम सामाजिकता और एकता को अक्षुण्ण रखने के प्रकार पर भी ध्यान देना है। ऐसा न हो कि नैतिकता की झोंक में हमारा समाज मांसाहारी और त्यक्तमांस लोगों के रूप में खण्डित होकर बिखर जाए। देखा गया है कि जो मांसाहार नहीं करते उनमें मांसाहारियों की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति हो गयी है। मांसाहार करने वाले क्रूर हैं—अधम हैं—तामसिक हैं और पापी है ऐसा मानकर वे यथासम्भव उनसे दूर रहने की चेष्टा करते हैं। मांस भोजन से परहेज करने वालों को न लगे—पर यह बात है उलझनजनक। जिस दिन मानव ने पशु को गोष्ठबद्ध करके दुहना शुरू किया वह दिन मानव के इतिहास में सभ्यता की ओर निस्सन्देह एक बड़ा कदम था लेकिन गोष्ठबद्ध पशु यूप-बद्ध होने से कभी नहीं रुका। आज भी जो आदमी दुधारू पशु पालते हैं चाहे वे मध्य एशिया के घोड़ी का दूध पीने वाले किरगीज़ हों या अरब के ऊँटनी का दूध पीने वाले बद्दू हों, या भारत के गाय का दूध पीने वाले सनातनी हिन्दू हों सभी इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि पशु पालन दर असल पशु के लाभ के लिए नहीं बल्कि आदमी के लाभ के लिए है। पशु से पशुपालक की हर जगह एक ही माँग है— दूध दो नहीं तो मांस दो। अतः दूध पीकर अपने आपको मांसाहारियों की अपेक्षा अधिक नैतिक मानने वालों को ध्यान रखना चाहिए कि पशुवध की जिम्मेदारी दूध पीने वालों पर भी उतनी ही है जितनी कि मांस खाने वालों पर। जिस प्रकार चमड़े के जूते पहनने वाला, पशुवध की जिम्मेदारी से मांस न खाने का बहाना करके नहीं बच सकता, उसी प्रकार दूध दही या मक्खन खाने वाला भी पशु परिग्रह और पशुवध की *जिम्मेदारी से नहीं बच सकता। मूलतः दही खाने वाले और मांस खाने वाले एक ही तरह के लोग हैं* दोनों की अवस्थिति जब भोजन पर है। अतः किसी को आहार विशेष से नीच या उच्च मानना वैसा ही है जैसा कि गोभी खाने वाला बैगन खाने वाले को बुरा समझे। हमारे देश में जहाँ कि वर्ग भेद का कारण पूजा करने की भिन्नता, सपनों की भिन्नता धन की भिन्नता या अलग-अलग जगहों में पैदा होना है, उसी प्रकार एक कारण पशु खाद्य की भिन्नता (जानवर का दूध पीना या मांस खाना) भी है।

मासाहार मे निहित आदिमता को दृष्टिगत रखते हुए भी इसे जाति भेद का एक कारण बना देना सगत नही है। आज जो त्यक्तमास लोग है, उनके पूर्वज भी चिरकाल तक मासाद रहे है। उस सुचिरकाल की तुलना मे हमारी-कुछ लोगो की परहेजगारी को बहुत समय नही हुआ। सबसे ऊपर हमे इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि शेष समस्त भारतीय समाज से ऐक्य-साधन हमारा लक्ष्य हो, न कि नयी जाति बनाकर सिकुड जाना। सभ्यता और सुरुचि का प्रचार-प्रसार समग्र समाज से अलग रहकर नही किया जा सकता। यदि आपके सिद्धान्त के पीछे नीति और युक्ति का बल है, तो आपका सिद्धान्त समाहत होगा ही, लेकिन जिसे आप सभ्य और सुरुचिसम्पन्न देखना चाहते है, उस मूल समाज से कटकर यह कैसे होगा।

हमारा इतिहास हमे बताता है कि जब जब समाज के अन्दर किसी उद्देश्य विशेष से कोई उप-समाज या सगठन बनाया गया है—चाहे वह हिन्दुओ की रक्षा के लिए गठित, गुरुओ के शिष्यो (सिखो) का समाज हो, चाहे वेदो के उद्धार के लिए बनाया गया आर्यसमाज हो, या जीवदया के उद्देश्य से गठित जैन समाज हो, उस उपसमाज ने मानो मूल-समाज के प्रति हमारी श्रद्धा पर डकैती डाल दी है। समस्त देश और समस्त समाज हमारे लिए गौण बन गया है, और देश-समाज की सेवा के लिए बने उपसमाज की सेवा ही हमारा लक्ष्य बन गई है। साधन खुद साध्य बन बैठा। यह प्रवृत्ति देश के हित के विपरीत है। हमारा लक्ष्य एकता होना चाहिए। और अलगाव की प्रवृत्ति को किसी भी आधार पर प्रोत्साहन नही मिलना चाहिए।

सभ्यता की दूसरी कसौटी है—शरीरज मल की हम लोग क्या व्यवस्था करते है ?

मानव समाज की प्रारम्भिक अवस्था मे जबकि परिवार का गठन नही हुआ था, कबीले और समाज नही बने थे, आदमी निस्सग रहता था, तब तक तो शरीरज मल की व्यवस्था करने का कोई प्रश्न ही नही था। आदमी जहाँ चाहता मल त्याग करता। प्रकृति अपना काम करती और वातावरण मे विद्यमान कीटाणु जल्दी ही मल को सडाकर मिट्टी मे बदल देते। फिर जब परिवार, कबीले और समाज बने, लेकिन यायावरता (घुमक्कडी) चालू रही—तब तक भी मल की व्यवस्था कोई समस्या नही थी। समूहो मे मानव कुछ दिनो तक एक जगह रहता—आसपास से खाद्य जुटाता और वही मलत्याग करता और आगे चला जाता। खाने से अवशिष्ट उच्छिष्ट खाद्य, बोझा ढोने वाले एक-दो पशुओ के शव, और गन्दगी के ढेर पडे-पडे सडा करते और जल्दी प्रकृति उनको फिर हमवार कर देती।

इसके बाद आया एकत्र वास का युग, गृहस्थ और गोष्ठ का युग। यायावरता छूट गयी, आदमी कृषि और बागवानी करने लगा, मकान और खलिहान खडे हो गए। यह जनपदो का प्रारम्भिक रूप था। मकान का प्रयोजन पशु बाँधने, कृषि की उपज रखने, और रात को सोने तक ही सीमित था। कर्मक्षेत्र और मलोत्सर्जन क्षेत्र घर से बाहर ही होते थे। जब बस्ती बडी होने लगी, तब मलोत्सर्जन के

लिए घर स बहुत दूर जाना मम्भव नही रहा। घरा क आसपास गन्दगी मडन और घुटन बढ़न लगी। आदमी जिसे कि पहले वाले वन्य जीवन और यायावर जीवन की ताजगी की याद आती थी इसमे परेशान हो उठा। महर्षि आत्रेय ने इसी अवस्था के लिए कहा है कि—'ग्रामवासो हि मूलमशस्तानाम्'। (ग्राम=ममूह म रहना सारी बुराइया की जड है।)

मानव ममाज के अतिरिक्त यदि हम देखें तो हम ज्ञात होगा कि एक जगह म घिर कर रहन वाले ममूहा की जीवनावधि अधिक नहा होती। मीठे घोल को शराब म बदल देने वाला किण्व (खमीर yeast) उसी घोल म पैदा होता है उसकी मिठास स ही आहार लेता है—और वश बढ़ाता है उसी म मलोत्सर्जन करता है और शक्करा के खतम होन म पहल ही आत्मसृष्ट मद (alchohal) के विष म घुटकर मर जाता है। आदमी भी अगर आत्मसृष्ट मल की निकासी का उपाय न करता तो वह भी इसी तरह घुटकर मर जाता।

इस पृथ्वी पर जीवन का सतत प्रसार इसीलिए सम्भव हुआ क्योंकि यहाँ स्थावर और जगम सृष्टि एक दूसर की पूरक है। जगम आदमी के लिए जो मल है—स्थावर वनस्पति का वह खाद्य है। वनस्पति वातावरण म स अपन लिए कार्बन डाइ ऑक्साइड चमकर जिस ऑक्सीजन को विसृष्ट करती है वह आदमी क लिए जीवन की साम है। आदमी जल्दी ही यह समझ गया कि खेतो म मलोत्सर्जन करने स न सिर्फ गन्दगी स छुटकारा मिलता है बल्कि खेतो की पैदावार भी बढ़ जाती है। लेकिन नयी प्रजा के बढ़ने क साथ साथ जब ग्राम बड़ होन लगे तब हर आदमी के लिए स्वय खेत म जाकर मल क्रिया सम्पन्न करना उतना सम्भव नही रहा। मानव वृद्ध रोगी गर्भिणी या प्रसूता और सुखानुयायी जना क लिए इतना आयास दुःसह होता। इसके बाद आदमी न उस व्यवस्था को जन्म दिया जो कम स कम भारत म स्वस्थ ममाज क विकास के लिए एक अभिशाप बन कर अवतरित हुई।

सभ्यता के प्रथम चरण म शायद सभी देशो म ऐसी समस्या पैदा हुई होगा। हर समाज न अपन कुछ व्यक्तियो को मल को ढोकर खेतो म पहुँचान के काम म लगाया होगा। सभ्यता क विकास के साथ-साथ यह प्रथा पैदा हुई और मिट गयी होगी। लेकिन हमारे देश म यह प्रथा मानो चिरस्थायी होकर रहन के लिए ही आया थी। इसके बाद जस सभ्यता का विकास रुक गया। जिसको हमन एक बार मल ढोकर खेत तक पहुँचान के काम पर लगा दिया वह अभी तक पीढ़ी दर पीढ़ी उसी काम में लगा हमारे समाज की आदिम असभ्यता की घोषणा कर रहा है। सक्षप म हमारे शूद्रो और अछूतो का यही इतिहास है।

भेद पोषक अग्रजो न हम सुझाया कि आर्य बाहर स आए। उन्होंने यहाँ के आदिवासियो को उनान जीत कर नीच दास्य म लगा दिया। उन्ही दासो क वशज य शूद्र है और विजेताओ के वशज सवर्ण। हमन इस स्थापना को अतीत क विजेता होन का गौरव पान के लिए मान लिया। पण्डितम्मन्य लोगो न हर चीज क मूल-स्रोत वेद म स प्रमाण निकाल कर सबको भ्रम म डाल दिया। वस्तुत शूद्र और अछूत का उद्गम वही समाज है जिसम कि शेष सारे समाज का जन्म हुआ है।

इस समान मूल्कता से मेरा प्रयोजन इस अन्याय को कम करके दिखाने का नहीं है, जो हम अछूतो पर करते रहे है। बल्कि अपनो पर किए गए अन्याय मे उनकी अपराध गुरुता और हृदय हीनता और भी अधिक बढ जाती है। न केवल हमने अपने ही एक अंग को गन्दे काम में लगाया, बल्कि उसे हमेशा उसी मे लगाए रखने का षड्यत्र भी किया। गन्दगी फैलाकर भी हम ऊँचे रहे आए और हमारी गन्दगी की सफाई जैसा दुष्कर काम करने वाला नीचा हो गया। अपने उपकारक को हमने नीचा दर्जा दिया—ग्राम से बाहर वास दिया—खाने को उच्छिष्ट दिया। उनके उपकार के बदले मे हमने उनसे शास्त्र और विद्या पढने का अधिकार छीन लिया और उत्सव, रागरग, देवदर्शन आदि सामाजिक अवसरो पर उसका भाग लेना निषिद्ध कर दिया। यही नही, पीढी दर पीढी वह इसी काम मे लगा रहे और हमे सस्ते मजदूर उपलब्ध होते रहे, इसलिए हमने उसके परिश्रम का इतना कम मुआवजा दिया कि वह आर्थिक रूप से चिर पंगु होकर हमारा मोहताज होकर रह गया। और फिर भी हमारा दावा यह कि हम सभ्य है। हम तो घोर असभ्य हैं। सवर्ण भी और अछूत भी। सवर्ण इसलिए कि उन्होंने अन्याय किया, और अछूत इसलिए कि उन्होंने इसको चुप रहकर बर्दाश्त किया।

समानता और विज्ञान के आज के युग मे भी, जब कि मल को जनग्राम से बाहर, दूर खेतो मे ले जाना सिर्फ एक यात्रिक समस्या (Engineering problem) है, हम सफाई करने वाले वर्ग को उसी कीचड़ मे डुबो रखकर अपनी सनातन सभ्यता का परिचय दे रहे हैं। फुटकर परिवारो की गन्दगी मे लिथडे मेहतरो को, जब म्यूनिसिपैलिटी आदि संस्थाएँ भी नौकर रखती हैं, तो किसी सभ्यता का परिचय नही देती। उसी असभ्यता भरी आदिम और पुरातन दुर्व्यवस्था को सरकारी स्तर पर भी मान्यता मिल गयी है।

वस्तुत. अछूतो के कष्ट को, उनमे से एक हुए बिना या उनमे एकात्म हुए बिना नहीं समझा जा सकता। आज वोट से सत्ता मिलती है, इसलिए लोग इनमे भाषण देकर या इनके सामने खुश करने वाली बातें करके, इन शोषितो के साथ छल करते हैं, इनके हिमायती बनने का दिखावा करते हैं, और फिर इनके कन्धो पर पैर रखकर अभीष्ट ऊँचाई पर चढ जाते है और इन्हे अगले चुनावो तक फिर भूल जाते हैं। इससे तो अछूतो की स्थिति मे कोई सुधार हजार वर्षो तक भी सम्भव नहीं है। सरकार ने संविधान मे अछूतपन मिटा दिया है। लेकिन रोटी का चित्र देखने से तो भूखे की भूख नही मिटती। जब तक गडा हुआ कांटा न निकल जाए, तब तक ऊपर के लेपलाप से क्या हो सकता है।

सरकार को जो आदमी चलाते है, उन्होंने समाज-कल्याण विभाग जैसे विभाग खोलकर अनन्त काल तक अछूतो के उद्धार का बीडा उठा रखा है। हमेशा रोगी की परिचर्या के संकल्प का—एक आदमी को हमेशा रोगी बनाए रखने के और क्या मतलब है! हमे निश्चित रूप से मालूम होना चाहिए कि किस तिथि तक इन अछूतो का कल्याण हो जाएगा, जिसके बाद कि पुनर्वास विभाग (Rehabilitation Deptt) की तरह समाज कल्याण विभाग की जरूरत नही रहेगी, और कब इसे तोड देना है।

जसा कि मैंने ऊपर बताया मानवीय दृष्टिकोण क बिना, न तो अछूतो की समस्या को समभा जा सकता है और न उसका समाधान हो सकता है। छुटपुट नुमायशी राहतें देने से इस अभिशाप को नहीं मिटाया जा सकता। मरा निश्चित मत है कि यदि हम इनका शाप सारे समाज स एकात्म करना है तो हम म्युनिसिपलिटिया स प्रारम्भ करना होगा जहाँ कि सफाई मजदूर काफी सख्या म काम करत हैं।

नगरो का सफाई व्यवस्था क दो पक्ष हैं। एक पक्ष है—गन्दगी फलाने वालो का जो कि अपने प्रतिनिधि म्यूनिसिपल मम्बरो के रूप म भेजते हैं। दूसरा पक्ष है—गन्दगी साफ करने वालो का, जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी इसी काम को करते आ रहे है और शोषित-पक्ष है। दोनो पक्षो के अस्तित्व को समझ लेने क बाद हम समाधान तक पहुँचना आसान हो जाता है। एक पक्ष काम कराता है—दूसरा पक्ष काम करता है। अत दोनो पक्षो क प्रतिनिधि समान सख्या म चुने जाए। जितने सदस्य सफाई कराने वालो के प्रतिनिधि के रूप में चुने जाते हैं उतने ही सदस्य मजदूरो म स भी उनके प्रतिनिधि के रूप म चुने जाए। फिर दोनो पक्ष इस बात का फसला करें कि मजदूर को पारिश्रमिक कितना मिले सुविधाएँ क्या मिलें—और अच्छी से अच्छी सफाई किस तरह हो।

आज की व्यवस्था म मजदूर को न्याय मिलना इसलिए सम्भव नही है क्योंकि प्रबन्ध-व्यवस्था म उसका कोई हाथ नही है। उस न्याय तभी मिल सकता ह जब कि वह स्वय प्रबन्ध की व्यवस्था म बराबर का भागीदार हो।

आज के शोषित को न्यायत बराबर की भागीदारी दने पर शहर क मनक निकास की व्यवस्था अन्तर्वाहिनी नालियो द्वारा की जा सकती है। हर घर म फलश के शौचागार की व्यवस्था की जा सकती है। दूसरे सभ्य देशो की भाति सफाई के काम म से गन्दगी और गद्दा निकाली जा सकती है। और उस दिन की कल्पना की जा सकती है जब कि देश म जाति पाँति विहीन स्वस्थ समाज का विकास हो सकेगा। चाहे आज यह सुनने म अजीब लग लेकिन राष्ट्रीयता का चरम लक्ष्य तो एक एस वर्गहीन समाज की स्थापना है जो रोटी बेटी के व्यवहार स एक-दूसरे स बँधा हुआ हो। जब तक निम्नतम उठकर उच्च तम क समकक्ष नहीं आता तब तक ऊपर से नाम एकता एकता चिल्लाने स भी एकता नही आ सकती।

वस्तुत अछूत महतर की समस्या एक इजीनियरिंग समस्या है। हर घर म फलश की टट्टी लगाना और उसको जमीन के अन्दर बहने वाली उन नालियो स जोड देना जो कि अन्दर ही अन्दर मल को शहर म दूर ले जाकर खेतो म डाल दें—आज सम्भव है। एक नगर क पीछे कुछ लाख का खर्चा है, जिसके बाद कि सफाई एक आसान और अगर्हित काज बन जाएगा। और छूत की बीमारियाँ महामारियाँ सडन और घुटन एक अतीत की चीज हो जाएगी। इस काम म लगने वाला आवश्यक पसा राज्य सरकारें या केन्द्रीय सरकार म्युनिसिपलिटियो को ऋण क रूप म दे सकती हैं जिसको कि मकानदारों स वार्षिक पच्चास-पचास किश्तो के रूप म अथवा विशेष टक्स के रूप म वसूल किया जा सकता है। हजारो साल पहले शुरू हुई बुराई दूर की जा सकती है जाति-पाँति हटाकर राष्ट्रीय एकता लाई जा सकती है नये युग का सूत्रपात किया जा सकता है बशर्ते कि हमम उसके लिए आवश्यक साहस और सकल्प हो और सबस ऊपर एक परदुख कातर स्पन्दनशील हृदय हो।

★

स्थानकवासी जैन-परम्परा

मुनि श्री संतबालजी

स्थानकवासी जैन परम्परा सच्चे माने मे जैन परम्परा है, क्योंकि वह श्रमण-संस्कृति के अधिक अनुकूल है। श्रमण-संस्कृति सातत्यरक्षा के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार परिवर्तनशीलता को मानती है। और ये दोनो तत्त्व स्थानकवासी जैन परम्परा मे विशेष रूप से अवतरित हुए है। यही कारण है कि इसी परम्परा ने सर्व प्रथम "साधुमार्गी" शब्द अपने लिए व्यवहृत किया है। इसका एक अर्थ है— साधुमार्ग का अनुसरण करने वाला सघ। साधुमार्गी शब्द की ऐतिहासिक छानबीन करने से पता लग जाएगा कि वास्तव मे यह सघ जीवन और जगत् के उच्च सस्कर्त्ताओ द्वारा भारतीय सस्कृति की आत्मा के साथ अभिन्न अनुबन्ध पूर्वक विश्वात्माओ के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने मे अग्रदूत बना है।

धर्मप्राण लोंकाशाह

यद्यपि स्थानकवासी जैन परम्परा के मुख्य पुनस्कर्त्ता धर्मप्राण लोंकाशाह थे और इस सम्प्रदाय को प्रचलित हुए पाच शताब्दियो से अधिक समय नही बीता। लेकिन इस बात का पक्का सबूत मिलता है कि धर्मप्राण लोंकाशाह ने अपना कोई अलग सम्प्रदाय नही बनाया था और न पृथक् सम्प्रदाय स्थापित करने मे उनका विश्वास ही था। परन्तु वे एक लिपिकार थे और शास्त्र-लेखन के साथ तद्विषयक चिंतन के फलस्वरूप उन्होंने उस समय के निष्प्राण बने हुए जैन-सम्प्रदाय मे धर्म का प्राण फूंका। उनका प्रेरणास्रोत दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की पहली गाथा बनी, जिसे उन्होंने उस समय के सघ जीवन मे प्रविष्ट की। उस गाथा का भावार्थ यह है —

धर्म सर्वोच्च मंगल है। वह धर्म अहिंसा संयम और तप की त्रिवेणी के संगम होने पर ही होता है। उस धर्म का आचरण करने वाले के चरणों में सिर्फ मानव समाज ही नहीं, अपितु प्राणीवर्ग और देवता भी झुकता है।

धर्मप्राण लोंकाशाह ने अपने जीवन में इस त्रिवेणीस्वरूप धर्म को अपनाया और जहाँ जहाँ श्वेताम्बर जैन-संघ में अहिंसा की क्षति असंयम परिग्रह तथा आडम्बर को बढ़ावा दिया जा रहा था साधु जीवन सहज तप त्याग के बजाय अपनी पूजा प्रतिष्ठा और भोगवाद की ओर झुक रहा था साधु जीवन में सुकुमारता और चैत्यों में ही डेरा जमा कर बैठ रहने व चैत्य के नाम से धन संग्रह करने की मनोवृत्ति पनपने लगी थी, वहाँ धर्मप्राण लोंकाशाह ने उस रोकने के लिए जोरदार आन्दोलन किया। वह आन्दोलन साधुमार्ग की पृष्ठभूमि पर से किया गया था। सारे श्वेताम्बर जैन संघ में उस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा और संघ में एक भूचाल सा आ गया। उस समय के उनके समकालीन कमलसंयम आदि मुनियों ने उनकी आलोचना करते हुए लिखा है —

> डगमगि पड़ियु सघलउ लोक पोसालइ पणि आवइ फोक।
> लुकइ वात प्रकासी इसी तेहनु शिष हुउ लखमसी॥

इसका भावार्थ यह है कि सारा का सारा समाज लोंकाशाह की बात पर चौंक पड़ा उनकी मर्मस्पर्शी बातों को सुनकर पुरातन प्रणाली के अनुसार चलने वाले लोगों के सिंहासन डगमगाने लगे। सारे समाज में खलबली मच गई और कहा जाने लगा कि लोंकाशाह ने पौषधशाला की चालू परम्परा में इतना मौलिक परिवर्तन कर दिया है कि पौषधशाला में उनका (रूढ़िपरायणों का) आना बेकार हो गया है। लोंकाशाह ने ऐसी-ऐसी बातें (मौलिक) प्रकट कर दी हैं कि सारा समाज उनकी ओर दृष्टि गड़ाए बैठा है आकर्षित हो रहा है और लखमसी तो उनका शिष्य ही बन गया है।

जैन संघ के इतिहास लेखकों को यह बात तो निर्विवाद माननी ही पड़ती है कि लोंकाशाह ने उस युग के श्वे० जैन समाज में एक नई चेतना प्रकट कर दी थी लोगों को अनिष्टकर रूढ़िपरम्परा का बन्धन के लिए सोचने को मजबूर कर दिया था। इतना तो कहना ही पड़ेगा कि लोंकाशाह ने उस समय जो कुछ परिवर्तन किया या सूचित किया या साधु-श्रावकों में कराया उसका मूल आधार धर्म था जिसका रहस्य उन्होंने शास्त्र पठन व चिंतन से पाया था। सारे श्वे० जैन समाज के सामने उन्होंने मुख्यतया तीन सिद्धान्त रखे थे —

1. धर्म के नाम में परिग्रह, आडम्बर या भोगवाद को बढ़ावा नहीं मिलना चाहिए
2. चतुर्विध संघ के अग्रगामी साधुवर्ग का जीवन मुख्यत निसर्ग निर्भर होना चाहिए
3. संघ शक्ति सुदृढ़ होनी चाहिए और वह ज्ञानाधारित होना चाहिए सत्ताधारित नहीं

संघ में नवजीवन निर्माण

जैन इतिहास पर दृष्टिपात करने से लगता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक जैन संघ प्राय

वान् और सुदृढ़ नीव पर टिका रहा है। उसके बाद वह श्वेताम्बर और दिगम्बर दो फिरको मे बंट जाता है। दिगम्बर सम्प्रदाय दक्षिण भारत में अधिक फैला। इसी कारण दक्षिण मे जगद्गुरु शकराचार्य के वैदिक सघ पर जैन सघ का काफी प्रभाव पड़ा है। श्री शकराचार्य के करतल भिक्षा तरुतलवास इस सूत्र पर दिगम्बर जैन मुनिवृत्ति की पूरी छाप पडी है और यह भी मानना होगा कि दक्षिण का जैन धर्म श्री शकराचार्य के अद्वैत और रामानुजाचार्य के जातिवाद स्पृश्यास्पृश्यता व शुद्धाशुद्धता की बातो से भी अत्यधिक प्रभावित हुआ है। भारत के उत्तर पूर्व और पश्चिम भाग मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय अधिक फैला। किन्तु उसने अपने फैलने के लिए मूर्ति, छत्री, पदचिन्ह मन्दिर आदि जो साधन अपनाए उसके साथ आडम्बर धनसग्रहवृत्ति और भोगवाद जुड गया। मन्दिर ऐन्द्रिक आकर्षण के कारण बने। साधु वर्ग इन मन्दिरो मे निवास करने लगा और श्रावकों को दान की महिमा समझाकर, मन्दिर के नाम से धनसग्रह करने लगा। निसर्ग वृत्ति पर से श्रद्धा डगमगाने लगी, फलत भिक्षाचरी के बदले खानपान आदि के साधन जमा करने लगा, धन सग्रह के लिए ज्योतिष, वैद्यक और व्यावहारिक शिक्षण के व्यवसाय मे प्रत्यक्ष पडने लगा। इतना ही नहीं, सघशक्ति की नीव व्यापक जन-समुदाय के तपत्याग से सुदृढ करने के बदले राजाओ, बादशाहो, ठाकुरो और जागीरदारो को यत्र-मत्र-तत्र आदि का चमत्कार बता कर सत्ता द्वारा सुदृढ करने मे लग गया, इससे सघ की नीव तो सुदृढ न हुई, पर कई साधुओ की व्यक्तिगत महिमा जरूर बढी, उन्हे छत्र-चामर-पालकी आदि शासको की ओर से भेंट मे मिली, कइयो को जागीरें या जमीन इनाम मे मिली। नतीजा यह हुआ कि साधु वर्ग मे शिथिलाचार और स्वेच्छाचार बढता गया। चैत्यवास शब्द साधु सस्था की अधोगति का परिचायक है।

ठीक इसी समय लोकाशाह ने क्रान्ति का शखनाद किया। उन्होंने साधुवर्ग को नम्रतापूर्वक समझाया कि अप्रतिबद्ध विहारी साधु को परिग्रहवृद्धि के इस सम्बन्ध से क्या सरोकार? एक स्थान पर निवास, मोह और आसक्ति बढाने वाला है, इसे छोडिए, चैत्य मे निवास करना ठीक नही, धर्माराधना करने के लिए साधु को निवास योग्य जो भी स्थान मिल जाए, उसमे कल्पनीय समय पर्यन्त रहा जा सकता है। और जैन धर्म ने तो हमेशा गुण पूजा को स्थान दिया है, व्यक्ति पूजा को या किसी व्यक्ति की मूर्ति की पूजा को कहीं स्थान नही दिया है। इसलिए आप अपने साधुधर्म को सुरक्षित रखते हुए पैदल विहार करिए, चमत्कार या आडम्बर आदि द्वारा सत्ताधारियो से प्रसिद्धि और भोग्य या राजसी साधन सामग्री प्राप्त करके सुकुमारता मे वृद्धि करना और पालकियो मे बैठकर विचरण करना छोडिए। अन्यथा आप व्यापक जनसपर्क करके धर्मवृद्धि नहीं कर सकेंगे, प्रत्युत द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबध मे पड़ जाएँगे। भिक्षाचरी केवल जैन लोगो तक ही सीमित न रखें, बल्कि सभी निर्मासाहारी घरो से भिक्षा लेकर लोक सम्पर्क का क्षेत्र व्यापक बनाएँ।

उस समय के साधु वर्ग को "अम्मापिउसमाणा' बनाकर लोकाशाह ने हितबुद्धि से प्रेरित किया। परन्तु नग्न सत्य हमेशा कटु होता है, वह परम्परा पूजक एव गतानुगतिक निहित-स्वार्थी लोगो के तुरन्त गले नहीं उतरता। लोकाशाह का भी यही हाल हुआ। चारो ओर से उनका प्रचण्ड विरोध हुआ। परतु लोकाशाह साहस पूर्वक धर्मक्रान्ति के आग्नेय पथ पर आगे बढते गए।

क्रान्ति की चिनगारी हमेशा बहुत छोटे से रूप में हुआ करती है नदी का मुहाना बहुत ही पतली धारा के रूप में होता है, परन्तु वही आगे जाकर विस्तीर्ण बन जाती है। लोकाशाह की युगान्तरकारी ज्वाला में कुछ साधुओं और यतियों के गले उतरने लगी। मुनि धर्मसिंह जी मुनि धर्मदास जी एवं लवजी ऋषि लोकाशाह की क्रान्ति के पुरस्कर्ता बने। यद्यपि ये अलग अलग समय में लोकाशाह के निर्दिष्ट पथ पर आए हैं। इन्होंने चैत्यवास छोड़कर सहजभाव से श्मशान पर्वत गुफा अरण्य वृक्षतल या जीर्णशीर्ण या शून्य जो भी शुद्ध स्थान साधना के लिए मिल गया, वहाँ ठहरना शुरू किया। शुरू में लोग इन्हें चिढ़ाते कि ये तो ढूंढिया हैं। ढूंढा शब्द राजस्थान में जीर्णशीर्ण मकान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ढूंढा में रहने वाले होने से ढूंढिया कहा जाता था। कोई इन्हें ढूंढक भी कहते—जिसका अर्थ होता है 'सत्य को ढूंढने वाले'। जो भी हो सत्य की शोध करने की उनमें अदम्य तड़पन थी। और व्यापक जन सम्पर्क के लिहाज से उन्होंने विविध जनपदों में पादविहार करना और जनता में सभी निरामिषाहारी घरों में भिक्षा करना शुरू किया, व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुणपूजा और मूर्तिपूजा की अपेक्षा भावपूजा का पथ अंगीकार किया। उस समय के यति वर्ग में से भी बहुत से यतियों ने नया मोड़ लिया। उनमें केशव जी कुंवरजी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं उन्होंने राजसी ठाठबाट सत्ताधारियों की प्रशंसा एवं ज्योतिषबाजी, मन्त्रबाजी आदि छोड़कर साधुता की शुद्ध पगडंडी स्वीकार की।

यही कारण है कि श्वेताम्बर मू० पू० सम्प्रदाय के उस समय परिगणित ८४ गच्छों में से पायचंद गच्छ खरतरगच्छ और अचलगच्छ के सिवाय बाकी के गच्छ प्रायः लुप्त हो गए और इन तीन गच्छों के सिवाय आज जितने भी मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के तप गच्छीय साधु साध्वियाँ हैं वे प्रायः स्व० पू० आचार्य श्री विजयानन्दसूरि जी म० (स्थानकवासी-सम्प्रदाय के भूतपूर्व मुनि—आत्मारामजी महाराज) के ही आनुवंशिक हैं। मतलब यह कि स्थानकवासी जैन-परम्परा में से ही यह पुनर्निर्माण हुआ है।

इससे यह भी प्रतिफलित होता है कि लोकाशाह—निर्दिष्ट स्थानकवासी जैन परम्परा अमुक समय तक अलग सम्प्रदाय नहीं बनी थी बल्कि मौलिक रूपान्तर की एक प्रक्रिया बनकर रही। साथ ही उसने अपना असर दूर दूर तक दिखाया और अनेक साधु-साध्वियों एवं श्रावक श्राविकाओं को इस आडम्बर विहीन त्यागमार्ग की ओर आकर्षित किया। यही नहीं दिगम्बर सम्प्रदायों में तारणपंथी सम्प्रदाय पर भी स्थानकवासी जैन-परम्परा ने अपना प्रभाव डाला।

जैन धर्म को विश्व धर्म बनाने में हाथ

किसी भी धर्म को विश्व धर्म बनाने के लिए उसके अनुगामी गृहस्थ वर्ग एवं साधु वर्ग में पाँच बातें होना जरूरी है (१) धर्म का शुद्ध और व्यापक रूप में प्ररूपण व आचरण (२) निरर्थक क्रियाकाण्डों एवं आडम्बरों के जाल से रहित व्यापक आचार। (३) व्यापक लोक सम्पर्क के साथ तप त्याग एवं निजगुणपरायणता (४) साम्य भाव से गुण-पूजा की वृत्ति (५) व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ संघनिष्ठा। उपर्युक्त पाँच बातें स्थानकवासी जैन परम्परा में अपेक्षा अधिक मात्रा में मिलेंगी।

द्वारा दूसरे के तर्क-शुद्ध विचारो को ग्रहण करने पर सभाती ताला लगाने की चेष्टा—यहाँ कम ही हुई है। यही कारण है कि स्थानकवासी परम्परा के साधु गीता और आचराग का समन्वय करते है। जैन और बौद्ध धर्म के शास्त्रो का समन्वय बता सके हैं। महाभारत और रामायण पर अपनी लेखनी चला सके है। कबीर विचारधारा और स्थानकवासी परम्परा मे सामजस्य बैठा सके है। गाधी विचार धारा को जैन धर्म के साचे मे ढाल सके है और गाधी स्फुरित अहिंसा के सामुहिक प्रयोगो को जैन तप त्याग से सम्पर्क करके धर्म को सामाजिक रूप दे सके है, हजारो मासाहारी लोगों को उनके धर्म की भाषा मे समझाकर सच्ची राह पर ला सके हैं। गुजरात, पजाब, राजस्थान और महाराष्ट्र आदि विविध प्रदेशो की विविध परम्परानुकूल आचारो के अनुसार अलग-अलग धर्माचार मे रहते हुए भी उन उन प्रदेशो मे विचरण करने वाले साधु साध्वियो मे एक सूत्रता कायम कर सके हैं। जहाँ दूसरे जैन सम्प्रदायो में कही नारी प्रतिष्ठा, साध्वी को व्याख्यान का अधिकार, रात्रिप्रवचन, ध्वनिवर्द्धक यत्र मे विशाल सख्यक जनता हो वहाँ बोलन आदि युगस्पर्शी और न्याय बातें नही, वहाँ स्थानकवासी परम्परा अग्रसर बनी है। हालाकि व्यक्ति स्वातन्त्र्य से थोडा-सा नुकसान अवश्य हुआ है। वह यह कि कुछ स्थानकवासी साधु साध्वियो मे कट्टर पथीपन आया है, वे अपने को उत्कृष्ट क्रियापात्र समझकर दूसरे साधुवर्ग को हीन या शिथिलाचारी समझने लगे, साथ ही स्थानकवासी परम्परा को साधुवर्ग बाईस अलग-अलग सघाडो, गिरोहो मे बाटा गया, जिससे यह बाईस सम्प्रदाय भी कहलाने लगा था। इससे एक सूत्रता और सामजस्य व समन्वय को काफी धक्का पहुँचा और वैचारिक व आचारिक जडता पनपी। अनुशासन के नाम पर जड पाबन्दियाँ लगा दी गई, जिससे साधु वर्ग के विकास मे काफी रुकावट आई। साधुवर्ग के इस कठमुल्लापन का असर श्रावक वर्ग पर भी पडा और वह भी उदारता के बदले सकीर्णता का राही बन गया, परन्तु यह बात जरूर है कि इतना होते हुए भी सघ मे अधिक व्यक्तिपूजा की अपेक्षा सघनिष्ठा का तत्त्व सुरक्षित रहा।

उपर्युक्त पाचो बातें स्थानकवासी परम्परा मे अधिक मात्रा मे होने से यह जैन धर्म को विश्वधर्म बनाने मे बहुत बडा हिस्सा अदा करती रही है।

वर्तमान परिस्थिति और स्थानकवासी जैनो का कर्त्तव्य

स्थानकवासी जैन परम्परा मे क्रान्तिकारी तत्वो का बाहुल्य होने से आज भी इसमे अनेक क्रान्तिप्रिय साधु-साध्वी श्रावक श्राविकाएँ हैं, जो युग को परख सकते है। मूल सिद्धान्त को युग के साथ फिट कर सके हैं। ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म आदि को जहाँ हेय समझा जाने लगा था, वहाँ उसका व्यावहारिक रूप के साथ दृढतापूर्वक प्रतिपादन कर सके हैं। गुजरात मे बनासकाठा, सूरत जिला, कच्छ, सौराष्ट्र और भालनलकाठा प्रदेश मे धर्म दृष्टि से समाज रचना का जो प्रयोग वर्षो से चल रहा है, उसमे स्थानकवासी परम्परा और गाधी विचारधारा के तत्वो की ही सारी पृष्ठभूमि है। आज तो वह प्रयोग अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले रहा है, और सर्व जनमान्य बन रहा है, परन्तु उसकी नीव की ईंट स्थानकवासी जैन परम्परा ही बनी थी।

इतना सब जागरण और प्रकाश होते हुए भी दूसरी ओर स्थानकवासी परम्परा के कुछ लोग मानो सोलहवीं सदी में जा रहे हैं। वे अब भी राजाओं ठाकुरों और अनीतिमान धनिकों का गुणगायाएँ गाते नही अघाते, अब भी युगान्तरकारी धर्मलक्षी और नीतिमय बातों को जनजीवन में उतारने के प्रयोग को देखकर नाक भौं सिकोड़ते हैं वे अब भी सकीर्णता के सिकजों और कुरूढिवाद के दड़बों में साधुवर्ग को डटे रखना चाहते हैं लोकाशाह ने अपने युग में जो क्रान्ति की थी उससे भी पीछे समाज को और अपने को धकेलना चाहते हैं जैन धर्म विश्वधर्म है स्थानकवासी परम्परा क्रान्तिकारी रही है यह कर्ण प्रिय शब्द सुनना पसन्द करते हैं किन्तु कोई साधुसाध्वी जैन धर्म को विश्वधर्म बनाने के लिए सक्रिय कदम उठाएगा या स्थानकवासी परम्परा में धर्मानुकूल युगानुरूप क्रान्ति करेगा तो उसे धर्कियाने अप्रतिष्ठित कराने बहिष्कृत करने और उस पर नाना असत्य आक्षेप लगाकर उसे समाज की नजरों में गिराने का प्रयत्न करेंगे। इसलिए अब स्थानकवासी परम्परा को अपनी हाजमा शक्ति और उदारता बढ़ानी पड़ेगी, आज के जनतन्त्रीय युग में भौतिक विज्ञान ने जहाँ सारे विश्व को स्थूल दृष्टि से एक कर दिया है वहाँ सूक्ष्म दृष्टि से हृदय से एक करने का काम स्थानकवासी जन परम्परा को करना होगा। गांधीजी के द्वारा जगत् को चमत्कृत कर देने वाले सामूहिक अहिंसा प्रयोग जन साधु श्रावकवर्ग को अपनाना पड़ेगा। तभी जैन धर्म विश्व धर्म बन सकेगा। इसके लिए उन्हें चार कार्यक्रम एक साथ हाथ में लेने होंगे—

१ विश्व की समस्त मानव जाति को धर्म दृष्टि से एक ऐसा जन-सगठन बनाना पड़ेगा जिसकी बुनियाद में नीति हो और जिसका असर जनतन्त्र पर पड़े।

२ महात्मा गाधी जी ने जसे राष्ट्रीय महासभा और जन-सगठन का प्रभाव ब्रिटिश सल्तनत पर डाला था वैसा ही प्रभाव उक्त विश्व जनसगठन द्वारा परिष्कृत राष्ट्रीय महासभा पर डालना पड़ेगा। ताकि वह सयुक्त राष्ट्र सघ के जरिए विश्व राजनीति को शुद्ध रख सके।

३ और इन दोनों बातों को अमली बनाने के लिए जैन धर्म के वर्तमान सभी सम्प्रदाया-उपसम्प्रदायों के श्रावक श्राविकाओं में से और रचनात्मक कार्यकर्ताओं में चुन-चुन कर एक व्रतबद्ध व व्यापक स्पष्ट दृष्टि वाले जनसेवकों की एक विश्व व्यापी सस्था अलग से बनानी पड़ेगी।

४ इन सभी सस्थाओं को प्रेरणा व मार्गदर्शन देने और जहाँ ऐसी सस्थाएं न हों वहाँ खड़ी करवाने और वहां उन्हें प्रतिष्ठित करने के लिए जैन धर्म के सभी फिरकों में से क्रान्ति प्रिय साधु साध्वियों को छांटकर उन्हें यह धर्म कार्य सौंपना होगा और लोकाशाह जैसे युगद्रष्टा श्रावकों व श्राविकाओं को उन साधु-साध्वियों को पृष्ठबल देकर प्रोत्साहित करना पड़ेगा।

आशा ही नहीं, अपितु पूर्ण विश्वास है कि जहाँ श्रावकों पर स्थानकवासी जन सघ की तरह धर्म क्रान्ति को पचाने और आगे बढ़ाने का तत्व पड़ा है। उस स्थानकवासी जन परम्परा के लिए बात प्रत्यक्ष कर बताना कोई कठिन काम नहीं है। मूल सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुए द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव को देखकर उत्तर गुणों में सशोधन-परिवर्धन करते हुए रखने में मानने वाली स्थानकवासी जन परम्परा के सिवाय ससार और किससे आशा रखेगा?

तत्र, अधिनायक तत्र या जबरदस्त तत्र बन गया। उनमें वयस्क मताधिकार बहुत-सो को जरूर मिला, पर हित उन्ही का हुआ, जो जनता को हाककर ले जा सकते थे। जब तक सामान्य जनता की चेतना जागृत नही होती, तब तक जनतत्र मे जनता का हित नही हो सकता। कुछ निहित स्वार्थियों के हाथ मे जनतन्त्र के पड जाने से वे जनता का व्यापक हित नहीं सोच और देख सकते वे जनतत्र के ढाचे को जरूर पूजते हैं किन्तु जनतत्र की आत्मा की उपेक्षा करते हैं। पश्चिम मे इस प्रकार के जनतत्र के होने मे एक बडा कारण यह भी बना कि वहा प्रारम्भ से भारत की तरह की चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था नहीं थी इसीलिए राजतत्र भी निरकुश रहा, राजतत्र पर भी जैसे भारत मे ब्राह्मणों और महाजनो का अंकुश रहता था ऋषि मुनियो का मार्ग दर्शन रहता था, वैसे पश्चिम मे कोई अकुश था नहीं। धर्म गुरुओं पादरियो, पोपो या पुरोहितो को राजतत्र मे किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार ही न था, परलोक के मामले में ही वे प्रेरणा दे सकते थे इहलोक व्यवस्था के बारे मे नहीं, जब कि भारत मे राजतंत्र भी जनसस्था और धर्म सस्था की प्रेरणा से चलता था। इसीलिए पश्चिम में जब जनतत्र आया तब भी वह जनसस्था और धर्मसस्था के अंकुश से रहित होकर उसी राजतंत्र की परिपाटी के रूप में आया। हालाकि वहा विरोध पक्ष जनतत्रीय सरकार पर अंकुश रखते हैं, ऐसा कहा जाता है। सभव है वहाँ के शासन कर्ता पर प्रारम्भ से धर्मसस्था का अकुश न रहा इसलिए वहाँ विरोध पक्ष को स्वीकार किया है। वहाँ की परिस्थिति के अनुसार जो हो सो हो। परन्तु भारत मे विरोध पक्षो की दशा, उनकी बुनियाद और नीतियाँ भारतीय सस्कृति और भारतीय समाज व्यवस्था के अनुकूल नहीं हैं, इसलिए वे केवल विरोध करने के लिए और सत्ता हथियाने के लिए विरोध करते हैं। सत्तासीन पक्ष पर आक्षेप करते हैं और नाना प्रकार के हथकडे किया करते हैं। यही कारण है भारतीय लोकतत्र की अपनी एक विशेषता है। भारतीय जनतंत्र मे विरोध पक्षो की जरूरत नही। अपि तु पूरक (जनसस्था) प्रेरक (जन-सेवक सस्था) और मार्गदर्शक (साधु सस्था) दलो की जरूरत है, जो जनता को नीति और धर्म से युक्त राजनीति से घडकर, जनता लक्षी कार्यक्रमो द्वारा जन-जन को पुष्प की तरह सर्वाङ्गीण रूप से विकसित कर सके। और ऐसी धर्म सस्थाएँ राजनीति मे स्वयं भागने या जनता को भगाने का प्रयत्न नहीं करके, जनता के नैतिक सगठनो द्वारा राजनीति पर धर्म का अकुश रखने का प्रयत्न करेंगी और जनतन्त्र मे राज्यशक्ति की अपेक्षा जनशक्ति बढाकर उसे जनलक्षी बनाएँगी।

प्राचीन काल मे धर्म-सस्थाओ ने यही काम किया था। यद्यपि उस समय राजतत्र था, फिर भी शासनकर्ता पर नैतिक-धार्मिक अकुश रखने का कार्य धर्म-सस्थाएँ करती थी। धर्म-संस्था के भारतीय समाज व्यवस्था मे दो अग मुख्य माने जाते थे।

पहला था ब्राह्मण वर्ग, जो सारे समाज की नैतिक चौकसी रखता था, राज्यकर्ता पर भी अंकुश रखता था। कोई शासक अगर किसी व्यक्ति पर अन्याय-अत्याचार करता या अपनी मर्यादाओ का उल्लंघन करता था तो उस पर जनता द्वारा अकुश लाकर पदच्युत तक कर देने का वह अधिकार रखता था। और दूसरा था—ऋषि मुनि वर्ग, जो समाज से ऊपर उठा हुआ था, नि स्पृह, निर्लेप और स्व-पर कल्याण मे रत रहता था। वह भी समाज की गतिविधि पर पूरा ध्यान रखता था और जहाँ कहीं भी गड़बडी

रखती या समाज व्यवस्था टूटती दिखती उस सुधारने और जोडन का काम अपने तप-त्याग-बलिदान द्वारा करता। आप राम-युग का देखिए या कृष्ण-युग का महावीर बुद्धयुग का देखिए या गाँधी-युग की गहराइया म जाइए। सभी युगो म आपको भारतीय व्यवस्थानुसार धम सस्थाओ के दोनो अगो का अकुश शासन सचालन तत्र पर मिलगा। जहा कही धम सस्था क इन दोनो अगो म स किसी एक या दोनों न इस महत्वपूण उत्तरदायित्व से मुख मोडा है उपेक्षा की है या किसी म कत्तव्य च्युति आई है या स्वय म कोई दोष पनपे हं वहाँ शासन तत्र बिगडा है समाज व्यवस्था भी बिगडी है। जनता पर भी उस बिगाड की छाया पडी है। रामयुग म रामचद्र जी को दशरथ राजा अपन जीत जी राजगद्दी पर बिठाना चाहते तो स्वय ही निणय कर सकते थे, किन्तु उन्होन चातुवण्य समाज गुरु वशिष्ठ जी से इस बारे म प्रेरणा लेनी चाही। वशिष्ठ जी ब्राह्मण सस्था के प्रतिनिधि थ और क्षत्रिय वग पर उनका प्रभुत्व था, वे चाहे जिस ओर निणय दे सकते थे परन्तु उन्होन जिस जन-बल द्वारा उन्ह शासक पर अकुश रखवाना है उस जनता (महाजन) की राय लेना ठीक समझकर कहा—

जो पाँचहि मत लागे नीका,
तो रघुवरसन कर देहु टीका।

इसके अतिरिक्त रामयुग म जनतालक्षी राजतत्र का ज्वलत उदाहरण है धोबी का प्रसग। जिसको लेकर श्री रामचद्र जी ने अपनी अर्धाङ्गिनी सीता का भी दुखद विरह सहन किया।

कृष्ण युग म जब राजतत्र निरकुश बन रहा था यानी कस दुर्योधन शिशुपाल आदि के अत्याचारो से पीडित था ब्राह्मण वग राजाश्रित होकर इन अन्यायी अत्याचारी को चुपचाप देख रहा था एक तरह स कत्तव्य च्युत बन गया था, तब श्रीकृष्ण महाराज न गोपालक जनता की शक्ति बढाकर निरकुश राजाओ को पदच्युत किया।

महावीर-बुद्धयुग म भी ब्राह्मणो का प्रभुत्व क्षत्रिय राजाओ पर काफी था। परन्तु उस प्रभुत्व का उन्होंने प्राय दुरुपयोग ही किया इसलिए श्रमण भगवान महावीर ने और महात्मा बुद्ध न श्रमण सस्कृति के उन्नायक बनकर जनता की शक्ति बढाई ब्राह्मणो और क्षत्रियो को स्वकत्तव्य का भान कराया। यहाँ तक कि जहाँ कई ब्राह्मण कत्तव्यच्युत हो गए थे वहाँ श्रमणो न उन्ह श्रमण-सघ द्वारा नीति और धम की दृष्टि से माग दशन दिया कत्तव्यारूढ भी किया।

भगवान् महावीर के बाद हेमाचाय हरिभद्रसूरि रत्नप्रभसूरि लोहाचाय आदि अनक आचार्यों न राजतत्र को शुद्ध रखन नीतिधमयुक्त व प्रजालक्षी बनाने क लिए स्वय न तो राजाओ को प्रतिबोध दिया ही उनके माग दशन स बहुत बडा काय भी हुआ साथ ही ब्राह्मण सस्था और जनसस्था का काय सम्पन्न करान के लिए उन्होंने ओसवाल पोरवाल खडलवाल श्रीमाल अग्रवाल आदि धम-नीति-सस्कार युक्त असाम्प्रदायिक जातिया भी बनाई जिनम स कई वस्तुपाल तेजपाल चपाशाह बाहड उदयन आदि मन्त्रिया न ब्राह्मण काय कर बताया और भामाशाह खेमाशाह भीमाशाह आदि कई पुरुषो ने महाजन (जनसस्था) का काय किया। इस प्रकार जनश्रमणों न और श्रावको न राजतत्र पर अकुश रखा और

कर्तव्य प्रेरित किया। बौद्ध भिक्षु उपगुप्त आदि की प्रेरणा से अशोक जैसे कई सम्राटों को कर्त्तव्य भान हुआ। समर्थ रामदास जैसे सत की प्रेरणा से शिवाजी जैसे शासकों को राज्य के ट्रस्टी या प्रतिनिधि बनकर राज्य करने के उदाहरण तो इतिहास प्रसिद्ध है। परन्तु इसके बाद इतिहास बदलता है। भारत पर मुगलो का शासन छा जाता है, इस समय श्रमण-सन्यासी वर्ग और ब्राह्मण वर्ग या श्रावक वर्ग मे भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति प्राय उदासीनता आ जाती हैं। यद्यपि कई मुगल बादशाहो ने अपने धर्म-गुरुओ काजी-मुल्लाओ की प्रेरणा से नीति पूर्वक प्रजा पालन किया है। अकबर जैसे बड़े बादशाहो को कई जैनाचार्यो ने व्यक्तिगत रूप मे प्रतिबोध भी दिया है। परन्तु जन-सस्था (महाजनो) एव ब्राह्मण वर्ग द्वारा उन पर अकुश नही लाया जा सकता। इसके बाद तो भारतवर्ष पर ब्रिटिश शासन पूरी तरह से छा जाता है। इस समय भी ब्रिटिश शासको पर अकुश रखने और उन्हे मार्ग-दर्शन देने का कार्य साधु सन्यासियो या ब्राह्मणो द्वारा प्राय नही हुआ।

ठीक इसी समय गाधीजी का उदय होता है। अफ्रीका मे वे भारतीय जनता को सगठित करके ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीयो पर किए जाने वाले अन्याय-अत्याचारो के विरुद्ध अहिसक सत्याग्रह करते हैं। भारत मे आकर वे इसी प्रयोग को कई जगह आजमाते है। उन्होने भारतीय समाज व्यवस्था के अनुसार जब तक जनशक्ति और जनसेवक शक्ति तैयार नही की जाएगी, तब तक ब्रिटिश शासन पर अकुश लाना और उन्हे अपने कर्त्तव्य का भान कराना कठिन होगा। इसके लिए उन्होंने चपारण सत्याग्रह के समय किसानो को सगठित किया, अहमदाबाद मे मजूर महाजन नामक सस्था सस्थापित की। हरिजनो को सगठित किया, महिलाओ को शराब के अड्डो पर पिकेटिंग करने और सत्याग्रह करने के कार्य मे जोडकर, उनकी शक्ति बढाई। दूसरी ओर विविध रचनात्मक कार्यो मे व्रतबद्ध जनसेवको को प्रवृत्त करके और इन जनसस्थाओ का सचालन करने मे जोड करके नए युग के ब्राह्मण तैयार किए। काग्रेस जैसी राजनैतिक सस्था मे नए प्राण फूक कर जब क्षत्रिय तैयार किए। गाधीजी स्वयं सपत्नीक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके वानप्रस्थाश्रम की साधना करते थे। इसी प्रकार सारे भारत को जागृत करके गाधीजी ने ब्रिटिश शासको को अपदस्थ करके भारत मे राजतत्र की जगह जनतत्र का सूत्रपात किया।

परन्तु दुर्भाग्य से जिस काग्रेस ने स्वराज्य से पहले वर्षो तक गाधीजी की प्रेरणा से त्याग-तप और बलिदान के प्रयोग किए, राजतंत्र को नीति-धर्मयुक्त बनाने का अथक प्रयत्न किया और सत्य अहिसा की दिशा मे बढी। जनसेवको और गाधीजी जैसे वानप्रस्थाश्रमी महात्मा के मार्ग दर्शन मे प्रगति की जनता-लक्षी बनी, उसी काग्रेस की स्थिति स्वराज्य प्राप्त होने के बाद बदली। सत्ता पर आते ही कई काग्रेसी अपने कर्त्तव्य को भुला बैठे। फलत जनता-लक्षी बनने के बदले उसकी स्थिति सत्तालक्षी बनने लगी। यद्यपि गाधीजी ने काग्रेस पर अकुश रखने और उसे नीति मार्ग मे प्रेरित करने के लिए विविध जन-सस्थाएँ और व्रतबद्ध लोकसेवको के सगठन बनाए थे। किन्तु स्वराज्य बाद के अल्पकाल मे गाधीजी के प्रयत्न करने पर भी ऐसे पूरक-प्रेरक बलो का अनुबन्ध काग्रेस के साथ जुड न सका। गाधीजी के महा-प्रयाण के बाद तो प्राय काग्रेस की स्थिति निरकुश-सी हो गई। काग्रेस मे त्याग तप की शक्ति क्षीण होने लगी। रचनात्मक कार्यकर्ताओ की प्रेरणा लेने के बजाय उन पर हावी होने लगी। दुर्दैवात् सत विनोवा

जी के नेतृत्व में तैयार होने वाले सर्वोदय कार्यकर्ताओं ने तो कांग्रेस से किनारा ही कर लिया और राज शक्ति पर जनशक्ति का अंकुश लाने एवं उसे शुद्ध रखने की अपनी जिम्मेदारी से भागने लगे। जनता को राजनीति से भगाने लगे। फलतः कांग्रेस को अंतर्निरीक्षण करके शुद्ध होने और जनसेवकों की प्रेरणा लेने की चिन्ता न रही। सर्वोदयी जनसेवक तो जनसंगठन खड़े करके उस पर अंकुश भी न ला सके। कांग्रेस को खुला मैदान मिल गया। उसने धीरे धीरे सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक आदि सभी क्षेत्रों पर अपना कब्जा जमाना शुरू कर दिया।

सौभाग्य से महात्मा गांधीजी के जीवनकाल में ही मुनि श्री संतबालजी महाराज का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने अहमदाबाद जिले के भालनल काँठा प्रदेश (४ तहसीलों के) में धर्मदृष्टि से समाज रचना का प्रयोग शुरू किया। उनकी प्रेरणा से व्यापक सर्वाङ्गी दृष्टि वाले व्रतबद्ध अध्यात्मलक्षी जनसेवकों (रचनात्मक कार्यकर्ताओं) का संघ प्रायोगिक संघ बना। उसके अंतर्गत विभिन्न ग्रामीण नीति लक्षी जनसंस्थाएं किसान मण्डल, गोपालक मण्डल और खादी ग्रामोद्योग मण्डल बने।

कांग्रेस के साथ सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में जनसंगठनों का अनुबंध और जनसेवक संगठनों का सहानुभूति सम्बन्ध जोड़ा गया। फलतः एक उसका पूरक बना और दूसरा प्रेरक। भारतीय संस्कृति के अनुरूप इस लघुतम अविरत प्रयास में कुछ सफलता भी मिली है। इस पुरुषार्थ में जहाँ कांग्रेस अपने ध्येय से डिगी है, जहाँ सिद्धान्त को चूक कर विरोधी दलों से उसने समझौता किया है, वहाँ उस पर जनशक्ति द्वारा अंकुश लाया गया है और जहाँ स्थानीय कांग्रेस के कुछ सत्ताकांक्षी व्यक्तियों ने कांग्रेस के उच्चस्तरीय आदेश को ठुकराया है, वहाँ स्वयं मुनि श्री ने अपने तपत्याग द्वारा उन्हें सही राह पर लाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार एक ओर कांग्रेस की शुद्धि के लिए प्रयत्न किया गया है तो दूसरी ओर जहाँ वह सही राह पर चल रही हो और विरोधी पक्ष भोली जनता को उभाड़ कर अपना मतलब गाँठना चाहते हों, वहाँ कांग्रेस का सक्रिय समर्थन किया और सक्रिय सहयोग भी देकर उसकी पुष्टि भी की है। उसे मतों से निश्चिन्त बनाकर, सामाजिक आर्थिक क्षेत्र जनता के और शैक्षणिक सांस्कृतिक क्षेत्र जनसेवकों के संगठनों के हाथों में सौंपने के लिए और इस प्रकार जनतंत्र को विशुद्ध जनतालक्षी एवं लोकनीति से प्रभावित करने के लिए मुनि श्री ने उपर्युक्त दोनों संगठनों द्वारा गुजरात में भगीरथ प्रयत्न किए हैं।

अब समय आ गया है कि धर्म संस्थाएं अपने उपर्युक्त दोनों अंगों श्रमण और श्रावक आज की भाषा में कहें तो क्रान्ति प्रिय साधुवर्ग और व्रतबद्ध अध्यात्मलक्षी सर्वाङ्गी दृष्टि वाले जनसेवक (रचनात्मक कार्यकर्ता) सहित अपने-अपने उत्तरदायित्वों को अपनी सीमाओं में रहकर पूरा करें। आज साधु वर्ग केवल सम्प्रदाय की चाहरदीवारी में घिरा रहकर सोचेगा तो वह जनतंत्र का धर्माभिमुख व जनलक्षी नहीं बना सकेगा। राजतंत्र की अपेक्षा आज के जनतंत्र युग में तो इस धर्म कार्य को करने का सुन्दर मौका है (महात्मा गांधी जी ने और बाद में मुनि श्री संतबाल जी ने इसके लिए साधु श्रावकों का स्वकर्त्तव्य का राजमार्ग साफ बता दिया है)। आज ओसवाल, पोरवाल आदि जातियों जैसे जाति संगठन बनाने का जमाना बीत गया। और न साम्प्रदायिकता युक्त संगठनों का युग है। अब तो धर्म

सस्थाओ के अग्रगामी साधु सन्यासियो को अपने-अपने धर्म-सघो (धर्मो) के साधु और सद्गृहस्थ (भक्त, उपासक या श्रावक) इन दोनो अगो का परस्पर धर्मानुबन्ध जुटा रखते हुए अलग-अलग सगठन रखना होगा और उनमे भी क्रान्ति-प्रिय दृष्टि सम्पन्न साधु-साध्वियो तथा क्रान्ति-मार्ग सहयोगी व्रतबद्ध सद्-गृहस्थ भाई बहनो को अलग छाँटना होगा। साथ ही असाम्प्रदायिक नीतिलक्षी जनसंगठन ग्रामो और नगरो मे बनाने होगे, जनसेवको (व्रतबद्ध रचनात्मक कार्य कर्ताओ) के अध्यात्मलक्षी सगठन बनाकर उन्हे उन जन-सगठनो के सचालन और प्रेरणा का काम सौपना होगा। कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) के साथ उक्त दोनो का अनुबध जोडकर उसे नीति धर्म प्रेरणा युक्त तथा जनलक्षी बनाना होगा, तभी धर्म सस्थाएँ धर्म को सार्वजनीन बना सकेगी, जन-जन के जीवन मे सक्रिय रूप धर्म का प्रवेश करा सकेगी। और तभी जनशासन की बुनियाद पर जनतत्री राज्य शासन को जिनशासन धर्म-पुनीत कर सकेगा। कोरी भाषण बाजी और कोरे लेखन मे धर्म-सस्थाएँ न तो अनुभव-युक्त सही विचार ही दे सकेंगी और न तदनुरूप आचार ही जनजीवन मे आएगा। धर्मनीतिविहीन एव जनलक्षिता-रहित जनतत्र खोखलातत्र होगा। और शायद वह भविष्य मे अधिनायक तत्र या फौजीतत्र भी बन जाए, जो धर्म सस्थाओ के लिए भी खतरनाक होगा।

जैन-सस्कृति और विवाह

●
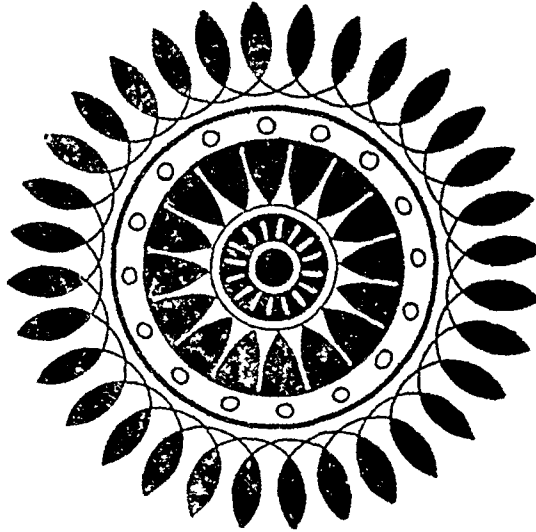
गोकुलचन्द्र एम० ए० आचार्य

पाणिग्रहण या विवाह मानव के सामाजिक जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है। स्त्री और पुरुष समाज रूपी यान के दो चक्र हैं। प्रत्येक सामाजिक तथा सास्कृतिक उपलब्धि में इन दोनो इकाइयों का समान योगदान है। स्त्री के बिना पुरुष का पुरुषत्व अधूरा है और पुरुष के बिना स्त्री का स्त्रीत्व अपूर्ण। समाजविज्ञान की तरह शरीरविज्ञान तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से भी विवाह अनिवार्य है।

जैन-सस्कृति मे विवाह की बात करते ही लोग प्राय यह प्रश्न उठा देते हैं कि जैन धर्म तो त्याग-मार्ग है जितने भी जैन महापुरुष हुए वे सभी त्यागमार्ग पर चले इसलिए जैन-सस्कृति मे विवाह का मेल ही कहाँ बैठता है ?

नि सन्देह जैन चिन्तन त्याग प्रधान है किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि जैन धर्म ने सामाजिक व्यवस्था के विषय मे बिल्कुल भी नही सोचा। जैन आचार्यों ने समाज-दर्शन पर भी उतना ही विचार किया है जितना अध्यात्म-दर्शन पर। समस्त श्रावक धर्म इसका प्रमाण है। इतना अवश्य है कि जैन-सस्कृति आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की तरह निवृत्त्युन्मुख (त्यागोन्मुख) प्रवृत्ति मे विश्वास करती है। उसमे ग्रहण भी त्याग के लिए है प्रवृत्ति भी निवृत्ति के लिए है।

जैन मान्यता के अनुसार इस युग के अतिम कुलकर नाभिराय ने पाणिग्रहण की वर्तमान प्रथा चलाई। उनके पुत्र ऋषभदेव जिन्हे जैन धर्म का प्रथम तीर्थंकर माना गया है पहले व्यक्ति थे जिनका नाभिराय ने विधिपूर्वक पाणिग्रहण सस्कार किया।

जैन का अर्थ है—विवेक पूर्ण क्रिया मे विश्वास करने वाला। किसी बात को केवल इसलिए मान लेना कि वह परपरा से चली आई है अथवा किसी बात की इसलिए उपेक्षा करना कि वह नवीन है, ये दोनो बातें जैन चिन्तन के पूर्णत. विपरीत है। अतएव चाहे वह आध्यात्मिक क्रिया हो या अन्य कोई सामाजिक व्यवस्था दोनों के विषय मे विवेकपूर्ण प्रवृत्ति करना ही जैन-सस्कृति है।

विवाह एक सामाजिक क्रिया है। सामाजिक व्यवहार को दृष्टि मे रखकर उस पर विचार करना पडता है। जैन दृष्टि उन सभी सामाजिक व्यवस्थाओ को स्वीकार करने की अनुमति देती है, जिनमे विवेक बना रहे। सोमदेवसूरि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है—

"सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि·।
यत्र सम्यक्त्व-हानि र्न यत्र न व्रतदूषणम्॥"

—यशस्तिलक, उत्तरार्ध, पृ० ३७३

अर्थात् ऐसे सभी लौकिक विधि-विधान या क्रियाएँ जैनो के लिए प्रमाण हैं, जिनसे सम्यक्त्व की हानि नही होती तथा व्रत में दूषण नही लगता।

जैन शास्त्रो मे अनेक महापुरुषो के चरित वर्णित है। विवेक की साक्षी पूर्वक उनमे से अच्छाइयाँ चुनना कठिन नही। कहा जाता है—"महाजनो येन गत स· पन्था" अर्थात् महापुरुप जिस मार्ग से चले, वही श्रेष्ठ मार्ग है।

यह महाजन क्या है—वही विवेकवान् व्यक्ति। जो स्वय नही सोच पाते, जिनमे उचित अनुचित का सपूर्ण रूप से निर्णय करने की क्षमता नही, उनके लिए ये महापुरुप आकाशदीप हैं। जिस रास्ते पर वे चले, उनके पद चिन्हो का अनुसरण करके उसी रास्ते पर चलने वाले व्यक्ति को भी उतना ही लाभ होता है, जितना स्वय मार्ग बनाकर चलने वाले व्यक्ति को।

विवाह के दो मुख्य अग है—वर और कन्या। जीवन भर के लिए इन्ही दो का एक हो जाना विवाह है, यह है भारतीय सस्कृति। पश्चिम वाले ऐसा नही मानते, उनकी अपनी सस्कृति है। वह भली है या बुरी हम यह नही कहना चाहते, पर वह भारतीय सस्कृति के विपरीत अवश्य है। उनके यहाँ विवाह एक समझौता मात्र है। समझौते अधिक दिन तक नही टिकते। यही कारण है कि वहाँ पर सबध विच्छेद के अनेक प्रसग देखे जाते है।

विवाह की सफलता उक्त वर और वधू दो अगो पर ही प्रधानतया निर्भर करती है इसलिए इनके सम्बन्ध मे विचार करना जरूरी है।

यौवन को प्राप्त प्रत्येक युवा और युवती विवाह के योग्य है। इस संदर्भ मे जैन आगमो मे प्राय· तीन वाक्य आते हैं—

१ उम्मुक्क-बालभावे[1]
२ णवगमुत्त-पडिबोहिए[2]
३ अल भोगसमत्थे[3]

अर्थात् जिसका बालभाव समाप्त हो गया हो जिसके शारीरिक नव अंग जाग्रत हो गए हो तथा जो भोग करने में समर्थ हो, ऐसे व्यक्ति की आयु विवाह योग्य है।

मध्ययुग में बाल विवाह की प्रथा चल पड़ी थी पर समाज ने उससे होने वाली कठिनाइयों और बुराइयों को महसूस किया। आज बाल विवाह सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी ही नहीं शासन की दृष्टि से अवैध भी है। इसलिए विवाह की उचित आयु वही मानना चाहिए जब युवक और कन्या दोनों ही अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से समझने लगें। विवाह की आयु को वर्षों की मर्यादा में बाँधना उचित नहीं क्योंकि देश काल और परिस्थितियों के अनुसार आयु सम्बन्धी सीमाओं में परिवर्तन होता रहता है।

जैन आगमों में वर और कन्या के गुणों का जो वर्णन आता है यदि उसी के अनुसार वर और कन्या खोज जाएँ तब तो शायद ने किसी लड़के का विवाह हो न लड़की का। आगम कालीन युवक बहत्तर कलाओं का पण्डित अट्ठारह देशों की भाषाओं का विशेषज्ञ गीत और नाट्य में कुशल अश्वयुद्ध-गजयुद्ध रथयुद्ध, तथा बाहुयुद्ध में निष्णात महान साहसिक तथा निर्भीक होता था।[4]

कन्या के गुण के विषय में कहा गया है कि कन्या वर के अनुरूप वय वाली वर के समान हो लावण्य रूप और यौवन वाली तथा समान कुल में उत्पन्न होने वाली होती थी।[5]

प्राचीन काल में विवाह का क्षेत्र इतना संकुचित नहीं था जितना आज हो गया है। आज विवाह के लिए दोहरे बन्धन हैं—

१ निकट के सबंधियों में विवाह नहीं हो सकता।
२ अपनी जाति या दायरे के बाहर विवाह नहीं हो सकता।

---

[1] भगवती श० ११, उद्देश ११
[2] ज्ञाताधर्म स्कन्ध १ अध्य० १
[3] ज्ञाताधर्म स्कन्ध १ भगवती श० ११ उद्देश्य० ११
[4] बावत्तरिकलापंडिए अट्ठारसविहिप्पगारदेसीभासाविसारए गंधव्वणट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही साहसिए वियालचारी ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १ अध्य० १
[5] सरिसयाण सरिसव्वयाण सरिसतयाण सरिसलावण्ण रूव-जोवण गुणोववेयाण सरिसएहिंतो। भगवती सूत्र शत ११ उद्दे० ११

प्राचीन काल मे ये दोनो ही प्रकार के वन्धन नही थे। जैन-दृष्टि से होना भी नही चाहिए। इन वन्धनो ने वर्तमान मे विवाह को समाज के समक्ष एक समस्या वना दिया है, इसलिए इन पर कुछ विशे विचार करने की आवश्यकता है—

(क) निकट के सवन्ध आगमकाल मे अपने परिवार के अर्थात् भाई-वहिन, पिता-पुत्री आदि के अतिरिक्त अन्य सभी निकट के सम्वन्धियो मे विवाह हो सकता था। उदाहरण के लिए—

१ उग्रसेन की कन्या सत्यभामा श्रीकृष्ण को व्याही थी। उग्रसेन तथा श्रीकृष्ण दोनो सगोत्री थे।[१]

२. भोजराज और अन्धकवृष्णि दोनो सहोदर भाई थे। भोज की पौत्री राजीमती तथा अधक के पौत्र नेमि का विवाह रचा गया था।[२]

३ भूआ (कुन्ती) के पुत्र अर्जुन को श्रीकृष्ण की वहन सुभद्रा व्याही गई थी।[३]

४ रुक्मइये राजा ने अपनी कन्या वैदर्भी अपने भानजे रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार को व्याही थी।[४]

५ चारुदत्त का विवाह अपने मामा की कन्या से हुआ था।[५]

६ महावीर की पुत्री दर्शना उनके भानजे जामाली को व्याही थी।[६]

इसी तरह के और भी अनेक उदाहरण है। इनसे स्पष्ट है कि निकट के सवन्धियो मे विवाह होते थे। सम्भवतया मामा के लडके या लडकी का सवन्ध सर्वोत्तम माना जाता था। इसका मुख्य कारण यह था कि उक्त दोनो परिवार निकट सवन्धी होने के कारण एक ओर परस्पर के आचार, विचार तथा व्यवहार से पूर्णतया परिचित होते थे दूसरी ओर सवन्धी होने के कारण पूर्व स्नेह भी होता था।

वर्तमान मे तो मामा के सवन्ध को खास तौर पर वचाया जाता है। कही-कही सीमाएँ टूट रही है, किन्तु विवेक के साथ नही, वल्कि स्वार्थो के कारण। वास्तव मे यह दायरा विवेकपूर्वक समाप्त होना चाहिए। सामाजिक अभ्युत्थान एव सुव्यवस्था की दृष्टि से ऐसे सवन्ध उचिततम है।

---

[१] हरिवशपुराण
[२] उत्तराध्ययन, अध्य० २२
[३] ढाल सागर
[४] अन्तकृत्
[५] हरिवशपुराण
[६] कल्पसूत्र, पञ्चमक्षण

(ख) अन्तर्जातीय विवाह—आगम तथा जन-दृष्टि से अन्तर्जातीय विवाह इस शब्द का प्रयोग भी गलत है। जन संस्कृति में मनुष्य मनुष्य में भेद करने वाली जाति नाम की कोई चीज ही नहीं है। सभी मनुष्य समान हैं। मानव मात्र की एक ही जाति है—'मनुष्यजातिरेकैव'

वैदिक प्रभाव तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण समाज छोटी-छोटी इकाइयों में बटकर अपने अपने दायरे में इतना कुण्ठित हो गया है कि उससे बाहर की बात सोचना भी कठिन हो गया है। जनदृष्टि से यह बन्धन न है न होना चाहिए। आगमों में ऐसे अनेक उल्लेख आते हैं जिनमें अपने दायरे के बाहर सबंध किए गए। उदाहरण के लिए—

१ श्रीकृष्ण के लघुभ्राता गजसुकुमार क्षत्रिय थे उनका विवाह की तयारी सोमिल ब्राह्मण की कन्या से की गई थी।[१]

२ तेतली प्रधान ने सुनार की कन्या पोट्टिला से पाणिग्रहण किया था।[२]

३ क्षत्रिय सम्राट वैश्रमणदत्त ने अपने पुत्र पुष्यनन्दी कुमार का विवाह वणिक्पुत्री देवदत्ता से किया था।[३]

४ जितशत्रु नामक राजा ने चित्राङ्गद नामक चित्रकार की कन्या कनकमंजरी से विवाह किया था।[४]

५ सम्राट श्रेणिक ने वणिक पुत्री नन्दा से विवाह किया था।[५]

ऐसे ही और भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि विवाह के लिए आगम काल में आजकल की तरह घेरे नहीं थे। वर्तमान में समाज अपने अपने दायरे में इतना बंधा हुआ महसूस करता है कि उसी में सिमट रहने के बाद भी उससे बाहर नहीं निकल पाता। आश्चर्य होता है कि जन समाज इतना बुद्धिवादी होने पर भी इन बुराइयों में तीव्रता से जकड़ा हुआ है। वास्तव में पूछा जाए तो इस संकुचितता ने ही विवाह को एक समस्या बना दिया है।

कुछ बौद्धिक जागृति के साथ ये बन्धन टूट रहे हैं किन्तु स्वच्छन्दता के साथ अधिक विवेक के साथ कम। जन-दृष्टि तथा सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से न तो ये बन्धन थे और न होने चाहिए। इसके बदले वर और कन्या के अधिक से अधिक योग्य होने का विशेष विचार करना चाहिए।

---

[१] अन्तकृद्०, वर्ग ३, अध्य० ८

[२] ज्ञाताधर्म०, अध्य० १६

[३] विपाक-सूत्र अध्य० ६

[४] उत्तराध्ययन अध्य० १८

[५] धन्यचरित

इस कार्य के प्रथम चरण का प्रारम्भ करने के लिए सबसे पहले हमें कम से कम जैन समाज के सभी छोटे-बडे दायरो मे वैवाहिक सम्बन्ध प्रारम्भ कर देना चाहिए।

जैन परिवार चाहे किसी भी क्षेत्र या परिस्थितियो मे रहे, उनकी जैन सांस्कृतिक परंपरा अक्षुण्ण बनी रहती है। यही कारण है कि दुनिया भर के जैनो मे एक गहरी सांस्कृतिक एकता के कारण हमारे वैवाहिक सम्बन्ध पूर्ण रूप मे सफल होंगे।

इसके अतिरिक्त इस तरह के सम्बन्धो से एक और भी बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि जैन समाज छोटे-छोटे टुकडो मे बँटकर जो छिन्न-भिन्न हो चुका है, उसमे स्वयमेव एक दृढ एकता आ जाएगी। रक्त का सम्बन्ध जब तक नही होता, तब तक भावात्मक एकता के कितने ही प्रयत्न क्यो न किए जाएँ, उनमे मतभेद की खाइयाँ नही पट सकती।

वैदिक शास्त्रो मे ब्रह्म विवाह, देव विवाह आदि आठ प्रकार के विवाहो का वर्णन आता है। सामाजिक हित की दृष्टि से वे सबके सब न तो उस समय उपयोगी थे, न इस समय है। इनके अतिरिक्त जैन-दृष्टि से भी उनका मेल नही बैठता।

विवाह को दो श्रेणियो मे रखना चाहिए—

१ जिनका निश्चय तथा आयोजन माता पिता या सबन्धी करे।

२ जिनका निश्चय तथा आयोजन वर और कन्या स्वय करें।[1]

पहले प्रकार के विवाह की सफलता तथा वर और वधू के योग्य चुनाव का पूर्ण उत्तरदायित्व माता-पिता या निश्चय करने वाले सबन्धियो पर होता है। उनकी कुशलता मे ही सबध योग्यतम हो सकते है।

दूसरे प्रकार के सबन्धो मे वर और कन्या माता-पिता की अपेक्षा किए बिना ही संबन्ध का निश्चय तथा आयोजन स्वत करते है। प्रेम विवाह आदि इसी के अन्तर्गत आ जाते है।

सामाजिक दृष्टि से उक्त दोनो प्रकार के विवाह उपयोगी है, बशर्ते कि निश्चय और आयोजन करने वाले अपने उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप मे समझे। स्वार्थी अथवा अविवेकी माता-पिता और रिश्तेदारो के द्वारा किए गए विवाह तथा प्रेम और भावुकता के आवेग मे युवक और कन्या द्वारा स्वय किए गए विवाह दोनो ही अयोग्य है तथा सामाजिक दृष्टि मे अहितकर भी है। इसलिए विवाह का निश्चय माता पिता या सबन्धी करे अथवा युवक और कन्या स्वय, किन्तु योग्य व्यक्ति के चुनाव मे पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए।

---

[1] वर्तमान मे यही दो रूप देखे जाते हैं।

उपयुक्त दानो प्रकारा का समन्वयात्मक रूप यह भी हो सकता है कि विवाह का निश्चय माता पिता या अभिभावक तथा युवक और कन्या मत्र परामश पूवक करें। माता पिता का अपने पुत्र या पुत्री का सबध याग्यतम करने की अभिलाषा हानी ही है अतएव उन्ह अपन पुत्र या पुत्री की भावनाओ का भी आदर करना चाहिए। इसी तरह यदि कन्या या युवक विवाह का निश्चय स्वय भी करें तो भी उन्ह अपने माता पिता या रिश्तेदारा का परामश ले लेना उचित हागा। इसस कवल बडा का सम्मान ही नही होगा प्रत्युत आगामी जीवन म उनका सदा सहयाग और शुभकामनाए भी प्राप्त हाती रहगी। अनक सभ्रात परिवारा म यह परपरा अब भी प्रचलित है। ऐसे सबधा की उपयागिता सवविदित है। इसक प्रसार क लिए माता पिता तथा युवक और कन्या का उदारमना हाना आवश्यक है। केवल अपनी बात को मनवान का आग्रह रहन पर यह सभव नही।

इस प्रकार सबध का निश्चय माता पिता या सबधी करें अथवा युवक और कन्या स्वत अथवा सब मिलकर किन्तु निश्चय हान के बाद सामाजिक स्वीकृति क रूप म उनका विधिवत् पाणिग्रहण सस्कार अवश्य हा जाना चाहिए। जिस प्रकार असस्कृत (शान पर नहा चढाया गया) रत्न भी अपन तज का प्रकट नही करता उसी प्रकार सस्कार क अभाव म युवक और कन्या का सबध भी सामाजिक प्रतिष्ठा नही पा सकता।

पुनर्विवाह के सबध म वतमान मान्यताए कुछ विचित्र-सी है। यदि किसी पुरुष की पत्नी का स्वगवास हा जाए या वह पत्नी का त्याग कर द ता वह अन्य विवाह कर सकता है। सामाजिक दृष्टि से इसम कोई रुकावट नहा डाली जाती। इसक विपरीत यदि किसी स्त्री क पति का स्वगवास हो जाए या उसका पति उस छाड द ता वह दूसरा विवाह नही कर सकती। यदि करती है तो सामाजिक दृष्टि मे अनुचित बताया जाता है। वास्तव म पूछा जाए ता यह पुरुष जाति की स्त्री जाति पर ज्यादती है। यदि पुरुष का दूसरा तीसरा सबध करन का अधिकार है ता स्त्री का भी वह अधिकार हाना चाहिए।

पुनर्विवाह का निश्चय और आयाजन भी प्रथम विवाह की तरह ही माता पिता वा सबधियो अथवा स्त्री-पुरुष का स्वय पूरे उत्तरदायित्व क साथ करना चाहिए। स्त्री क पुनर्विवाह का उत्तरदायित्व (यदि वह स्वत नही करती) उसके ससुराल वालो पर है। जिस तरह व अपनी कन्या क विवाह का निश्चय वा आयाजन करते हैं उसी तरह उन्हें इस या परित्यक्ता के विवाह का भी आयाजन करना चाहिए। उसके नाबालिग बच्चों पर उसका अपना अधिकार हाना चाहिए।

प्राचीन काल म वर या कन्या का खाज करन क मुख्य दो साधन थ—

१ राजे महाराज अपनी कन्या क स्वयवर का आयाजन करत जिसम अनक दश देशान्तरा क राजकुमारा का आमन्त्रित किया जाता। कन्या उनम म सवश्रष्ठ का चुन लता बाद म उन दोनो का पाणिग्रहण हाता।

२ जन साधारण अपने पुत्र या पुत्री के विवाह योग्य होने पर योग्य सबन्ध की खोज के लिए धात्री तथा पुरोहित को भेज देते । योग्य सबन्ध मिलने पर विवाह का निश्चय तथा आयोजन होना ।

वर्तमान की दृष्टि से उक्त दोनो ही प्रकार अव्यवहार्य तथा अपरिपूर्ण है । इसके विपरीत आज के सबसे बड़े पुरोहित और धात्री पत्र-पत्रिकाएँ है । पत्र पत्रिकाओ मे आवश्यकता प्रकाशित कर देने से घर बैठे पुरोहित का कार्य समय, शक्ति और धन के अपव्यय के बिना ही हो जाता है । यदि स्वयंवर अर्थात् युवक या कन्या को स्वत सबन्ध करना हो तो भी पत्र-पत्रिकाओ मे आवश्यकता प्रकाशित करना सर्वाधिक कार्यकर है ।

पत्र-पत्रिकाओ की इतनी उपयोगिता होने पर भी वर्तमान में उनसे पर्याप्त लाभ नही लिया जा रहा है । कुछ थोडे से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगो को छोडकर प्राय सभी लोग पत्र-पत्रिकाओ मे वैवाहिक आवश्यकता प्रकाशित करना अपना अपमान-सा समझते हैं । यदि सभी लोग पूरे विवरण के साथ आवश्यकताएँ प्रकाशित कराने लगें तो वर या कन्या की खोज करने मे कठिनाई न रहे । प्रत्येक विवेक-शील व्यक्ति का इस ओर ध्यान देना आवश्यक है ।

आजकल विवाह का निश्चय करने के लिए मंगनी या तिलक का रिवाज है । आगमों मे इस तरह के कोई उल्लेख नही मिलते । आज की तरह उन दिनो दूसरो के धन से धनी होने की क्षुद्र प्रवृत्ति नही थी । मगनी या तिलक ने वर्तमान मे विवाह को एक समस्या बना दिया है । पाणिग्रहण के पूर्व ही कन्या के माता पिता से हजारो रुपये या हजारो रुपयो का सामान मगनी या तिलक के रूप मे लेना आज आम रिवाज सा होगया है । सामाजिक दृष्टि से यह एक निन्दित एव घातक प्रवृत्ति है, जिसे सर्वथा समाप्त होना ही चाहिए ।

पाणिग्रहण का निश्चय करने के लिए समाज के कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो के समक्ष केवल एक श्रीफल का आदान-प्रदान होना पर्याप्त है ।

बहुत समय पहले से भी विवाह का निश्चय नही करना चाहिए । इसमें होने वाली अनेक बुराइयो से लोग परिचित है । अतएव सर्वाधिक उचित तो यही है कि निश्चय और पाणिग्रहण दोनो एक साथ हो। फिर भी यदि पहले निश्चय करना ही हो तो भी दो माह से अधिक पहले निश्चय नहीं करना चाहिए ।

विवाह के मुहूर्त के सबन्ध मे आगमो मे यह कथन आता है कि शुभ तिथि, शुभ करण, शुभ नक्षत्र शुभ मुहूर्त, शुभ योग मे पाणिग्रहण कराया ।[1] निःसन्देह कोई भी मागलिक कार्य करने के लिए शुभ मुहूर्त देखा जाता है, फिर विवाह तो एक ऐसा महत्त्वपूर्ण और मागलिक कार्य है कि संपूर्ण जीवन को

---

[1] सोहणसि तिहि-करण-नक्खत्तमुहुत्तसि जोग''' ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १ अध्य० १ भगवती, शतक ११, उद्देश ११

व्याप्त करता है, इसीलिए उसके लिए शुभावसर देखा जाता है पर इस शुभावसर का निश्चय कौन कर यह तिथि अच्छी है यह नही या दिन अच्छा है या नही—इस बात का निर्णय कैसे किया जाए ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके समाधान के लिए ब्राह्मण देवता का सहारा लिया जाता है। वह ज्योतिषी ब्राह्मण जिस तिथि को अच्छा बताए वह अच्छी है, शेष बुरी। तथ्य यह है कि हमारा सारा सामाजिक जीवन ब्राह्मण के साथ ऐसा जकड दिया गया है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तथा उसके बाद भी ब्राह्मण हमारा पीछा नही छोडता। बौद्धिक जागृति के अनुसार म सब क्रियाकाण्ड समाप्त हो रहे है। इसीलिए विवाह के लिए भी ब्राह्मण का उपयोग नहीं किया जाना चाहिए। मुहूर्त निकलन के विषय में लोगो को थोडी हिचकिचाहट हो सकती हैं। इस विषय म मेरा यह सुझाव है कि वर्षावास के अतिरिक्त अन्य दिनो म तीर्थकरो के जिस जिस दिन कल्याणक पडते हैं अथवा अन्य पुण्य तिथियाँ जिन्हे धर्म म पर्व या त्यौहार के रूप म माना गया वे सभी तिथियाँ शुभ है तथा मांगलिक है। अतएव इन्ही तिथियो म सबन्ध कर लेना चाहिए। ऐसा करने से मुहूर्त निकालन के लिए होने वाली सारी झझटें समाप्त हो जाती हैं। किसी भी जनतिथि दर्पण अथवा ऐसी पुस्तक म दिए गए चार्ट से कोई भी व्यक्ति शुभ तिथि देख सकता है। इसके साथ ही इस प्रकार के मुहूर्त शोधन से हमारी एक स्वतन्त्र जन सांस्कृतिक परपरा प्रारभ होगा।

विवाह जैसे पुण्य और पवित्र कार्य म बहुत समय से बाह्य आडबर फिजूल-खर्ची दहेज आदि कुछ ऐसी विकृतियाँ आ गई हैं। जिनने इस पुण्य कार्यको एक गहरी परेशानी और बडी भारी सामाजिक समस्या बना दिया है।

विवाहो म आजकल बाह्य आडबर इतना अधिक बढता जा रहा है कि अनेक लोग तो दिखाने के लिए अपनी शक्ति और मर्यादा से भी अधिक खर्च करने लगे है। सामाजिक हितो के साथ साथ व्यक्तिगत हित को भी ताक म रखकर किए जाने वाले ऐसे बाह्य आडबरो पर समाज की ओर से प्रतिबन्ध होना आवश्यक है।

विवाह आदि सभी मांगलिक अवसरो पर प्राचीन काल म प्रचुर दान दिए जाने की चर्चा आती है। राजे महाराजे और सेठ साहूकार अपने खजाने खोल देते थे आवश्यकता वाले व्यक्ति को मुँह माँगा दान देते थे। साधारण परिवार भी अपनी मर्यादा के अनुकूल दिया करते थे। अपूर्व उत्साह के साथ नृत्य गीत वादित्र आदि के मधुर आयोजन होते थे पर इन सब म मर्यादाएँ थी। आज इन परम्पराओ का रूप इतना विकृत हो गया है कि दान का स्थान फिजूल खर्ची ने ले लिया है तथा नृत्य गीत आदि का स्थान थोथे आयोजन लेते जा रहे हैं। विवाह म हजारो रुपए लुटाने वाले व्यक्ति के स्वय अपने रिश्तेदार भी भले ही धन भाव म पिसते रहे किन्तु उनकी आवश्यकता की पूर्ति न करके फिजूल खर्ची की जाती है।

निःसंदेह विवाह तथा वैसे ही अन्य शुभावसरो पर प्रत्येक व्यक्ति को अपूर्व उत्साह के साथ अपनी अपनी मर्यादा के अनुसार खर्च करना चाहिए। इसके लिए विशुद्ध सांस्कृतिक परपरा यह होगी कि वह

अपने सहधर्मी व्यक्तियो की सहायता करे तथा शिक्षा और सामाजिक सस्थाओ के लिए सहयोग करे। इस प्रकार के खर्च करने वाले को एक स्थायी पुण्य और यश का लाभ होगा, दूसरी ओर उन आवश्यकता-ग्रस्त बन्धुओ को सहयोग और शिक्षा तथा सामाजिक सस्थाओ को स्थायित्व प्राप्त होगा।

दहेज के लिए प्राचीन शब्द प्रीतिदान था।[1] प्राचीन-काल मे प्रचुर मात्रा मे प्रीतिदान देने का रिवाज था। भगवती सूत्र तथा ज्ञाताधर्म मे प्रीतिदान के जो उल्लेख आए हैं, उतना प्रीतिदान देने की तो आज कल्पना करना भी कठिन है। महाबलकुमार तथा मेघकुमार को इतना प्रीतिदान दिया गया था कि उनकी सात पीढियो तक खर्च करते रहने पर भी समाप्त न हो।[2]

आज इसका स्वरूप अत्यन्त विकृत हो गया है। अब प्रीतिदान देने की प्रथा नही, लेने की प्रथा चल पडी है, वह भी कन्या के माता पिता से। यदि उनमे सामर्थ्य न हो तो भी उन्हे दहेज देने के लिए बाध्य किया जाता है। इसे प्रीतिदान कहना प्रीतिदान का उपहास मात्र है। यह प्रथा समाज के लिए घातक है। इसे समाप्त होना ही चाहिए। कन्या पक्ष वाले तो दहेज का विरोध करें ही, वर पक्ष वालो को भी इसका विरोध करना चाहिए।

विवाह की सही मर्यादाएँ वही है, जिन्हे समाज देश, काल और परिस्थितियो के अनुसार निश्चित करती है। इन मर्यादाओ का पूर्णरूप मे पालन किया जाना चाहिए। जैन-दृष्टि से विवाह का यह सास्कृतिक स्वरूप है।

---

[1] अम्मापियरो पीतिदाण दलयति, भगवती, शत ११ उद्दे० ११, ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

[2] विउल धण कणग जाव सत सावदेज्ज अलाहि जाव आसत्तमाओ कुलवसाओ पकाम दाउ पकाम परिभोत्तुं परिभाएउ, भगवती शत० ११, उद्दे० ११; ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

[3] तस्स महब्बलस्स कुमारस्स अम्मापियरो पीतिदाणं दलयति, भगवती शत ११, उद्दे० ११ तस्स मेहस्स अम्मापियरो·· पीतिदाणं दलयति ज्ञाताधर्म, स्कन्ध १, अध्य० १

भारतीय सस्कृति मे सगीत-कला

देवेन्द्रमुनि शास्त्री साहित्यरत्न

सगीत एक कला

सगीत एक कला है अपन आप म इतनी परिपूण और चित्ताकर्षक कि गुलाबी बचपन स लकर जावन की सुनहरी सन्ध्या तक सभी क दिल का लुभा लता है मन का मोह लती है और हृदय का हर लता है। यह कवल विशिष्ट शिष्ट व्यक्तियो का ही प्रिय नही अपितु निरक्षर स्त्री-पुरुषो बालक वृद्ध युवक धनवान निधन किसान और विद्वान सभी का प्रिय है। सभी का समान खाद्य है।

सगीत का महत्व

इतना ही नही स्वर्गीय सगीत की सुमधुर स्वर-लहरा को श्रवण कर मानव तो क्या पशु-पक्षी भी विमुग्ध हा जात है और अपन क्रूर हिंसक स्वभाव का विस्मृत करके अहिंसक बन जात है।

भारतीय सस्कृति क एक महान् आचाय जो सगीत की महिमा स भली भाँति परिचित है उन्हान क्या ही सुन्दर कहा है—

'तृणादोऽपि पशु मूर्खो वन-वृद्धाऽपि य पशु ।
सोऽपि गीतान्न याति, मगो भूपेषु का कथा ॥

जैन साहित्य के अध्येता यह अच्छी तरह जानते ह, कि "कपिल मुनि" ने उत्तराध्ययन सूत्र के आठवे अध्ययन को ध्रुवपद मे गाकर पाँच सौ तस्करो से स्तेय कृत्य छुडवाकर जैनेन्द्री-दीक्षा प्रदान की थी।

भारतीय इतिहास विज्ञो से यह बात छिपी हुई नही है, कि उन भक्त-प्रवर कवियो ने और प्रबुद्ध प्रतिभा-सम्पन्न सन्तो ने सगीत से जन-गण-मन मे से उदासीनता और निराशा को हटाकर, आशा और उल्लास का सचार किया। भोग की भयकर गदगी को हटाकर भक्ति का सुगन्धित सरसब्ज बाग लगाया व दार्शनिक जैसे गहन गम्भीर विचारो को और धार्मिक जैसी भव्य भावनाओ को गगन-चुम्बी राज प्रासादो से लेकर गरीबो की झोपडियो मे भी पहुँचाने का प्रयत्न किया।[1] वस्तुत सगीत एक ऐसा सुनहरा धागा है, जिसने सारे देश को एकता के सूत्र मे बाँधा है।

आजकल कुछ पाश्चात्य विचारको ने सगीत का नवीन प्रयोग प्रारम्भ किया है। सगीत के द्वारा उन्होंने अनेक असाध्य मानसिक व शारीरिक व्याधियो को ठीक किया है, उनका यह दृढ मन्तव्य है कि "भविष्य मे सगीत-चिकित्सा मानव समाज के लिए वरदान सिद्ध होगी।"

नाट्य-शास्त्र के रचयिता आचार्य भरत ने सगीत का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए कहा है— "सगीत ससार के सभी प्राणियो के दु ख-शोक का नाशक है, और आपत्ति काल मे भी सगीत सुख देने वाला है।[2] और भर्तृहरि ने सगीत कला से अनभिज्ञ व्यक्ति को पशु की सार्थक सज्ञा प्रदान की है।[3] और महात्मा गाधी ने कहा, "सगीत के बिना तो सारी शिक्षा ही अधूरी लगती है।[4] अत चौदह विद्याओ मे सगीत को एक प्रमुख विद्या माना है।

यह कहना अतिशयोक्ति-पूर्ण नही होगा, कि सगीत मे जितनी मधुरता, सरसता व सरलता है, उतनी अन्य कलाओ मे नही। माधुर्य ही सगीत-कला का प्राण है, जो जादू की तरह अपना प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाता है।

---

[1] भारत मे भक्ति ने सगीत को और संगीत ने भक्ति को बहुत आगे बढ़ाया है।

—महात्मा गांधी

[2] सर्वेषामेव लोकाना, दुःख-शोक-विनाशनम्।
यस्मात्सदृश्यते गीत सुखद व्यसनेष्वपि ॥

—आचार्य भरत

[3] "साहित्य-सगीत-कला-विहीन'
साक्षात् पशु पुच्छ-विषाण-हीन.।

—नीति-शतक

[4] गाधी जी की सूक्तिया

सगीत क्या है ?

सगीत हृदय की भाषा है और वह अनेक राग रागिणिया के माध्यम से गाया जाता है। सगीत का मूल आधार राग है। राग की परिभाषा प्राय सभी मुख्य मनीषियों ने एक-सी की है जो ध्वनि विशेष स्वर-वर्ण से विभूषित हो जनचित्त का अनुरजन करने वाला हो वह राग है।

गीत क्या है ? जिज्ञासु के प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य ने कहा— आकर्षण स्वर सन्दर्भ का नाम ही गीत है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति की टीका में आचार्य मलयगिरि ने पद स्वर-तालावधनात्मक गान्धर्व को गीत कहा है।[1]

समवायाङ्ग-सूत्र की टीका में आचार्य अभयदेव ने गान्धर्व-कला गान विज्ञान को गीत कहा है।[2]

गीत शब्द के पूर्व सम् उपसर्ग लगजाने से सगीत शब्द बना है। जिसका अर्थ सम्यक प्रकार से लय ताल और स्वर आदि के नियमों के अनुसार पद्य का गाना है।

सगीत का प्रारम्भ कब से

सगीत श्रवण करना और गाना मानव जीवन की सहज जिज्ञासा है। सगीत का प्रारम्भ कब से हुआ इस विषय में कुछ कह सकना सरल न होगा। किन्तु यह स्पष्ट है कि सगीत का इतिहास बहुत प्राचीन है। वह मानव जीवन का प्रारम्भिक साथी है।

भारतीय साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारतीय साहित्य में अन्य विषयों की चर्चा के साथ सगीत का भी विशद विश्लेषण किया गया है। आगम त्रिपिटक वेद और उपनिषदों में सूत्र रूप में खासी अच्छी चर्चा है। परवर्ती विज्ञों ने फिर उसका अच्छा विकास किया है यहाँ पर सभी की चर्चा करना तो सम्भव नहीं पर कुछ विचार अवश्य किया जाएगा। जिससे यह ज्ञात हो सके कि गीता के बीज कहाँ-कहाँ पर बिखरे पड़े हैं।

---

[1] 'गीत पदस्वर तालावधानात्मक गान्धर्वमिति भरतादि शास्त्र वचनात्।'

—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

[2] "गीत—गान्धर्व-कला-गान विज्ञान मित्यर्थ

—समवायाङ्ग सूत्र ७२

जैनागमो मे सगीत

आगम, जैन-दर्शन के विचारो का मूल-स्रोत है। आगमो मे अनेक स्थलो पर विविध दृष्टियो से गीतो का वर्णन उपलब्ध होता है। कही कला की दृष्टि से, कही विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से और कही विरक्ति के विवेचन के रूप मे। "जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति", "प्रश्न-व्याकरण", "जीवाभिगम", ज्ञाताधर्म कथा, "समवायाङ्ग" वृहत्कल्प, स्थानाङ्ग और अनुयोगद्वार आदि आगमो मे "गीत" शब्द का प्रयोग हुआ है। और कही कही तो प्रस्तुत शब्द पर विस्तार से विवेचन भी है।

भगवान् श्री ऋषभदेव ने प्रजा के हित के लिए, अभ्युदय के लिए, जन-जीवन मे, सुख और शान्ति का सचार करने के लिए, कलाओ का उपदेश प्रदान किया है।[1] उन कलाओ मे बहत्तर कलाए पुरुष के लिए थी।[2] और चौसठ कलाएं महिलाओ के लिए थी। उन बहत्तर कलाओ मे गीत पचम कला है और चौसठ कलाओ मे गीत ग्यारहवी कला है। जिसका उस युग मे स्त्री और पुरुष दोनो के लिए परिज्ञान करना आवश्यक माना जाता था। ज्ञाताधर्मकथा मे मेघकुमार का वर्णन करते हुए उसकी विशेषता का वर्णन किया है, कि वह गीत, रति, गाधर्व और नाट्य कलाओ मे कुशल था।[4]

स्थानाङ्ग मे काव्य के चार प्रकार बताए है। उसमें सगीत भी काव्य का एक भेद है।

गीत के प्रकार

समवायाङ्ग मे गीत-कला का उल्लेख करते हुए टीकाकार ने गीतो के तीन भेद किए है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—"भगवन्, स्वर कितने है? गीत का प्रादुर्भाव कहाँ से होता है? कहाँ उछ्वास ग्रहण किए जाते है, और कितने गीत के प्रकार होते है?

---

[1] बावत्तरि कलाओ, चउसट्ठी महिलागुणे सिप्पसय कम्माण तिन्नि वि पयाहिआए उवदिसइ?
—कल्पसूत्र सुबोधिका टीका सूत्र १११.

[2] लेहाइआओ गणि अप्पहाणाओ सउणस अपज्ज वसाणाओ बावत्तरि कलाओ उपदिदेश।
—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति वक्षस्कार

[3] समवायाग ७२

[4] गीइरई गधव्व नट्ट कुसले —ज्ञाता. अ० आगमो० पृ० ३८

[5] चउव्विहे कव्वे प० त० गज्जे, पज्जे, कत्थे, गेये—स्थानांग स० ३६६ आगामो० पृ० २८७

[6] गीत-कला, सा च निवन्धन-मार्गश्छलिमार्ग-भिन्नमार्ग-भेदात्त्रिधा।
—समवायाङ्ग ७२

आचाय समाधान देता है। वत्स ! सात स्वर है, और वे नाभि से समुत्पन्न होते हैं। नाद ही उसका मूल स्थान है। छद के प्रत्येक चरण म उच्छवास ग्रहण किए जाते है और गीत के तीन प्रकार हैं।[1]

शिष्य पुन प्रश्न करता है। भन्त ! गीत के तीन प्रकार कौन से है ? इसका समाधान भी आगमकार देते हैं। गीत प्रारम्भ में मदु होता है मध्य म तेज होता है और अत म पुन मद होता है।

छन्द

शिष्य जिज्ञासा करता है। प्रभो ! छन्द कितने प्रकार का होता है। आगमकार समाधान देते हैं कि छन्द तीन प्रकार का है।

१ सम—जिस छन्द के चारों पदों के अक्षरों की सख्या समान हो वह सम कहलाता है।

२ अधसम—जिस छन्द के प्रथम और ततीय द्वितीय और चतुथ पद समान सख्या वाले हों वह अधसम कहलाता है।

३ विषम—जिसमे किसी भी पद की सख्या एक-दूसरे से न मिलती हो वह विषम कहलाता है।

कौन कसे गाता है

शिष्य प्रश्न करता है भगवन् ! क्या सभी व्यक्ति एक सदृश गाते हैं, या विभिन्न तरह से गाते है। आगमकार समाधान करते हैं, कि सभी एक सदृश नहीं गाते हैं किन्तु अलग-अलग तरीके से गाते हैं स्थानाङ्ग के अनुसार श्यामा मधुर गाती है। काली खर रूक्ष गाती है गौरी चतुर गाती है, काणी अविलम्ब गाती है। अधा द्रुत गाता है और पिंगल विस्वर गाता है।

वदिक ग्रथो मे सगीत

वदिक मान्यताओं का मूल आधार वेद है। ऋग्वेद ससार का प्राचीनतम ग्रथ माना जाता है। जब ऋग्वेद के मत्र स्वरालाप म गाए जाते हैं तब उसे साम कहते हैं। सामवेद के स्वतन्त्र मन्त्र बहुत

---

[1] (क) सत्त सराओ कओ सभवति गेयस्स का भवति जोणी ?
कति समता उस्सासा कति वा गेयस्स आगारा ॥

—स्थानाङ्ग ७, उद्दे० ३, स्वरप्रकरण
गा १६ सू० ५५३, आगमो० पष्ठ ३६३

(ख) सत्त सराओ कओ वा हवति गीयस्स का हवइ जोणी।
कइ समया ओसासा कइ गीयस्स आगारा ॥

—अनुयोगद्वार गा० १६

ही कम है। उसमे प्राय सभी मत्र ऋग्वेद के ही है। "साम" का अर्थ-गाना है। वैदिक मान्यतानुसार सगीत का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है।

प्राचीनकाल मे गधर्व और किन्नर इस कला के मर्मज्ञ होते थे। अत "गधर्व वेद" के नाम मे भी यह कला प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद मे तीन प्रकार के वाद्यो का उल्लेख है। दुदुभी, वाद्य-बाँसुरी और वीणा।[1] यजुर्वेद मे भी सगीत के प्रसग मे वीणा, बाँसुरी और शग्व बजाने का वर्णन मिलता है। अनेक वैदिक ग्रन्थों मे गीत के गाने के उल्लेख प्राप्त होते है। श्रीमद्भागवत मे व्यास ने गिर्वाण गिरा की सुप्रसिद्ध कवयित्री विज्जका ने, पातजल महाभाष्य ने, नैपध महाकाव्य मे श्रीहर्ष ने और रामचरितमानस मे तुलसीदास ने गीत गान का उल्लेख किया है।

वैदिकविज्ञो ने सगीत पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। सर्व प्रथम इसका शास्त्रीय वर्णन भरत मुनि के नाट्यशास्त्र मे मिलता है। भामह का "अलकार-शास्त्र", मतग का "बृहद्देशी," कालीनाथ का "सगीत-रत्नाकार" राग-निबोध, संगीत-पारिजात और सगीत-दर्पण आदि मे इस कला का सुन्दर निरूपण है।

बौद्ध-साहित्य मे सगीत

जैन और वैदिक साहित्य मे जिस प्रकार सगीत कला का वर्णन मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य मे भी।

"विनय पिटक" बौद्ध साहित्य का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे राजगृह की पहाडी पर होने वाले समाज का वर्णन है, जिसमे नृत्य और सगीत होते थे।[2]

गुहिल जातक मे बनारस का वर्णन है। उस समय बनारस सगीत-विद्या का केन्द्र था। जहाँ कभी-कभी वीणा-वादन और सगीत की प्रतियोगिता होती थी[3]।

मध्यकाल मे संगीत

मध्यकाल मे मानव आध्यात्मिकता से हटकर भौतिकता की ओर बढा, जिससे सगीत मे मोक्ष पुरुषार्थ शनै शनै कम होने लगा। बादशाही जमाने मे सगीत की बहुत उन्नति हुई है। लेनपूल के

---

[1] यजुर्वेद ३०।६-७, ११।१७।२०

[2] विनय-पिटक ३।५।२।६

[3] जातक २।५।२४८

मतानुसार प्रत्यक मुगल शहजाद से यह आशा का जाती थी कि वह सगीत म प्रवीण हो। बाबर सगीत का अत्यधिक प्रमी था। हुमायू के दरबार म प्रति सोमवार व बुधवार को सगीतन एकत्रित होते थ। १५३५ ई० म जब उसने माण्डू पर विजय पताका फहराई तब "बच्च् नामक गायक पर इतना मुग्ध हुआ, कि उसे दरबार म विशिष्ट स्थान दिया। सूरी वश अफगान सुलतान और आदिलशाह सूरी भी सगीत क प्रेमी थे। अबुल फजल' के अनुसार अकबर के दरबार म विभिन्न दशो क छत्तीस सगीताचाय रहत थ उनम तानसन प्रमुख था। जहागीर और शाहजहा न भी सगीतज्ञो को आश्रय दिया था। औरगजब सगीत का विरोधी था। उसन दिल्ली मे सगीत का जनाजा भी निकाला था। रोशन अख्तर माहम्मदशाह न पुन सगीत को बढावा दिया। उसी युग म शोरी ने सगीत म टप्पा' उपस्थित किया। बहादुरशाह जफर स्वय अच्छे सगीतज्ञ थ। ई० सन् १७७९-१-०४ म जयपुर क महाराजा प्रतापसिंह के दरबार म विशिष्ट सगीतज्ञा का सम्मलन भी हुआ। और सगीत-सागर नामक पुस्तक भी लिखी गई। उसक पश्चात् राग रागिणिया का सरलता स वणन किया गया। इस प्रकार मध्यकाल म सगीत की उन्नति हुई पर मुख्यत मनोरजन के रूप म हा। यह ठीक है कि उस युग म जन सत कविया न और वदिक भक्त-कवियो ने जो सगीत सिरजा, वह आध्यात्मिक रस स आप्लावित है। उनका तेजस्वी स्वर भौगोलिक सीमाआ को लाघकर सुदूर प्राता म भी गूजा और जन जीवन का अत्यधिक प्रभावित किया और वह लोकप्रिय रहा।

आज का सगीत

वतमान भारतीय सगीत को प्राचीन सगीत का प्रतिनिधि नही कह सकत और न वह उसका परिष्कृत और विकसित रूप ही है। आज का कलाकार उसमें बिजली की तडप सचलाइट की चकाचौंध और सकस की कलाबाजी दिखाने मे तुला हुआ है और उसी म सगीत कला की साथकता अनुभव कर रहा है।

आज सिनमा क गीतो का प्रचार प्रतिदिन बढ़ रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरजन करना है पर मनोरजन का स्तर दिन प्रतिदिन हीन व हीनतर होता जा रहा है। सिनमा सगीत म इस तामसी प्रचार स आत्म-कल्याण की अमर प्रेरणा प्रदान करन की अपक्षा जिन विनाशकारी दुर्भावनाओ का सृजन किया है वह किस विचार-शील विचारक स छिपा है। सिनेमा सगीत केवल दो पुरुषार्थों का प्रतिनिधित्व कर रहा है। विषय वधन विचारो का प्राधान्य गीतो म इतना बढ़ गया है कि उसम नतिक चलना जीवन की गहनतम समस्याओ का समाधान सद्भावना-सहिष्णुता और सदाचार का अभाव हो गया है। वस्तुत य हलके गीत भारतीय सस्कृति और सभ्यता के लिए कलक है।

हिन्दी का भक्ति-साहित्य

डा० श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

जिस समय हिन्दी का भक्ति-साहित्य वनना शुरू हुआ था, वह समय एक युग-सधि का काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड रहा था, जो उसकी जानी हुई नही थी। अव तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वन्द्वी नही था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे। और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकडो जातियाँ और उपजातियाँ वनती जा रही थी, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अव सामने एक सुसगठित समाज था, जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक वार कोई भी व्यक्ति उसके विशेप धर्ममत को यदि स्वीकार करले, तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रक और व्राह्मण से चाण्डाल तक सवको धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अव असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय मे दक्षिण मे भक्ति का आगमन हुआ, जो "विजली की चमक के समान" विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपो मे अपने-आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएँ है, जिन्हे निर्गुणधारा और सगुणधारा नाम दे दिया गया है। इन दोनो साधनाओ ने दो पूर्ववर्ती धर्म-मतो को केन्द्र वनाकर ही अपने-आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारो को केन्द्र वनाया और निर्गुण उपासना ने योगियो अर्थात् नाथपथी साधको के निर्गुण परव्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की वाह्याचार की शुप्कता को आन्तरिक प्रेम से सीचकर

साहित्य और कला

रसमय बनाया और दूसरा साधना न वाह्याचार का शुष्कता को हा दूर करन का प्रयत्न किया। एक न समभौत का रास्ता लिया दूसरा न विद्राह का एक न शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी न अनुभव का एक न श्रद्धा का पथ प्रदशक माना दूसरी न नान का एक न सगुण भगवान् को अपनाया दूसरी न निगुण भगवान् का। पर प्रम दाना का हा माग था।

सूखा नान दानो का हा अप्रिय था कवल वाह्याचार दाना म स किसा का सम्मत नही था, आन्तरिक प्रम निवदन दाना को इष्ट था अहतुक भक्ति दाना की काम्य थी आत्म-समपण दोनो क साधन थ। भगवान् की लाला म दाना ही विश्वास करत थ। दाना हा का अनुभव था कि भगवान् लाला क लिए हा इस जागतिक प्रपच का सम्हाल हुए ह। पर प्रधान भद यह था कि सगुण भाव स भजन करन वाल भक्त भगवान् का अलग रखकर दखन म रस पात रह जब कि निगुण भाव स भजन करन वाल भक्त अपन-आप में रमें हुए भगवान् को हा परम काम्य मानत थ।

उन दिना भारतवष क शास्त्रज्ञ विद्वान निबध रचना में जुट हुए थ। उन्हान प्राचान भारतीय परम्परा को शिरोधाय कर लिया था—अथात सब कुछ का मानकर सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर अपना रास्ता निकाल लना। सगुण भाव म भजन करन वाल भक्त लाग भी सम्पूण रूप स इसी पुरानी परम्परा स प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। व समस्त शास्त्रा और मुनिजना का अकुण्ठ चित्त म अपना नता मानकर उनके वाक्या का सगति प्र म पक्ष में लगान लग। इसके लिए उन्ह मामूली परिश्रम नही करना पडा। समस्त शास्त्रा क प्र म भक्ति-मूलक अथ करत समय उन्ह नाना अधिकारिया और नाना भजन शलिया की आवश्यकता स्वाकार करनी पडी नाना अवस्थाओ और अवसरा का कल्पना करना पडा और शास्त्र-ग्र था क तारतम्य की भा कल्पना करना पडी सात्त्विक राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार विस्तार स अनन्त प्रकृति क भक्ता और अनन्त प्रणाली क भजना का कल्पना करना पडी। सबका उन्हान उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्ह भागवत महापुराण का हा सब प्रधान प्रमाण ग्रन्थ मानना पडा था पर अपन लम्बे इतिहास में उन्हान कभी भी किसी शास्त्र क सम्बन्ध में अवना या अवहलना का भाव नही दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् क परम प्र ममय रूप और मनोहारिणा लीला पर निबद्ध रही पर उन्होन बड धय क साथ समस्त शास्त्रा की सगति लगाई। सगुण भाव क भक्ता का महिमा उनक असीम धय और अध्यवसाय में है पर निगुण श्रणी क भक्ता का महिमा उनक उत्कट साहस में है। एक न सब-कुछ का स्वाकार करन का अद्भुत धय दिखाया दूसर न सब कुछ छाड दन का असाम साहस।

लकिन कवल भगवत्प्र म या पाडित्य हा इस युग का रूप नहा द रह थ। कम-स-कम हिन्दा क भक्ति साहित्य का काव्य क नियमा और प्रभावा स अलग करक नही दखा जा सकता। अलकार शास्त्र और काव्यगत रूढिया स उस एकदम मुक्त नहा कहा जा सकता। परन्तु फिर भा वहा चाज नही है जा सस्कृत प्राकृत और अपभ्रश क पूववर्ती साहित्य हैं। विशपताए बहुत ह और हमें उन्ह सावधानी स जांचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलकार-शास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन अलकारिको ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है, उसमे एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता-सम्बन्धी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती हैं, वह अन्यान्य सचारी भावो की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नही समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमे जगत के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है। केवल जड जगत् से मानसिक सम्बन्ध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड-जगत् के सम्बन्ध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्यो कि अगर ऐसा न माना जाता, तो शात रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शात रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते है, वे वस्तुत इसी रास्ते से सोचते है।

इस प्रसग में बारबार "जड़ जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियो का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनो के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड प्रकृति के विकार हैं। इसीलिए चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्ति शास्त्रियो का दावा है कि अन्यान्य जडोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिए भगवत्-प्रेम न तो इन्द्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धिसाध्य। यह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है, तब अपना कुछ भी नही रह जाता। इन्द्रियो द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन, बुद्धि, स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत मे (११-२ ३६) इसीलिए कहा है।

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

पर निर्गुण-भाव मे भजन करने वाले भक्तो की वाणियो के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक है। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नही है। हमे अभी तक ठीक-ठीक नही मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओ के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरु हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन-लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियां हैं, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं, भिन्न-भिन्न जातियो और सम्प्रदायों की रीति-नीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानो तथा आचारो की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति-साहित्य के पढने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनो उत्तर के हठयोगियो और

दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था—एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिण्ड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर-फूँक-मस्ती वाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है। नाथ मार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तन्त्रमत की अनेक साधनाएँ और चिंताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिंताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य, निरञ्जन, नाद, बिन्दु आदि बहुतेरे शब्द जो इस साहित्य के मर्म स्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाए। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बार-बार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस सहज में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—ख-सम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी गगनोपम अवस्था कहा करते हैं। ख-सम और गगनोपम एक ही बात है। अवधूत गीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था का वर्णन है जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो माया प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार से अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है, जो ज्ञान रूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरसुप्रभुता' किया है। इस साहित्य में यह भाव भावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है। निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर प्रयत्नों से साधित समाधि को बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शरीर प्रयत्नों से साधी जाती है, वह ससीम है और शरीर के साथ-ही-साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनन्द ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर अस्त को नाक-कान मूँदने की जरूरत ही नहीं होती, कथा और मुद्रा धारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह सहजसमाधि का अधिकारी होता है—सहजसमाधि जिसमें 'जहँ जहँ डोलों सो परिकरमा, जो कुछ करूँ सो पूजा' होता है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पण्डित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूल

आए है । मैने उल्लिखित "कवीर' पुस्तक मे विस्तृत भाव से इम शव्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसलिए मै यह कहने का साहस करता हूँ कि कवीरदास "खसम" शव्द का व्यवहार करते समय उसके अरवी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी वरावर ध्यान मे रखते हे । मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयो मे जहाँ-जहाँ योग-मार्ग का प्रवल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक-कथानको से ऐसे ऐसे अनेक रहस्यो का उद्घाटन हो सकता है ।

परन्तु सयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तके हमारे हाथ मे आ गई हे, उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलम्ब नही माना जा सकता । पुस्तको मे लिखी वातो से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ता-धारा का परिचय पा सकते है । इस कार्य को जो लोग हाथ मे लेगे, उनमे प्रचुरकल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी । भारतीय समाज जैमा आज है, वैमा ही हमेशा नही था । नए-नए जन-समूह इस विशाल देश मे आते रहे है और अपने विचारो और आचारो का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोडते गए है । पुरानी समाज व्यवस्था भी सदा एक-सी नही रही है । आज जो जातियाँ समाज के सवसे निचले स्तर पर विद्यमान है, वे सदा वही नही रही, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर मे ही रही हे जो आज ऊँची है । इस विराट् जन-समुदाय का सामाजिक जीवन वहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमे एक दम कम नही है, जिन्होने उसकी सतह को आलोडित-विलोडित किया है । एक ऐसा भी जमाना गया है, जव इस देश का वहुत वडा जन-समाज ब्राह्मण धर्म को नही मानता था । उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक भावना भी थी । मुसलमानो के आने से पहले ये जातियाँ हिन्दू नही कही जाती थी—कोई भी जाति तव हिन्दू नही कही जाती थी । मुसलमानो ने ही इस देश के रहने वालो को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया । किसी अज्ञात सामाजिक दवाव के कारण इनमे की वहुत सी अल्पसख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को वाध्य हुई या मुसलमान । इस युग की यह एक विशेष घटना है, जव प्रत्येक मानव-समूह को किसी न-किसी वडे कैम्प मे शरण लेने को वाध्य होना पडा । उत्तरी पजाव से लेकर वगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचन्द्राकृति भू भाग मे जुलाहो को देखकर रिजली साहब ने अपनी पुस्तक "पीपल्स आफ इण्डिया (पृ० १२६) मे लिखा है कि इन्होने कभी समूह रूप मे मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था । कवीर, रज्जव आदि महापुरुष इसी वर्ग के रत्न थे । वस्तुत. ही वे "न-हिन्दू-न-मुसलमान" थे । सहजपथी साहित्य के प्रकाशन ने एक वात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है । मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल मे डोमीहाडी या हलखोर आदि जातिया काफी सम्पन्न और शक्तिशाली थी । मै यह तो नही कहता कि ग्यारहवी शताव्दी के पहले वे ऊची जातिया मानी जाती थी, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थी और दूसरो के मानने-न मानने की उपेक्षा कर सकती थी ।

निर्गुण साहित्य के अध्येता को इन जातियो की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप जरूर जानने चाहिए । उसे यह नही भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त मे सीमित है, न एक भाषा मे, न एक काल मे, न एक जाति मे, और न एक सम्प्रदाय मे ही । व्यक्तिगत रूप मे इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है, यद्यपि नाना कारणो

म कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। व नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल आता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहा एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा जहाँ से एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग जहा स एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण-साधना। उसी प्रशस्त चौरस्त पर व खडे थे। व दोनो ओर देख सकते थ और परस्पर विरुद्ध दिशा म गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हे स्पष्ट दिखाई द जात थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वह साहित्य का अक्षय प्राणरस मे आप्लावित कर सक थ। पर इसी को सब कुछ मानकर यदि हम चुप बठ जाएँ ता हमे भी ठीक-ठीक नही समझ सकेंगे। आचार्य श्री क्षितिमोहनसेन न ओझा अभिनन्दन-ग्रथमाला म एक लख-द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तो के साथ सम्बद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तको और ग्रन्थकारो के उदभव और विलय की कहानी नही है। वह काल-स्रोत म बह आत हुए जीवन्त समाज की विकास कथा है। ग्रथकार और ग्रन्थ उस प्राण धारा की ओर इशारा भर करत हैं। व ही मुख्य नही हैं मुख्य है वह प्राण धारा जो नाना परिस्थितियो स गुजरती हुई आज हमारे भीतर आत्म प्रकाश कर रही है। साहित्य के इतिहास स हम अपने-आपको ही पढ़ते हैं वही हमार आनन्द का कारण होता है। यह प्राण धारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओ से विच्छिन्न और स्वतन्त्र नही है। इसी रूप म हम भक्ति साहित्य को भी देखना है।

सत्यं. शिवं सुन्दरं

★

श्रीजैनेन्द्रकुमार

"सत्य शिव सुन्दर" यह पद आजकल बहुत लिखा-पढा जाता है। ठीक मालूम नही, कौन इसके जनक हैं। जिसकी वाणी मे यह स्फुरित हुआ, वह ऋषि ही होगे। उनकी अखड साधना के फल स्वरूप ही, भावोत्कर्ष की अवस्था मे, यह पद उनकी गिरा से उद्गीर्ण हुआ होगा।

लेकिन कौन-सा विस्मय कालातर मे सस्ता नही पड जाता ? यही हाल ऋषि-वाक्यो का होता है।

किन्तु महत्त्व को व्यक्त करने वाले पदो को सस्ते ढग से नही लेना चाहिए। ऐसा करने से अहित होगा। आग को जेब मे रखे फिरने मे खैर नही है। या तो जेब मे जो रख ली जाती है, वह आग ही नही है, या फिर उसमे कुछ भी चिनगारी है, तो जेब मे नही ठहरेगी। सबको जलाकर वह चिनगारी ही आग बनकर दमक उठेगी।

"सत्य शिव सुन्दर" पद का प्रचलन घिसे पैसे की न्याई किया जा रहा है। कुछ नही है तो इस पद को ले बढो। यह अनुचित है। यह असत्य है, अनीतिमूलक है। शब्द कीमती चीज हैं। आरम्भ मे वे मानव को बडी वेदना की कीमत मे प्राप्त हुए होगे। एक नए शब्द को बनाने मे जाने मानव-हृदय को कितनी तकलीफ झेलनी पडी होगी। उसी बहुमूल्य पदार्थ को एक परिश्रमी पिता के उडाऊ लडके की भाति जहाँ-तहाँ असावधानी से फैंकते चलना ठीक नही है। कृतघ्न ही ऐसा कर सकता है।

"सत्य शिव सुन्दर" पद से हम क्या पाएं, क्या लें, यह समझने का प्रयास करना चाहिए। उस

शब्द की मारफत यदि हम कुछ नहीं लेते हैं और हमारे पास देने को भी कुछ नहीं है, तो उस पद के प्रयोग से बचा जा सकता है। ऐसी अवस्था में बचना ही लाभकारी है।

महावाक्यों में गुण होता है कि वे कभी अर्थ से खाली नहीं होते। कोई विद्वान् उनके पूरे अर्थ को खींच निकालकर उन शब्दों को खोखला नहीं बना सकता। उन वाक्यों में आत्मानुभव की अटूट पूँजी भरी रहती है। जितना चाहो उतना उनसे लिए जाओ फिर भी मानो अर्थ उनमें लबालब भरा ही रहता है। असल में वहाँ अर्थ उतना नहीं जितना भाव होता है। वह भाव वहाँ इसलिए अक्षय है कि उसका सीधे आत्म-साक्षात से सम्बन्ध है। इसीलिए ऐसे वाक्यों में जब कि यह खूबी है कि वे पंडित के लिए भी दुष्प्राप्य हों तब उनमें यह भी खूबी होती है कि वे अपंडित के लिए भी अपने मुताबिक सुलभ बने रहें।

भावार्थ यह कि ऐसे महापदों का सार अपने सामर्थ्य जितना ही हम पा सकते हैं या दे सकते हैं। यहाँ जो 'सत्य शिव सुन्दर' इस पद के विवेचन का प्रयास है उसको व्यक्तिगत आस्था-बुद्धि के परिणाम का द्योतक मानना चाहिए।

सत्य, शिव, सुन्दर—ये तीनों एक वजन के शब्द नहीं हैं। उनमें क्रम है और अन्तर है।

सत्य-तत्व का उस शब्द से कोई स्वरूप सामने नहीं आता। सत्य सत्य है। कह दो सत्य ईश्वर है। यह एक ही बात हुई। पर वह कुछ भी और नहीं है। वह निर्गुण है। वह सब रूप है। सत्ता भी है, भाव भी है।

सत् का भाव सत्य है। जो है वह सत्य के कारण है उसके लिए है। इस दृष्टि से असत्य का कुछ हस्ता ही नहीं। वह निरी मानव-कल्पना है। असत् माना जा नहीं है। जो नहीं है उसके लिए यह असत् शब्द भी अधिक है। इसलिए असत्य शब्द में निरा मनुष्य का आग्रह ही है उसमें परिताप कुछ भी नहीं है। आदमी ने काम चलाने के लिए वह शब्द गढ़ा कर लिया है। वह कोरी अयथार्थता है।

इस तरह 'सत्यता' शब्द भी यथार्थ नहीं है। वह शब्द चल पड़ा तो है, पर केवल इस बात को सिद्ध करता है कि मानव भाषा अपूर्ण है।

जो है वह सत्। जो उसको धारण कर रहा है, वह सत्य।

अब शिव और सुन्दर शब्दों की स्थिति ऐसी नहीं है। शिव गुण है सुन्दर रूप है। ये दोनों सम्पूर्णतया मानवानुमान अथवा संवेदन द्वारा प्राप्त तत्व हैं। ये रूप-गुणातीत नहीं है रूप गुणात्मक हैं। ये यदि संज्ञा हैं तो उनके भाव जुदा हैं—शिव का शिवता और सुन्दर का सुन्दरता। और जब ये स्वयं में भाव हैं तब उन्हें किसी अन्य तत्व की अपेक्षा है—जैसे 'यह शिव है'—'वह सुन्दर' है। 'यह' या 'वह' उनके होने के लिए जरूरी है। उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

ऊपर की बात शायद कुछ कठिन हो गई। मतलब यह कि सत्य निर्गुण है। शिव और सुन्दर उसी के ध्येय रूप है। सत्य ध्येय से भी परे है, वह अमूर्तिक है। शिव और सुन्दर उसका मूर्तिक स्वरूप है।

निर्गुण निराकार अन्तिम सचाई का नाम है, सत्य। वही तत्व मानव की उपासना मे सगुण, साकार, स्वरूपवान् बनकर शिव और सुन्दर हो जाता है।

सत्य की अपेक्षा शिव और सुन्दर साधना-पथ है, साध्य नही। वे प्रतीक है, प्रतिमा है। स्वय आराध्य नही है, आराध्य को मूर्तिमान् करते हैं।

शिव और सुन्दर की पूजा यदि अज्ञेय सत्य के प्रति आस्था उदित नही करती, तो वह अपने आप मे अह-पूजा है। वह पत्थर-पूजा है। वह मूर्ति-पूजा सच्ची भी नही है।

सच्ची मूर्ति-पूजा वह है, जहाँ पूजक के निकट मूर्ति तो सच्ची हो ही, पर उस मूर्ति की सचाई मूर्ति से अतीत भी हो।

इस निगाह से शिव और सुन्दर पडाव है, तीर्थ नही है, इष्ट-साधन है, इष्ट नही है। इष्ट भी कहलो, क्योकि इष्टदेव की राह मे है। पर यदि राह मे नही है, तो वे अनिष्ट है।

लेकिन यहाँ हम कही गडबड मे पड गए मालूम होते है। जो सुन्दर है, वह क्या कभी अनिष्ट हो सकता है ? और शिव तो शिव है ही। वह अनिष्ट हो जाए, तो शिव ही क्या रहा ?

बात ठीक है। लेकिन शिव का शिवत्व-निर्णय मानव-बुद्धि पर स्थगित है। सुन्दर का सौंदर्य-निरूपण भी मानव-भावना के अधीन है। मानव-बुद्धि अनेक रूप है। वह देश काल में बधी है। इसलिए ये दोनो। शिव, सुन्दर। अनिष्ट भी होते देखे जाते है। इतिहास मे ऐसा हुआ है, अब भी ऐसा हो रहा है।

सत्य स्वय-भव है, एक है, उसे आलबन की आवश्यकता नही है। सब विरोध उसमे लय हो जाता है। उसके भीतर द्वित्व के लिए स्थान नही है। वहाँ सब "न"-कार स्वीकार है।

शिव और सुन्दर को आलबन की अपेक्षा है। अशिव हो, तभी शिव सभव है। अशिव को पराजित करने वाला शिव। यही बात सुन्दर के साथ है। असुन्दर यदि हो ही नही, तो सुन्दर निरर्थक हो जाता है। दोनो बिना द्वित्व के सभव नही है।

सक्षेप मे हम यो कहे कि सत्य अनिर्वचनीय है। उस पर कोई चर्चा-आख्यान नही चल सकता। वह शुद्ध चैतन्य है। वह समग्र की अन्तरात्मा है।

और जिन पर बात-चीत चलती और चल सकती है, वे है शिव और सुन्दर। हमारी प्रवृत्तियो के व्यक्तिगत लक्ष्य ये ही दो है—शिव और सुन्दर।

सत्य शिव सुन्दर

सत्य अनन्त अकल्पनीय है। अत हम जो कुछ जान सकते चाह सकते हो सकते हैं वह एकांगी सत्य है। दूसरी दृष्टि से वह असत्य भी हो सकता है। सम्पूर्ण सत्य वह नहीं।

इस स्वीकृति में से व्यक्ति को एक अनिवार्य धर्म प्राप्त होता है। उसको कहो प्रेम। उसी को फिर अहिंसा भी कहो, विनम्रता भी कहो यानी कि इस प्रसन्न स्वीकृति का अवकाश कि मेरा विरुद्ध भी सच है उसका नाश नहीं चाहा जा सकता।

यदि मूल में प्रेम की प्रेरणा नहीं है तो शिव और सुन्दर की समस्त आराधना भ्रांत है। सुन्दर और शिव की प्राप्ति के अर्थ यात्रा करने की पहली शर्त यह है कि व्यक्ति प्रेम धर्म की दीक्षा पाए उसका अभिषेक ले।

प्रेम कसौटी है। सुन्दर और शिव के प्रत्येक साधक को पहले उस पर कसा जायगा जो खरा उतरेगा वह खरा है। खोटा निकल जायगा वह खोटा है।

प्रत्येक मानवी प्रवृत्ति को इस शर्त को पूरा करना होगा। जो करती है वह विधेय है जो नहीं करती वह निषिद्ध है। सुन्दर के नाम पर अथवा शिव के नाम पर जो प्रवृत्ति प्रेम विमुख वर्तन करेगी वह मिथ्या होगी। दूसरे शब्दों में वह अशिव होगी असुन्दर होगी चाहे तात्कालिक 'शिव'-वादी और 'सुन्दर' वादी कितना भी इससे इंकार करें।

असल में मानव की मूल वृत्तियां मुख्यतः दो दिशाओं में चलती हैं—एक वर्तमानता के रस की ओर दूसरी गुह्य एवं इहातीत की ओर। एक में आनन्द की चाह है दूसरे में मंगल की खोज है। एक का काम्य-देव सुन्दर है दूसरी का आराध्य-देव शिव है।

यम नियम नीति धर्म योग-साध तपस्या-साधना इनके मूल में शिव की खोज है। इनकी आँख भविष्य पर है। साहित्य संगीत आराधना-अर्चना कला क्रीड़ा इनमें सुन्दर के दर्शन की प्यास है। इनमें वर्तमान की थाह सब अपना लेने की स्पर्द्धा है।

आरम्भ से दोनों प्रवृत्तियों में किंचित् विरोध भाव दीखता आया है। शिव के ध्यान में तात्कालिक सौन्दर्य को हेय समझा गया है। यही क्या उसे बाधा समझा गया है। उधर प्रत्यक्ष कमनीय का हाथ से छोड़कर मंगल—साधना की वहर में बहना निरी मूर्खता और विडम्बना मान लिया गया है। तपस्या ने क्रीड़ा को गर्हित बताया है और उसी दृढ़ निश्चय के साथ लीला ने तपस्या को मनहूस करार दिया है। दोनों एक दूसरी को चुनौती देती और जीतती-हारती रही हैं।

यह तो स्पष्ट ही है कि शिव और सुन्दर में सत्य की अपेक्षा कोई विरोध नहीं है। दोनों सत्य के दो पहलू हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पर अपने आप में सिमटने ही दोनों-में अनबन हो रहती है। और इस तरह भी वे दोनों एक प्रकार में परस्पर सहायक होते हैं क्योंकि दोनों एक दूसरे के लिए अंकुश एक दूसरे की सीमा मर्यादा बनते हैं।

मनुष्य और मनुष्य-समाज के मंगल-पक्ष को प्रधानता देने वाले नीति-नियम जब-तब इतने निर्मम हो गए हैं कि जीवन उनमें व्यवस्था पाने और सरसने के बजाय कुचला जाने लगा है। तब इतिहास के नाना कालों में, प्रत्युत प्रत्येक काल में, जीवन के आनन्द-पक्ष ने विद्रोह किया है और वह फूट उभरा है। इधर जब इस भोगानन्द के पक्ष में अतिशयता हो गई है, तब फिर आवश्यकता हुई है कि नियम-कानून पुनः बने और जीवन के उच्छृङ्खल अपव्यय को रोक कर संयत कर दें।

इस कथन को पुष्ट करने के लिए यहाँ इतिहास में से प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालों का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। स्वयं व्यक्ति के जीवन में इस तथ्य को प्रमाणित करने वाले अनेकानेक घटना-प्रसंग मिल जाएँगे। निश्चय ही वैसे प्रमाण प्रचुर परिमाण में किसी भी शोधक को स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, साहित्य-संगीत, मठ-मन्दिर दर्शन-संस्कृति और इधर समाज-नीति और राज-नीति के क्रमिक विकास के अध्ययन में से जगह-जगह प्राप्त होंगे।

व्यक्तित्व के निर्माण में प्रवृत्ति का और निवृत्ति का समान भाग है। जहाँ शिव प्रधान है– वहाँ निवृत्ति प्रमुख हो जाती है। वहाँ वर्तमान को थोड़ा-बहुत कीमत में स्वाहा करके भविष्य बनाया जाता है। जहाँ सुन्दर लक्ष्य है, वहाँ प्रवृत्ति मुख्य और निवृत्ति गौण हो जाती है। वहाँ भविष्य पर बेफिक्री की चादर डाल कर वर्तमान के रस को छक कर लिया जाता है। वहाँ ज्ञान लक्ष्य नहीं है, प्राप्ति भी लक्ष्य नहीं है, मग्नता और विस्मृति लक्ष्य है। वहाँ सुख की संभाल नहीं है, काम्य में सब कामनाओं समेत अपने को खो देने की चाह है। पहली साधना है दूसरा समर्पण है।

आरम्भ में जो संकेत में कहा वही यहाँ स्पष्ट कहूँ, कि आनन्दहीन साधना उतनी ही निरर्थक है, जितना साधना-हीन आनन्द निष्फल है। वह सुन्दर कैसा जो शिव भी नहीं है और शिव तो अनिवार्य सुन्दर है ही। इस दृष्टि से मुझे प्रतीत होता है कि सुन्दर को फिर शिवता का ध्यान रखना होगा। और शिव को सत्याभिमुख रहना होगा। शिव सत्याभिमुख है, तो वह सुन्दर तो है ही।

अर्थात्, जीवन में सौंदर्योन्मुख भावनाओं को नैतिक (शिवरूप) वृत्तियों के विरुद्ध होकर तनिक भी चलने का अधिकार नहीं है। शुद्ध नैतिक भावनाओं को विस्माती हुई उन्हें कुचलती हुई जो वृत्तियाँ सुन्दर की लालसा में लहकना चाहती हैं, वे छल कर विकृति को जन्म दिए बिना रह नहीं सकती। वे कहीं न कहीं विकृत हैं। सुन्दर नीति-विरुद्ध नहीं है। तब यह निश्चय है कि जिसके पीछे वे आवेशमयी वृत्तियाँ लपकना चाहती हैं, वह सुन्दर नहीं है। केवल छद्म है, विभ्रम है. सुन्दर की मृगतृष्णिका है।

सामान्य बुद्धि की अपेक्षा से यह समझा जा सकता है कि शिव को तो हक है कि वह न दीखे, पर सुन्दर को तो मंगल साधक होना ही चाहिए। जीवन का संयम-पक्ष किसी तरह भी जीवनानन्द के मध्य अनुपस्थित हुआ कि वह आनन्द विकारी हो जाता है।

अपने वर्तमान समाज की अपेक्षा से देखें तो क्या दीखता है? स्वभावतः लोग जिनका जीवन रंगीन है और रंगीनी का लोलुप है, जिनके जीवन का प्रधान तत्त्व आनन्द और उपभोग है, जो स्वयं

गुन्दर रहन और सुदर की लालसा लिए रहते हैं जो बफिक्री व निरे वतमान म रहत हैं और जिनम शिवतत्व पर्याप्त नही है—ऐसे लोग समाज म किस स्थान पर है ? क्या माननीय स्थान पर ?

दूसरी ओर वे, जिनमे जीवन का प्राण पक्ष मूर्छित है विधि निपधा से जिनका जीवन एसा जकडा है कि हिल नहीं सकता और तरह-तरह क आतङ्कि रोगों को जन्म द रहा है जो इतने सावधान हैं कि उनम स्वाभाविकता और सजीवता ही नहा रह जाती जो पाबद हैं कि माना जीत-जागत हैं ऐसे लोग भला किस अश तक कृतकाय समझ जा सकते हैं ?

दोनो तरह क व्यक्ति सपूणता मे दूर हैं। फिर भी यह देखा जा सकता है कि आत्मनियमन की प्रवत्ति श्रानन्दापभोग की प्रवत्ति स किसी कदर ऊची ही है। जहाँ वह जीवन को दबाती है और उस बढ़ाने म किसी प्रकार से सहायता नही दती, वहाँ वह अवश्य अयथाय है और प्राण शक्ति का अधिकार है कि उसको चुनौती द द। फिर भी प्रत्यक सौन्दर्याभिमुख आनन्दोत्सुक प्रवृत्ति का धम है कि वह नतिक उद्दश्यों का अनुगमन कर।

अर्थात् व कलात्मक प्रवत्तिया जिनका लक्ष्य सुदर है उन वृत्तिया के साथ समन्वय साधें जिनका लक्ष्य कल्याण-साधन है। दूसरे शब्दो म कला-नीति समन्वित हा। और इसके बाद कला और नीति दोना ही धम समन्वित हो। । धम का आशय यहाँ मतवाद नही—'धम अर्थात् प्रेम धम

'सत्य शिव सुदर यह व्याख्यात्मक पद ही नही ह सजीव पद ह। जीवन का लक्षण ह गति ह। इस पद म गति ह। उद्बोधन ह। सुदर की ओर फिर सुदर स क्रमश शिव और सत्य की आर प्रयाण करना होगा। यह ध्वनित भाव उसम भरा ह। यो भी कह सकत हैं कि सत्य को शिव रूप म उतारकर ध्यान म लाआ क्याकि यह सरल ह। और शिव को भी सुदर रूप स निहारो क्यो कि यह और भी सहज स्वाभाविक ह। किन्तु सुन्दर की मर्यादा ह शिव की भी मर्यादा ह। और दोनो ही की मर्यादा ह— सत्य। सत्य म सब-कुछ अपनी मर्यादाआ समेत मुक्त हा जाता ह।

काव्य और संगीत

डा० रामानन्द तिवारी 'शास्त्री' एम० ए० पी० एच० डी० डी० फिल

काव्य और सगीत दोनो शब्द की कलाएँ है। इन नाते दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए प्राचीनकाल से साहित्य और कला के इतिहास मे इन दोनो कलाओ का सयोग मिलता है। काव्य का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद मे मिलता है। उसमे काव्य और सगीत दोनो का सगम है। अर्थ और भाव की दृष्टि से उसमे काव्य की प्रचुरता है। दूसरी ओर लय और राग की दृष्टि मे उसमें सगीत की विपुलता भी है। इसी प्रकार सूरदास के पदो और तुलसीदास की रामायण मे तथा निराला की गीतिका एव अन्य आधुनिक हिन्दी के गीतिकाव्य मे काव्य और सगीत का सगम मिलता है। ऋग्वेद से लेकर आधुनिक काल तक के लोकगीत भी काव्य और सगीत के इस सगम के उदाहरण हैं। भारतीय सस्कृति की परम्परा मे काव्य और सगीत का व्यापक समन्वय मिलता है। एक उत्कृष्ट रूप मे काव्य और सगीत का सगम हिन्दी साहित्य की अनुपम विशेषता है।

शब्द के सामान्य माध्यम मे व्यक्त होते हुए तथा इतिहास मे सयुक्त रूप मे मिलते हुए भी काव्य और सगीत की कलाओ मे भेद किया जा सकता है। इस भेद की दृष्टि से काव्य का सम्बन्ध अर्थ अथवा भाव से अधिक है तथा सगीत का सम्बन्ध स्वर से अधिक है। 'शब्द' अर्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम है। भावाभिव्यक्ति के क्रम मे शब्द की स्वर-योजना मे भी एक लय उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार प्राय सभी काव्य मे सगीत का सम्पुट मिल जाता है। किन्तु सभी काव्य मे ऋग्वेद, सूरसागर और रामचरितमानस की भाँति भाव की प्रचुरता के साथ-साथ काव्य मे सगीत की विपुलता का सगम आवश्यक नही है। हिन्दी का आधुनिकतम काव्य जिसे 'नयी कविता' कहते है काव्य को सगीत के बधन से पूर्णत मुक्त करना

चाहता है। इसी प्रकार 'स्वर' नाद का लययुक्त रूप है। इस लय की योजना ही सगीत बन जाती है। लय स्वर का उतार चढाव है। इस लय–पूर्ण स्वर के विशेष सस्थान राग कहलाते हैं। शुद्ध सगीत की दृष्टि से सगीत की लयपूर्ण स्वर-योजना में अर्थ अथवा भाव का सयोग आवश्यक नहीं है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नयीकविता के कवि भाव में लय का योग आवश्यक नहीं मानते। वाद्य-सगीत में इस अर्थ रहित स्वर योजना में शुद्ध सगीत का रूप देखा जा सकता है। कण्ठ के सगीत में केवल आलाप और तान में यह शुद्ध सगीत मिल सकता है।

वाद्य-सगीत तथा आलाप और तान के अतिरिक्त अन्य सामान्य सगीत में प्राय अर्थ एव भाव का योग मिलता है। स्वर और भाव का योग सगीत का सामान्य रूप है। स्वर और भाव का यह सयोग इतना घनिष्ठ एव स्वाभाविक है कि केवल वाद्य-सगीत के अर्थ रहित स्वर में भी भाव का उदगम होता है। तन्त्री-नाद का लय में भी एक भाव उत्पन्न हो जाता है। इस सहज भाव के सहयोग से ही वाद्य-सगीत मधुर एव लोक प्रिय बनता है। किन्तु इतना मानना होगा कि यह भाव वाद्य सगीत के स्वरों का अभिप्रेत नहीं है स्वर योजना के क्रम में इसका सहज स्फोट होता है। साथ ही यह भी मानना होगा कि अर्थ और भाव के बिना सगीत कम लोकप्रिय होता है। इसीलिए सार्थक सगीत वाद्य-सगीत की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय रहा है।

अर्थ और भाव से रहित सगीत की कल्पना वाद्य-सगीत के रूप में की जा सकती है। किन्तु कण्ठ के सगीत में आलाप एव तान के अतिरिक्त अर्थ रहित सगीत की कल्पना करना कठिन है। आलाप और तान अपने आप में पूर्ण सगीत का निर्माण नहीं करते व कण्ठ सगीत के अग मात्र है। उस कण्ठ सगीत का मुख्य रूप अर्थ सहित शब्द से ही बनता है। इतना अवश्य है कि सगीत में अर्थवान् शब्द की अपेक्षा स्वर विधान का प्रधानता होती है। काव्य की तुलना में सगीत में स्वर विधान ही प्रधान होता है। स्वर योजना की विपुलता ही सगीत का मुख्य लक्षण है। शास्त्रीय सगीत में अल्प शब्द और अल्प अर्थ के आधार में विपुल स्वर योजना की साधना होती है। ख्याल और ठुमरी में एक पक्ति ही विपुल स्वर योजना का पर्याप्त आधार बन जाती है। सामान्यजन सगीत के स्वर विधानों की जटिलताओं में परिचित न होने के कारण इस शास्त्रीय सगीत का आनन्द नहीं ले पाते किसी भी कला का आस्वादन उस कला के विधान के ज्ञान पर निर्भर है। शास्त्रीय सगीत के आलोचक उसकी आलोचना कला की दृष्टि से करते हैं। सिनेमा का सगीत स्वर योजना और सार्थक शब्दों के समान अनुपात के कारण अधिक लोकप्रिय होता है। सामान्य जन सगीत का स्वर योजना की अपेक्षा अर्थ और भाव से अधिक परिचित होते हैं। अर्थ ही भाव में अल्प स्वर योजना का विधान उन्हें गह्य और प्रिय प्रतीत होता है।

जिस प्रकार अर्थ और भाव से रहित कण्ठ सगीत की कल्पना कठिन है, उसी प्रकार सगीत से रहित काव्य की कल्पना भी कठिन है। स्वर में सार्थक शब्द का योग अनिवार्य नहीं है। वाद्यसगीत में शब्द पृथक हो जाते हैं। इसी प्रकार सार्थक शब्द में स्वर योजना का सन्निधान भी आवश्यक नहीं है।

गद्य मे वे पृथक् किए जा सकते हैं यदि संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार गद्य मे भी काव्य की कल्पना की जा सके तो काव्य और सगीत को भी पृथक् करना सम्भव हो सकेगा। संस्कृत साहित्य मे 'कादम्बरी इस गद्य-मय काव्य का एक उत्तम उदाहरण है। आधुनिक 'नयी कविता' मे भी सगीत से काव्य के पृथक्करण का प्रयत्न किया जा रहा है।

विचारणीय बात यह है कि क्या सगीत मे काव्य का पृथक्करण सभव और व्यावहारिक है। भारतीय शब्द-दर्शन इस रहस्य को समझने मे हमारी सहायता कर सकता है। भारतीय शब्द-दर्शन मुखर शब्द के अतिरिक्त शब्द के अन्य तीन आन्तरिक रूप मानता है। ये शब्द के मानसिक तथा आत्मिक रूप ही हो सकते है। शब्द के इन रूपो की भूमिका मे अर्थ और भाव की लय की सगति हो सकती, जिसे कुछ नये कवियो का दुराग्रह एव उपहास का विषय समझा जाता है। अर्थ और भाव की यह लय सूक्ष्म होती है। यह लय काव्य के अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति की आन्तरिक भगिमा मे उत्पन्न होती है। यही लय वैज्ञानिक गद्य को काव्यमय गद्य से पृथक् करती है। इस आन्तरिक लय का मुखर शब्द की सगीतमय लय मे भी स्फोट होता है। इतना अवश्य है यह सगीत की लय गद्यमय काव्य मे अधिक स्फुट नही होती। छन्द अथवा छन्दहीन काव्य मे अधिक स्फुट होने पर ही वह प्रकट एवं सुग्राह्य होती है। आधुनिक 'नयी कविता' उसे अल्पतम परिमाण मे ग्रहण करने का प्रयत्नकर रही है। ऐसी स्थिति मे आन्तरिक लय को स्वीकार करने पर आत्मा के आन्तरिक सगीत की लय से अनुप्राणित मुखर शब्द को ही काव्य की भावी परिभाषा कह सकते हैं।

मुखर सगीत की लय को काव्य का आवश्यक लक्षण न मानकर ही काव्य-शास्त्र मे शब्द और अर्थ के 'साहित्य' को काव्य का लक्षण कहा गया है। इस प्राचीन परिभाषा मे स्वर और लय का कही सकेत नही है। शब्द के साथ अर्थ के अविभाज्य सम्बन्ध को ही काव्य का पर्याप्त लक्षण माना गया है। शब्द ही अर्थ का माध्यम है किन्तु काव्य-शास्त्र मे अर्थ को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द भी अर्थ की दृष्टि से ही काव्य बनता है। अर्थ का, स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति की भगिमा ही काव्य के दो विधायक तत्त्व है। केवल 'अर्थ' विज्ञान और दर्शन बन जाता है। शब्द की विशेष अभिव्यक्ति की विशेष भगिमा ही उसे काव्य बनाती है। इस अभिव्यक्ति की भगिमा के साथ अभिन्न भाव से ही वह शब्द 'काव्य' का रूप ग्रहण करता है। यही 'शब्दार्थौ सहितौ' की प्राचीन परिभाषा का मर्म है।

काव्य की इस अभिव्यक्ति का माध्यम सार्थक शब्द है, जो सगीत के स्वर से भिन्न है। काव्य की प्राचीन परिभाषाओ और आधुनिकतम मान्यताओ के अनुसार सगीत से काव्य का कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। यह प्राचीन और नवीनमत का अद्भुत ऐक्य है। विवेक की दृष्टि से शब्द के सूक्ष्म रूपो की आन्तरिक लय को सगीत मानने पर ही काव्य के साथ संगीत का सम्बन्ध आवश्यक माना जा सकता है। किन्तु यह सम्बन्ध अत्यन्त सूक्ष्म, सदिग्ध और विवादास्पद है। अत अर्थ की अभिव्यक्ति की

भगिमा को ही काव्य का मूल स्वरूप मानना उचित है। शब्द इस अभिव्यक्ति का आवश्यक माध्यम है किन्तु उस शब्द के विधान म स्वर-लय की योजना आवश्यक नही है। सस्कृत के गद्य-काव्य मे यह स्वर योजना स्फुट रूप मे नही दिखाई देती। एक सूक्ष्म और अलक्ष्य लय इस गद्य काव्य म भी इसी प्रकार आधुनिक नयी कविता' म भी यदि मिल जाती है, तो यह शब्द और स्वर के मौलिक सबध के कारण है। सहोदर होने के कारण उनम कुछ समान धर्म होना स्वाभाविक है।

फिर भी गद्य काव्य और नयी कविता म सगीत का अल्पतम योग है यह स्पष्ट है। इसके विपरीत वेद के मत्रो और सूर के पदो में सगीत का अधिकतम सयोग है। सूर के पद सगीत के रागो के उदाहरण बन गए है और सगीत में उनका आदर के साथ उपयोग किया गया है। इन पदो में काव्य की दृष्टि से अर्थ और भाव की प्रचुरता भी है तथा साथ ही साथ उनकी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य भी विपुल है। इस दृष्टि से सूर के पद एक ओर उत्तम काव्य के उदाहरण है तथा दूसरी ओर उत्तम सगीत के उदाहरण है। उनमें काव्य और सगीत का सर्वोत्तम सगम है।

परिभाषा की दृष्टि से सार्थक शब्द काव्य का माध्यम है और अर्थ रहित स्वर-योजना सगीत का लक्षण है। काव्य में सगीत की स्वर-योजना आवश्यक नही है और सगीत में अर्थ का सन्निधान आवश्यक नही है किन्तु सहोदर होने के कारण सामान्यत दोनो का सगम प्राय हो जाता है। यह सगम स्वाभाविक भी है। सहोदर भाव के समान यह सगम दोनो कलाओ के सौन्दर्य का वर्धक भी है। सहोदर बन्धुओं के समान दोनो कलाएँ स्वतन्त्र है। दोनो का समान महत्व है। दोनो में कोई भी आवश्यक रूप से किसी की आश्रित नही है। सहोदर बन्धु भी अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करके अपने स्वरूप में भी अधिकतम गौरव प्राप्त कर सकते है। इसी प्रकार सगीत रहित काव्य और अर्थ रहित सगीत भी कला की उत्कृष्ट सीमाओ का स्पर्श कर सकते हैं। कादम्बरी और वाद्य-सगीत के इसके उत्तम उदाहरण हैं।

किन्तु अधिकाश काव्य म सगीत का तथा अधिकाश सगीत म काव्य का सयोग मिलता है और यह सयोग दोनों को सुन्दर बनाता है। हम इसे सुवर्ण और सुगन्ध का सयोग कह सकते है। सहोदर बन्धुओ के सयोग के समान ही यह सौन्दर्य का सवर्धन करता है। इतिहास म प्राप्त इनका सम्मिलन प्राय विषम परिमाणो मे ही हुआ है। अधिकाश सगीत म शब्दो का प्रयोग अल्प ही होता है। सगीत की दृष्टि से उसम स्वर-योजना की ही प्रधानता रहती है। सगीत की कला का मुख्य कौशल इस स्वर योजना म ही रहता है। अर्थ और भाव से युक्त शब्द उसके सहकारी हैं। इसी प्रकार काव्य म अर्थ और भाव की अभिव्यक्ति प्रधान होती है। सगीत का स्वर क्रम गौण रहता है। एक के क्षेत्र म दूसरे को सहकारी मानना ही उचित है।

काव्य और सगीत के इस गुणप्रधान सम्बन्ध का अभिप्राय यह नही है कि एक मे दूसरे का सयोग अल्प मात्रा मे ही हो सकता है। कलाओ मे मात्रा की सीमा निश्चित करना निश्चित करने वाले की सामर्थ्य अथवा कल्पना की सीमा है। सूर के पदो की भाँति अधिकतम एव उत्कृष्टतम काव्य का सयोग

अधिकतम एव उत्कृष्टतम सगीत के साथ सम्भव हो सकता है। जो सामान्य साधक एक ही कला मे अधिक प्रवीण है, वे एक कला की प्रधानता मे सन्तोष कर सकते है। काव्य और सगीत के सयोग मे दोनो एक दूसरे के सौन्दर्य का सवर्धन करते है। इसे हम तत्वो की भाषा मे 'साम्य' और व्यवहार मे परस्पर सम्भावन कह सकते है

साहित्य और कला के व्यवहार मे प्राय उत्कृष्ट क्षितिजो पर काव्य और सगीत का सगम कठिन होता है। इसका कारण उन कलाओ की सीमा नही, वरन् कलाकारो की सामर्थ्य की सीमा तथा इतिहास मे इन कलाओ के विशेष रूपो का आग्रह है। उन कलाओ के सयुक्त और पृथक्-पृथक् रूप तथा भिन्न-भिन्न परिमाणो मे इनका सयोग भी कलाओ के सम्पूर्ण सौन्दर्य की विविधता के द्वारा बढाते है, अत शुद्ध और सयुक्त रूपो मे तथा सयोग के सभी अनुपातो मे ये कलाएँ स्पृहणीय है। सयोग और पृथक्करण दोनो का ही आग्रह अनुचित है। साहित्य और कला के इतिहास तथा व्यवहार मे उसके अनुपातो में इन कलाओ के सयोग मिलते है। इनकी अनुपातो की विविधता जीवन के कलात्मक सौन्दर्य को बढाती है। दृश्य रूप की कलाओ मे यह सगम अधिक सम्भव एव प्रचलित नही हो सका है। काव्य और सगीत का सगम कला का सौभाग्य है। उसका अखड रहना सास्कृतिक दृष्टि से मगलमय है।

साधना की दृष्टि व्यक्तिगत होते हुए भी काव्य और सगीत की कलाएँ व्यवहार की दृष्टि से सामाजिक है। शब्द का स्वरूप ही सामाजिक है, सम्प्रेषण की आवश्यकता के कारण ही मनुष्य के इतिहास मे शब्द का विकास हुआ है। कवि और गायक दोनो ही समाज मे अपनी कला के सत्कार से प्रसन्न होते है। सामाजिक होने के कारण साधना और रचना के साथ-साथ आस्वादन की अपेक्षाओ ने भी इन कलाओ के रूप को प्रभावित किया है। सगीत और काव्य दोनो का कुछ सहज बोध सामान्यजनो मे भी होता है। किन्तु दोनो का अधिक विकास साधना की अपेक्षा करता है। काव्य के अधिक उत्कृष्ट भावो के ग्रहण की योग्यता तो शास्त्रो के सस्कारो तथा जीवन के अनुभवो से भी प्राप्त होती है, किन्तु सगीत के उत्कृष्ट रूपो के ग्रहण की क्षमता साधना से ही प्राप्त हो सकती है। सगीत मे रचना और आस्वादन दोनो साधना से प्राप्त होते है। काव्य के सम्बन्ध मे ऐसा नही है। इसीलिए काव्य मे अल्प परिमाण मे ही सगीत का सगम हो सका है। सगीत के उत्कृष्ट रूप अल्प शब्द के आधार मे विपुल स्वर योजना से ही रचे जाते है। सूर के काव्य के समान उत्कृष्ट काव्य और उत्कृष्ट सगीत के सगम की रचना और उसका आस्वादन दोनो ही दुर्लभ है। सगीत के साधारण रूपो का अल्प परिमाण मे ही साधारण जन आस्वादन कर सकते है। सगीत के उत्कृष्ट रूपो का आस्वादन उनके लिए कठिन है। शास्त्रीय सगीत की अलोक-प्रियता का ही कारण है। काव्य के भावो के आस्वादन की अधिक क्षमता साधारण जनो मे होती है। अत सगीत की अपेक्षा काव्य का आस्वादन अधिक लोकप्रिय रहा है। साधारण-जनो मे सगीत के आस्वादन की अल्प क्षमता होती है। अत सगीत का सम्पुट काव्य को अधिक ग्राह्य बनाता रहा है। सगीत रहित काव्य का भावी सम्मान काव्य रहित वाद्य सगीत के सम्मान से भी अधिक सदिग्ध है।

*

था कि बारह वर्ष की अवस्था मे ही वह लोक-कल्याण की भावना से साधना के पथ पर बढ चला।[1] वि० स० १८६२ भाद्रपद शुक्ला छठ को नारनौल (पटियाला) मे परम तपस्वी एव त्यागी मुनि श्री हरजीमल के हाथो इनकी विधिवत् दीक्षा हुई। दीक्षा होने के बाद पडित रत्न श्री लक्ष्मीचन्द्र जी महाराज के सान्निध्य मे रहकर लगातार १८ वर्षो तक इन्होने न्याय, व्याकरण, काव्य, दर्शन, ज्योतिष, छन्द, अलकार, रामायण, महाभारत, पुराण, उपनिषद् आदि जैन-अजैन साहित्य का गहन अध्ययन किया।

साधना काल के ६० वर्षो मे ये राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश आदि परिचित-अपरिचित क्षेत्रो मे घूम-घूम कर धर्म प्रचार करते रहे। इनके शिष्यो मे मुनि श्री कवरसैनजी, विनयचन्द जी, चतुरभुज जी आदि प्रमुख है। ये कवि, तपस्वी और साधक ही नही थे, अपने विषय के प्रकाड पंडित, प्रबुद्ध विचारक और प्रचण्ड शास्त्रार्थी भी थे। यह शास्त्रार्थ केवल जैन मुनियो और पडितो के साथ ही नही हुआ वरन् अग्रेज पादरी मिस्टर जैकब तक से हुआ। इनकी विषय-प्रतिपादन की शैली आकर्षक और रोचक ही नही थी, प्रभावक और गूढ भी थी। वि० स० १९२१ वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को चार दिन के अनशन (सथारा) से जैन भवन लोहामडी आगरा मे इनका स्वर्गवास हुआ।

पूज्य श्री रतनचन्द्र जी का व्यक्तित्व बडा आकर्षक था। स्वाध्याय, प्रवचन और साहित्य-सृजन यही तो इनके जीवन का व्यसन था। शरीर से दुर्बल, स्वल्प वस्त्र-पात्रादि का धारक यह रतनमुनि अपने मनोबल मे कितना दृढ और मजबूत था, इसका अनुमान तो इसी से लगाया जा सकता है कि वह सामान्यत प्रतिदिन २४ घटो मे से २१ घटे स्वाध्याय, ध्यान आदि मे लगाता और रात्रि मे केवल तीन घटे नीद लेता।

काव्य-रचना

पूज्य रत्न जी पहले साधक, शास्त्रज्ञ और और बाद मे कवि थे। कविता उनका व्यवसाय नही था। जब कभी तरग मे आकर भव्य जीवो को हृदय के माध्यम से ससार की स्थिति, जीव और ब्रह्म के स्वरूप, निर्मल आचार-विचार आदि की झाँकी बताते तो सहज कवित्व का स्फुरण होता। यह सहज कवित्व विभिन्न हस्तलिखित पत्रो मे लिपिबद्ध है। मुनि श्री श्रीचन्द जी ने नमूने के रूप मे 'रत्न-ज्योति

---

[1] कहा जाता है कि जब इनकी ११-१२ वर्ष की अवस्था थी, तब एक दिन ये सुन्दर बैलो की जोड़ी लेकर अपने घर से जगल मे अपने खेत को जा रहे थे। रास्ते मे अचानक एक भूखे शेर ने इन पर आक्रमण किया। वृक्ष पर चढकर इन्होने तो अपने प्राण बचा लिए पर एक बैल का शिकार हुआ। इस भयानक दृश्य ने बालक रत्नचन्द्र को ससार से विरक्त कर दिया और मुनि श्री हरजीमल जी के उपदेशों ने तो उसे इतना अधिक प्रभावित किया कि वह साधु बने बिना न रहा।

भाग १, २ शीर्षक से उसका थोडा अंश सम्पादित कर आगरा से प्रकाशित कराया है।[1] इसी प्रकाशित अंश के आधार पर हम आलोच्य कवि की काव्य कला का मूल्यांकन करने का प्रयत्न करेंगे।

वर्ण्य विषय

पूज्य श्री की कविता का वर्ण्य विषय प्रधानतः भक्ति और नीति रहा है। भक्ति रूप में कवि ने अपने उपास्य के प्रति जीवात्मा की विवशता, निराश्रयता, अज्ञानता और मलिनता का बारबार उल्लेख कर आत्म निवेदना की है तथा स्तवन किया है उपास्य की पतित-पावनता का, भक्त-वत्सलता का, भव तारण क्षमता का। उपास्य देवता के रूप में कवि ने जन-तीर्थकरों को अपनाया है। इन तीर्थकरों में आदिनाथ, शांतिनाथ और नमिनाथ कवि का विशेष प्रिय रहे हैं। तीर्थकरों के साथ साथ कवि की श्रद्धा भक्ति तीर्थ की ओर भी उमडी है। तीर्थ में उसने साधु-साध्वी और श्रावक श्राविका का कीर्तन-कथन एवं व्रत नियमादि का स्तवन किया है। अन्य अन्य आत्माओं में सगर चक्रवर्ती, धन्ना अणगार, इलायची कुंवर तथा राजुल आदि सतियों को अपना काव्य विषय बनाया है।

नीतिरूप में कवि ने आध्यात्मिक उपदेशना दी है। इस उपदेशना में एक ओर तात्त्विक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है तो दूसरी ओर लोक व्यवहार की बातों का विवेचन। तात्त्विक सिद्धान्तों में धर्म, सम्यक्त्व, भावना, मोक्ष, पाप, पुण्य आदि का स्वरूप वर्णन है। लोक व्यवहार की बातों में मानव भव की दुर्लभता, जीवन की नश्वरता, संगति की प्रभावना, क्रियाकाण्ड की निरर्थकता आदि का कथन है। वर्ण्य विषय को रेखा चित्र द्वारा इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—
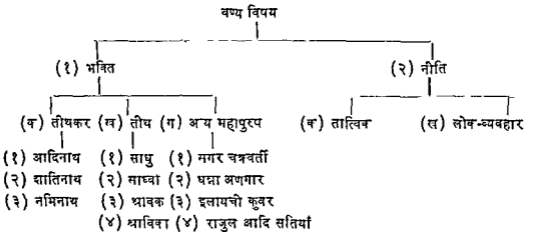
[1] प्रकाशित कविता संग्रह के अतिरिक्त मुनि श्रीचन्दजी ने पूज्य रत्नचन्दजी द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थों का और उल्लेख किया है—

मोक्षमार्गप्रकाश, प्रश्नोत्तर माला, बडी नवतत्त्व, बडा गुणठाणाद्वार, दिगम्बर मतचर्चा, तेरह पंथ मत चर्चा, चमत्कार चिन्तामणि जोतिष, तत्त्वानुबोध आदि।

भाव-व्यजना

जैन कवियो की दृष्टि शरीर की अपेक्षा आत्मा की ओर, राग की अपेक्षा विराग की ओर तथा प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति की ओर अधिक रही है। यही कारण है कि जैन-काव्य की वाटिका मे कामना को उभाड़ने वाले वासना के रगीन चित्र नही मिलेंगे वरन् मिलेंगे भावना को पवित्र बनाने वाले सुन्दर, सात्विक पूजा के फूल। पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी की कविता आरभ से अत तक इसी शान्त रस से सिक्त है। यह सही है कि कवि ने कुछेक कथानक ऐसे भी चुने है, जिनमे शृ गार रस की धारा प्रवाहित करके उसका शान्त रस मे पर्यवसान किया जा सकता था, पर कवि को शायद इसके लिए अवकाश नही मिला। उसने "चौढालियो' के रूप मे जो वृत्त अपनाया है, वह रस-परिपाक की कोटि तक नही पहुँच पाया है। केवल अभिधेय अर्थ मे अपनी बात कह कर उद्देश्य (धार्मिक) की पूर्ति भर कर सका है।

पर भक्ति-भावना को लेकर तीर्थकरो के चरणो मे जीव की ओर से जो उद्गार प्रकट हुए हैं उनसे भगवान की महानता का ही पता नही लगता वरन् जीव की आकुल तड़फन और दैन्य-भावना की भी थाह मिलती है। आदिनाथ की स्तुति करता हुआ कवि कहता है---

"आदि जिन अर्ज सुणो म्हारी।
रागद्वेष और मोह मिथ्या ठग, गल फांसी डारी।
बाजीगर के मरकट ज्यू, स्वाग घना धारी॥
भूल्यो निज-गुण पर-गुण राच्यो, छलबल अधिकारी।
अपनी भूल मे आपही उलझ्यो ज्यू मकडी जारी॥

कवि कितना विवश है, लाचार है, निस्सहाय है, उसे कौन इस ससार सागर से पार उतारे? कौन उसकी आत्मा को शान्ति दे? कौन उसकी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जागृत करे? उसे एकदम शान्तिनाथ भगवान का ध्यान आता है—

"शान्ति करता श्री शान्ति जिन सोलमा,
मन हर्ष धर चरण जुग शीश नाउँ।
जन्म अरु मरण दुख दूर करवा भणी,
एक जिन राज की शरण आऊँ॥"

क्योकि यही शातिनाथ तो शिव, विष्णु, ब्रह्मा, सब कुछ है। सगुण-निर्गुण से परे यही तो अलख परमात्मा है। यही तो विश्व-लोचन और जगदाधार है---

ब्रह्मज्ञानी चिदानन्द शिवरूप तू,
विष्णु जगदीश तू अमर नामी।

अमल म अचल निराकार ज्योतिरूप तुम,
अलख परमात्मा परम स्वामी ।
जगत लोचन तुम ही जगत आधार'
परम कृपाल दया सिन्धु स्वामी ।
भगत वत्सल भव्य जीव तारक तुम्हीं,
निज रूप गुण रमण शिव सुख पामी ।'

इसका ध्यान करने से कोटि-कोटि संकट टल जाते हैं असाध्य रोग गल जाते हैं और घट घट अन्दर आनन्द प्रगटे उलटो हियडा हरष भरी ।

भगवान की कृपा और साक्षात् अनुभूति का वर्णन करने में हमारा कवि पीछे नहीं रहा है । संत कवि कबीर ने दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित कर भगवान के विरह और मिलन के जैसे गीत गाए हैं वैसे ही कुछेक गीत पूज्य रत्नचन्द्रजी ने भी लिखे हैं । देश-काल के अनुसार उनमें थोडा बहुत अन्तर हो सकता है पर मूल भाव धारा में कोई विरोध नहीं । कबीर ने हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया कहा तो रत्नचन्द्रजी ने सुमता नारी बनकर विनती की है—

'आप विरहे अधिका दुख पाऊ
मत करो मुझने न्यारी ।
आज्ञा लोप चलू नहीं ऊवट,
मैं नित आज्ञा कारी ।।

कबीर को सतगुरु ने दीपक देकर लोक मार्ग बताया तो रत्नचन्द्रजी को सतगुरु ने जीव-अजीव का भेद बताकर क्रोधादि कषायों को शान्त करने के लिए सन्तोष की जडी दी—

'सतगुरु मत भूलो एक घडी ।
बोध बीज दीयो घट अन्दर जीव-अजीव की खबर पडी ।
क्रोध लोभ की लाय बुझावन, दीनी एक सन्तोष जडी ।।
गुरु के बोध देत हो गये विनाश भरम के बादल
परमारथ पद पवन करी ।'

जीव को ब्रह्म की अनुभूति होने लगी । आत्मा परमात्मामय हो गई । कबीर ने इस मिलन दृश्य का बहुत ही सुन्दर चित्र खींचा है । भरतार राजा राम को घर आते देख कभी कबीर ने प्रतीक शैली में कहा—

'दुलहिन गावहु मंगलाचार'

तो कभी आनन्द की वर्षा का साक्षात् अनुभव किया—

'गगन गरजै बरसै अमी, बादल गहर गभीर ।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ॥

पूज्य रतनचन्द्रजी ने भी परमात्म-मिलन (आत्म-ज्ञान) की आनन्दानुभूति का वर्णन करने के लिए 'सम्यकत्व-श्रावण' का विराट रूपक बाँधा है—

"सम्यक्त्व श्रावण आयो, अब मेरे सम्यक्त्व श्रावण आयो ।
घटा ज्ञान की जिनवर ने भाषी, पावस सहज सुहायो ॥ १ ॥
ग्रीष्म ऋतु मिथ्यात मिटानी, अनुभव पवन सुहायो ।
ऊँची ध्वनि गुरु गरजन लागे, भव्य मोर चित भायो ॥ २ ॥
निज गुण दामिनि चमकण लागी, ज्ञान-नीर वरषायो ।
तप जप नदिया चलत हीया मे, ममता तपत मिटायो ॥ ३ ॥
सम्यक्त्व श्रोता तरुवर उल्हसे, श्रुतज्ञान फल छायो ।
अर्क जवासा जिम मिथ्याती, सूकत होत दुखायो ॥ ४ ॥
सम्यक्त्व धरती अमृत निजगुण, बधे खेत अधिकायो ।
मिथ्या धरती लोभ उकरडी, दुर्गन्ध द्वेष बधायो ॥ ५ ॥
श्री जिनवाणी अमिय समाणी, मुक्ति मारग दरसायो ।
"रतनचन्द्र" कर जोडि जम्पे, इस वाणी सरणायो ॥ ६ ॥

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि आलोच्य कवि को जितनी सफलता स्तोत्र-साहित्य मे मिली है, उतनी इतिवृत्तात्मक वर्णन मे नही । साधु-जीवन की कठोरता और श्रावक-धर्म के व्रत नियमो के वर्णन में शास्त्रीयता ही सामने आई है, कवित्व की सहज स्फुरणा नही । कबीर की विरहिन आत्मा में जो तडफ, पिपासा और अधीरता है, उसकी झाँकी यहाँ नही ।

भक्ति के अतिरिक्त नीति की बात भी आध्यात्मिक उपदेश के अन्तर्गत कवि ने खुलकर कही है । तात्विक सिद्धान्तो का प्रतिपादन दो रूपो में हुआ है । पहले रूप मे कवि ने सार्वजनीन तथ्यो की विवेचना की है, तो दूसरे रूप में खण्डनात्मक शैली को अपनाकर स्वमत की पुष्टि की है । कभी जीव को सबोधना देते हुए कहा है—

'सुन जीवडला, मानव भव लहिनें,
अहिला मत खोवो ।'

क्योकि चार गतियो में मनुष्य गति ही सर्वश्रेष्ठ है । ऐसी गति पाकर उसे सफल बनाने के लिए गुरु की सीख माननी चाहिए—

अब सुण सत गुरु की सीख धरो मन प्राणी,
तुम करो धरम सु हेत मिटे जम घानी।
दान शील तप भाव धरो चित ज्ञानी,
देव धम गुरु चित सेवो जिन-वाणी॥

दुलभ मनुषा देह लही गुण खाना
ऐसा अवसर बहुरि मिले कब आनी।
दान शील तपभाव हिए मे धर रे
सीख सुगुरु का मान जगत सु तिर रे"॥

जीवन की नश्वरता का बोध कराते हुए भी कवि ने जीव को चेतावनी दी है—

किसकी मामण किसकी जामण
किस को है घर वर काया रे।
स्याही गई सफेदी आई,
तू फूक फूक पग धर रे॥'

इसके लिए आत्मज्ञान का होना सबसे आवश्यक है। यह आत्मज्ञानोपलब्धि बिना सम्यक्त्व के नहीं होती। जिसको शुद्ध सम्यक्त्व आ जाता है उसको किसी बात की कमी नहीं रहती—

निरमल शुद्ध सम्यक्त्व जिन पाई रे,
उनके कमी रहे नहीं काई।'

कवि अपने आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक उपदेशों में भी कबीर आदि संतों से प्रभावित मालूम पडता है। यह प्रभाव दो रूपों में दिखाई देता है। एक तो प्रचलित धर्माडम्बर के विरुद्ध कडी चेतावनी के रूप में दूसरे पिण्ड में ब्रह्माण्ड' की कल्पना के रूप में। प्रथम रूप में भेषधारियों की खबर लेते हुए कवि ने कहा है—

"भेषधर यू ही जनम गमायो।

लच्छण स्यास, साग धरि तिहे को लेत लोगों रो लायो॥ १॥
कर कर कपट निपट चतुराई आसण दढ जमायो।
अंतर भोग, जोग है बाहिर, बक ध्यानी बस छायो॥ २॥
कर कर कपट निपट निजरागो दया धम मुल गायो।
सावद्य निरवद्य बहुत प्रश्न अन्तर भेद न पायो॥ ३॥
वस्त्र पात्र आहार थानक म ममता दोष लगायो।

सत दास विण सत कहावे, यह काई करम कमायो ॥ ४ ॥
हाथ समरणी हिए कतरणी, लटपट होठ हिलायो ।
जप तप सजम आतम गुण विन, जाणो गाडर मूंड मुंडायो ॥ ५ ॥
पुद्गल भरम मिथ्यामति सेती, राग द्वेष ए मिटायो ।
आगम वयण अनूपम सुणि ने, सत पदे पहुचायो ॥ ६ ॥
शुद्ध दशा आतम नो जाणों, सहज भवहि लभायो ।
"रतनचन्द' आनन्द भयो जब आतम राम रमायो ॥ ७ ॥

सत कवियो ने जिस प्रकार 'पिण्ड मे ब्रह्माण्ड' की कल्पना की है, उसी प्रकार आलोचक कवि ने काया की सुन्दरता और विशदता का उदात्त वर्णन किया है, पर यह भी सकेत कर कर दिया है कि जब प्राण रूपी वणजारा इसे छोडकर चला जाता है, तब वह माटी मात्र रह जाती है—

"इन तो काया मे प्रभु सात समुद्र छै,
कोई खारो कोई मीठो ।
सुन्दर काया ने छोड़ चल्यो वणजारो,
वणजारो धुत्तारो कामण गारो ।
वणजारो धुतारो मोहण गारो.
म्हारी देहडली छोड़ चल्यो वणजारो ॥१॥

इण तो काया मे प्रभु पांच रतन छै ।
कोई परख लो परखण हारो ।
इण तो काया मे प्रभु पांच पणिहारी,
कोई नीर भरें छै न्यारो ॥
डिग गया देवल प्रभु खिसक गया थंभा,
काई मटिया मे मिल गयो गारो ।
कहत 'रतन' मुनि सुणो भाई सजनो,
कोई झूठो छै जगत ससारो ॥२॥

नीतिकार की भांति पूज्य रत्नचद्रजी ने कतिपय शिक्षाप्रद दोहे भी लिखे हैं—जिनसे उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और जीवन गत व्यापक अनुभवशीलता का पता चलता है । इन दोहो मे सगति की प्रभावना अवसर की अनुकूलता-प्रतिकूलता, विपत्ति के समय परीक्षण आदि वातो की चर्चा की की गयी हे । यहाँ उदाहरण के रूप मे चार दोहे प्रस्तुत हैं—

१. सगति सोभा उपजं, निरख देख यह बयण ।
सोई कज्जल आरसी, सोई कज्जल नयण ॥

२ फीकी भी नीकी लगे कहिये समय विचार ।
सबको मन हरषित करे ज्यू विवाह मे गार ॥
३ नीकी भी फीकी लगे, बिन अवसर की बात ।
जसे वरणत जुद्धम, रस सिणगार न सुहात ॥
४ साधु बचने परखिये, विपत पडे परनार ।
सूरा जब ही परखिये, जब चालें तरवार ॥

कलापक्ष

पूज्य रत्नचन्द्रजी जसा कि कहा जा चुका है पहले साधक थे, लोकोपदेशक थे और बाद मे कवि । उनकी कविता लोक मगल की साधनावस्था की कविता है सिद्धि अवस्था की नही । यही कारण है कि उसमे कारीगरी और कलाबाजी नहीं हृदय की निष्कपट अभिव्यक्ति है । अलकारो का प्रयोग हुआ अवश्य है पर चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं भावो की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए । सामान्यत सादृश्यमूलक अलकार ही विशेष प्रयुक्त हुए हैं । उपमा रूपक के प्रयोग देखिए ।

(क) उपमा

१ मधु बिन्दु सम विषया जानी
२ मिल्या जीव स खीर नीर जिम आठ कमभारी
३ थारी फूल सी देह पलक म पलटे कया मगरूरी राखे रे ।
४ राग द्वष और मोहमिथ्या ठग, गल फासी डारी ।
बाजीगर के मरकट ज्यू, स्वाग घनाधारी ॥
५ अपनी भूल म आप ही उलझो, ज्यू मकडी जारी ।

(ख) रूपक

१ अनुभव रस तिण चाखीयो तप को सभाली तेग ।
२ सजम बुतो कान लगी जब, गिय नारी परचित्त दियो रे ।
३ सम्यक्त्व सूर उद्योत किया थो मिथ्या तिमिर नसाव ।

दो जगह कवि ने विराट सागरूपक बाधे है । दोनो का सम्बन्ध प्रकृति से है । कवि ने प्रकृति के शृगारिक भाव को आध्यात्मिक रूप दे दिया है। एक जगह तो प्रचलित बारहमासा को विरह के क्षेत्र से बाहर निकाल कर वराग्यपूर्ण बारह भावना (आषाढ अनित्य भावना श्रावण अशरण भावना भाद्रपद ससार भावना आसोज एकत्व भावना, कार्तिक अन्य भावना मगसर अशुचि भावना, पोष आस्रव भावना माघ सवर भावना फाल्गुन निर्जरा भावना, चत्र धर्म भावना वशाख लोक-

स्वरूप भावना, और जेठ बोधि दुर्लभ भावना) के साथ मिश्रित किया है। यद्यपि सभी भावनाओं के साथ रूपक सटीक नही बैठा है, तथापि निर्जरा भावना और फाल्गुन मास का रूपक सुन्दर बन पड़ा है—

फाल्गुन समय वसन्त की, तप भेद द्वादश निर्जरा।
पिचकारी सजम रग हैं गुण, सतवीस लीजे परवरा ॥
धमाल ध्यान मृदग समता, शील केसार तन सजे।
करम धूर उडाय कर गढ, मुक्ति मे अनहद बजे ॥

दूसरी जगह सम्यक्त्व को श्रावण बनाकर बडी दूर तक रूपक का सागोपाग निर्वाह किया है। उसका विश्लेपण इस प्रकार किया जा सकता है—

उपमेय	उपमान
१. सम्यक्त्व	श्रावण
२. ज्ञान	घटा
३. मिथ्यात्व	ग्रीष्म ऋतु
४ अनुभव	पवन
५. चित्त	मोर
६ गुण	दामिनी
७ ज्ञान	नीर
८ जप-तप	नदियाँ
९ ममता	तपन
१० सम्यक्त्व श्रोता	तरुवर
११ श्रुत-ज्ञान	फल
१२. मिथ्यात्वी	अर्क, जवासा
१३. सम्यक्त्वी के गुण	लहलहाता खेत
१४. मिथ्यात्वी की लालसा	उकरडी
१५ द्वेप	दुर्गन्ध
१६ जिनवाणी	अमृत-वर्पा
१७ मुक्ति	मार्ग

भाषा को रोचक और प्रभावोत्पादक बनाने के लिए जगह-जगह लोकोक्तियों और मुहावरो का प्रयोग भी किया गया है—

१. जाया सो मरसी सही, फूले ते कुमलाय।
ऊगे सोई आथ मे, चिणियें सो ढल जाय ॥

२ और देव अरड कुण रोप जो गुण मन्दिर केलि फली ।
३ कचर डार काच चित देखें या की बुध मे खामी ।
४ वमीयो आहार बछा करे, कइ कुत्ता कइ काग ।
५ लच्छण स्याल, साग धरि सिंह को, खेत लोगारो खायो ।
६ स्याही गई सफदी आई
तू फूक फूक पग धर रे ।

पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी की भापा राजस्थानी है । उसम गुजराती पजाबी आदि भापाओ के शब्द भी एकाध जगह प्रयुक्त हुए हैं । भापा के क्षत्र म जन कवि हमेशा उदार रहे हैं । लोक भापा म अपनी बात कहना ही उन्हान धम प्रचार की दृष्टि स हितकर माना है । सस्कृत के विद्वान होत हुए भी हमारे कवि न भापा को क्लिष्ट नही बनाया है । अनुप्रास-युक्त भापा की प्रवहमानता का एक उदाहरण देखिए—

अलख निरजन मुनि मन रजन भय भजन विश्रामी ।
शिवदायक नायक गुण गायक पावक हैं शिवगामी ॥

छन्द विधान की दृष्टि से भी जन कवि बडे उदार रहे हैं उन्होने शास्त्रीय छन्दो की अपेक्षा लौकिक छन्दों के विविध प्रयाग बडी कुशलता के साथ किए है । पूज्य रत्नचन्द्रजी ने भी कुडल गीतिका दोहा, ढाल आदि छन्दो म अपनी रचनाए लिखी है । सगीत-तत्व इनकी कविता की एक विशेषता है । ये सभी रचनाए गय हाती है और सामायिक प्राथना आदि म सामूहिक रूप स गायी जाती है । ढालो को विभिन्न राग रागनियो (मल्हार प्रभाती आदि) म गुम्फित किया गया है ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि पूज्य रत्नचन्द्रजी क कवि व्यक्तित्व म भक्त-हृदय और सत हृदय दोनो का सम्मिश्रण है । भक्त हृदय न कविता को माधुय दिया है तो सत हृदय न ओज । दोनो के मेल म स्तुति स्तोत्र, बारहमासा चौढालिया लावणी आदि जिन काव्य रूपो की सृष्टि हुई, वह अपन आपम मूल्यवान है ।

विसयतकहा और अपभ्रंश कथाकाव्य

डा० देवेन्द्रकुमार एम० ए० पी० एच० डी०

मध्ययुगीन भारतीय आर्य-भाषाओ मे अपभ्रंश का अत्यन्त महत्व है। परिवर्तनो के बीच भी स्पष्ट रूप मे इसका मूल रूप अत्यन्त प्राचीन लक्षित होता है। यदि अपभ्रंश प्राकृतो की अन्तिम अवस्था का विकास है, तो प्राकृत वैदिक युग की बोली का स्वाभाविक विकास है, जिसके बीज हमे लैटिन, ग्रीक, अवेस्ता और वेदो की भाषा मे बिखरे हुए मिलते हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि अपभ्रंश और प्राकृत की कुछ विशेषताएँ आज भी वैदिक और अवेस्ता की भाषा मे निहित मिलती है।

उपलब्ध प्रमाणो के आधार पर अपभ्रंश भाषा आभीरो की बोली कही जाती है। किन्तु वैयाकरणो के निर्देशो से पता लगता है कि भाषा मे अपशब्दो की भरती एव विकार का नाम अपशब्द या अपभ्रंश है, जो निश्चय ही भाषा के परवर्ती विकास का सूचक है। इसलिए संस्कृत-साहित्य के समालोचको के 'आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता" कथन से यही अभिप्राय जान पड़ता है कि शिष्ट लोगो की तुलना मे अपभ्रंश जन सामान्य एवं निम्न जातियो की विभाषा (बोली) है। वैयाकरण भी इसे शूद्र म्लेच्छ तथा महाशूद्र की भाषा कहते है। परन्तु मेरे मत मे अपभ्रंश अहीर, भील, मछुआ आदि लोगो की भाषा न हो कर जन साधारण की बोली रही है। यदि वह अहीरो की बोली होती तो उनके द्वारा लिखे हुए साहित्य या प्रदेश विशेष की बोली का उल्लेख अवश्य मिलता। आचार्य भरत मुनि ने तथा राजशेखर ने उकार बहुल भाषा का उल्लेख किया है यह अपभ्रंश ही है। क्योकि उत्तर से ले कर दक्षिण भारत तक की कई भाषाओ मे उकारान्त पद्धति लक्षित होने पर भी विशेष रूप से वह अपभ्रंश की सूचक है। भरत मुनि के समय मे भाषाओं के साथ ही कई विभाषा नाट्य मे प्रयुक्त होती थी जिनमे आभीरी भी बोली रूप मे थी। वस्तुत. आभीरी बोली मात्र ही रही है। इसमे साहित्य कभी

नहीं लिया गया। अतएव अपभ्रंश से हमारा अभिप्राय अहीरों की बोली से न हो कर प्राकृतों की उस उत्तरकालीन विकसित अवस्था से है जिसका मूल रूप हम वैदिक और अवेस्ता में यत्किंचित् रूप में सुरक्षित मिलता है तथा जो नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की पुरोगामिनी भाषा है। इस प्रकार वैदिक युग से ले कर भाषा का जो प्रवाह प्राकृतों में विकासशील रहा वही मध्ययुग में अपभ्रंश की धारा में संचरित हो कर प्रवाहित एवं विकसित रहा है और इसीलिए अपभ्रंश में प्राकृतों की लगभग सभी विशेषताएं विद्यमान हैं।

संक्षेप में अपभ्रंश लोक-जीवन एवं परम्परा की भाषा है जो अपने विकसित रूप में आज हमें हिन्दी के ढांचे में ढली हुई दिखाई पड़ती है।

अपभ्रंश-साहित्य का युग

सुनिश्चित रूप से छठी शताब्दी से लेकर सतरहवीं तक अपभ्रंश साहित्य की रचना विभिन्न विधाओं में होती रही है। अपभ्रंश-साहित्य का यह युग इतिहास में मुख्यतया राजपूत-काल कहा जाता है। राजपूतों का देश के सभी भागों में प्राबल्य रहा है। उत्तरी भारत के राजपूतों में चौहान, परिहार, तोमर और पंवार तथा दक्षिण में चन्देल, कलचुरि या हैहय, गाहड़वार और राष्ट्रकूट मुख्य रहे हैं। आलोच्यकाल में राजपूत गुजरात के सभी प्रदेशों में फैल गए थे।

राजनैतिक दृष्टि से यह युग उथल-पुथल का रहा है जिसमें कई विदेशी शक्तियों ने भारतीय केन्द्रीय सत्ता को हथिया कर अपना राज्य विस्थापित करने की चेष्टा की है। यद्यपि अपभ्रंश-साहित्य में सामन्तकालीन तथा राजपूतकालिक राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन मिलता है किन्तु राजनैतिक संघर्षों का एवं बड़ी-बड़ी घटनाओं का अपभ्रंश के किसी भी कथाकाव्य-लेखक ने अपनी रचना में उल्लेख नहीं किया। प्रशस्ति में अवश्य हमें सुहम्मदबिन तुगलक की राज्य-शासन तथा उसके समय में घटित होने वाले अत्याचार का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार ग्वालियर के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह तथा मथुरा भरतपुर के यदुवंशी राजाओं का उल्लेख मिलता है। इसके दो ही कारण मुख्य जान पड़ते हैं—एक तो यह है कि भारतीय कवियों की भांति अपभ्रंश के कवि राजनैतिक घटनाओं से उतने प्रभावित नहीं थे जितने कि धार्मिक और सामाजिक दशा से थे। दूसरे उनका उद्देश्य ऐतिहासिक न होकर साहित्यिक एवं धार्मिक था। अतएव सामान्य बातों को छोड़कर विशेष घटनाओं तथा स्थिति का चित्रण अपभ्रंश के इस साहित्य में नहीं मिलता।

समाज और संस्कृति

आलोच्यकाल में राजपूतकालीन समाज और संस्कृति का स्पष्ट चित्रण हमें अपभ्रंश के प्रायः सभी कथाकाव्यों में मिलता है। इसलिए वणिक पुत्र हो कर भी नायक बाल विवाह तन्त्र मन्त्रादि के साथ विभिन्न शस्त्रास्त्रों का संचालन, घोड़े की सवारी तथा संग्राम में विविध चातुरियों से बचाव आदि

की शिक्षा ग्रहण करते थे। इसी प्रकार सुन्दर स्त्रियों के निमित्त उस युग में युद्ध लड़े जाते थे। कई सुन्दरियों से विवाह करना गौरव की बात समझी जाती थी। प्रिय या पुत्र के वियोग में राजपूत ललनाएँ कौओं को सन्देश दे कर भेजती थीं। बहु-विवाह की प्रथा का प्रचलन था। विवाह बड़ी ठाठ-बाट से होते थे। समाज में वैश्यों का अच्छा स्थान था। राजा उनका यथोचित सम्मान-सत्कार करता था। नगरसेठ अत्यन्त प्रभावशाली होता था। उस युग में कई छोटे-छोटे राज्य होते थे। इसलिए राजा लोग सदा शंकित रहते थे। समाज में पर्दा-प्रथा प्रचलित थी। बालकों की भाँति कन्याएँ भी विविध कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थीं। विशेष रूप से स्त्रियाँ संगीत एवं वीणावादन में निपुण होती थीं। गेंद से खेलना उन्हें अत्यन्त प्रिय था। सभी स्त्रियाँ आभूषण-प्रिय होती थीं। यहाँ तक कि तरह-तरह के आभूषणों से अंग-प्रत्यंग ढँक लेती थीं।

भारतीय समाज में विवाह एक मांगलिक कार्य माना जाता रहा है। उस युग में वैश्यों के विवाह भी वेद की ऋचाओं के साथ पुरोहितों द्वारा सम्पन्न होते थे। वर्ण-व्यवस्था का व्यापक प्रचार था। वर-कन्या को देखे बिना विवाह नहीं होते थे। अधिकतर चित्रपटों को देख कर लड़का-लड़की मन भर लेते थे। धनी लोगों के यहाँ विवाह के समय नृत्य-गान तथा कौतुक होते थे। कई दिनों तक लोग राग-रंग में मस्त रहते थे। मद्यपान-गोष्ठियाँ जमा करती थीं। वर बहुत दिनों तक विवाह होते ही ससुराल में रहता था। दायजे में कन्या को दास-दासी, हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस तथा सोना एवं मोती, माणिक, हीरा रत्न आदि पदार्थ दिए जाते थे। बहू के साथ बेटे के लौटने पर माता उत्सव मनाती थी। बेटे-बहू की नजर उतार कर आरती उतारती थी। न्योछावर करके दान दिया जाता था। कपूर के दिए जलाए जाते थे।

जीवन की अन्तिम अवस्था में राजा लोग तथा नगर के प्रमुख सन्यास धारण कर लेते थे। अप-भ्रंश-साहित्य में सुखोपभोग करने के पश्चात् पुरुष तथा स्त्री सभी का विरक्त हो कर मुनि-दीक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार समाज और संस्कृति से भरित अपभ्रंश-कथाकाव्य जीवन के विकास की धार्मिक तथा नैतिक पद्धति से परिव्याप्त है, जिसमें यथार्थ और आदर्श दोनों का सुन्दर मेल हुआ है। वस्तुतः भारतीय साहित्य में महाकाव्यों के अभ्युत्थान में अपभ्रंश-कथाकाव्य की यह विधा कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

साहित्यिक वर्गीकरण

अपभ्रंश साहित्य में बन्ध, शैली और आकार-प्रकार की दृष्टि से कई प्रकार की साहित्यिक विधाएँ लक्षित होती हैं। अभी तक मुख्य रूप से अपभ्रंश का साहित्य पौराणिक तथा चरितमूलक समझा जाता रहा है। किन्तु आलोच्यमान प्रबन्ध काव्य के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अपभ्रंश में कथा-काव्य नामक स्वतन्त्र विधा का विकास हो चुका था, जो संस्कृत के एकार्थक काव्य की कोटि में परिगणित की जा सकती हैं। संक्षेप में, अपभ्रंश-साहित्य का वर्गीकरण इस प्रकार है—
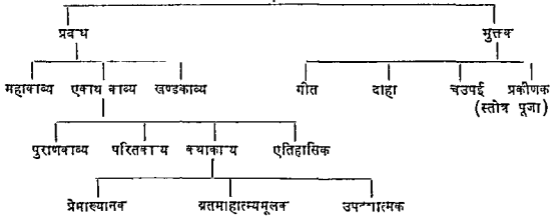
कथाकाव्य और चरितकाव्य

कथावस्तु की दृष्टि से कथाकाव्य में लोकवार्ताएं किन्हीं कथाभिप्रायों तथा रूढ़ियों के साथ निबद्ध मिलती हैं। किन्तु चरितकाव्य की वस्तु पुराणों से उद्धृत एवं ऐतिहासिक अनुश्रुतियों से सम्बद्ध देखी जाती है। रचना और शैली की दृष्टि से भी दोनों में अन्तर लक्षित होता है। *अपभ्रंश कथाकाव्य* की प्रत्येक रचना को कथा भारतवर्ष में या विदेशों में मिलते-जुलते तथा समान वृत्तों में किसी न किसी रूप में मिलता है। कहीं-कहीं तो बहुत ही अधिक साम्य लक्षित होता है। अतएव कथानुबन्ध तथा कार्यावस्थाओं में दोनों में भेद स्पष्टतया दिखाई पड़ता है। संक्षेप में अपभ्रंश के कथाकाव्य और चरितकाव्य में निम्नलिखित बातों में अन्तर मिलता है—

१ कथा की भांति कथाकाव्य में कहानी के तत्वों का समावेश रहता है। कथा स्वाभाविक तथा गतिशील रहती है। किन्तु चरितकाव्य में घटनाओं के विस्तार में दब कर कथा रुक रुक कर चलती है।

२ कथा किसी उद्देश्य विशेष को लेकर चलती है और इसीलिए उद्देश्य प्राप्ति के साथ ही कथा समाप्त हो जाती है। परन्तु चरित काव्य में नायक के समूचे जीवन का ही विस्तार से कथन होता है और नायक का फल ही काव्य रचना का फलागम माना जाता है।

३ कथाकाव्यों में पताका-नायक और पताका-कथा की रचना नहीं मिलती। किन्तु चरितकाव्यों में स्पष्ट रूप से देखी जाती है।

४ कथाकाव्य में पात्र एक से अधिक बार कथा को दुहराते हैं पर चरितकाव्य में यह प्रवृत्ति नहीं मिलती।

प्रबध-संघटना

अपभ्रश के सभी कथाकाव्यो की वस्तु सन्धिवद्ध है। कम से कम दो सन्धियों से लेकर बाईस सन्धियो तक की रचना कथा-काव्य मे मिलती है। यद्यपि नाटकीय सन्धियो, कार्यावस्थाओ तथा अर्थ प्रकृतियो का निर्वाह देखा जाता है, पर किसी-किसी मे हीन सन्धियाँ भी निहित है। पताका नायक तथा कथा-रचना अपभ्रश के किसी भी कथा काव्य मे नही मिलती। साधारणतया इन कथा काव्यो मे नायक के द्वारा नायिका तथा राज्य-प्राप्ति का वर्णन मिलता है। अतएव कथा का उठान नायक की द्वीपान्तर यात्रा से आरम्भ होकर राजा बनने तक चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर ढल जाता है। अतएव राज्य करने और उसके बाद की अन्य घटनाओ मे मुनि के नगरागमन और साधु बनने की घटनाओ के उल्लेखो को छोडकर अन्य किसी घटना का विवरण इन कथाकाव्यो मे नही मिलता। और न उसके बाद के अश की कथा मे वह रस तथा रोचकता मिलती है, जो कथा के पूर्वार्द्ध में लक्षित होती है। किन्तु विलासवती कथा का पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनो ही कसे हुए, रोचक तथा सरस है।

वस्तु-वर्णन

इन कथाकाव्यो मे वस्तु वर्णन— परम्परामुक्त, श्लिष्ट तथा परम्परायुक्त तीनो रूपो मे मिलते है। परम्परागत वर्णनो मे रूढ उपमानो, प्राचीनो के वर्णनो के अनुरूप वस्तु—व्यजना तथा शैलीगत साम्य लक्षित होता है। नगर, राजा, समुद्र, विवाह, युद्ध कुमार—जन्म, मद्यपान-गोष्ठी, और रूप-वर्णन आदि पारम्परित ह जिनमे रूढ उपमनो तथा कल्पनाओ का प्रयोग हुआ है। परम्परायुक्त वर्णनो मे तेल वढाना, शकुन-अपशकुन, वरात, पक्तिभोज, समस्यापूर्ति तथा पूजा-स्तवन आदि के वर्णन निहित है। इन वर्णनो मे लोकगत शैली, उपमान तथा सरलता और सरसता होने से वर्णन अत्यन्त सजीव वन पडे है। प्राय सभी कथाकाव्यो मे लोक मूलक गीत शैली का समावेश मिलता है।

भाव–व्यंजना

सामान्य रूप से अपभ्रश के सभी कथाकाव्यो मे मानवीय प्रेम की प्रतिष्ठा तथा लोकव्यापी सुख-दु खमय घात-प्रतिघातो के बीच सयोग और वियोग की विवृति एव जन सामान्य से आदर्श मानव बन कर परमपद की प्राप्ति समान रूप से सभी कथाकाव्यो मे वर्णित है। स० क० मे यदि माता और पुत्र का अमित स्नेह आप्यायित है तो विलासवती मे नायक और नायिका का सच्चा एव आदर्श प्रेम चित्रित है और जि० क० मे नारी-प्रेम की उत्कृष्टता तथा श्रीपाल वनाम सि० क० मे पत्नी सेवा एव नारी-प्रेम के अवदात रूप की गाथा वर्णित है। सयोग और वियोग की विभिन्न स्थितियो मे इन कथाकाव्यो मे आत्मगर्हा, ग्लानि, पश्चाताप, विस्मय, उत्साह, क्रोध, भय आदि अनेक भावो का सचरण विभिन्न प्रसगो मे लक्षित होता है। सामान्यत मानसिक दशाओ मे वात्सल्य, दाम्पत्य और पति-भक्ति आदि मे निहित रति-भाव, क्रोध, भय, उत्साह और निर्वेद की मधुर व्यजना हुई है। स्थायी भावो के साथ ही विभिन्न

सचारी तथा अनुभावा का विधान भी इन कथाकाव्यो म लक्षित होता है। यही नही घटनाओ की भाँति भावो म सघष और जीवन पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से अपभ्रश के कथाकाव्या म दिखाई पडता है।

सभी कथाकाव्या का पूर्वार्द्ध शृगार के सयाग और वियोग दोना ही पक्षो से अनुरजित है। किन्तु लगभग सभी कथाकाव्यो का पयवसान शान्त रस म होता है। इसलिए शृगार और शात सामान्यतया दो ही रस मुख्य हैं। लेकिन भ० क० जि० क० और सि० क० म वीर रस का भी मधुर परिपाक हुआ है। अन्य रसा म हास्य, करुण रौद्र वीर भयानक वीभत्स और अद्भुत का भी सनिवश कही कही हुआ है।

चरित्र चित्रण

यद्यपि इन कथाकाव्यो के नायक राजवि वश के अथवा प्रख्यात नहीं है पर राजोचित आन बान तथा उदात्त गुणा स युक्त हैं। सनत्कुमार और श्रीपाल तो स्पष्ट रूप स राजपुत्र है। अन्य नायक वणिकपुत्र हैं। व धीर-वीर हो नहा क्षमाशील और उदार भी है। उनम जहाँ दाक्षिण्य तथा आत्म विनम्रता है वही साहस तथा क्षात्रोचित आत्मतज एव दप का उज्ज्वल प्रकाश है। व स्वाभिमान स भर पूरे तथा अन्याय का प्रतिकार करन वाल हैं। उनम मधुरता और सरलता का अदभुत मिश्रण है। इस प्रकार नायक उदात्त गुणो स समन्वित होन पर भी असहाय और विवश किंकर्त्तव्यविमूढ और सकटापन्न भी चित्रित है। उनक जावन म जहा पिता का तिरस्कार भाई का छल कपट धम पिता का विश्वासघात आधि-व्याधि आदि विघ्न बाधाओ की भरमार है वही माता का स्नेह प्रियतमा की सेवा शुश्रषा और पुण्यजनित सुख वभव तथा देवी सयागा की मधुरता पर्याप्त है।

सवाद सरचना

अपभ्रश क कथाकाव्या म सवाद सरचना कई रूपो म मिलती है। यदि जि० क० क सवाद अलकृत हैं तो स० क० म सरल स्वाभाविक और सजीव है। प्राय सभी कथाकाव्या म सवादो की मधुरता और सरसता लक्षित होती है। जि० क० म कुछ सवाद शाति शली म वणित है। कहीं-कही हाव भावा का प्रदशन तथा व्यग्य का भी उचित समावश हुआ है। लम्ब और छोटे दानो प्रकार क सवाद आलोच्य साहित्य म मिलत हैं। वि० क० म तो कुछ सवाद कहानी हो बन गए है और कुछ सवाद अधिक लम्ब हो गए हैं किन्तु सि० क० म सवाद सक्षिप्त और मधुर हैं। इन सभी कथाकाव्या म वातावरण तथा दृश्या क बीच सवादा की योजना हुई है। भाषा भी सवादा क अनुकूल है। इन सवादा म नाटकीयता, वाक्चातुय कसावट तथा भावों का पूरा-पूरा प्रकाशन अभिव्यक्त है। सक्षप म सवादा क बीच चलते हुए वणना का समावश वातावरण दृश्य एव चित्रो क बीच सवाद योजना सवादा म कथा का आवृत्ति चलती हुई भाषा म मधुर तथा सरल सवादा का रचना और सरलता सजीवता का अभिव्यजना आदि विशेषताए अपभ्रश-कथाकाव्यों म सामान्य रूप स मिलता है।

भाषा

जिनदत्तकथा को छोड कर मुख्यतया अपभ्रश के कथाकाव्यो की भाषा सरल तथा शास्त्र और लोक-जीवन के मेल की भाषा है। प्रयुक्त भाषा मे बोलचाल के शब्द मुहावरे लोकोक्तियो एव सूक्तियो के साथ ही सस्कृत से बने या विगडे हुए शब्दो की भी प्रचुरता है। जि० क० मे शब्दो की तोड-मरोड विशेष रूप मे मिलती है। किन्तु विगडे हुए शब्दो मे सस्कृत से उधार लिए गए शब्दो की ही अधिकता है देशज शब्दो मे विकार की प्रवृत्ति नही मिलती। वस्तुत अपभ्रश भाषा मे तत्सम शब्दो की अपेक्षा तद्‌भव और देशज शब्दो का प्राधान्य है।

शैली

अपभ्रश कथाकाव्य प्रवन्धकाव्य की भाति सन्धिवद्ध है। इनमे सन्धियो की रचना कडवको मे हुई है। यद्यपि आ० स्वयम्भू ने कडवको मे नियत पक्तियो का उल्लेख किया है, किन्तु इन कथाकाव्यो मे इसका कोई नियम नही मिलता। एक कडवक मे आठ मे ले कर चौवीस पक्तिया तक आलोचित कथा-काव्यो मे देखी जाती है। यथार्थ मे, प्रवन्धकाव्य के लिए कडवको की सख्या का न तो कोई नियम है और न विधान ही। किन्तु सामान्यत एक सन्धि मे दस से चौदह के बीच कडवको की सख्या मिलती है। अपभ्रश के कथाकाव्यो मे कम से कम ग्यारह और अधिक से अधिक छियालीस कडवक एक सन्धि मे प्रयुक्त है।

अलकार

आलोचित कथाकाव्यो मे साधर्म्य या औपम्यमूलक तथा लोकव्यवहार-मूलक अलकारो की मुख्यता है। प्रयुक्त अलकारो मे जहाँ पारम्परित रूढ उपमानो का प्रयास है, वही लोकगत उपमानो की सजीवता भी उत्कृष्ट वन पडी है। रूढ उपमान भी कही-कही कथन की शैली तथा परिवर्तनगत वैविध्य से नये-से वन गए है। जैसे कि नयनो की उपमा के लिए साधारणतया मृग, मीन, रक्तकमल तथा कही-कही खजन पक्षी से दी जाती है, किन्तु इन कथाकाव्यो मे कही-कही कमल के पत्तो से दी गई है। उसी प्रकार केश-कलापो को मदन डोरी का वना हुआ पाश कहना, माथे को काम का विजयपट्ट वताना, कपोलो पर लटकती हुई अलको को कामदेव का धनुप और वाण कहना इत्यादि। लोकगत उपमानो मे भी कुछ कवि की कल्पना से प्रसूत है और कुछ लोक-जीवन से गृहीत। इस प्रकार अलकारो की स्वाभाविकता और सुन्दरता इन कथाकाव्यो मे भलीभाति लक्षित होती है।

छन्दोयोजना

अपभ्रश के इन कथाकाव्यो मे मुख्य रूप से मात्रिक छन्द प्रयुक्त है। यद्यपि वर्णिक वृत्तो का प्रयोग भी मिलता है, पर कही-कही वे मात्रिक छन्दो के साचे मे और कही-कही प्रकृत रूप मिलते है। छन्दो की

दृष्टि से यह कथाकाव्य-साहित्य अत्यन्त महत्व पूर्ण है। इस साहित्य के अध्ययन करने से स्पष्ट पता लगता है कि समय-समय पर लोक-भाषा एवं भाषा की भांति शास्त्रीय वृत्त तथा जाति-बन्धन से हट कर नये-नये छन्द तथा मात्रिक वृत्तों का प्रयोग साहित्य में होता रहा है। अतएव भाषा की भांति ही विभिन्न रूपों और देशी राग रागिनियों में प्राकृत से छन्द साहित्य में नयी भाषा के साथ ढलते रहे हैं तथा विभिन्न नाम रूपों में ख्यात एवं प्रचलित रहे हैं। उदाहरण के लिए—मारठा, मरहट्टा, चचरी, वसंतचच्चर, सगीत गीति और रास आदि लोकप्रसिद्ध छन्द हैं जो धीरे-धीरे अपभ्रंश-कविता के प्रचलन के साथ ही काव्य में प्रयुक्त होने लगे थे।

लोक तत्त्व

अपभ्रंश के कथाकाव्यों की कथा का विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि लोक में इन कथाओं के रूप प्रचलित रहे हैं। कथा मानक रूपों के अध्ययन में जो निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं उनके आधार पर कथाभिप्रायों से यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि ये कथाएं भारतवर्ष में तो प्रचलित रही ही हैं, पर किसी न किसी रूप में विदेशों की यात्रा भी इन्होंने की है। इन कथाओं में आर्य संस्कृति की पूरी छाप तो लगी ही मिलती है पर अनार्य संस्कृति से भी बहुत कुछ प्रभावित है। अभिप्रायों (Motives) के अध्ययन और वर्गीकरण से हम इस बात का पता लगता है कि अपभ्रंश के इन कथा काव्यों में चौदह प्रकार के कथाभिप्राय मिलते हैं जो संसार के लोक-साहित्य की संक्षिप्त अनुक्रमणिका में भी अपना स्थान सरलता से घोषित करते हैं।

सामाजिक आचार विचार

इन कथाकाव्यों में सामाजिक आचार विचारों का पूर्णतया समावेश हुआ है। दसवीं शताब्दी से ले कर सत्रहवीं शताब्दी तक के भारतीय समाज की एक झलक स्पष्ट रूप में हमें इस साहित्य में मिलती है। कई प्रकार के रीति रिवाज तथा देवताओं की पूजा मनुष्य-बलि आदि कुरीतियों का भी उल्लेख इस साहित्य में हुआ है।

लोक जीवन और संस्कृति

लोक जीवन और संस्कृति के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का वर्णन मिलता है—धार्मिक विश्वास, लोक रूढ़ियां, जातिविषयक सामान्य विश्वास, सामाजिक आचार विचार, लोक निरुक्ति इत्यादि।

धार्मिक विश्वासों में हम देवी देवताओं की पूजा के साथ ही यक्ष और यक्षिणियों की पूजा का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार आकाश में वास करने वाले बहु स्त्री-देवताएं तथा कई प्रकार की परवर्ती कालिक मान्यताएं मिलती हैं जिनका जैनाचार्यों ने खुल कर विरोध किया है। जाति विषयक विश्वासों में जनियों के रीति रिवाज तथा धार्मिक बातों का वर्णन हुआ है। लोक रूढ़ियों में हम शकुन अपशकुन, स्वप्न दर्शन, ज्योतिषियों की भविष्य-वाणी का पालन, दूरस्थ देश में जाकर उदार पुत्र या पति के पास सन्देश

भेजना आदि बातें मिलती हैं। कवि-समय की भी कुछ बातों का समावेश हुआ है। लोक-निरुक्ति में लोक प्रचलित नामावली मिलती है, जिसमे लोकगत भाषा तथा लोगों की रुचि का पता लगता है। इस प्रकार अपभ्रंश का यह साहित्य लोक-जीवन और संस्कृति मे पूर्णतया प्रभावित है।

परम्परा और प्रभाव

अपभ्रंश के कथाकाव्यो पर संस्कृत के प्राचीन काव्यो का परम्परागत रूप में थोडा-बहुत प्रभाव लक्षित होता है। किन्तु आत्म-विनय, प्रदर्शन, नगर-वन-वर्णन आदि मे जो यत्किंचित् प्रभाव दिखाई पड़ता है, वह एक तो बहुत कम है दूसरे हम उसे सीधा संस्कृत का प्रभाव न मान कर संस्कृत का प्राकृत पर और प्राकृत से अपभ्रंश पर अप्रत्यक्ष रूप से संस्कृत का प्रभाव कह सकते हैं।

अपभ्रंश कथाकाव्यो का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

अपभ्रंश तथा हिन्दी के प्रबन्धकाव्यो में काव्य-रूढियो, प्रबन्ध-रचना-शैली, कथानक-रूढियो तथा रीतिकालिक प्रवृत्तियो मे बहुत कुछ समानता मिलती है। अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यो की कथा-वस्तु और रचना-पद्धति मे तो अद्‌भुत साम्य लक्षित होता है। इस साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियो तथा विशेषताओ की जानकारी से यह स्पष्ट हुए बिना नही रहता कि सूफी तथा प्रेमाख्यानक काव्यो की रचना कडवक तक शैली के ही विकासक्रम मे हो कर फारसी की मसनवी शैली मे नही हुई। क्योकि वस्तु-बन्ध, कथावस्तु, काव्य तथा कथानक-रूढियो तथा भावो मे सूफी तथा प्रेमख्यानक काव्य अपभ्रंश-साहित्य से प्रभावित है। फिर, अकेले मसनवी शैली का नाम ले कर फारसी की दुहाई क्यो दी जाए ? स्पष्ट रूप से अपभ्रंश के प्रबन्धकाव्यो की रचना पद्धडिया बन्ध मे हुई है। पद्धडिया चौपाई का ही पुराना नाम जान पडता है। साधारणतया चौपाई के साथ दोहे की भांति अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यो मे द्विपदी तथा अन्य उसी जाति के छन्दो का व्यापक प्रचलन रहा है, पर परवर्तीकाल में वह दोहा या द्विपदी में सीमित हो गया, जिसके दर्शन हमें हिन्दी के प्रबन्ध काव्यो में होते हैं। वस्तु-बन्ध और रचना शैली में ही नही भावो में भी कही-कही काव्य लक्षित होता है। हिन्दी के चौपाई, दोहा, छप्पय, रौला, दुर्मिल, सोरठा, गीति, कुण्डलिया, उल्लाला, पद्धडी या पद्धरि, हरिगीतिका और बरवे आदि छन्द प्राकृत की धारा से विकसित अपभ्रंश-काव्य-धारा से ही हिन्दी में निश्चय रूप से स्वीकृत अथवा ज्यो के त्यो ग्रहण कर लिए गए हैं। अतएव कई बातो में हिन्दी-साहित्य पर अपभ्रंश-साहित्य एव कथाकाव्यों का प्रभाव लक्षित होता है।

★

रासा-साहित्य के विकास में जैन विद्वानों का योगदान

डा० कस्तूरचंद कासलीवाल एम० ए० पी एच० डी०

रास शब्द की व्युत्पत्ति एवं स्वरूप को लेकर हिन्दी के विभिन्न विद्वानों द्वारा अब तक पर्याप्त चर्चा हो चुकी है। रास के रासक रासा रासो रासउ रासु आदि विभिन्न नाम मिलते हैं। ६-१० वीं शताब्दी में अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू ने अपने छन्द ग्रन्थ में रास का लक्षण करते हुए उसे जन मन अभिराम बतलाया है और कहा कि वह घत्ता, छड्डुणिया, पद्धडिया तथा ऐसे ही अन्य सुन्दर छन्दों से युक्त रासा बंध काव्य जन मन अभिराम होता है। महाकवि ने २१ मात्रा वाले रासा छन्द का लक्षण भी दिया है[1] स्वयम्भू के उक्त लक्षण से पता चलता है कि उस समय रासा काव्य अत्यधिक जन प्रिय होते थे और कविजन इन्हें छन्दोबद्ध किया करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीसलदेवरासो में प्रयुक्त रसायण शब्द से रासो शब्द की उत्पत्ति मानी है[2]। श्री के० का० शास्त्री के मतानुसार रास या रासक मूलतः नृत्य के साथ गायी जाने वाली रचना विशेष है[3]।

---

[1] घत्ता छड्डणि आहिं पद्धडि आहि सुअण्णरूएहिं।
रासाबंधो कव्वे जण-मण अहिरामओ होइ। ८-४९।
एक्कवीसमत्ता णिहणउ उद्दाम गिरु।
चउदसाइ विस्सामहो भगण वि रइए थिरु॥
रासा बपु समिद्धु एउ अहिराम अरु। ८-५२।

[2] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३२ (सं० २००३)

[3] आपणा कविओ भाग १ पृष्ठ १४३-१५२ तथा ४११-४३२

ओझा जी के अनुसार रासा शब्द ही उपयुक्त है और इसकी उत्पत्ति संस्कृत रास से है[1]। राजस्थान विश्व विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डा० मानाप्रसाद जी गुप्त की अभी रासो साहित्य विमर्श पुस्तक प्रकाशित हुई है, जिसमे उन्होंने लिखा है कि 'रास' रासा बलय, रासा और रासक छन्दो, रासक और नाट्य रासक-उपनाटको रासक, रास तथा रासो नृत्यो से भी रासो प्रबन्ध परम्परा का कोई निकट का सम्बन्ध रहा है, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। कदाचित् नहीं रहा है। इसी तरह हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार 'रासो' नाम से अभिहित कृतियां दो प्रकार की है—एक तो गीत-नृत्य-परक है दूसरी छन्द वैविध्यपरक। इसी कोश मे आगे लिखा है कि गीत-नृत्य परक धारा पश्चिमी राजस्थान मे तथा गुजरात मे विशेष रूप से समृद्ध हुई और छन्द वैविध्य-धारा पूर्वीय राजस्थान तथा शेष हिन्दी प्रदेश मे अधिक विकसित हुई। इस प्रकार रास शब्द के विभिन्न अर्थ किए। उक्त लक्षणों मे महाकवि स्वयम्भू का तथा हिन्दी साहित्य कोश का अभिमत अधिक युक्तियुक्त जान पड़ता है।

हिन्दी मे रासा साहित्य पर विभिन्न कृतियां मिलती हैं। यही नही, हिन्दी के प्राचीन एवं मध्य-युगीन-साहित्य का सर्वाधिक सम्पन्न काव्य रूप रहा। इसके अतिरिक्त यदि हिन्दी का आदि कालिक साहित्य को रासा साहित्य के रूप मे कहे तो भी अत्युक्ति नही होगी। रासा साहित्य जन प्रिय साहित्य था और उसके पठन-पाठन का अधिक प्रचार था। वह केवल वीर एवं शृंगार रस के वर्णन करने मे ही प्रयुक्त हुआ हो, ऐसी बात भी नही है। जैन कवियो ने रासा साहित्य मे अध्यात्म एवं वैराग्य के भी खूब गीत गाए हैं। रासा परम्परा हिन्दी के आविर्भाव के पूर्व अपभ्रंश एवं गुर्जर-साहित्य मे भी खूब मिलती है। जैन विद्वानो का तीनो ही भाषाओ के रासा साहित्य के विकास मे समान योग रहा। लेकिन इस लेख मे केवल दो भाषाओ के रासा साहित्य पर ही विचार करेंगे।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश भाषा मे अब्दुल रहमान के सन्देश रासक के अतिरिक्त जितने भी रासा ग्रंथ मिले है, वे सभी जैन विद्वानो द्वारा लिखे गए हैं। उद्योतन का चर्चरी रास संभवतः सबसे पुराना रास है, जो राज-स्थान के जालौर के आदिनाथ मंदिर मे छन्दोबद्ध किया गया था। इस रास की रचना तिथि संवत् ८३५ है। प० परमानन्द जी शास्त्री के शब्दो मे इस रास मे चार ध्रुवको की परिपाटी है जिनमे एक ध्रुवक कामोन्मादक रस का जनक है, दूसरा विषय वासना से पराङ्मुख करने वाला है, तीसरा ध्रुवक अशुचि मल मूत्रादि से संयुक्त अस्थि-पंजर को दिखाकर विवेक की ओर ले जाता है। चौथा ध्रुवक वैराग्य की ओर आकृष्ट करता है। 'जम्बूसामिचरिउ' के ग्रन्थकार महाकवि वीर (११वी शताब्दी) के पिता कविवर देवदत्त ने अपभ्रंश भाषा मे ही 'अम्बा देवी चर्चरी रास' लिखा था, जो अभी तक प्राप्त नही हो सका है। श्री जिनदत्तसूरि द्वारा रचित 'उपदेशरसायनरास' भी इस भाषा की महत्वपूर्ण कृति है। इस का रचना काल संवत् १२०० के बाद का है। यह उपदेशात्मक काव्य है। यह रचना श्री लालचंद भगवानदास गांधी द्वारा सम्पादित रास और रासान्वयी काव्य मे प्रकाशित हो चुकी है। उक्त रचनाओ के अतिरिक्त इसी

---

[1] हिन्दी नाटक उद्भव और विकास पृष्ट ७० (द्वितीय संस्करण)

भाषा म रचित विनयचन्द्र का चनडारास तथा जिभर पचमारास प० योगदव का मुक्तानुप्रेक्षा रास एव जल्हिण का अनुप्रेक्षा रास आदि महत्वपूर्ण कृतिया ह जो अध्यात्म एव वराग्यरस स ओत प्रोत हैं।

हिन्दी भाषा में जन विद्वानो न रासा साहित्य स इस भाषा के भण्डार को विपुल रूप से भर दिया। १३ वी शताब्दी स लकर १७ वी शताब्दी तक दस बीस अथवा सौपचास कृतिया लिखकर ही चन नही लिया किन्तु उन्होन इन शताब्दियो में चार सौ स भी अधिक रासा ग्रथ लिखे। इस प्रकार इस साहित्य के द्वारा उन्होन हिन्दी भाषा के प्रचार एव प्रसार म महत्वपूर्ण योग दिया। य रासा ग्रथ कवल एक विषय पर ही लिख हुए नही ह किन्तु जीवन की प्रत्यक समस्या पर इनमें विचार किया गया है। एक आर य चरित काव्य हैं तो दूसरी ओर य उपदशात्मक हैं। इनम मानव मात्र को सुपथ पर लगान क गीत गाए गए ह। किसी किसी रासा में एतिहासिक तथ्यो का भी अ छा वणन मिलता ह। लकिन अधिकाश रासा ग्रथ काव्य ह जिनमें किसी यक्ति विशेष के चरित्र का वणन किया गया है। रासा काव्य का यह रूप जन विद्वानो क लिए इतना अधिक प्रिय रहा है कि बहुत कम एस विद्वान होंगे जिन्होन एक या दो रासा ग्रथ नही लिख हो। ब्र० जिनदास न तो अकल न ० स अधिक रासा काव्य लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण उपस्थित किया है इनका परिचय आग दिया जावगा।

य रासा ग्रथ काव्यत्व की दृष्टि स ही महत्वपूर्ण नही ह किन्तु भाषा एव छ द शास्त्र की दृष्टि स भी य अत्यधिक महत्वपूर्ण कृतिया है। विभिन्न छन्दो राग रागनियो ढालो एव भास रागो का इनम खब प्रयोग किया गया है। दोहा चौपाई वस्तुबध छद इनक प्रिय छ द ह जिनका प्रयोग अधिकाश रासो म किया गया है। इन्हें लोग गाते थ और उत्सवो एव अ य आयोजनो क अवसर पर जनता को गाकर सुनाया करत थ। हिन्दी भाषा क क्रमिक अध्ययन की दृष्टि स भी य ग्रथ महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकत ह और हम इनके पठन पाठन स एक नया दिशा मिल सकता है। प्रकृति चित्रण भी इनम स कितन ही रासो म अच्छा हुआ है। जन कवियो न बाग उद्यान वन अटवी म भ्रमण का वही न वही वणन अवश्य किया ह। और उस अवसर पर विभिन्न वक्षो एव फल फूलो का खूब वणन करत है। नय नय पौधो एव फलदार वक्षो क नाम गिनाकर इस दिशा म अपनी विद्वता का परिचय दत ह। यहाँ एक और बात स्पष्ट कर दन की है आर वह यह है कि ये रासो ग्रथ काव्यात्मक और कथात्मक अधिक होन हैं क्योकि कवि का कथा को कह कर पाठको को सुपथ पर ल जान की अधिक इच्छा रहती है। कवल विनाद क लिए उन्होन बहुत ही कम रचना लिखा है। उनका यह प्रयास सवथा प्रसशनीय है। अब यहा इस साहित्य की प्रमुख कृतियो पर प्रकाश डाला जा रहा है।

१ भरतेश्वर बाहुबलि रास

यह सभवत हिन्दी भाषा का प्रथम रासा ग्रथ है जिसक रचयिता शालिभद्र सूरी हैं। इसकी रचना तिथि सवत् १२३१ है। रास म प्रथम तीथकर भगवान आदिनाथ क दो पुत्र सम्राट भरत एव बाहुबलि म हुए युद्ध का प्रमुख वणन है। रास श्री लालच द भगवानदास गाधी द्वारा सम्पादित रास और रासान्वयी काव्य म प्रकाशित हो चुका है।

२. बुद्धिरास

यह भी शालिभद्र सूरी की ही कृति है। इसमे श्रावको को सदाचरण का उपदेश दिया गया है। रास मे ६३ छन्द है। इसकी रचना तिथि नही दी हुई है। यह भी रास और रासान्वयी पुस्तक मे प्रकाशित हो चुका है।

३. जीवदयारास

यह सवत् १२५७ की कृति है और इसके ग्रथकार कवि आसगु है। कवि ने इसे जालौर नगर मे छन्दोवद्ध किया था। रास का मुख्य विषय श्रावकधर्म का निरूपण करना है। इसमें जीव-दया पालन पर विशेष जोर दिया गया है। इसकी छन्द सख्या ५३ है और यह कृति भी उक्त पुस्तक मे प्रकाशित हो चुकी है।

४. चन्दनबाला रास

इस कृति के रचयिता भी कवि आसगु है। इसे उन्होने जालौर के निकट सहिजगपुर (पश्चिमी राजस्थान) मे छन्दोवद्ध किया था। कवि ने इसमें चन्दनवाला के सतीत्व, सयम एव चरित्र का यशोगान गाया है। सती चन्दनवाला अन्त मे भगवान महावीरसे दीक्षा लेकर अपना आत्म-कल्याण करती है। इसमे ३५ छन्द है, जो "राजस्थानी भारती" मे श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

५ स्थूलिभद्ररास

यह रास कवि धर्मा द्वारा लिखा गया था। कवि ने इसे सवत् १२६६ मे पूर्ण किया था। इसकी एक प्रति अभय-ग्रथालय बीकानेर में सुरक्षित है। रास मे आचार्य भद्रबाहु के समकालीन आचार्य स्थूलिभद्र के जीवन पर प्रकाश डाला गया है।

६. रेवन्तगिरिरास

यह विजयसेन सूरी की कृति है। इसका रचना काल सं० १२८८ है। इसमे रेवन्तगिरि तीर्थ के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। यह एक ऐतिहासिक रासो है। इसकी रचना सोरठ देश मे हुई मानी जाती है। इसमे कुल ७२ छन्द है तथा रचना अच्छी है।

७. नेमिजिणदरास

इसके रचयिता पल्हण कवि है जो १३ वी शताब्दी के विद्वान थे। कवि की अभी दो रचनाएँ और उपलब्ध हुई है। इस रास मे कुल ५५ छन्द है। इनमे आबू पर्वत के महात्म्य का वर्णन किया गया है। विमल मत्री एव तेजपाल मत्री द्वारा किए गए मन्दिर निर्माण का विस्तृत वर्णन है। यह रास भी रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित हो चुका है।

८ नेमिनाथरास

सुमतिगनि न इसे सवत् १२७० में समाप्त किया था। इसम बाईसवें तीथकर भगवान के जीवन का वणन किया गया है। इसकी एक प्रति वृद्ध ज्ञान भण्डार जसलमर में सगृहीत है। रचना राजस्थान क किस प्रदेश में छन्दाबद्ध की गई थी इसका उसमें कोई उल्लख नही है।

९ गयसुकुमालरास

यह कृति जगतचन्द्र क शिष्य देल्हण कवि द्वारा छन्दाबद्ध की गई थी। यद्यपि रास में रचना तिथि नही दी गई है लकिन सूरिजी का समय १३ वी शताब्दी होन स रास का समय भी यही होगा। इसमें गजसुकुमाल मुनि के जीवन का वणन किया गया है। यह कृति भी रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित हो चुकी है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अभय ग्रथालय बीकानर में सगृहीत है।

१० समरारास

इसके रचयिता अम्बदव सूरि है। रास की रचना तिथि सवत् १३७१ के आस पास की है। इसकी रचना स्थान अणहिलपुर पाटन है। इसमें सघपति समरसिंह की तीथयात्रा का वणन किया गया है। इन्होंने शत्रुजय तीथ पर आदिनाथ की प्रतिष्ठा स्थापित की थी। यह रास प्राचीन गुजर काव्य सग्रह में प्रकाशित हो चुका है।

११ पचपाडवरास

यह रचना शालिभद्र सूरि की है जिसे उन्होंने सवत् १४१० में समाप्त की थी। रचना अच्छी है। रास की कथा पाडव पुराण पर आधारित है। पाडवा क जन्म महाभारत युद्ध एव उसमें विजय तथा अत में नमिनाथ से दीक्षा लकर वराग्य लेन की कथा है। रास का रचना स्थान गुजरात प्रदेश है। यह रास भी रास और रासान्वयी काव्य में प्रकाशित हो चुका है।

१२ गौतमरास

यह विनयप्रभ सूरि की रचना है। इसकी रचना तिथि स० १४१२ है और रचना स्थान खम्भात रहा है। इसम भगवान महावीर क प्रथम गणधर गौतमस्वामी के जीवन चरित्र का वणन किया गया है। गौतम पहिले ब्राह्मण थे लकिन बाद म भगवान महावीर म शास्त्राथ म पराजित होकर अपन पाच-सौ शिष्यों के साथ उनके शिष्य बन गए और अन्त म केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया। इस रासा की प्रतियाँ राजस्थान के जन शास्त्र भण्डारा म काफी उपलब्ध होती हैं। वसे यह रास भी रास और रासान्वयी काव्य म प्रकाशित हो चुका है।

१३. कुमारपालरास

इस कृति के कवि है, देवप्रभ सूरि और रचना काल है सवत् १४३५ के आसपास इसमे छन्दो की सख्या ४३ है। रास मे गुजरात के सम्राट् कुमारपाल का जीवन चरित्र अकित है। यह रास डा० भोगीलाल साडेसरा द्वारा भारतीय विद्या मे प्रकाशित हो चुका है।

१४. कलिकालरास

यह हीरानदसूरि की कृति है। कवि ने इसे सवत् १४८६ मे छन्दोबद्ध किया था। इस मे कलियुग के प्रभाव का वर्णन है। कवि राजस्थान के निवासी थे। रास को श्री अगरचद भवरलाल नाहटा ने हिन्दी अनुशीलन मे प्रकाशित करा दिया है।

उक्त रचनाओ के अतिरिक्त सप्तक्षेत्ररास, पेथडरास, कच्छूलिरास, आदि और रास है जो १५ वी शताब्दी के मध्य काल तक लिखे गए। १५ वी शताब्दी के अन्तिम पाद मे भट्टारक सकलकीर्ति एव ब्रह्म जिनदास के नाम विशेषत उल्लेखनीय है। सकलकीर्ति अपने समय के जबरदस्त विद्वान थे। उन्होने सस्कृत भाषा मे तो कितने ही ग्रथो को छन्दोबद्ध किया ही था, हिन्दी मे भी उन्होने आठ लघु कृतियां लिखी। इनमे दो रचनाएँ रासा साहित्य की भी है और उनके नाम है—सोलहकारण रास और सारसीखा मणिरास। सारसीखामणि उपदेशात्मक रचना है और सोलहकारण रास मे इस व्रत के महात्म्य का वर्णन किया गया है। कवि की भाषा का एक उदाहरण देखिए

जीव-दया व्रत पालीइए मन कोमल कीजि।
आप सरीखा जीव सर्व मन माहि धरीजइ ॥

ब्रह्म जिनदास हिन्दी के प्रबल समर्थक थे। उन्होने हिन्दी मे ६० से अधिक रचनाएँ लिखकर हिन्दी जगत में एक नया उदाहरण उपस्थित किया। इन रचनाओ मे ३३ रासा ग्रथ हैं, जिनको कवि ने विभिन्न स्थानो पर विहार करते हुए लिखा था। इनमे अधिकाश रास बडी बडी कृतिया है और प्रबन्ध काव्य के रूप मे लिखी गई हैं। गुजरात प्रदेश से इनका विशेष सम्बन्ध होने से इनकी रचनाओ पर गुजराती भाषा का अत्यधिक प्रभाव है। ब्रह्म जिनदास की रचनाएँ राजस्थान मे अत्यधिक प्रिय रही हैं, और इसलिए इनकी हस्त लिखित प्रतिया राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारो मे प्रचुर सख्या मे मिलती है, इनकी कुछ रचनाओ के नाम निम्न प्रकार हैं—कर्म-विपाक रास, सुदर्शनरास, श्रीपालरास, अम्बिकारास, जम्बूस्वामीरास, हनुमतरास, होलीरास, सम्यक्त्वरास, रात्रिभोजनरास, अजितनाथरास, नागकुमाररास, जीवधररास, नेमीश्वररास, रामायणरास, धर्मपरीक्षारास, भविष्यदत्तरास, सुकुमालस्वामीरास, सुभूमचक्रवतिरास। कवि की भाषा का एक उदाहरण देखिए—

पाषाण माहि सोनो जिम होई, गोरस माँहि जिमि घृत होई।
तिलसारे तैल वने जिमि अग, तिम शरीर आत्मा अभग ॥

काष्ठ माहि आगिनि जिमि होइ कुसुम परिमल मांहि नेह।
नारे सीत जिम नीर, तेम आतमा वस जगत सरीर ॥

ब्रह्म जिनदास के एक शिष्य गुण कीर्ति न रामसीतारास की रचना की। यह काफी बडी कृति है। इस हम जन रामायण भी कह सकत हैं। इनकी भाषा ब्रह्म जिनदास की भाषा से मिलती जुलती है। सवत १४९९ म वडतपागच्छीय साधु कीर्ति न विक्रम चरित्र रास की रचना की।

१६ वी शताब्दी म भी रासा साहित्य उतना ही लोकप्रिय रहा, जितना इसके पूव था। ऋषि वद्धन सूरि न सवत १५१२ म नलदमयन्तीरास का रचना की थी। य अञ्चल गच्छीय जयकीर्ति सूरि के शिष्य थ। रास का रचना स्थान चित्तौड था। इसा समय मतिशेखर न भी तान रासा ग्रथ की रचना की। इनम धन्नारास (स० १५१४) एव मयणरहारास (स० १५३७) के नाम उल्लेखनीय है। धन्नारास का एक उदाहरण देखिए—

दान प्रभावइ सुगतिर जासिइ
जीवड दान वडउ जन जुगतइ॥
कुगति निवारण हारी ॥ २। २१॥

भविया दान घना जिम दीजइ
मुनिष जनम तणउ फल लीजइ।
कीजन भावा पुरे॥ २। २२॥

इह भवि परिभवि दान प्रभावइ।
करिय राज रिद्धि सहु आपइ।
जायह दुखि दुह दरे॥ ३॥ २३॥

पूर्णिमा गच्छीय उदयभानु न सवत् १५६५ म विक्रमसन रास का रचना की थी। यह भी अच्छी कृति है। इसी शताब्दी म तपागच्छीय धर्मसिंह न विक्रमरास की रचना की। खरतर गच्छीय धम समुद्र गणि न भी कितन ही रासा ग्रथो की रचना की था। इनम सुमित्रकुमाररास (१५६७) कुलध्वज कुमाररास (१५८६) रात्रिभोजनरास सुदर्शनरास और शकुन्तलारास क नाम उल्लेखनीय हैं। शकुन्तला रास का एक उदाहरण देखिए—

राय अन्याय तणउ रखवाल पाल पृथ्वी तणउसहू कहइए।
ए निरधार ऊपरि हथियार आर सोचा क ही लहइए॥

आदित्यवार कथा क रचियता भाउ कवि न भी नमिनाथरास की रचना कर रासा साहित्य के भण्डार म अभिवृद्धि की। नमिनाथरास एक अत्यन्त सुन्दर कृति है जिसम भगवान नमिनाथ क जीवन पर एक सुन्दर उनकी ववाहिक घटना का सुन्दर वणन किया है। एक उदाहरण देखिए—

रूप अञ्चल णेमिकुमार, सुण राजमती कियो सिंगार।
कर ककण वहु हीरा जड्यौ, पहिरि हार गज मोती भर्यो ॥
कुसुम सीस वधे वहुताइ, तिलकु लिलाट न वर्णो जाय।
नयण कज्जल मुखि तंवोलु, अगि चढाइयो कुंकुम रोलु ॥

सवत् १५३६ मे आचार्य सोमकीर्ति ने यशोधररास की रचना की थी। सोमकीर्ति अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान भट्टारक थे। यशोधररास उनकी अच्छी कृति है। यह एक प्रवन्ध काव्य है, जो गुठली नगर मे लिखा गया था। इसकी भाषा पर गुजराती का पूरा प्रभाव था। इसी शताब्दी में एक कवि पूनो हुए जिन्होने सवाद के रूप मे मेघकुमार रास की रचना की। यह रचना समाज मे बहुत प्रिय रही थी। इसलिए इसकी कितनी ही प्रतियाँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती हैं। इस रचना मे २१ छद हैं। आचार्य जिनसेन ने सवत् १५५८ मे नेमिनाथ रास की रचना की। जिसकी एक प्रति जयपुर के वडे मदिर के शास्त्र-भण्डार मे उपलब्ध होती है। कवि सहज सुन्दर रत्नसमुद्र के शिष्य थे। इनके रासा ग्रथो में ऋषिदत्तारास (स० १५७२) आतमराजरास (स० १५८३) जम्बू अतरगरास (स० १५७२) परदेशी राजानोरास, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि रास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी शताब्दी मे एक और कवि हुए जो सस्कृत के प्रकाड विद्वान थे। उनका नाम है भट्टारक ज्ञान भूषण। इनकी तत्त्वज्ञान तरगिणी एक श्रेष्ठ रचना है। इन्होंने षट् कर्म रास की रचना करके रासो साहित्य के प्रति अपने प्रेम को प्रदर्शित किया। रास की भाषा पर गुजराती का प्रभाव है। इसकी कितनी ही प्रतियाँ राजस्थान के शास्त्र भण्डारो मे उपलब्ध होती है।

१७ वी शताब्दी मे भी रासा साहित्य लिखने मे विद्वानो ने वहुत रुचि ली एव जनता मे भी उनके पठन-पाठन की खूब रुचि रही। विनयसमुद्र राजस्थानी विद्वान थे। इन्होंने कितनी ही रचनाओ का निर्माण कर अपनी विद्वता का अच्छा परिचय दिया। वे वीकानेर के रहने वाले थे। रासो साहित्य मे इनकी चित्रसेन पद्मावती रास (स० १६०४) शीलरास (स० १६०४) नलदमयन्तीरास (स० १६१४) चन्दनवाला रास एवं इलापुत्ररास आदि कृतियो के नाम उल्लेखनीय है। कुशललाभ प्रसिद्ध राजस्थानी विद्वान थे। इनकी तेजसाररास (स० १६२४) तथा अगडदत्तरास (१६२५) राजस्थानी भाषा की अच्छी रचनाएँ है। कविवर रूपचन्द का नाम जैन समाज मे अत्यधिक प्रसिद्ध है। ये हिन्दी के उच्चस्तर के कवि थे। इनके द्वारा लिखा हुआ नेमिनाथ रास एक सुन्दर कृति है। यह कवि की लघु कृति है, जिसमे नेमिनाथ के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। रास मे ५० छन्द हैं। इसमे आए हुए वसन्त ऋतु वर्णन का एक उदाहरण पढिए —

गुंजत अलिगुनु सजि जनु कियौ धनुष टंकारू,
तीछन तीर भए जनु मकुलित मधुरस हार।
कुसुमित कनक केतुकी कुसुम मनौती नीर,
विरही जन मन वेधे घाइल भए सरीर ॥ २० ॥

आनन्द भरी बाजो आनंदिउ सब्बु लोगु,
घर घर नर नारी सब करहि सिगार मनोगु।
दिव्य वस्त्र आभूषन पहिर अग बनाइ
पान फूल अरु चोवा चदन तनु महकाई ॥‍३॥

ब्रह्म रायमल्ल अनन्तकीर्ति के शिष्य थ। इन्होंने नमीश्वररास (स० १६१५) हनुमतरास (१६१६) प्रद्युम्नरास (स० १६२८) श्रीपालरास (१६३०) सुदर्शन रास (१६३३) और भविष्यदत्त रास (१६ ३) की रचना कर रासा साहित्य का ओर जनता की अभिरुचि म वृद्धि का। इनकी भाषा पर जयपुरी भाषा का प्रभाव है। सभी रचनाए बडी कृतियां हैं। राजस्थान के शास्त्र भण्डारा म इनकी प्रतियां खूब मिलती हैं जो इनकी लोकप्रियता की ओर सकेत करती हैं। भट्टारक शुभचन्द्र १७ वी शताब्दी क अच्छे विद्वान थ। सस्कृत भाषा म इनकी कितनी ही कृतियां मिलती है। हिन्दी कृतियो म इनका पल्यविधानरास एक उल्लखनीय रचना है। विद्या भूषण न सवत् १६०० म भविष्यदत्त रास का रचना करके हिन्दी प्रसार म अभिवृद्धि का। उपाध्याय गुणविनय प्रसिद्ध विद्वान जयसोम क शिष्य थ। य बड साहित्य सवी थ और इन्होंन अपन जीवन म २० स भी अधिक रचनाए लिखी थी। रासा ग्रथो म अञ्जना सुन्दरी रास (स० १६६२) कमचन्द-वशावली रास जम्बूरास (स० १६७०) बारह व्रत रास (स० १६५५) आदि क नाम उल्लखनीय हैं।

१७ वी शताब्दी क अन्त म ब्र० कपूरचद हुए जिन्होंने सवत् १६६७ म पार्श्वनाथ रासा की रचना की। कवि राजस्थानी थ। पार्श्वनाथ रासो हिन्दी की एक सुन्दर रचना है जिसम १६६ पद्य है। कवि न इस आनन्दपुर म छन्दोबद्ध किया था। रासा की भाषा का एक उदाहरण लिए—

अहो नगर मे लोक अति करै जी उछाह
खर्चे जी द्रव्य माने अधिक उछाह।
घरि घरि मगल अति घणा
घरि घरि गाय जी गीत सुधार।
सब जन अधिक आनंदिया,
धनु जननी तसु जिण अवतार॥ १२४॥

इन्हीं क समकालीन श्री कल्याणकीर्ति जी थ जिन्होंने चारुदत्तरास का रचना की था। ये भी लोडाग्राम क निवासी थ। कवि न इस रास का सवत् १६६२ म रचना की था। रचना अच्छी है एव अभी तक अप्रकाशित है। इसका एक भाग लिए—

मोहन रूप धरी अवतरी
सकल नारी सर सुन्दरी।

कनक कुर्म सदृश क्रम दोय,
तासु वर्ण उन्नत नत होय ॥ ६२ ॥

इस प्रकार जैन विद्वानो का रासो साहित्य के विकास मे जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, उसकी एक झलक पाठको के समक्ष उपस्थित की गयी है। १८ वी और १९ वी शताब्दी मे भी अनेक रासाओ की रचना हुई थी, लेकिन उनके सम्बन्ध मे एक अन्य लेख मे प्रकाश डाला जावेगा।
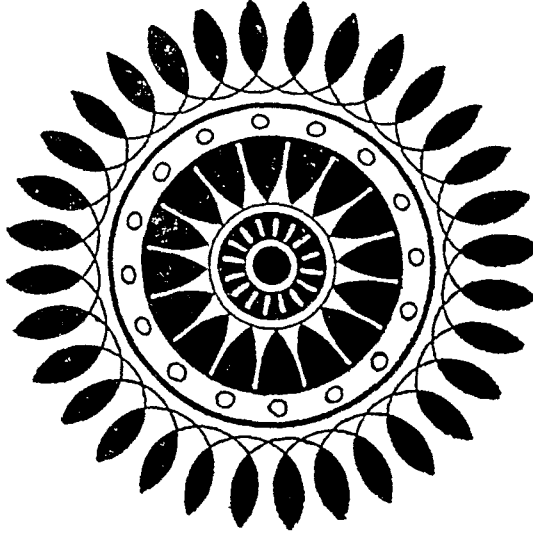
संस्कृत भाषा का जैन-साहित्य

साहित्य विभाग परामर्शक मुनि श्री बुद्धमल्लजी

जैन-साहित्यकारों ने धर्म प्रचारार्थ जनभाषा को महत्त्व दिया था, परन्तु कालान्तर में उन्होंने विचार प्रसार के क्षेत्र में संस्कृत को भी उतना ही महत्त्व दिया। अन्य मतावलम्बी दार्शनिकों के मन्तव्यों को समझने तथा उनका खण्डन कर अपने मन्तव्यों को स्थापित करने के लिए जैन साहित्यकारों ने इस क्षेत्र में पदन्यास किया और शीघ्र ही प्राकृत भाषा के समान संस्कृत पर भी अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया।

परम्परा से यह एक अनुश्रुति चली आ रही है कि जैनागम द्वादशांगी के अन्तर्भूत चौदह पूर्व संस्कृत भाषा में रचे गए थे। उनके रचनाकाल के विषय में दो विचारधाराएँ हैं—एक विचारधारा के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से जो ज्ञान चला आ रहा था, उसी को उत्तरवर्ती साहित्य रचना के समय पूर्व कहा गया। दूसरी विचारधारा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए थे। इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया। साधारण बुद्धि वाले इन्हें पढ़ नहीं सकते थे। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई। वर्तमान में पूर्वज्ञान विच्छिन्न हो चुका है। अतः कहा नहीं जा सकता कि उनमें प्रयुक्त संस्कृत भाषा वैदिक संस्कृत (प्राचीन संस्कृत) थी या लौकिक संस्कृत (वर्तमान में प्रचलित अर्वाचीन संस्कृत)।

वर्तमान में उपलब्ध जैन संस्कृत-साहित्य में आचार्य उमास्वाति का तत्त्वार्थ-सूत्र प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है। जैन दर्शन का परिचय पाने के लिए आज भी यह ग्रन्थ प्रमुख रूप से व्यवहृत होता है। उमास्वाति का समय तीसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह ग्रन्थ इतना मान्य हुआ कि विविध समयों में इसकी वृत्तियाँ, टीकाएँ लिखी गईं। सिद्धसेन, हरिभद्र, अकलंक

और विद्यानन्द जैसे धुरधर विद्वानो ने भी अपने-अपने दार्शनिक मतव्यो की स्थापना के लिए तत्त्वार्थसूत्र की टीकाएँ रची। यहाँ तक कि अठारहवी शती मे जैन नव्य न्याय के सस्थापक उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी नयी परिभाषामे इसकी टीका की। यह कहना अत्युक्ति नही होगा कि अधिकाश जैन दार्शनिक साहित्य का विकास तत्त्वार्थसूत्र को केन्द्र मे रखकर ही हुआ है।

उसके पश्चात् तो जैन सस्कृत साहित्य का एक स्रोत ही उमड पडा। प्रत्येक विषय के आकर-ग्रथो की मानो होड-सी लग गई। उन सबका परिचय देना तो एक बडा-सा ग्रथ बना डालने जैसा कार्य है। यहाँ उनमे से कुछ की केवल सूचनामात्र ही की जा सकती है।

जब भारतीय दर्शनो मे नवजागरण हुआ, तब सभी ओर से खडन-मडन की प्रवृत्ति बढी। युक्तियो का आदान-प्रदान हुआ। इस सघर्ष मे पटकर दार्शनिक प्रवाह बहुत पुष्ट हुआ। जैनो को भी अपने विचारो की सुरक्षा के लिए दर्शन-ग्रथ लिखने की तैयारी करनी आवश्यक हो गई। उन्होने अपनी कलम को दर्शनशास्त्र की ओर मोडा। बहुत शीघ्र ही अन्य दार्शनिक ग्रथो मे टक्कर लेने योग्य ग्रथो का निर्माण हुआ। इस क्रम मे पहल करने वाले थे, प्रचड तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर। आगमो मे विकीर्ण अनेकान्त के बीजो को पल्लवित करने तथा जैन-न्याय की परिभाषाओ को व्यवस्थित करने का प्रथम प्रयास उनके ग्रथ 'न्यायावतार' मे ही मिलता है। उन्होने जो बत्तीस द्वात्रिंशिकाए रची थी, उनमे भी उनकी प्रखर तार्किक प्रतिभा का चमत्कार देखने को मिलता है। समतभद्र भी इसी कोटि के दार्शनिक गिने जाते हे। उनका समय कुछ इतिहासकर चतुर्थ शताब्दी और कुछ सप्तम शताब्दी बतलाते ह।[1] उनकी रचनाए देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयभूस्तोत्र आदि है। उनके पश्चात्-अकलक विद्यानन्द, हरिभद्र, जिनसेन सिद्धर्षि, हेमचन्द्र, देवसूरि, यशोविजय आदि अनेकानेक दार्शनिको ने इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण ग्रथ लिखे। दार्शनिक ग्रथो मे न्यायावतार, युक्त्यनुशासन, अप्तमीमासा, लघीयस्त्रय, अनेकान्त-जयपताका, षड्दर्शन समुच्चय, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, परीक्षामुख, वादमहार्णव, प्रमेयकमल-मार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचद्र, स्याद्वादोपनिषद्, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, प्रमाण-मीमासा, व्यतिरेक द्वात्रिंशिका, स्याद्वाद-मजरी, जैन-तर्क-भाषा आदि के नाम प्रमुख रूप से गिनाए जा सकते है।

प्राकृत भाषा के आगम ग्रथो पर सस्कृत टीकाए लिखने का क्रम प्रारभ करने वालो मे हरिभद्र का नाम सर्व प्रथम आता हे। उनका समय आठवी शती है। उन्होने आवश्यक,दशवेकालिक,नदी, अनुयोगद्वार जबूद्वीप प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर विशद टीकाएँ लिखी है। शीलाकाचार्य ने आचाराग और सूत्रकृताग इन दो अगसूत्रो पर तथा अभयदेव ने शेष नव अग सूत्रो पर टीकाए लिखी। मलधारी हेमचन्द्र ने अनुयोद्वार पर और मलयगिरि ने नदी, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, बृहत्कल्प, व्यवहार, राजप्रश्नीय, चन्द्रप्रज्ञप्ति, और आवश्यक पर टीकाए लिखी। इनके अतिरिक्त दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि आगमो पर और भी अनेक विद्वानो ने टीकाए तथा वृत्तिया लिखी है।

---

[1] रत्नकरड श्रावकाचार प्रस्तावना पृष्ठ १५७

मस्कृत-व्याकरण क्षेत्र म भी जैनो का योग बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। जैनेन्द्र स्वयभू शाकटायन शब्दाम्भोज भास्कर आदि सस्कृत व्याकरणो के पश्चात हेमचन्द्राचार्य का सर्वांगपूर्ण हेमशब्दानुशासन उस क्रम का उन्नत प्रयास कहा जा सकता है। उसके पश्चात्वर्ती शब्दसिद्धि व्याकरण मलयगिरि व्याकरण विद्यानन्द व्याकरण और प्रेमानंद व्याकरण रहे हैं। ये सब तरहवी सदी तक के है। व्याकरण रचना का यह क्रम वहां समाप्त नही हो गया। बीसवीं सदी म तेरापथ श्रमण सघ के विद्वान मुनि चौथमल जी ने भिक्षुशब्दानुशासन नामक महाव्याकरण लिखकर उस कडी को वतमानकाल तक पहुँचा दिया है।

इसी प्रकार कोश ग्रथो म धनजय नाममाला अपवर्ग नाममाला अमरकोश अभिधान चिन्तामणि शारदीया नाममाला आदि महत्त्वपूर्ण ग्रथ है।

काव्यक्षेत्र म भी जैन विद्वान किसी स पीछे नही रहे हैं। उन्होंने पद्यमय तथा गद्यमय अनेक उत्कृष्ट कोटि के काव्यो की रचना की है। उनमे पार्श्वाभ्युदय द्विसधानकाव्य यशस्तिलक भरतबाहुबलि महाकाव्य द्व्याश्रयकाव्य त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र नमिनिर्वाण महाकाव्य शातिनाथ महाकाव्य पद्मानदमहाकाव्य धर्माभ्युदय महाकाव्य जैनकुमारसभव यशोधर चरित्र पाडवचरित्र आदि की गणना प्रमुख रूप से कराई जा सकती है।

नाटको म सत्यहरिश्चन्द्र राघवाभ्युदय यदुविलास रघुविलास नलविलास, मल्लिकामकरद रोहिणीमृगाक वनमाला चन्द्रलेखाविजय मानमुद्रा भजन प्रबुद्धरौहिणेय मोहपराजय करुणावज्रायुध द्रौपदी स्वयवर आदि उल्लखनीय हैं। हेमचन्द्राचाय के प्रधान शिष्य रामचन्द्र ने अकेले ने ही अनेक नाटको की रचना की थी। इसी प्रकार उपमितिभवप्रपचा कुवलयमाला आराधना कथाकोश आख्यान मणिकोश कथारत्नसागर आदि कथा साहित्य द्वारा जैन विद्वानो ने सस्कृत के कथा-साहित्य को भी अपूर्व देन दी है। आदि पुराण उत्तर पुराण शाति पुराण महापुराण हरिवश पुराण आदि ग्रथो स उनके पुराण साहित्य की समृद्धि को भी अच्छी तरह से जाना जा सकता है।

इसी प्रकार नीतिवाक्यामृत अर्हन्नीति आदि नीतिग्रथ। समाधितत्र योगदृष्टि-समुच्चय योगबिन्दु योगशास्त्र योगविद्या, अध्यात्म रहस्य ज्ञानार्णव योगचिन्तामणि योगदीपिका आदि योग-सबधी ग्रथ सिद्धान्त शेखर ज्योतिष रत्नमाला गणिततिलक भुवनदीपक आरभसिद्धि नारचद्रज्योतिसार बहत् पवमाला आदि ज्योतिष ग्रथ छन्दानुशासन जयकीर्ति छन्दोनुशासन छन्दोरत्नावलि आदि छन्दोग्रथ काव्यानुशासन अलकार चूडामणि कविशिक्षा वाग्भटालकार कविकल्पलता अलकार प्रबोध अलकार महोदधि आदि अलकार ग्रथ और भक्तामर कल्याणमन्दिर एकीभावस्तोत्र जिनशतक भमवस्तुति वीरस्तव वीतरागस्तोत्र महादेव स्तोत्र ऋषिमण्डल स्तोत्र आदि स्तोत्र ग्रथ अपने अपने क्षेत्र के महत्वपूर्ण ग्रथो म गिनाए जा सकते है। इनके अतिरिक्त रत्नपरीक्षा, सगीतोपनिषद् सगीतसार सगीतमडल यत्रराज, सिद्ध यत्र चक्रोद्धार, वद्यकसारोद्धार वैद्यवल्लभ आदि ग्रथ भी जैन विद्वानो के विस्तीर्ण ज्ञान क्षेत्र का बोध कराते हैं।

जैन विद्वानो ने बहुत से जैनेतर-ग्रथो की टीकाए भी लिखी है। साहित्य क्षेत्र मे उनका यह उदार दृष्टिकोण अभिनदनीय रहा है। अनेक ग्रथो की टीकाए बहुत प्रसिद्धि-प्राप्त है। जैनेतर ग्रथो पर लिखे गए कुछ प्रसिद्ध जैन ग्रथ इस प्रकार है—पाणिनि व्याकरण पर शब्दावतार न्यास, दिङनाग के न्याय-प्रवेश पर वृत्ति, श्रीधर की न्याय-कदली पर टीका, नागार्जुन की योग-रत्नमाला पर वृत्ति, अक्षपाद के न्यायसूत्र पर टीका, वात्स्यायन के न्याय भाष्य पर टीका, भारद्वाज के वार्तिक पर टीका, वाचस्पति की तात्पर्य टीका पर टीका, उदयन की न्याय तात्पर्य परिशुद्धि की टीका, श्रीकठ की न्यायालकार वृत्ति की टीका। इनके अतिरिक्त मेघदूत, रघुवश, कादम्बरी, नैषध और कुमारसभव आदि काव्यो की टीकाए भी सुप्रसिद्ध है।

जैन विद्वानो ने साहित्य क्षेत्र मे कुछ ऐसे नये तथा विचित्र प्रयोग भी किए है, जो उनकी विद्वता का प्रमाण तो देते ही है, पर साथ ही अपने प्रकार के केवल वे ही कहे जा सकते है। उदाहरणार्थ सत्रहवी सदी के जैन विद्वान श्री समयसुन्दर का 'अष्टलक्षी' नामक ग्रथ गिनाया जा सकता है। उसमे राजा नो ददते सौख्यम्' इस एक पद के १०२२४०७ अर्थ किए गए है। ग्रथ के नामकरण मे उन्होने आठ लाख से ऊपर की सख्या को शायद इसलिए छोड दिया कि भूल मे कही पुनरुक्त हो गया हो, तो उसके लिए पहले से ही अवकाश छोड दिया जाए। आठ अक्षरो के आठ लाख अर्थ करने का सामर्थ्य असाधारण ही कहा जा सकता है। उन्होने वह ग्रथ स० १६४९ मे अकबर सम्राट की विद्वन्मडली के समक्ष रखा था। सभी विद्वान उनकी इस विचित्र प्रतिभा से चमत्कृत हुए थे। शब्दो की अनेकार्थता के लिए यह ग्रथ एक प्रतिमान के रूप मे कहा जा सकता है।

इसी प्रकार का एक अन्य विचित्र प्रयोग आचार्य कुमुदेन्दु द्वारा अपने 'भूवलय' नामक ग्रथ मे किया गया है। वह ग्रथ अक्षरो मे न होकर अङ्को मे है। एक से लगाकर चौसठ तक के अको का उसमे विभिन्न अक्षरो के स्थान पर प्रयोग हुआ है। वह कोष्ठको मे ही लिखा गया है। उसकी सर्वाधिक विशेषता तो यह है कि उसे यदि सीधी लाइन मे पढा जाए तो एक भाषा के श्लोक पढे जाते है और खडी लाइन मे पढा जाए तो दूसरी भाषा के। इसी प्रकार टेढी लाइनो मे पढे जाने पर अन्य-अन्य भाषाओ के श्लोक सामने आ जाते है। वह ग्रथ अभी कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त हुआ है। अभी उसे पूर्ण रूप से पढा भी नही जा सका है। वह एक बृहत्काय ग्रथ है और कहा जाता है कि अपने समय के सभी विषयो का उसमे समावेश किया गया है। उसमे उत्तर तथा दक्षिण भारत की भाषाओ ने तो स्थान पाया ही है, पर अरबी आदि अनेक अभारतीय भाषाओ का भी उसमे प्रयोग हुआ है। कहा नही जा सकता कि उसके कर्त्ता कितनी भाषाओ के धुरधर विद्वान थे और कितने विषयो मे उनकी प्रतिभा ने चमत्कार दिखलाया था। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद से जब आचार्य श्री तुलसी का दिल्ली मे मिलन हुआ था, तब उन्होने इस विषय मे विस्तीर्ण जानकारी देते हुए आचार्य श्री से कहा था कि यह ससार के अनेक आश्चर्यो मे से एक आश्चर्य कहा जा सकता है।

उपलब्ध जैन-सस्कृत-साहित्य का स्रोत विक्रम की तीसरी सदी से प्रारभ हुआ और १८ वी सदी तक विभिन्न उतार चढावो के साथ अपने प्रबल वेग से बहता रहा। उसके पश्चात् वह ह्रासोन्मुख हो गया।

वह ह्रास केवल जन-सस्कृत साहित्य म ही आया हो ऐसी बात नहीं है अपितु वह सार्वत्रिक ह्रास था जो कि जना म भी आया। फिर भी उसका प्रवाह सवथा रुक गया हो—ऐसी बात नही है। आज भी अनेक जन विद्वान विभिन्न क्षेत्रो म सस्कृत-साहित्य का निर्माण कर रहे हैं। अणुव्रत आदोलन प्रवत्तक आचाय श्री तुलसी और उनके सघ का इस दिशा म विशेष परिश्रम चल रहा है। इन चार दशको में व्याकरण काव्य, दशन निबध, टीका और स्तोत्र आदि विषयक अनकानेक महत्त्वपूण सस्कृत ग्रथो का निर्माण हुआ है। उनम भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण भिक्षु शब्दानुशासन बहद्वत्ति भिक्षु शब्दानुशासन लघुवत्ति कालुकौमुदी तुलसी प्रभा आदि व्याकरण ग्रथ भिक्षु चरित अजुनमालाकार प्रभवप्रबोधा अश्रुवीणा आदि गद्य और पद्यकाव्य जनसिद्धात दीपिका भिक्षु न्याय-कर्णिका युक्तिवाद अन्यापदेश आदि दशन-ग्रथ, शिक्षापण्णवति, कत्तव्य षटत्रिंशिका, मुकुलम् उत्तिष्ठत जाग्रत !! निबध निकुज आदि विभिन्न स्फुट ग्रथ शात-सुधारस टीका आदि टीका ग्रथ और समुच्चय जिनस्तुति, देवगुरु स्तोत्र जिनस्तव कालुभक्तामर कालुकल्याण मदिर, तुलसी स्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र ग्रथ गिनाए जा सकते है।

प्राचीन आयुर्वेद-कला

श्री पतराम गौड़, एम० ए०, प्रोफेसर बिड़ला कालेज, पिलानी

प्रस्तुत लेख का उद्देश्य प्राचीन काल मे प्रचलित-आयुर्वेद-विज्ञान और कला का सक्षिप्त परिचय देना है। आयुर्वेद को देशी चिकित्सा Indigenous System कहना अपमान-जनक और अज्ञानमूलक है। क्योकि आयुर्वेद प्राचीन काल मे विश्व के वहुत वडे भू-भाग मे सार्वदेशिक या सार्वजनीन चिकित्सा-प्रणाली रह चुकी है और अव भी उसकी भारत तथा अन्य देशो मे मान्यता है। मगोलिया की खुदाई से चौथी-पाँचवी शताब्दी का जो आयुर्वेद-ग्रन्थ "वावर मैन्युस्क्रिप्ट' के नाम से उपलब्ध हुआ है, वह सिद्ध करता है, कि आयुर्वेद की जडें प्राचीन काल मे दूर-दूर तक फैल चुकी थी। चीन, जापान और सिंहलादि मे प्रचलित सूची-वेध-प्रणाली भी आयुर्वेद की प्राचीन प्रणाली है। आजकल के भारत के विश्व-विद्यालयो मे जो पाठ्य पुस्तकें पढाई जाती है, उनमे प्राय. प्राचीन चिकित्सा की हीनता दिखाना ही पाण्डित्य-प्रदर्शन का परिचायक माना जाता है। भारतीय नामधारी विद्वानो की लेखनी से लिखे हुए ऐसे लेख भी—कभी वडे उपहासास्पद लगते है। लेखक आधुनिक सल्फा-ड्रग्ज का वर्णन करते हुए गर्व से फूल उठते हैं, किन्तु उन्हे स्वप्न मे भी यह पता नही, कि उनके पूर्वजो ने गधक, ताल और मल्ल के यौगिको का शताब्दियो पूर्व विकास कर लिया था और ससर्गज-व्याधियो पर आज तक उनका प्रयोग किया जाता है। विपो के प्रयोग पर आयुर्वेद का जैसा असाधारण अधिकार रहा है, वैसा आधुनिक चिकित्सा प्रणाली का आज भी नही है। एक अन्य पाठ्य पुस्तक मे आधुनिक शल्य-चिकित्यसा की सिद्धियो का वर्णन करते हुए लेखक ने लिख मारा, कि भारत मे पहले कोई अग काटना होता, तो लाठियो से पीट कर वीमार को वेहोश किया जाता था। इसके वाद उसे वाँध कर करौती से उसका अग काटा जाता था। विश्व-विद्यालय के छात्रो को ज्ञान वितरण करते हुए इस प्रसग मे लेखक ने अपने अद्भुत अज्ञान का परिचय दिया है। सभवत इस प्रकार के लेखो का उद्देश्य यह प्रचार करना है, कि भारतीय सस्कृति बडी हीन है

और उसकी तुलना म पाश्चात्य सभ्यता बहुत ऊ ची है। क्योंकि किसी का बेहोश करने के लिए सम्मोहन क्रिया का प्रयोग सबसे पहिले शायद भारतवष म ही किया गया था। ऋग्वद म भी शल्य चिकित्सा का वणन है और सम्मोहन कला का भी। खिलात ही बेहोश करन वाली या खून मे पहुचते ही शूयकारी शरपु खा जसी जडियो का नान भी भारतीयो को था। वदो की ऋचाओ से तो यह सिद्ध होता है कि अश्विनीकुमार प्लास्टिक सजरी भी जानते थ जिससे उन्होने अपाला के नयी टाग जोड दी थी। यदि उक्त लेखक न आधुनिक शल्य चिकित्सा या भग्ज्य विनान का काई इतिहास भी पढ़ा हो तो उसे यह बात याद रखनी चाहिए थी कि स्वय पश्चिमी डाक्टरो ने आधुनिक शल्य चिकित्सा के विकास म आयुर्वेद का ऋण स्वीकार किया है। इसी प्रकार की भ्रान्तियो का निराकरण करन के लिए प्रस्तुत सक्षिप्त लख लिखा गया है।

चिकित्सा का प्रारम्भ विदु द्रव्य नान है। इस नान के अतगत धातु मूल और जीव सम्बधी सभी पदार्थों का यथावत् स्पष्ट और व्यवस्थित नान वद्य को रहता था। वतमान काल मे आयुर्वेद के जो निघण्टु उपलब्ध हैं, वे अपेक्षाकत आधुनिक हैं तथा अनक भ्रान्तिया से पूण हैं। भ्रान्तिया का मूल कारण यह था कि भारत म द्रव्यो के सकडो आम्नाय रहे हैं। उनको एकसाथ सकलित करन के प्रयास म भ्रान्तिया और पुनरावत्तियो का होना अनिवाय था। उदाहरणाथ तेलगु भाषा म एक प्रकार की रत्त पुनवा को रत्तपुरुषम्' कहत हैं किन्तु रत्न पुननवा वास्तव म उससे बिल्कुल भिन्न जडी है। इसी से किस योग म कौन सी रत्न पुननवा काम म लनी चाहिए यह जानना अत्यन्त कठिन और गुरु-गम्य विषय है। अगिरा जसे प्राचीन वनस्पति-शास्त्रियो के ग्रन्थ आज लुप्त हो चुके हैं। आधुनिक पाश्चात्य वनस्पति विज्ञान की दृष्टि स जो नामकरण किए जाते है उनसे भी आयुर्वेद की जडियो का मूलरूप समझन म भ्राति की ही वृद्धि होती है। आयुर्वेद की प्राचीन जडिया का सही नान प्राप्त करन का सबसे सुलभ उपाय सभी उपलब्ध निघण्टुओ का अकारादि क्रम से वर्गीकरण हो सकता है। इस दिशा म महामहोपाध्याय भगीरथ स्वामी का सदिग्ध वनौषधि शास्त्र आदश ग्रन्थ माना जा सकता है। स्वामी जी ने उक्त ग्रन्थ म जडिया के मूलरूप समझन में अनक भूलें की है। उनकी अत्यम्लवर्णी और पातालतुम्बी विषयक भ्रान्ति नमून के रूप न पश की जा सकती हैं। फिर भी यह मानना ही होगा कि एक जडी सबधी प्राचीन वद्यो के विचार एकत्र करके स्वामी जी न आयुर्वेद की बडी सेवा की है।

दूसरी बात यह है कि आज जो टूटा-फूटा ज्ञान तीन हजार जडिया का आयुर्वेदज्ञो को है, उसका सम्बध केवल औषधि निघण्टुओ स ही है किन्तु धातु विषयक नान की तो और भी दुदशा है। आज न बोधायन का धातु-सवस्व' मिलता है और न पतञ्जलि का लोह शास्त्र ही सुलभ है। भृगभ विद्या को जानन वाल गग और वदव्यास भी आज हमार बीच म नहीं हैं। फिर यह कस सम्भव हो सकता है कि हम आज धुडाल रसक होखी और अजन जसी सुप्रसिद्ध धातुओं का भी पता लगावें? आयुर्वेद की शुद्ध खनिज गधक आज नितात दुलभ हो चुकी है। विनान विकृत शुद्ध गधक ही आज हम मिल सकती है। इसस भी बुरी हालत जीव विनान की है। आज तो आयुर्वेद जीव विनान की जानकारी प्राप्त करना ही अनावश्यक समझत हैं। जिन द्रव्या स दवा बनता है उनक नान का आज यह हाल है, तो प्राचीन

आयुर्वेदिक औषधियो के चमत्कारो की कल्पना भी हम कैसे कर सकते है ? आज हमारे देश को जडियो के जीवक की आवश्यकता है। आज यदि सुषेण और धन्वतरि पैदा हो, तो सजीवनी, रसायनी, सावर्ण्यकर्णी और विशल्यकर्णी औषधियो की हमारे देश मे कोई कमी नही है।

चिकित्सा का दूसरा अग औषध-निर्माण है। आज के विशेषज्ञता के युग मे जो औषधि-ज्ञाता है, वह कभी औषध निर्माता नही हो सकता। किन्तु ज्ञान-समन्वय सरलता और सस्तेपन की दृष्टि से आयुर्वेद मे यही उचित माना गया था, कि जिसको द्रव्यज्ञान हो वही दवा भी तैयार करे। आजकल बडी-बडी फार्मेसी और बडे-बडे यत्र दवा बनाते है। आज की आयुर्वेद की रसायन-शालाएँ उनके सामने बडी फीकी लगती हैं। फिर आजकल वैज्ञानिक बडी सफाई से दवा बनाते है, और वे दवा का सार Active Principle निकालना जानते है। लोग कहते है, कि प्राचीनकाल मे यह महान् ज्ञान आयुर्वेदज्ञो को था ही नहीं। इसलिए आयुर्वेद आधुनिक चिकित्सा का मुकाबला ही कैसे कर सकता है ? किन्तु "अशनकल्प" और "पाक-सर्वस्व" के उद्धरणो को यदि हम भरद्वाज-कृत बृहद् विमान-शास्त्र मे पढे, तो स्पष्ट हो जाएगा कि 'प्राचीनकाल मे भी यत्र होते थे और उनसे औषधियो से सत्व निकाला जाता था और गोली, चूर्ण-चटनी सब बनाए जाते थे। भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्नियो और भिन्न-भिन्न प्रकार के पाको का ज्ञान भी उनको था। इस शास्त्र मे उनकी औषधि-निर्माण-कला पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। यत्र-बल से उडन-शील धातुओ को स्थैर्य प्रदान करना आयुर्वेद की अद्वितीय सिद्धि है। व्याडि और नदि जैसे सर्वज्ञ भैषज्य शिल्पी (Pharmaceutical Engineers) प्राचीन काल मे हो चुके है, जिन्होने सोमानलयत्र और गर्भ-यन्त्र जैसे अद्भुत यत्रो का निर्माण किया था। ये दोनो यत्र स्वतः सचारित निर्वात यन्त्र है अर्थात् Automatic vaccum है। वात का नितान्त अभाव होने पर दीपक जल ही नही सकता। किन्तु गीता मे लिखा है "यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" यह अमर-दीप आयुर्वेद के महर्षि प्राचीन काल मे यत्र-कौशल से जला चुके है। मैंने अनेको आधुनिक एजिनियरो से उक्त यन्त्रो की विधि के बारे मे पूछा है, किन्तु अब तक कोई भी सरल और सफल विधि नही बता सका।

चिकित्सा का तीसरा अग निदान है। रोग की पहिचान ही नही, तो इलाज हो ही नही सकता। प्रश्न उठता है, कि रोग का कारण क्या है ? आयुर्वेद के अनुसार व्याधि कर्मज भी होती है, स्वाभाविक भी और औपसर्गिक भी। ऐलोपेथी स्वाभाविक रोगो के अतिरिक्त कीटाणु जन्य रोग प्रमुख मानते है। आयुर्वेद के औपसर्गिक रोग उनसे मिलते है। अथर्ववेद मे कीटाणुओ का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। फिर भी यह मानना होगा, कि आधुनिक चिकित्सा का कीटाणु ज्ञान अधिक विस्तृत और व्यवस्थित है। प्राकृतिक चिकित्सा और होमियोपैथी रोग का कारण विष मानते हैं। आयुर्वेद त्रि-दोष सिद्धान्त को मानता है। कुछ आधुनिक आयुर्वेदज्ञ विज्ञान के जीवाणु-सिद्धान्त को सही और आयुर्वेद के एकात्मवाद तथा त्रि-दोष सिद्धान्त को गलत बताते है। मेरी समझ मे इन दोनो मे कोई विरोध नही है। आत्मा को व्यापक-तत्व तथा दोषो को सूक्ष्म प्रेरक कारण के रूप मे न समझ सकने के कारण ही विद्वानो ने आयुर्वेद-पद्धति का विरोध किया है। वस्तुत आयुर्वेद का साहित्य बहुत विशाल है और रोग के कारण भी अनेक माने गए है। यथा प्रारब्ध कर्म, क्षेत्र, मन,

विप, कीटाणु असतुलन, दाप आदि । प्रश्न यह उठता है, कि आधुनिक विज्ञान जस यन्त्रो की सहायता स रोगो का निश्चय करता है इसी प्रकार रोग निश्चय का प्राचीनो का क्या उपाय था ? प्राचीन काल म सवज्ञता प्राप्त करन के लिए जो उपाय बताए गए हैं उनम योग एक है। योगी को बाहर भीतर की सभी वस्तुए प्रत्यक्ष दिखाई दती हैं। इसी अन्तर्बोध स सभी रोगो का सूक्ष्म परिचय प्राचीनो को हुआ था। ससार के सभी विपयो का क्रम-बद्ध ज्ञान वेद स पहिल विकसित हुआ था। इसलिए प्राचीन वैद्य ज्योतिप की सहायता स राग का सम्पूर्ण रूप सही-सही समझ लत थ। कहा भी है 'लग्नवशेन रोगमाह चक्रपाणि ।' अर्थात् चक्रपाणि वैद्य ने बतलाया है कि सभी राग लग्न क अधीन हैं। प्राचीन काल म सामुद्रिक शास्त्र का समुचित विकास हुआ था। इसलिए भारतीय पुराणो म लिखा है कि गुल्फ नितम्ब पादि चौदह अगो क शुभाशुभ लक्षण जो भलीभाँति जानता है उस वेद की चौदह विद्याओ का रहस्य ज्ञात हुआ समझो। यह लक्षण विज्ञान रोग निदान का अचूक साधन था। आजकल होमियोपैथी म लक्षण विज्ञान को समुचित महत्त्व दिया जाता है। पर खेद है कि वह अभी उस अचक और व्यवस्थित नही बना सका। नाडी विज्ञान भी प्राचीन काल म बहुत विकसित हुआ था। नाडी छूकर अथवा हाथ क धागा बाधकर केवल कम्पनो क आधार पर राग का सही पता देने वाल कोई-कोई वैद अब भी मिलत है। रोगो का पता लगान के लिए अध्यात्म विद्या का प्रयोग भी प्राचीन काल म किया जाता था। इस विद्या म सूक्ष्म भावो और विचारों का स्थूलीकरण और पार्थिवीकरण कर लिया जाता था। मध्यभारत म अब भी एम एक महात्मा हैं जो कास का थाली और देशी कागज को शरीर पर रखकर अन्दर का चित्र उतार लत है। यह चित्र वर्तमान काल क सभी X Ray यन्त्रो स अधिक स्पष्ट होता है।

चिकित्सा का चौथा अग शरीर विज्ञान है। यद्यपि वर्तमान काल क वैज्ञानिको की यह मान्यता सही है कि उन्होंने यन्त्रो की सहायता म और शल्य क्रिया म शरीर रचना का जैसा गहरा ज्ञान प्राप्त किया है वैसा प्राचीनो को हो ही नही सकता था। क्योंकि शरीर क स्थूल रूप को हमारे प्राचीन ऋषि बहुत महत्त्व नही देत थ। व स्थूल का कारण सूक्ष्म को मानत थ और सूक्ष्म शरीर का अध्ययन जैसा प्राचीनो न किया वैसा आज तक नही हो सका है। उन्होंने बहत्तर हजार नाडियो का विवरण आप शरीर विज्ञान म मिलता है। १०८ मर्म सौषुम्ण जाल त्रिकूट छ योगिनी और सात धारणाए आप-शरीर विज्ञान क सूक्ष्म रहस्य है। जिनम वर्तमान विज्ञान की कोई गति नही है और आधुनिक वैद्य भी आधुनिकता क बहाव म बह कर इन्ह भूल बैठे हैं। दैवत प्रकरण म उन्होंने अस्थि विज्ञान को स्पष्ट किया था तथा उन्ह गर्भ विज्ञान का भी समुचित ज्ञान था। ८४ प्रकार क वायु जन्य राग ४० प्रकार क पित्तज और २० प्रकार क कफज रोगो का तथा एकादश प्राणो की शरीर-व्यवस्था को व अच्छी तरह समझत थ। भाषा म अन्तर हो सकता है। आज लकवे का कारण मस्तिष्क की कोषाओ का सूखना माना जाता है। पहिले यह वायु जन्य राग माना जाता था। क्योंकि उनकी राय म वायु ही इन कोषाओ को सुखाता है।

पाचवा अग चिकित्सा है। अत्यधिक औषधि प्रयोग प्राचीन काल म अनुचित समझा जाता था। प्राकृतिक आहार विहार स्वास्थ्य के लिए आवश्यक समझा जाता था। यदि कुछ गडबडी होती तो पहला

उपाय लघन माना जाता था। यदि रोग कठिन होता, तो पच कर्म का आश्रय लिया जाता। इसके बाद आवश्यकतानुसार सरल, निर्दोष और हितकारी औषधियो का मत्र सहित सेवन कराया जाता था। जरा और कुष्ठ जैसे महाभयानक और असाध्य रोगो के लिए सस्कार-युक्त पारे का प्रयोग किया जाता था। प्राचीन काल मे औषधि-विज्ञान, कल्प-विज्ञान, रसायन-विज्ञान और रस-विज्ञानादि का समुचित विकास हो चुका था। सिद्ध योग अथवा पेटेन्ट औषधिया भी बनती थी। जिनके योग से रोग को स्थायी रूप से उखाड फैका जाता था। धनी कोमल प्रकृति वालो को तुरन्त लाभ पहुँचाने के लिए रसौषधियो का प्रयोग किया जाता था।

छठा अग सिद्धियाँ है। आयुर्वेद ने चिकित्सा के क्षेत्र मे जो सिद्धियाँ प्राप्त की, उनका पूरा विवरण एक पुस्तक लिखकर ही किया जा सकता है। आयुर्वेद की महान् विभूतियो मे अश्विनीकुमार, धन्वंतरि और सुश्रुत जैसे सिद्ध-हस्त शल्य-चिकित्सक हो चुके है, जो अधे को नये नेत्र दे सकते थे, मस्तिष्क की शल्य-चिकित्सा कर सकते थे, कटे हुए पैरो के स्थान पर नए पैर जोड सकते थे और बूढे को जवान बना सकते थे। रावण जैसे बाल-रोग विशेषज्ञ और उड्डयनविद्या के पारगत आयुर्वेद मे हो चुके है। नित्यनाथ, नागार्जुन, पूज्यपाद, घुडिनाथ, लल्ल, नारायण जैसे गुटिका, पादुका-सिद्ध आयुर्वेद की महान् विभूतिया है। चरक, वाग्भट्ट, आगिरस भारद्वाज और जीवक जैसे विशेषज्ञो पर आयुर्वेद को गर्व है। मुर्दे को जिलाने और गलित कुष्ठ के गले अगो को फिर से उगाने मे महाराज सोमदेव जैसे रस-सिद्धो ने अपने चमत्कार प्रकट किए थे। गर्भ मे लिग-परिवर्तन आयुर्वेद मे सरल माना जाता था।

चिकित्सा का सातवा अग परिचर्या है। रोगियो की सेवा शुश्रूषा के लिए आतुरालय होते थे। ये आतुरालय राजवैद्यो की देख-रेख मे चलते थे। किन्तु उन आतुरालयो का अत्यधिक विस्तार नही था। क्योकि अत्यधिक औषधि का प्रयोग जिस प्रकार प्राचीन आचार्य वर्ज्य समझते थे, उसी प्रकार अत्यधिक परिचर्या-चिन्ता को भी अनावश्यक मानते थे। कोई भी विज्ञान जब अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसमे सरल विधिया प्रकट होती है। इस दवा के बाद क्या दिया जाए और इससे बाद क्या और इसके बाद क्यो? यह भी एक प्रकार की चक्कर बाजी है। आयुर्वेद ने इस चक्कर बाजी से बचने के लिए परिचर्या की एक सरल विधि खोज डाली। इस विधि का नाम है अनुपान। अनुपान से एक ही औषधि अनेक रोगो और अनेक अवस्थाओ पर विजय पा सकती है। इसीलिए अनुपान-विद्या आयुर्वेद मे एक अलग शाखा की तरह विकसित हुई थी।

खेद है कि आयुर्वेद का आज ह्रास हो रहा है। नवीनता की धुन मे हम प्राचीन विज्ञान को भूलते जा रहे है। आयुर्वेद की हजारो पुस्तके अब भारत से बाहर जा चुकी है और वे अब दुष्प्राप्य हो चुकी है। श्री म० पदे जी ने विदेशो मे गई इस प्रकार की एक हजार पुस्तको की एक सूची तैयार की थी। श्री रामदास गौड ने भी अपनी पुस्तक "हिन्दुत्व" मे आयुर्वेद के अनेक अलभ्य ग्रन्थो की सूची दी है। भरद्वाज के "विमान-शास्त्र" मे भी इसी प्रकार की सूची है। मेरे सामने भी अनेक खोए हुए ग्रन्थो के प्रसग आए है। कुछ दिन पहिले एक मित्र ने मुझे सूचित किया था, कि गाव की एक गली मे "सौरम्य-सूत्र"

को एक प्राचीन पन्ना उन्हें मिला था। हमारे देश में अस्मिता कब जागेगी जब इन रत्नों को बटोर कर हम अपने पूर्वजों की महान् धरोहर का रूप तो समझ सकेंगे। हजारों लोग इस देश से हर वर्ष विदेशों में जाते हैं। पर खेद है कि किसी के मन में यह विचार ही नहीं उठता कि कम से कम इन दुर्लभ ग्रन्थों की चित्र प्रतिलिपि तो हम अपने देश ले चलें। यदि इस लेख को देखकर ही इन ग्रन्थों के संकलन की इच्छा किसी में जाग जाए, तो लेखक अपना परिश्रम सार्थक समझेगा।

महावीर और बुद्ध पूर्व-भवों में

अणुव्रत परामर्शक मुनि श्री नगराजजी

जैन और बौद्ध परम्परा मे पूर्व-भव-चर्चा भी लगभग समान पद्धति मे ही मिलती है। महावीर और बुद्ध की भव-चर्चा मे तो एक अनोखी समानता भी है। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभ ने अनेक भवो पूर्व मरीचि तापस को लक्ष्य करके कहा—"यह अन्तिम तीर्थकर महावीर होगा।" इसी प्रकार अनेक कल्पो पूर्व दीपकर बुद्ध ने सुमेध तापस के विषय मे कहा—"यह एक दिन बुद्ध होगा।" महावीर की घटना उनके पच्चीस भव पूर्व की है। बुद्ध की घटना पाच-सौ इकावन भव पूर्व की है। दोनो घटनाओ का सयुक्त अध्ययन सरस और ज्ञान-वर्धक होने के साथ साथ दोनो परम्पराओ की समान धारणाओ का परिचायक भी होगा।

मरीचि तापस

उस समय भरत चक्रवर्ती का पुत्र मरीचि प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभ के पास दीक्षित हुआ। ग्रीष्म कालीन परीषहो से व्याकुल होकर, वह त्रिदण्डी तापस बन गया। वह समवशरण के बाहर बैठता। लोगो के पूछने पर अपनी दुर्बलता स्पष्ट-स्पष्ट कह देता। कोई दीक्षार्थी उनके पास आता, तो वह ऋषभ तीर्थकर के पास दीक्षित होने की प्रेरणा देता। एक बार भरत चक्रवर्ती ने आदि तीर्थकर ऋषभ से पूछा—"भगवन्! समवशरण मे स्थित साधु-साध्वियो या अन्य प्राणियो मे ऐसा कोई व्यक्ति है, जो आगामी काल मे तीर्थकर पद पाने वाला हो! श्री ऋषभ ने कहा—भरत! समवशरण मे अभी ऐसा कोई व्यक्ति नही है। हाँ, समवशरण से बाहर मरीचि तापस ही ऐसा प्राणी है, जो इसी चौवीसी मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। भरत चक्रवर्ती इस परिसवाद को लेकर मरीचि के पास आए, उसका अभिनन्दन किया और

यह् गौरवपूण भविष्यवाणियाँ उसके सामन कही। मरीचि तापस इस हप-सवाद को सुनकर नाच उठा। उसके मन म अपने कुल का अह जागा। वह जोर जोर स कहन लगा— मेरे पितामह आदि तीथकर, मरे पिता आदि चक्रवर्ती और मैं स्वय इस अवसर्पिणी कालाध म ही वासुदेव चक्रवर्ती और अतिम तायकर बनूगा। अहा, मरा कुल। अहो मेरा कुल!" इस अह अभिव्यक्ति स मरीचि ने अशुभ गोत्रकम उपार्जित किया जिसके फलानुसार ही भगवान् महावीर तीथकर होत हुए भी पहले देवानद ब्राह्मणी के उदर म आए। भगवान् महावीर के कुल सत्ताईस भवो का वणन आता है जिनम दो भव मरीचि भव स पूव के हैं शेप बाद के। सत्ताईस भवा म प्रथम भव नयसार कमकर का था। इसम उसन किसी तपस्वी मुनि को आहार का दान दिया और प्रथम वार सम्यग्-दशन उपार्जित किया। भगवान् महावीर के जीव न इन सत्ताईस भवो म जहा चक्रवर्ती और वासुदेवत्व पाया वहाँ सप्तम नरक तक का दुख भाग भी भोगा। अपन पच्चासवें भव म तीथकरत्व प्राप्ति के बीस निमित्ता की आराधना करन हुए तीथकर गोत्र बाँधा। तदनन्तर अपने छब्बीसवें भव म प्राणत नामक दशम स्वग म २० सागरोपम काल तक वे रह और सत्ताईसवें भव म उन्होने भगवान् महावीर के रूप म जन्म लिया।[1]

सुमेध तापस

अनक कल्प व्यतीत हो गए कि शाक्यमुनि अर्थात् बुद्ध अमरावती नगरी म एक ब्राह्मण-कुल म उत्पन्न हुए थ। उनका नाम सुमेध था। बाल्यकाल म ही उनके माता पिता का देहान्त हो गया था। सुमेध को वराग्य उत्पन्न हुआ। उसन तापस प्रव्रज्या ली। एक दिन उसने विचार किया, कि पुनभव दुख है मैं उस माग का अन्वेषण करता हूँ जिस पर चलने से भव स मुक्ति मिलती है। ऐसा माग अवश्य है। जिस प्रकार लोक म दुख का प्रतिपक्ष सुख है उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिए। जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है उसी प्रकार रागादि दोप का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय म पण कुटी बनाकर रहन लगा। उस समय लोकनायक दीपकर बुद्ध ससार म धर्मोपदेश करत थ। एक दिन सुमेध तापस आश्रम से निकलकर आकाश माग मे जा रहे थ। देखा कि लोग नगर को अलकृत कर रहे हैं भूमि का समतल कर रहे है उस पर बालू का आकीण कर लाज और पुष्प विकीण कर रह है नाना रगो के वस्त्रो की ध्वजा पताका का उत्सग कर रहे हैं और कदली तथा पूण घट की पक्ति प्रतिष्ठित कर रह हैं। यह देख कर सुमेध आकाश से उतरे और उन्होने लागो से पूछा, कि किस लिए माग शोधन हो रहा है। सुमध को प्रीति उत्पन्न हुई और बुद्ध-बुद्ध कहकर वे बड प्रसन्न हुए। सुमध भी माग शोधन करने लगे। इतन म दीपकर बुद्ध आ गए। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता साधु-साधु कहन लगे। आकाश म मदार पुष्पो की वर्षा होन लगी। सुमध अपनी जटा खोलकर, वल्कल चीर और चम बिछाकर भूमि पर लट गए और यह विचार किया, कि दीपकर मेरे शरीर का अपन चरण-कमल से स्पश करें तो मरा हित हो। लट-लटे उन्होन दीपकर की बुद्ध श्री को देखा और चिन्ता करने लग कि सब क्लेश का नाश कर निर्वाण प्राप्ति म मरा उपकार न होगा। मुझको यह

[1] कल्पसूत्र बालावबोध पृ० ३६ ४६

अच्छा मालूम होता है, कि मैं भी दीपकर की तरह परम सबोधि प्राप्त कर अनेक जीवो को धर्म की नौका पर चढा कर ससार-सागर के पार ले जाऊँ, और पश्चात् स्वय परिनिर्वाण मे प्रवेश करूँ। यह विचारकर उन्होने "बुद्ध भाव" के लिए उत्कट अभिलापा (पालि अभिनीहार) प्रकट की।

दीपकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ विचार किया, कि बुद्धो के लिए मैं अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार सुमेध अधिकार सम्पन्न हुए।

दीपकर उनके पास आकर बोले—"इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा।" यह बुद्ध का "व्याकरण" हुआ। "यह एक दिन बुद्ध होगा"—इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए और बोले—"यह "बुद्ध-बीज" है, यह "बुद्धाकुर" है।" वहाँ पर जो "जिन-पुत्र" (बुद्ध-पुत्र) थे। उन्होने सुमेध की प्रदक्षिणा की। लोगो ने कहा—"आप निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ पराक्रम करो, आगे बढो, पीछे न हटो।" सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकाक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्ध-कारक धर्मो का अन्वेषण करने लगे, और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से दश पारमिताएँ प्रकट हुईं, जिनका आसेवन पूर्वकाल मे बोधिसत्वो ने किया था। इन्ही के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। सुमेध ने बुद्ध गुणो को ग्रहणकर दीपकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या अर्थात् साधना प्रारम्भ हुई और ५५० विविध जन्मो के पश्चात् वह तुपित-लोक मे उत्पन्न हुए, और वहाँ बोधि प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ, कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुपित-लोक से च्युत होकर माया देवी के गर्भ मे उनकी अवक्रान्ति हुई और मनुष्य भव धारण कर उन्होने सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त की।[1]

उक्त प्रकरणो मे भव-भ्रमण का प्रकार, आयु की दीर्घता आदि अनेको विपय अन्वेपणीय बन जाते है। तीर्थकरत्व-प्राप्ति के लिए बीस निमित्त और बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए दश पारमिताएँ अपेक्षित मानी गई है। उन निमित्तो और पारमिताओ के हार्द मे बहुत कुछ समानता है।

बीस निमित्तक

१. अरिहन्त की आराधना
२ सिद्ध की आराधना
३ प्रवचन की आराधना
४ गुरु का विनय

---

[1] बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १८१–८२

५ स्थविर का विनय
६ बहुश्रुत का विनय
७ तपस्वी का विनय
८ अभीक्ष्ण नानापयोग
९ सम्यग् दशन
१० विनय
११ षड आवश्यक समाचरण
१२ सयम का निरतिचारपालन
१३ ध्यान
१४ तपश्चर्या
१५ पात्र-दान
१६ वयावृत्य
१७ समाधिदान (गुरु आदि का)
१८ अपूव नानाभ्यास
१९ श्रुत भक्ति
२० प्रवचन प्रभावना[1]

दश पारमिताए (पाली रूप-पारमी)

१ दान
२ शाल
३ नष्कम्य
४ प्रज्ञा
५ वीय
६ शान्ति
७ सत्य
८ अधिष्ठान (दृढ निश्चय)

---

[1] इमे हियाण विसाहिय-कारर्णाहि आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर णाम-गोय-कम्म निव्वतेसु त जहा
अरिहत सिद्ध पवयण गुरु थेरे बहुस्सए तवस्सीसु वच्छलयाय तेसि अभिक्खणाणो वओ गेय ॥१॥
दसण विणय आवस्सयए सीलव्वएय णिरवइयारे खणलव तवच्चियाए वेयावच्चे समाहीय ॥२॥
अपुव्वणाणा गहणो सुय भत्ती पवयणोप्पभावणाया एएहिं कारणहिं तित्थयरत्त लहइ जीवो ॥३॥
—ज्ञाताधमकथाङ्ग सूत्र—अ०८

९. मैत्री
१० उपेक्षा—(सुख और दुख मे समस्थिति)[1]

एक समीक्षा

२० निमित्तो और १० पारमिताओ मे भावनात्मक साम्य के साथ एक मौलिक अन्तर भी है। बुद्ध, बुद्धत्व प्राप्ति के लिए कृत सकल्प होते है और सारी क्रियाएँ बुद्धत्वप्राप्ति के लिए करते हैं। जैन परम्परा के अनुसार वीतरागता (बौद्ध परिभाषा मे अर्हत् पद) के लिए ही प्रयत्न विहित हैं। तीर्थकरत्व एक गरिमा पूर्ण पद है, वह काम्य नही हुआ करता, वह तो सहज सुकृत-सचय से प्राप्त हो जाता है।

विहित तप को किसी नश्वर काम्य के लिए अर्पित कर देना जैन परिभाषा मे "निदान" कहलाता है।[2] वह विराधकता का सूचक है। भौतिक ध्येय के लिए तप करना भी अशास्त्रीय है।[3] बौद्धो मे बुद्धत्व इसलिए काम्य माना गया है, कि वहाँ व्यक्ति अपनी भव-मुमुक्षा को गौण करता है और विश्व-मुक्ति के लिए इच्छुक होता है। तात्पर्य होता है—जैनो ने तीर्थकरत्व को उपाधि विशेष से जोडा है और बौद्धो ने बुद्धत्व को केवल परोपकारता से। यही अपेक्षा-भेद दोनो परम्पराओ के मौलिक अन्तर का कारण बना है। परोपकारता जैन-धर्म मे भी आकाक्षणीय नही है और पदाकाक्षा बौद्ध-धर्म मे भी उपादेय नही है। इस प्रकार उक्त अन्तर केवल सापेक्ष वचन-विन्यास ही ठहरता है।

---
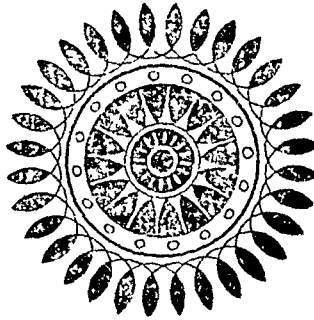
[1] बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १८१-१८२

[2] दशाश्रुत स्कन्ध, निदान प्रकरण

[3] चउव्विहा खुल तव समाही भवइ। तजहा-नो इह लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो पर-लोगट्ठियाए तव महिट्ठिज्जा, नो कित्तिवण्ण-सद्दसिलोगट्टयाए तवमहिठिठज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।

दशवैकालिक सूत्र ९-४

इतिहास और पुरातत्व

ढाई द्वीप

भारत ६०० ई०पू०
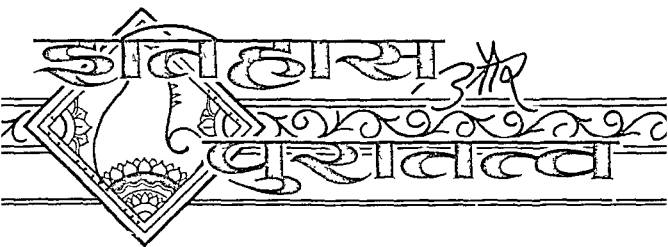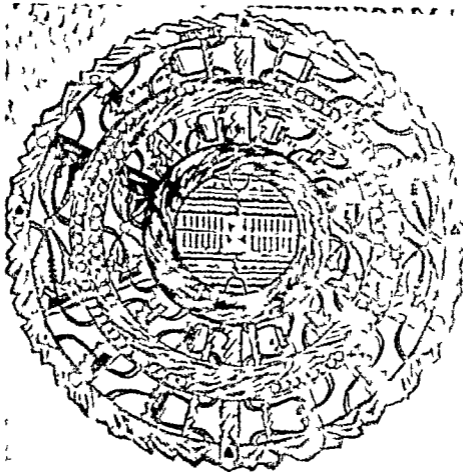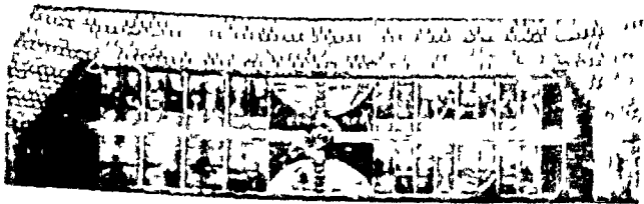
को मैंने देखा। लेकिन इतने भर मे ही इतिहास तैयार नही होता। इसके लिए स्थानकवासी सम्प्रदाय के भण्डारो का अनुसन्धान परम आवश्यक है। उभय पक्ष की खोज होने पर ही किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। परन्तु यह मेरे लिए अभी सम्भवित नही था। फिर भी उक्त विद्या मन्दिर मे पक्ष और विपक्ष की जो भी और जितनी भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसी को आधार बनाकर मैं यहाँ कुछ लिखने का प्रयत्न कर रहा हूँ। सत्य को समझने का मेरा यह एक प्रयत्न है, उसे मैं अपनी अन्तिम खोज नही मानता हूँ।

लोकाशाह

लोकाशाह के मत के प्रतिकार रूप मे छोटी बडी मिलाकर अनेक रचनाएँ विद्या मन्दिर के भण्डार मे उपलब्ध है। किन्तु इनके अलावा दो हस्त-प्रतियाँ बडे ही महत्व की है। उनके अध्ययन से मुझे यह विश्वास होता है, कि उक्त दोनो प्रतियो का सीधा सम्बन्ध लोकाशाह से अवश्य है। क्योकि लोकाशाह के मत को, उनकी विचारधारा को उनमे स्पष्ट रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यदि इसमे शका-को अवकाश मिल सकता है, तो केवल इतना ही कि उक्त दोनो हस्त-प्रतियाँ लोकाशाह की स्वरचित हैं, या नही ? फिर भी मेरे विचार मे अधिकतर सम्भावना यही है, कि उन दोनो की रचना लोकाशाह ने स्वय की है, अथवा उनके आदेश के अनुसार उनके निकटस्थ किसी व्यक्ति ने की है। लेकिन इतना तो सत्य है, कि वे दोनो लोकाशाह की विचार-धारा की प्राचीनतम हस्त-प्रतिया हैं। उक्त हस्त-प्रतियो का नाम इस प्रकार है —

१ लुकाना सद्दहिया अने कर्या ५८ बोल
२ लुकानी हुडी ३३ बोल .

अपने इस प्रस्तुत लेख मे, दोनो प्रतियो का आधार लेकर तथा लोकाशाह के विरोध मे लिखित अनेक अन्य रचनाओ की तुलना करके सत्य की शोध का प्रयत्न होगा, उसे अन्तिम निर्णय कहना मुझे अभीष्ट नही है। सबसे पहला प्रश्न है, कि लोकाशाह कौन थे ? इस विषय मे जनश्रुति कुछ भी हो, पर अनुसन्धान के आधार पर यह कहा जा सकता है, कि वे लिपिक थे, वणिक जाति के मेहता वशीय थे और अहमदाबाद के रहने वाले थे। विक्रम सवत् १५०८ मे उनका यतिवर्ग से मतभेद हो गया था। मतभेद होने के बाद मे उनका परिचय लखमशीजी से हुआ था, जो स्वभाव से उग्र एव कठोर थे और अमात्य पद पर थे। यह बात "प्रवचन-परीक्षा" के अध्ययन से विदित होती है, जिसकी रचना विक्रम सवत् १६२९ मे हुई थी। लखमशी जी ने एक बार अपने परिचित यति से सिद्धान्त ग्रन्थ पढाने की प्रार्थना की थी, परन्तु परम्परा के अनुसार यति ने पढाने से इन्कार कर दिया। इस पर मे बहुत कुछ सम्भव है, कि लखमशी का झुकाव उधर से हटकर लोकाशाह की ओर हो गया होगा। क्योकि लोकाशाह लिपिक थे, अनेक शास्त्र उन्होने अपने हाथ से लिखे थे, और साथ मे तीव्र जिज्ञासा वृत्ति होने के कारण उन्हे शास्त्र ज्ञान भी था ही। अत: उन्होने लखमशी की सिद्धान्त ग्रन्थ पढने की जिज्ञासा को सन्तुष्ट किया हो—यह अनुमान किया जा सकता है। फिर उन दोनो ने मिलकर अपने विचरो का प्रचार उस युग के यति वर्ग मे प्रथम किया होगा। क्योकि उन दोनो का सम्बन्ध यति वर्ग से था ही।

लोकाशाह द्वारा विरोध

आचार-शास्त्र के कठोर नियमो के प्रतिपादक आचाराग और दशवैकालिक जैसे सूत्रो के मूलमात्र के अध्ययन से और उस युग मे व्याप्त शिथिलाचार को देखकर प्रथम तो लोकाशाह ने उस युग की साधु-सस्था का विरोध किया होगा, यह अनुमान करना अनुचित न होगा। फिर आगे चलकर उन्होने जो मूर्ति-पूजा का विरोध किया उसके दो आधार हो सकते है—एक लखमशी के साथ शास्त्रो का गहन चिन्तन और दूसरा मुसलिम शासको द्वारा मूर्ति-पूजा विरोधी भावना का प्रसार जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव कबीर-साहित्य मे स्पष्ट है। विक्रम सवत १५४४ ४६ के बीच लिखित कमलसयम रचित 'कुमतकदली कृपाणिका' चौपाई मे लोकाशाह के विषय मे इस प्रकार लिखा गया है—

साधू निन्दा अहनिस करइ।
धम घडा बध ढीलउ धरई॥
तेहनु सिस्य मिल्यो लखमसी।
तेहनी बुद्धि हियायी खसी॥
टालइ जिन प्रतिमानु मान।
दया-दया करि टालइ दान॥
टालइ विनय विवेक विचार।
टालइ सामायिक उच्चार॥
पडिकमणानू टालइ नाम।
भमइ पड्या घणा तिहि गाम॥

लखमशी

देखो लाल भाई दलपत भाई विद्या मन्दिर के सग्रह की प्रति नम्बर २१५ और जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' पृष्ठ ५०७। उक्त कृति मे आगे चलकर कहा गया है कि लोकाशाह मत के वषधर विक्रम सवत् १८२४ मे हुए और लगभग उसी समय मे फीरोजखान ने मन्दिर तथा पौषध शालाओ को नष्ट भ्रष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार के वातावरण मे लोकाशाह और लखमशी के मूर्ति-पूजा विरोधी विचारो का प्रभाव तत्कालीन जन मानस पर पडना स्वाभाविक ही था। लोग राज्य आतक से आतकित थे। पौषध शाला मे जाने की हिम्मत भी कोई विरला ही कर पाता था। उस युग मे जनो के ही नही बल्कि कुछ अन्य भी भारतीय जनों के मन मे मन्दिरो के प्रति आकषण कम होने लगा था। अत मूर्ति-पूजा के विरोध के लिए रास्ता साफ था जिसका लाभ लोकाशाह को सहज मे ही मिल गया। उक्त उल्लेख से दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि लोकाशाह का पहला विरोध केवल साधु सस्था के प्रति था किन्तु आगे चलकर लखमशी के प्रभावशाली सहयोग के मिलने पर उस विरोध मे से अन्य भी अनेक अंकुर फूट पडे। जसे-मूर्ति-पूजा के विरोध के साथ-साथ मन्दिर और तीर्थ यात्रा का विरोध भी प्रारम्भ हो गया। सामायिक प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और दान आदि के विषय मे

भी मतभेद उत्पन्न हो गए थे। मतभेदो की यह परिस्थिति लगभग विक्रम सवत् १५४४ मे थी। विक्रम सवत् १५३४ मे तो वेषधरो की उत्पत्ति ही हुई थी। उसके दस वर्ष बाद मे ही ये मतभेद खडे हो गए थे। उक्त १५३४ सवत् के विषय मे मतभेद इस प्रकार है—१५३०, १५३१ अथवा १५३४। १५०८ मे, जब लोकाशाह द्वारा विरोध प्रारम्भ हुआ, तभी उक्त सभी विरोधों के सम्बन्ध मे लोकाशाह ने एकदम अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया होगा, ऐसा मानने का और विश्वास करने का कोई कारण नही है। यथार्थ मे लोकाशाह और लखमशी ने जैसे-जैसे अपने शास्त्र-स्वाध्याय को आगे बढाया, वैसे-वैसे अनेक बातो के विषय मे विचार भेद की कडी आगे बढती रही। अत अपनी उत्पत्ति के समय से लेकर आगे के दस वर्षो तक प्रतिमा-पूजा के छोडने के साथ-साथ अन्य भी अनेक बातो का परित्याग किया होगा—यह सोचना यथार्थ है।

वेष-परिवर्तन

लोकाशाह कौन थे ? इसके बाद मे यह प्रश्न उठता है क्या लोकाशाह ने साधु का वेष ग्रहण किया था ? इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता, कि लोकाशाह ने किसी के पास किसी प्रकार का व्रत स्वीकार किया हो। क्योकि प्राय सभी का यह आक्षेप है, कि लोकाशाह ने किसी को अपना गुरु बनाए बिना ही भिक्षाचरी प्रारम्भ करदी थी। मेरे विचार मे यह बात सत्य है। लोकाशाह के लिए यह सम्भव ही नही था, कि जिस परम्परा के साथ मे विरोध चल रहा हो, उसी मे से किसी को गुरु स्वीकार करके वे दीक्षा ग्रहण करते। इसके अतिरिक्त उस परम्परा का कोई भी यति उन्हे दीक्षा दे, इसकी भी सम्भावना बहुत कम थी। अपना लिखने का काम छोडकर विक्रमसवत् १५०८ मे, जिस यति परम्परा का उन्होने विरोध किया, उसी के पास दीक्षा ग्रहण करना, कथमपि सम्भवित नही जान पडता। परन्तु यह भी सत्य है कि लोकाशाह ने गृह-त्याग किया था और वे भिक्षा-जीवी भी बने थे।

भाणा-ऋषि

वस्तुत जिसे लोकागच्छ कहा जाता है, उसका प्रारम्भ १५०८ मे नही, बल्कि उसमे जब वेषधर हुए, तभी से मानना चाहिए। किन्तु वेषधर कब और कैसे हुए ? यह भी एक सवाल है। विक्रम संवत् १६२९ मे रचित प्रवचन-परीक्षा के अनुसार कहा जाता है कि सिरोही के समीप अरघट्टक जिसे आज अठवाडा कहते है, वहाँ के रहने वाले पोरवाल जाति के भाणा नाम के एक व्यक्ति ने विक्रम सवत् १५३३ मे स्वय ही वेष धारण किया था। अत. तभी से लोकाशाह के अनुयायी वेषधरो की उत्पत्ति मानी जानी चाहिए। कमलसयम (१५४४-४९) का कहना है कि भाणा के मत परिवर्तन मे स्वय लोकाशाह निमित्त नही थे। अपितु लखमशी की प्रेरणा से ही उनका विचार परिवर्तन हुआ था। कमल सयम के कथनानुसार भाणा ने भिक्षाचारी का व्रत तो लिया था, पर उनकी गणना न तो यतियो मे थी और नही श्रावको मे। वे न साधु थे और न गृहस्थ थे। अत उनकी गणना सघ मे नही की जाती

थी। प्रतीत होता है कि भाणा ने विधि पूर्वक पाँच महाव्रतों का ग्रहण नहीं किया था साथ में उनका वेष भी तत्कालीन साधुओं से भिन्न था ही। प्रवचन-परीक्षा के अनुसार तत्कालीन साधुओं के वेष में निम्न वस्तुओं का समावेश था—

१ कमर में डोरे से बंधा हुआ चोलपट्टक
२ रजोहरण
३ मुखवस्त्रिका
४ ओढ़ने की चादर
५ कंधे पर कंबल
६ बाँये हाथ में दण्ड
७ परम्परानुसार विधि पूर्वक दोनों कानों में छेद

परन्तु वि० १६२६ में उपाध्याय धर्मसागर ने लोकागच्छ के जिन वेषधरों को अपनी आँखों से देखा था उनमें रजोहरण का भेद था। उनका कहना है कि लोकागच्छ के वेषधर केवल नाम मात्र के लिए रजोहरण रखते हैं और वह परम्परागत चले आ रहे रजोहरण से भिन्न प्रकार का है। अतः उनके वेष को साधु वेष नहीं कहा जा सकता।

लोकाशाह का वेष

परन्तु लोकाशाह का वेष कैसा था? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। उनके समकालीन बैसा ऋषि ने उनसे उनकी मान्यता के विषय में एक प्रश्न पूछा था कि "आप जैसा चोलपट्टक पहनते हैं, क्या किस सूत्र में लिखा है?" इस प्रश्न पर से ऐसा प्रतीत होता है कि लोकाशाह तत्कालीन परम्परा के श्वेताम्बर साधु वर्ग में प्रचलित रीति के अनुसार चोलपट्टक नहीं पहनते थे। संभव है कि उनका चोलपट्टक पहनने का ढंग आज के स्थानकवासी साधु जैसा होगा—इसके लिए देखिए मुनिराज पुण्य विजय के संग्रह की पोथी नम्बर ७५८८ और प्रश्न नम्बर ८६। लोकाशाह के वेष के विषय में एक अन्य पोथी में वर्णन इस प्रकार मिलता है—

'नवि ओघउ नवि मुहती।
नवि कंबल नवि दंड॥'

यह उल्लेख लालभाई दलपतभाई विद्या मन्दिर के मुनिराज पुण्य विजय जी के संग्रह की पोथी नम्बर २३२८ का है। इस पर से मालूम होता है कि लोकाशाह ने स्वयं एक चोलपट्टक और दूसरी ओढ़ने की चादर—ये दो वस्त्र रखे होंगे। पात्र भी रखा था। इनके सिवा अन्य जो भी उपकरण उस युग के साधु सम्प्रदाय में प्रचलित थे उनका ग्रहण नहीं किया होगा। आगे चलकर उक्त प्रति में ही यह भी लिखा है कि—

"सिर मुंडावई मल धरई,
विहरइ फाटा वेस।
मल चीगट चीवर धरई,
पात्रि ही न दीहि लेप।
नीच कुल लोई आहारि ·"

अत यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है, कि वे पात्र रखते थे और भिक्षा-चर्या करते थे। परन्तु उस युग के साधुओ मे प्रचलित उच्चकुल की ही भिक्षा लेने की प्रथा का परित्याग उन्होंने कर दिया था और जहाँ-तहाँ से भिक्षा लेना प्रारम्भ कर दिया था। उनकी यह रीति जैन धर्म की प्राचीन प्रथा के अनुकूल थी। सम्भवत उस युग के समाज के विरोध के कारण भी उनको ऐसा करना पडा।

ढुंढिया सम्प्रदाय

आज का स्थानकवासी समाज अपने को लोकाशाह का अनुयायी मानता है। परन्तु विक्रम सवत् १६२९ मे रचित "प्रवचन-परीक्षा" के लेखक उपाध्याय धर्मसागर का कथन है, कि उस समय मे लोकाशाह के मार्ग का अनुगमन करने वाले लोग अपने को "वीरजिन मार्ग के अनुयायी" कहते थे। भाणाऋषि की परम्परा के अनुयायी भी अपने आप को भाणापन्थी न कहकर भगवान् महावीर के अनुयायी कहना पसन्द करते थे। इस प्रकार का उल्लेख विश्राम ८ और गाथा १२ मे है। यद्यपि वर्तमान काल के लोकागच्छ ने लोकाशाह के नाम को सुरक्षित रखा है, तथापि उसने मूर्ति-पूजा का परित्याग नही किया, जब कि लोकाशाह ने स्वय मूर्ति-पूजा का विरोध किया था। उपाध्याय धर्मसागर कृत "प्रवचन-परीक्षा" मे–जिसका रचनाकाल विक्रम सवत् १६२९ है–कही पर भी ढुंढिया शब्द का उल्लेख नही मिलता। इसके दो अभिप्राय हो सकते है—एक तो उस समय तक ढुंढिया सम्प्रदाय प्रकट नही हुआ होगा, दूसरे प्रकट होने पर भी वह उस समय तक प्रसिद्ध मे नही आया होगा। स० १६८७ के बाद तो प्राय· ढुंढिया नाम से लोकाशाह के अनुयायी पहचाने जाते थे।

लवजी ऋषि

लोकागच्छ से ढुंढिया कब अलग हुए, इस विषय मे अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है। मुनि राज श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की पोथी नम्बर ४८३७ मे "मुखपत्ति चर्चा" मे उल्लेख मिलता है, कि विक्रम सवत् १६९७ मे ढुढिया सम्प्रदाय अलग हुआ था। उक्त सग्रह की पोथी नम्बर ५९६७ मे विक्रम सवत् १६८७ मे ही ढुंढिया सम्प्रदाय के अलग होने का उल्लेख मिलता है। पूज्य अमोलक ऋषि ने अपनी 'शास्त्रोद्धार मीमासा" मे लिखा है, कि लोकागच्छ के यतिवर जग जी से सूरत निवासी लवजी ने विक्रम सवत् १७०५ मे दीक्षा ग्रहण की थी। परन्तु आगे चलकर लवजी अपने गुरु से अलग हो गए थे और वे ढुंढिया कहलाने लगे, क्योकि वे ढुंढ अर्थात् टूटे-फूटे मकानो मे रहते थे। आचार्य आत्मानन्द सूरि वे अपने "सम्यक्त्व-शल्योद्धार" मे हीरकलश की" "कुमति विध्वस चौपाई" के आधार पर लिखा

शान्त हो गया, तव उन्होने लोकाशाह की मूर्ति-पूजा विरोधी मान्यता को धीरे-धीरे छोड दिया होगा। इस सम्बन्ध मे विक्रम सवत् १६२९ मे रचित "प्रवचन-परीक्षा" मे स्पष्ट रूप से वताया गया है कि आचार्य हीरविजय जी ने एक ऐसा अपूर्व कार्य किया था, जो जैन शासन के समग्र इतिहास मे अद्भुत था। वह कार्य, यही था, कि उन्होंने लोकाशाह के अनुयायियो को युक्ति और तर्क से समझा दिया था, कि मूर्ति-पूजा का विरोध उचित एवं न्याय सगत नही है। फलत लोकाशाह के ही अनुयायी मेघजी ऋषि ने अपने शिष्य परिवार के साथ मे अकबर को साक्षी बना कर अहमदाबाद मे आ० हीर विजयजी की निश्राय मे पुन. दीक्षा ग्रहण करली थी। इस घटना का प्रभाव लोकाशाह के अन्य अनुयायियो पर भी अवश्य पडा होगा। इस प्रकार मूर्ति-पूजा के विरोधियो मे फिर से मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ होगा। यही कारण है कि आगे चलकर लोकागच्छ ने अपने आदि-पुरुष के नाम को तो सुरक्षित रखा, परन्तु उनके मूल सन्देश को भुलाकर फिर से मूर्ति-पूजा प्रारम्भ कर दी। इस विषय मे विशेष विचार तो लोकागच्छ के इतिहास का पता लगने पर ही किया जा सकता है। केवल अनुमान और कल्पना के आधार पर सत्य का निर्णय नही किया जा सकता।

लोकाशाह का शास्त्र-ज्ञान

मूर्ति-पूजक परम्परा की ओर से लोकाशाह पर सबसे बडा आक्षेप यह था कि वह तो केवल एक लिपिक था अर्थात् लहिया था—शास्त्र लिखकर अपना निर्वाह करने वाला था। परन्तु "लुकाना सद्दिया ५८ बोल" और "लुंकानी हुंडी ३३ बोल" के अध्ययन से उक्त आक्षेप असत्य प्रमाणित हो जाता है। साधारण लहिया शास्त्र ज्ञान की इतनी गहराई मे कैसे पहुँच सकता है? अत लोकाशाह को शास्त्र-ज्ञान नही था यह आक्षेप कथमपि उचित नही है। क्योकि पूर्वोक्त ५८ बोल मे और ३३ बोल मे, आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायाग, दशाश्रुत स्कन्ध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथाग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नन्दी सूत्र, ज्ञाताधर्मकथाग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिक सूत्र, जीवाभिगम, उपासक दशा, प्रश्न व्याकरण, दशवैकालिकसूत्र, प्रज्ञापना, आचाराग निर्युक्ति और आचाराग वृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययन चूर्णि तथा वृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति, वृहत्कल्प वृत्ति तथा चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि मे से अनेक पाठो का अवतरण करके विस्तृत चर्चा की गई है। इस पर से भली भाँति ज्ञात हो सकता है कि लोकाशाह केवल लिपिक ही नही थे, उन्हे शास्त्रो का विस्तृत ज्ञान था। सामान्य लहिया इतनी चर्चा कैसे करेगा?

विनम्र-स्वभाव

पूर्वोक्त बोलो की चर्चा के अध्ययन से लोकाशाह के विनम्र तथा विनीत स्वभाव का भी पता चलता है। लोकाशाह के अनेक विरोधियो मे जो कटुता, कठोरता और तीखापन था, उसका जरा भी आभास लोकाशाह की वाणी मे प्रतीत नही होता। वे अपने विरोधियो को विनम्र-भाषा मे यही कहते थे—"जो बुद्धिमान है, वे मेरी बातो पर विचार करे। जो विवेकी हैं वे मेरी बातो को सोचे ओर समझे।" इस

प्रकार स व अपन विरोधियो स अपनी बातो पर विचार करने की प्रार्थना करत थ। सत्य को समझने के लिए विनती करते थे। इससे उनके चित्त की शान्ति का और अपन विरोधियो को उत्तर देन की उनकी मधुर शैली का परिचय मिलता है। जहाँ विचारो क सघर्ष का अवसर आता है वहाँ पर कुछ न कुछ थोडी बहुत कटुता आ ही जाती है किन्तु लोकाशाह म यह कटुता आई नही यह निस्सन्देह सत्य है।

धर्म प्रचार

लोकाशाह न जिस सत्य की प्रतीति की थी यदि उसका उन्होने प्रचार किया तो इसम उनका कोई अपराध भी नही था। क्योकि प्रत्येक व्यक्ति अपन विचारो के प्रचार म स्वतन्त्र है। लगभग पच्चास वर्षों तक लोकाशाह न विरोधियों का विरोध सहन किया इसके बाद उनके बहुत स अनुयायी हो गए और उनम से अनेक लोगो न साधु वेष धारण करके उनके मत का प्रचार भी किया था। उनका प्रचार कैसा और कितना हुआ ? इसम कुछ भी निश्चय पूर्वक नही कहा जा सकता। फिर भी इतना अनुमान तो लगाया ही जा सकता है कि उनके प्रचार का क्षेत्र पहल सीमित होगा और फिर धीरे धीरे फलता फैलता आग बढा होगा। उनके प्रचार की पद्धति यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात और उनक शिष्यो जसी रही होगी जिसम सवाद और प्रश्नोत्तर तथा चर्चा-वार्ता करके अपन विचारो का अभिव्यक्त किया जाता था, क्योंकि आज जस प्रचार साधन उस युग म कहा थे ? परन्तु उनक प्रचार की मन्दता का सबसे प्रबल प्रमाण यही है कि पच्चीस वर्षों की लम्बी अवधि तक भी उन्ह कोई उनक मतानुसार साधुवेष धारण करन वाला नहा मिला। सम्प्रदायो क इतिहास का देखन से इस बात का निश्चय हो जाता है कि जब किसी भी मान्यता का एकान्तिक विरोध खडा किया जाता है तब ही सम्प्रदाय बनता है। यदि विरोध करन वालो म विवेक हो तो सम्प्रदाय खडा नही हो सकता। विवेक से काम लेने पर तो किसी भी मान्यता क गुण और दोष दोनो दिखाना आवश्यक हो जाता है। ऐसी परिस्थितियो म नया सम्प्रदाय बन नही सकता। एकान्तिक आग्रह म से ही सप्रदाय का निर्माण होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि अनकान्त क आश्रय स सम्प्रदाय पनप नही सकता। यह तो एकान्तवाद म ही पनप सकता है।

लोकाशाह के विषय म एसा ही कुछ घटित हुआ। उन्होन अपना एक विचार-सूत्र बनाया कि 'जहाँ पर दया है वहाँ धर्म है। तथा जहाँ हिंसा है वहाँ अधर्म। इस विचार-सूत्र क आधार पर उन्होने प्रतिमा-पूजा का विरोध किया। क्योकि लोकाशाह के विचार क अनुसार प्रतिमा के निर्माण म हिंसा थी और उसके पूजा क प्रकार म भी हिंसा थी। परन्तु यहाँ पर लोकाशाह निश्चय नय और व्यवहार-नय के समन्वय को भूल गए थ। मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार ही धर्म के मार्ग पर अग्रसर होता है। किसी भी साधना म अधिकारी भेद को समझना आवश्यक हो जाता है। धर्म की जो साधना १३ व गुणस्थान स १४ वें गुणस्थान म जान के लिए होती है वही साधना प्रथम गुणस्थान वाल क लिए भी आवश्यक है—इस प्रकार का आग्रह करन से सामान्य व्यक्ति को धर्म के मार्ग पर

कैसे लाया जा सकता है ? साधना के मार्ग पर इस प्रकार एकान्त आग्रह से काम नहीं चलता । क्योंकि सभी साधकों की योग्यता समान नहीं हो सकती । अत. लोकाशाह जब यह कहते है कि मूर्ति-पूजा मोक्ष का साधन न होकर संसार वृद्धि का कारण है, तब उनकी इस बात में आग्रह प्रतीत होने लगता है । यह मान लिया जाए कि मूर्ति-पूजा मे जो अनेक प्रकार के आडम्बर आ घुसे है और उन आडम्बरों के कारण मूर्ति-पूजा मे हिंसा को अवकाश मिल जाता है । फिर भी वह एकान्त संसार का ही कारण है, यह कैसे कहा जाए ?

पूजा मे हिंसा की विचारणा

लोकाशाह ने अपनी मान्यता का प्रतिपादन करने के लिए तथा शास्त्र के तात्पर्य को अपने अनुकूल बनाने के लिए जो प्रयत्न किया था, उसमे भी उनकी सम्प्रदाय भावना ही मुख्य थी । मान लिया जाए, कि प्रारम्भ मे जैन धर्म मे मूर्ति-पूजा नही थी, परन्तु भगवान् ने यह तो कही भी नही कहा है, कि जो प्राचीन परम्परा मे प्राप्त नही है, उसे नही करना चाहिए । जैन-धर्म के इतिहास मे मूर्ति-पूजा का प्रवेश एक साधन के रूप मे हुआ था । देश-काल की आवश्यकता ने उस साधन को प्रस्तुत किया और लोगो ने उसे अपना लिया । उस साधन मे आई हुई बुराइयों को दूर करना एक बात है, और उस साधन का ही निरन्तर विरोध करना यह एक अलग बात है । यदि कपड़े मे मैल लग जाता है, तो उसे साफ कर लिया जाता है न कि उसे सर्वथा फेंक दिया जाए । केवल साधारण-सी हिंसा के कारण सम्पूर्ण मूर्ति का विरोध करना उचित नही था । उपदेश तो यह होना चाहिए था, कि मूर्ति-पूजा मे होने वाली हिंसा को टाला जाए । किन्तु लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा को ही मिटाने का प्रयत्न किया । इसका परिणाम यह हुआ कि हिंसा का सूक्ष्म विचार करते-करते नव कोटि की हिंसा से दूर नहीं रहा जा सकता, अतएव किसी को साधु भी नही बनना चाहिए, प्रत्याख्यान भी नही करना चाहिए—हिंसा की विचारणा मे इतनी दूर तक जाना पड़ा । इस पर से पता चलता है, कि हिंसा का विचार करते समय विवेक से काम नही लिया गया ।

मूर्ति विरोध की अनुकूलता

लोकाशाह के विषय मे यह भी उल्लेख मिलता है, कि मुस्लिम शासको का भी उनको सहयोग एव बल मिला था । क्योकि मुस्लिम शासक स्वभाव से ही मूर्ति-पूजा के विरोधी थे । अत यदि लोकाशाह को मुस्लिम शासको का सहयोग एव बल मिल गया हो, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही । परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मूर्ति-पूजा मे बाह्य आडम्बर बहुत बढ़ गया था । जब कि मुस्लिम शासक मूर्ति-पूजा के सर्वथा विरोधी थे, ऐसे अवसर पर लोकाशाह के लिए मूर्ति-पूजा का विरोध बहुत सरल हो गया था । उस युग की जनता ने विचार किया कि मूर्ति-पूजा का विरोध करने से बादशाह खुश होता है, तो जनता ने खुले रूप मे लोकाशाह का समर्थन कर दिया हो, तो कोई आश्चर्य की बात नही ।

यह बात निश्चय पूवक कही जा सकती है कि लोकाशाह ने मूर्ति पूजा का विरोध अवश्य किया था और उन्होंने अपने अनुयायियों को अहिंसा के उत्कट माग पर ले जाने का प्रयत्न किया और उसम वे अशत सफल भी हुए। क्रिया की प्रतिक्रिया भी होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जसे-जसे और जितनी तीव्रता से लोकाशाह क अनुयायियो न मूर्ति-पूजा का निषध किया वसे-वसे और उतनी ही तीव्रता से मूर्ति-पूजको का मूर्ति पूजा म विश्वास दृढ होता गया। जब लोकाशाह न मूर्ति पूजा का विरोध शास्त्र के आधार पर करना आरम्भ किया तब मूर्ति-पूजको न उन्ही शास्त्रो के आधार पर मूर्ति-पूजा का प्रबल समथन भी किया। फलत जो लोग लोकाशाह के अनुयायी नही थ, उनके मन म मूर्ति-पूजा की दृढ आस्था जम गई।

मूर्ति-पूजा के समथन म जो दलील और तक दिए जात हैं उनम से शास्त्र के अनुसार एक तक यह भी है कि दशवकालिक-सूत्र म स्त्रियो का चित्र देखने का निषेध किया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि उस चित्र को देखन स मन मे विकार की उत्पत्ति होती है। जब कि सामान्य चित्र को देखकर मन म विकार की उत्पत्ति हो सकती है तब भगवान् की मूर्ति के दर्शन करन स मनुष्य के चित्त म समताभाव की उत्पत्ति क्या नही होगी ? अत मूर्ति-पूजा का विरोध करना व्यथ है। इस तक म तथ्य अवश्य है। परन्तु इसके उत्तर म यह भी कहा जा सकता है कि निश्चय ही भगवान की मूर्ति को देखकर समता उत्पन्न होनी चाहिए परन्तु शत इतनी ही है कि वह मूर्ति मन म समता भाव पदा कर सके, इस रूप म रहनी चाहिए। यदि मूर्ति आडम्बर पूण है, रेशमी वस्त्र हीरे मोती, पन्ने एव आभूषणो स लदी है तब वह दशन करन वाल के चित्त म समता पदा न करके विषमता पदा करेगी। इस स्थिति म वह एक प्रशम रस निमग्न व्यक्ति का नही बल्कि एक सम्पन्न व्यक्ति का चित्र उपस्थित करती है। फिर उससे ससार के बाल जीवो को प्रशम और वराग्य की प्ररणा कसे मिल सकती है ? आज के मूर्ति-पूजकों को इस पर गम्भीरता क साथ विचार करना चाहिए। लोकाशाह न भी अपन युग म यही कुछ किया था। क्योकि उस युग म मूर्ति-पूजा म अत्यधिक विकार पदा हो गए थ। उन विकारो का विरोध होना ही चाहिए था और वह लोकाशाह के द्वारा हुआ भी।

मत में परिवतन

परन्तु आगे चलकर लोकाशाह क मत का विरोध करन वाले भी अनक निकल आए और उनम से एक वग एसा भी निकला जिसन विवक और बुद्धिमत्ता के साथ उक्त समस्या पर गम्भीरता स विचार किया। उन्होन लोकाशाह के प्रश्नो का उत्तर शास्त्र के आधार पर शान्त भाव स दिया। इसका परिणाम यह निकला, कि लोकाशाह के बहुत म अनुयायी पुन मूर्ति-पूजक बन गए। जिन लोगो न मूर्ति-पूजा म हिंसा और अहिंसा का विचार न करके कवल भावना वश मूर्ति-पूजा को छोड दिया था उन्हें समझाने वाला जब एक बुद्धिमान वग मिल गया तो पुन मूर्ति-पूजा की ओर लौट पडे। इस प्रकार के लेखको न लोकाशाह की विचारधारा को मन्द कर दिया। जब विरोधी पक्ष की ओर स कटु अविवकी विरोध लोकाशाह का किया गया तब उनका मत उतना ही अधिक बढ़ा और पनपा परन्तु

इसके विपरीत जब शान्त चित्त वाले लेखकों ने विरोध की आग का उपशमन कर दिया, तो लोकाशाह की प्रगति मन्द पड गई और एक प्रकार से वह रुक भी गई। कुछ दूसरे लेखकों ने लोकाशाह के विरोध मे आवेशपूर्ण-भाषा मे बहुत कुछ लिखा था। इस प्रकार के साहित्य मे दलील और तर्क से अधिक क्रोध और रोष ही प्रतीत होता है। उसमे लोकाशाह को बदनाम करने की भावना विशेष रूप से परिलक्षित होती है। फलत पक्ष और विपक्ष दोनो ओर से घात और प्रतिघात चलते हैं तथा दूषित साहित्य की रचना होती है। स्थानकवासियो ने भी इस प्रकार का थोडा बहुत साहित्य लिखा ही था। जो लोग विचार करने मे समर्थ नही थे, वे अपनी-अपनी सम्प्रदाय मे दृढ रहे। इस प्रकार मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के दूषित साहित्य का फल स्थानकवासी सम्प्रदाय को सुदृढ करने मे सहायक रूप से ही सिद्ध हुआ, जो उनको अभीष्ट नही था। अत. विवेक खोकर कुछ भी कहना और लिखना अनुचित ही है।

एकान्त आचार

लोकाशाह ने "पढम नाण तओ दया" इस सूत्र वाक्य के एक अश को लेकर दया पर तो भार दिया, पर ज्ञान को गौण कर दिया। ज्ञान-शून्य जड क्रिया से अनेक अनर्थ खडे हो गए। स्थानकवासी परम्परा ज्ञान-शून्य बन गई। इस एकान्तवाद का परिणाम लोकाशाह के अनुयायियो के लिए अच्छा नही रहा। विरोधी पक्ष के लोगो ने लोकाशाह पर यह आक्षेप किया था, कि वे ज्ञान को गौण करके एक मात्र क्रिया पर जोर देते है। इस आक्षेप मे कुछ सत्यता तो अवश्य थी। क्योकि इस परम्परा के साधुओ ने मात्र दया और तपस्या के बल पर ही पूज्यत्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उनकी प्रतिष्ठा का आधार केवल घोर क्रिया काण्ड ही रह गया था। परन्तु ज्ञान-पक्ष का निरादर करने के कारण उस सम्प्रदाय मे ऐसे समर्थ साधु नही निकल सके, जो मूर्ति-पूजक विद्वान साधुओ को यथार्थ उत्तर दे सकते। यही कारण है कि लोकाशाह के अनुयायियो मे से बहुतो ने बाद मे पुन धर्म-परिवर्तन कर लिया और मूर्ति पूजक सम्प्रदाय मे जा पहुँचे। धर्म परिवर्तन के अनेक उल्लेख पोथी-पन्नो मे उपलब्ध होते हैं। लगभग ५०० वर्षों के इतिहास मे लोकाशाह की परम्परा के किसी मुनि ने किसी महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की हो, यह देखने मे नही आया। केवल दया पर भार देने से और ज्ञान का मार्ग बन्द कर देने का ही यह फल है। आज की इस बीसवी सदी मे ज्ञान और विज्ञान का प्रचार और प्रसार बहुत बढ गया है। ज्ञान और विज्ञान के विविध क्षेत्रो मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने वाला कोई भी मुनिराज आज दीख नही पडता। इस वर्तमान शताब्दी मे भी उस प्राचीन ज्ञान परम्परा का जो बहुमूल्य उत्तराधिकार है, उसकी भी उपेक्षा की जा रही है।

योगोद्वहन के बिना आगम पठन

लोकाशाह ने गुरु-मुख से शास्त्र पढने की परम्परा का विरोध किया और सबके लिए शास्त्र पढने का द्वार खोल दिया। हर किसी को अपनी बुद्धि से अर्थ लगाने की छूट दे दी। शास्त्र अध्ययन के लिए उस काल मे और आज भी मूर्ति-पूजक परम्परा मे प्रचलित योगोद्वहन की प्रक्रिया को सर्वथा अस्वी-

कार कर दिया। लोंकाशाह स्वय लिपिक थ। अत उन्ह तो योगोद्वहन के विना ही शास्त्र अध्ययन का अवसर मिल गया था। और जो लाभ उन्ह मिला वह उनके अनुयायियो को क्यों न मिले? लोंकाशाह का एसा विचार रहा होगा। उस युग क विरोधी लोगो द्वारा उन पर यह आक्षप भी होता रहा था कि आपन शास्त्र अवश्य पढ़ है परन्तु गुरु मुख से नही पढ़े। अत आपके ज्ञान को विशुद्ध ज्ञान नहा माना जा सकता। लोंकाशाह न सबके लिए शास्त्र पठन का द्वार खोलकर एक बहुत बडी क्रान्ति की थी परन्तु दूसरी ओर चरित्र पर क्रिया पर एव दया पर अधिक भार देकर ज्ञान के विकास का माग भी बन्द कर दिया। फलत उनके अनुयायियो म क्रिया माग तो खूब चला परन्तु ज्ञान माग प्राय बन्द-सा ही हो गया। उस युग के विरोधी लोग लोंकाशाह पर यह भी आक्षप करते थ कि भगवान् न तो ज्ञान,दशन और चरित्र तीनो का मिलाकर मोक्ष-माग कहा है, फिर आप केवल चरित्र पर ही इतना भार क्यो देते हैं? ज्ञान के विना चरित्र विशुद्ध नही बनता। विरोधियो क उक्त आक्षेप म सत्यांश अवश्य था। आज भी स्थानकवासी परम्परा म ज्ञान की कमी प्रत्यक्ष ही है। यह सब कुछ ज्ञान-माग के विरोध का ही प्रतिफल है जो कभी उनके पूव पुरुषो ने विना सोचे-समझे किया था। मूर्ति पूजक परम्परा का यह कहना कि गुरु मुख से ही शास्त्र पढना यह उनका एकान्त आग्रह था। क्योंकि इस एकान्त आग्रह क कारण ही जना न बहुत कुछ खो दिया है। गुरु ग्रन्थी के दोष के कारण ही तो जन परम्परा म से अनक विद्याओ का लोप हो गया। अत दोनो पक्षो का एकान्तवाद उचित नही कहा जा सकता।

श्रावक भी शास्त्र पढ सकता है

उस युग म मूर्तिपूजक परम्परा के अनुसार श्रावक के लिए शास्त्र अध्ययन का निषेध था। साधु वग श्रावक को मूल पाठ नहीं पढ़ाता था केवल अथ बोध कराना ही उचित समझता था। परन्तु इस मान्यता के विरोध म लोंकाशाह न श्रावको क लिए भी शास्त्र अध्ययन का द्वार खोल दिया था। इस बात का उल्लख अनेक स्थानों पर की गई चर्चा स विदित होता है। फिर भी उसका लाभ उठाने वाल श्रावकों की सख्या नगण्य जसी ही था। इसका मुख्य कारण मुझ तो यह प्रतीत होता है कि ज्ञान-साधना की अपेक्षा आचार पर ही अधिक भार दिया गया था।

आगम और टीकाएँ

आज का स्थानकवासी सम्प्रदाय और उसम स उत्पन्न तेरापन्थ सम्प्रदाय केवल बत्तीस मूल आगमो को ही प्रमाण मानता है। आगमो की व्याख्या नियुक्ति। भाष्य चूर्णि और टीकाओ को प्रमाण न मानन का आग्रह दोनो का समान है। परन्तु उसके प्रवतक लोंकाशाह को तो पतालीस आगम प्रमाण थे, इसका उल्लख मिलता है। उक्त दोनो हस्त प्रतियो म बत्तीस आगमो को ही प्रमाण मानन जसा किसी भी प्रकार का आग्रह नही है। लोंकाशाह तो यह कहते हैं कि नियुक्ति भाष्य चूर्णि, वृत्ति और टीकाओ में जो सूत्र विरुद्ध बातें हैं उन्हें प्रमाण कस माना जा सकता है? लेकिन जिनका सिद्धान्त-सूत्रों के साथ म मेल बठ जाता है उन्हें प्रमाण मानन म क्या हानि है? मूल आगमो म भी केवल बत्तीस ही

नही, बल्कि पैंतालीस आगम उन्हे मान्य थे। यह बात उनसे पूछे गए एक प्रश्न पर से फलित होती है। एक हस्त-प्रति मे लिखा है, कि लोकाशाह से पूछा जाए, कि कितने सिद्धान्त-सूत्रो को आप प्रमाण मानते है ? यदि वे कहते हैं, कि पैंतालीस को, तो उन पैंतालीस सिद्धान्त-सूत्रो का नाम उनसे लिखा लिया जाए। क्योकि चर्चा करने से पूर्व इसलिए लिखना आवश्यक है कि उनका आधार हमे ज्ञात हो जाए। उक्त हस्त-प्रति मे ही आगे चल कर कहा है—"यदि आप "पिण्ड निर्युक्ति" को प्रमाण नही मानते हैं, तो बताइए, कि आपने आगमो की पैंतालीस संख्या पूरी कैसे की ? इस प्रकार के उल्लेख के लिए देखिए लालभाई दलपतभाई विद्या मन्दिर के श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की प्रति नम्बर ३४०६ मे प्रश्न १ तथा २।

आगमो की संख्या में मतभेद

निस्सन्देह लोकाशाह के लगभग १०० वर्ष बाद भी आगमो की सख्या के विषय मे मतैक्य नही हो सका था। विक्रम सवत् १६२६ मे लिखित "प्रवचन-परीक्षा" मे उपाध्याय धर्मसागर जी ने स्पष्ट बतलाया है कि लोकाशाह के अनुयायियो मे कुछ २७ सूत्रो को प्रमाण मानते हैं, और कुछ २६ को। आगे चलकर इस प्रकार का उल्लेख भी मिलता है, कि ३० सूत्रो को प्रमाण मानते हैं। देखिए—सुय-विचार आनन्द जी कल्याण जी के शान्तिसागर सग्रह को प्रति लालभाई दलपत भाई विद्या मन्दिर नम्बर ५०६ मे। इस प्रति मे ३० सूत्रो के आधार पर ही मूर्ति पूजक सम्प्रदाय की ओर से मूर्ति-पूजा का समर्थन किया गया है। इससे ३० सूत्रो की मान्यता फलित होती है। इस पर से यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि लोकाशाह ने स्वय तो उस काल मे मान्य आगमो की कुछ ही बातो पर—विशेषत वृत्ति और टीका की कुछ बातो पर आपत्ति की होगी। परन्तु आगे चलकर तो उनके अनुयायियो ने, जिन्हे आगम और उनकी टीकाओ का विशेष ज्ञान नही होगा, जो लोग शास्त्रो का अर्थ केवल टब्बाओ के आधार पर ही करते होगे—उन्होने खुलकर आगमो की वृत्ति और टीकाओ का बहिष्कार किया था। उन्होने ऐसा करके अपने सम्प्रदाय का कोई हित किया था, यह नही माना जा सकता। लोकाशाह ने शास्त्र अध्ययन का जो द्वार सर्व साधारण के लिए खोलाथा, उसे सकुचित कर दिया गया। फलत स्थानकवासी सम्प्रदाय मे प्राकृत और सस्कृत पढने की प्रवृत्ति का लोप हो गया। इस बीसवी सदी मे उस प्रवृत्ति को पुन चालू करने के लिए स्थानकवासी साधु वर्ग को काफी सघर्ष करना पडा है। और आज का साधु वर्ग—जिसमे मुख्यत स्थानकवासी और तेरापन्थ है–फिर से आगमो की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वृत्ति और संस्कृत टीकाओ के अध्ययन की ओर झुका है। परन्तु कहना चाहिए, कि कुछ विद्वानो को छोडकर, शेष मे अभी तक प्रौढता और गम्भीरता नही आ सकी है।

बत्तीस आगम

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानकवासी परम्परा मे ३२ आगमो की मान्यता—ढुंढिया सम्प्रदाय की स्थापना के बाद मे ही हुई होगी ! क्योकि परवर्ती साहित्य मे सर्वत्र ३२ का ही उल्लेख उपलब्ध होता

है। मुनिराज पुण्यविजय जी के सग्रह की दश प्रश्नरूप ढुढक हुडी" म—प्रति नम्बर २५१५ जिसकी प्रतिलिपि विक्रम सवत् १८८४ म हुई—एक प्रश्न किया गया है कि आप नन्दी सूत्र को तो मानते ही हैं। उसम अनेक ऐसे आगमा का उल्लेख है जो आपको मान्यता के अनुसार ३२ से बाहर है। फिर आप ३२ को ही क्यों मानते हैं ? मूल ३२ ही आगमकी मान्यता रूढ हो जाने के बाद टीका आदि का अभ्यास लुप्त हो गया। यही कारण है कि इस परम्परा म कितने ही ऐतिहासिक तथ्यो का लोप हो गया। ज्ञान का बहुभाग हाथ से निकल गया।

आगम के कर्ता कौन ?

स्थानकवासी परम्परा की मान्यता के अनुसार ३२ आगम भगवान् महावीर की वाणी हैं। परन्तु ३२ म परिगणित दशवकालिक सूत्र गणधरकृत न होकर आचाय शय्यभवकृत है। जब कि स्थानकवासी परम्परा के विश्वास के अनुसार सभी आगम अथत भगवान् महावीर की वाणी और शब्दत गणधरकृत हैं। इस विसगति का उसके पास कोई समाधान नहा है। वृत्ति और टीकाओ की उपेक्षा करके इस परम्परा ने अपना किसी प्रकार का हित साधन नही किया। नियुक्ति भाष्य चर्णि और टीका युग की परम्परा इसके हाथो से निकल गई। फलत स्थानकवासी सम्प्रदाय म आज आचार और विचार की बहुत-सी बातें ऐसी हैं जिनके विषय मे उसके द्वारा मान्य ३२ आगमो म कुछ भी उल्लख नहीं है—केवल परम्परागत ही हैं। अत टीका-युग की समग्र परम्परा को न मानन पर बहुत-सी बातें निमूल बन जाती हैं या फिर उन्ह नवीन मानना ही पडेगा। उस स्थिति म यह दावा गलत होगा, कि हम ही भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी हैं।

सम्प्रदाय भेद

धमसागर उपाध्यायकृत प्रवचन-परीक्षा' क अनुसार लोकाशाह क सभी अनुयायी भी अपने आप को लोकाशाह का अनुयायी नही मानत थ। व अपन आप को वीर जिनमाग का अनुयायी कहत थ। इसी प्रकार भाणा ऋषि के अनुयायी अपने आपको वीर माग का अनुयायी मानते थे। ऐसा क्या मानते थे ? इस विषय म प्रवचन-परीक्षा के विश्राम ८ और गाथा १२ की टीका म बताया गया है कि लोकाशाह के अनुयायी दो गच्छों म विभक्त थ—गुजरीय अर्थात् गुजरात क और दूसरे नागपुरीय अर्थात् नागौर के। भाणा न वि० १५३३ म स्वय ही वष धारण किया था। अत लोकाशाह उनक गुरु नहीं हो सकते। प्रवचन-परीक्षा कार क युग म भाणा की परम्परा म दीक्षित केशवसिंह विद्यमान थ और व गुजरात क लोकागच्छ क थ। परन्तु जिस समय भाणा के पाँचवें पाट पर जगमाल हुए उस समय रूपचन्द्र जी ने नागपुर अर्थात नागौर म स्वय दीक्षा ग्रहण की थी। और रूपर्षि क नाम स प्रसिद्ध हुए। उन्होंने विक्रम सवत् १५८४ म अलग होकर नागौरीगच्छ का स्थापना की था। इस प्रकार भाणा का जो परम्परा चली था रही थी। वह गुजरात क लोकागच्छ के नाम स प्रसिद्ध हुई। इस पर स मालूम पडता है कि गुजरात म लोकाशाह और लखमशी न मिलकर जो विचार का प्रचार किया उसका

प्रभाव मारवाड तक पहुँचा था । और वहाँ पर भी गुरु के बिना ही दीक्षा लेने की प्रथा प्रारम्भ हो गई थी। उक्त वर्णन से यह भी सिद्ध होता है कि मूर्ति-पूजा विरोधी होने के कारण ही ये सब लोका-गच्छीय कहे जाते थे। परन्तु प्रारम्भ मे उनका कोई व्यवस्थित एव सघटित गच्छ नही बना था। धीरे-धीरे गच्छ का विकास हुआ होगा।

मुख-वस्त्रिका की चर्चा

लोकाशाह ने अपने युग मे मूर्ति-पूजा और तत्सवद्ध अन्य वहुत-सी वातो का विरोध किया था। इसमे किसी भी प्रकार की शका को अवकाश नही है। परन्तु मुख-वस्त्रिका के विपय मे उनके क्या विचार थे ? इस विषय मे विचारणा की आवश्यकता है। जहाँ तक मुख-वस्त्रिका की सत्ता का और उसकी उपयोगिता का सवाल है, उसमे मूर्ति-पूजक और स्थानकवासी परम्परा मे किसी भी प्रकार विचार-विभेद नही है। इसमे मूल आगमो का भी आधार है ही। अत मुख-वस्त्रिका की सत्ता और उपयोगिता मे भेद न होकर, उसके प्रयोग मे ही वस्तुत विचार-भेद रहा हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा की शाखा और उपशाखाओ मे मुख-वस्त्रिका का प्रयोग तीन पद्धतियो से किया जाता रहा है—

१ मुख-वस्त्रिका की आठ परत वनाकर, उसमे डोरा डालकर, सदा मुख पर वाँधे रखना।

२ कान मे मुख–वस्त्रिका के दोनो कोनो को पिरोकर केवल व्याख्यान के समय मुख और नाक दोनो ढके रखना।

३ मुख-वस्त्रिका को हाथ मे रखे रखना, जव वोलना हो, तव मुख को ढक लेना।

पहली पद्धति का प्रचलन आज के समग्र स्थानकवासी सम्प्रदायो मे और तेरापन्थ मे है। दूसरी पद्धति लोकागच्छ के यतियो मे और कुछ सवेगी सन्तो मे रही है। तीसरी पद्धति आज के समस्त श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा मे चल रही है।

परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर मुझे ऐसा प्रतीत होता है, कि लोकाशाह ने डोरा डालकर मुख-वस्त्रिका नही वाधी थी। भाणा भी साधुवेष धारण करते समय मे मुख-वस्त्रिका के विपय मे चालू परम्परा से अलग नही हुए थे। फिर वाधने की प्रथा कव से चल पडी। इस विपय मे मुनिराज पुण्यविजय जी के सग्रह की प्रति नम्बर ४८३७ मे वताया गया है, कि वृद्धिविजयजी के कथनानुसार मुख-वस्त्रिका को हाथ मे रखने का प्रचलन प्राचीन युग मे था। परन्तु विक्रम सवत् १००८ मे कानो के छेदो मे मुख वस्त्रिका के कोनो को पिरोकर व्याख्यान के समय वाधने की परम्परा प्रारम्भ हुई। फिर विक्रम सवत् १५३१ मे (किसी के मत मे १५३०, १५३३ १५३४) मे लोकागच्छ शुरू हुआ। उस गच्छ के उत्तराधिकारी यतियो ने मुख-वस्त्रिका मे तणिया अर्थात कँस टॉककर एव मुखबाँधकर व्याख्यान देने की परम्परा चली। वृद्धि विजय जी ने आगे वताया है कि विक्रम सवत् १६८७ मे ढुढिया पन्थ के लोगो ने मुख-वस्त्रिका मे डोरा डालकर मुख-वस्त्रिका सदा वाधे रखना प्रारम्भ किया।

इस चर्चा स सिद्ध होता है कि लोकाशाह न स्वय तो मुख-वस्त्रिका नही बाधी थी। दूसरी बात इस चर्चा स यह सिद्ध होती है कि आज के स्थानकवासी और तरापन्थ म जो मुख-वस्त्रिका बाधने का प्रयोग है उसका मूल विक्रम सवत १६८७ स प्राचीन सिद्ध नहीं होता। परन्तु इसम अभी अनुसन्धान को अवकाश है।

हस्त प्रतियो का परिचय

मैंन अपन प्रस्तुत लख म जिन प्रतियो का यथाप्रसग निर्देश किया है उनक विषय म थोडा परिचय देना मैं यहाँ आवश्यक समझता हूँ। उनम से एक है—लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर के मुनिराज श्री पुण्यविजय जी क सग्रह की पोथी जिसका नम्बर है २६८६ और जिसके वष्टन पर लिखा है— लुकाना सद्दहिया अठावन बोल विवरण । इस प्रति की प्रथम पक्ति म इस प्रकार से लिखा हुआ है— लुकाना सद्दहिया अनई कया बोल ५८ लिखई छई। इसका फलितार्थ होता है—लोकाशाह क द्वारा श्रद्धित तथा कृत ५८ बोलों का विवरण उक्त नाम के पहल पक्ति के प्रारम्भ म हडताल है और फिर लिखा है 'गुरुभ्यो नम । मालूम पडता है कि गुरु का नाम काट दिया गया है। अन्त म भी इस ग्रथ के संस्कृत नाम पर हडताल फेरी हुई है। परन्तु उसे इस प्रकार से पढा जा सकता है— इतिश्री लुपकेन कृता अष्टपञ्चा विचारञ्च। और फिर लिखा है—लुकाना सद्दहिया अनई करिया अठावन बोल अनई तहनु विचार लिखउ छई। शुभ भवतु।

इस प्रति क पत्रो की सख्या १८ है और उनका लखन काल लगभग १७ वीं सदी है। यह प्रति पत्र १५ का प्रथम बाजू पर परिसमाप्त होती है। अन्त म ५४ बातो की एक सूची भी दी गई है जिसक विषय म पूछा गया है कि इन सब बातो का मूल सिद्धान्त-सूत्रो म उल्लेख कहाँ पर है? इसम उस काल क आचार और विचार की उन बातो का समावेश किया गया है जिनके बारे म लोकाशाह क अनुयायी अपन विरोधियो स पूछा करत थ। तात्पर्य यह है कि इन ५४ बातो म मूर्ति-पूजक और लोकाशाह के अनुयायियो म मतभेद था। प्रस्तुत लख क प्रसग म जिन अनक प्रतियो को मैंन देखा उनके अध्ययन स मुझे ऐसा लगता है कि लोकाशाह क ५८ बोलो का और ५४ बातो का यथाशक्य और यथा समय उत्तर देन का प्रयत्न किया गया था। ५८ बातो क उत्तर का तो उल्लख भी मिलता है।

सम्यक्त्व परीक्षा

विबुधविमल द्वारा विक्रम सवत १८१३ म रचित सम्यक्त्व परीक्षा नामक ग्रन्थ का एक प्रकरण तो इसी ५८ बोल क विरुद्ध लिखा गया है उसम लिखा है कि—

'अज्ञानां जन-चरयानि
पर सम्यक्त्व-साधनम्।
जनाभासमत भ्रान्त
निषिध्यन्ते कुयुक्तिभि ॥

ढुंढका ग्रयिल-प्राया,
लुंकाव्युद्‌ग्राहिता ह्यमुः,
उन्मत्त वद् ब्रुवन्त्येवार्ह-
च्चैत्यार्चा--निषेधनम् ॥
उत्सूत्राण्यष्टपञ्चाशत्-
संख्यानि भाषितानि तैः।
ढुण्ढकैर्ग्रथिलत्वेन स्वीयसंसार-वृद्धितः।

श्लोक ३६—३८

उक्त ५८ वोलो मे से कई वोल तो इस विषय के हैं, कि भगवान् महावीर ने तो आत्यन्तिक अहिंसा को ही धर्म कहा है। अत- वैसी कोई भी क्रिया नही करनी चाहिए, जिससे हिंसा होती हो। हिंसा के विषय मे उपदेश देना भी एक प्रकार की हिंसा ही है। हिंसा का उपदेश भी हिंसा का समर्थन तो अवश्य है और यह भगवान् के धर्म के विपरीत है। इस प्रसंग पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की चर्चा का होना भी स्वाभाविक ही था। इस विषय से संवद्ध प्रश्न नम्वर इस प्रकार से हैं—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ६, १७, २०, २१, ४०, ४१, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५४, ५५ और ५८।

जो थोडे वहुत प्रश्न मूर्ति-पूजा से संवद्ध है, जिनमे जैन-आगमो मे आए हुए मन्दिरो का उल्लेख, पूजा के उल्लेख तीर्थों के उल्लेख, प्रतिमा निर्माण की चर्चा, प्रतिमा को प्रतिष्ठा, प्रासाद निर्माण और चैत्य शब्द के विषय मे उल्लेख है और स्थापना निक्षेप आदि की चर्चा है। इसके लिए देखिए प्रश्न नम्वर—७, ८, ६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १८, १६, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २६, ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३६, ४२, ५३, और ५६। इसके वाद मे यथा प्रसग शास्त्र-प्रमाण की चर्चा भी की गई है। देखिए—प्रश्न नम्वर ५७ मे।

मुनि श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की पोथी नम्वर ४१२१ मे, लुंकानी हुंडी ३३ वोल हैं। उसके दो पत्र हैं। इसमे निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि और वृत्ति को सर्वांश मे प्रमाण मानने वालो के लिए ऐसी वातो का संग्रह किया गया है, जिन पर वे गम्भीरता के साथ मे विचार करके निर्णय करें, कि सर्वांशत- उक्त ग्रन्थ प्रमाण मानने योग्य है या नही? विशेषत- निशीथ चूर्णि मे जो अपवाद की चर्चा है, उसी के विषय मे प्रश्न किया गया है, कि यह कहाँ तक उचित है। अपवादो की सगति कैसे की जाए? इस प्रकार के अपवादो का निरूपण भगवान् के मार्ग मे सगत नही है। यह १ से २५ वें वोल का विषय है। अन्त मे वताया गया है कि जिस निशीथ चूर्णि मे इस प्रकार की वातो का उल्लेख हो, उसे सम्पूर्ण रूप से अथवा सर्वांशत- कैसे प्रमाण माना जाए? जिन-जिन वातो में उनका विरोध था, उन वातों के विषय मे उसके प्रामाण्य को वे नहीं मानते थे। इसका अर्थ यह नही, कि निशीथ चूर्णि को सर्वांशरूप से अप्रमाण करार दे दिया जाए। २५ वें वोल मे इसी पर विचार किया गया है।

२६ वें बोल में उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में से उल्लेख लिया गया है जो इस प्रकार से है कि प्रसंग स्थान पर चक्रवर्ती के सम्पूर्ण सैन्य का नष्ट करने का बल साधु रखते हैं। यह वर्णन लब्धि धर मुनि का है सामान्य मुनि एवं सामान्य साधु का नहीं। २७ से ३३ वें बोल तक में व्यवहार-वृत्ति प्रज्ञापना-वृत्ति और आवश्यक नियुक्ति के आधार पर अपवादों की चर्चा की गई है। एक प्रश्न यह भी किया गया है कि इस प्रकार के अपवाद में सहमति देने वाली आवश्यक नियुक्ति चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की रचना कैसे हो सकती है? अन्त में कहा गया है कि बुद्धिमान एवं विवेकशील पुरुष इन सबके बारे में विचार करें, जिससे लोक और परलोक में सुख प्राप्त करें।

इस हस्त प्रति के अन्त में जो कुछ लिखा गया है उस पर से यह मालूम पड़ता है कि यह प्रति निश्चय ही लोकाशाह के मत की है लोकाशाह के विचार की है। क्योंकि इस प्रति की नकल करने वाले ने लिखा है कि—

'ए सव लुकामती ना युक्ति छई। प्रतिमा मानइ तेहने तो पञ्चांगी प्रमाणइ सव युक्ति प्रमाण छइ। जाणवानई एह लिखूं छई।

इस पर से यह स्पष्ट हो जाता है कि नकल करने वाला लेखक कह रहा है कि वह अपने पाठक को सचेत कर रहा है कि इस प्रति में जो कुछ भी लिखा गया है वह लोकाशाह का कथन है लोकाशाह की युक्ति है। परन्तु जो लोग प्रतिमा-पूजा में विश्वास रखते हैं उनके लिए तो पञ्चांगी की युक्ति ही, पञ्चांगी का कथन ही प्रमाणभूत है। क्योंकि यह केवल लोकाशाह के मत को समझने के लिए ही लिखा है उसे स्वीकार करने के लिए अथवा मानने के लिए नहीं लिखा है।

अन्त में मैं एक बात स्पष्ट करदूं। लोकाशाह के विषय में जितना मेरे लिए सम्भवित था उतनी खोज मैंने की है। प्राचीन हस्त प्रतियों का जो कुछ मैंने अध्ययन किया उसी के आधार पर यह प्रस्तुत लेख लिखा गया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मेरी खोज पूर्णतः सत्य है अब आगे किसी प्रकार की खोज नहीं हो सकती। लोकाशाह उनकी परम्परा और उसकी विचार धारा के विषय में वस्तुतः बहुत बड़े और गम्भीर अनुसन्धान की आवश्यकता है। स्थानकवासी समाज के विद्वान मुनि राजों और विचारक-श्रावकों का यह परम कर्तव्य है कि वे इस विषय में और भी अधिक गहरा अनुसन्धान करके सत्य पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें।

अनुवादक रमेशचन्द्र मालवणिया

क्या देव-जैनीज (Diogenes) जैन थे ?

डा० व्रजगोपाल तिवारी डी० लिट०

प्राचीन वातो की खोज, कभी-कभी नामो की ध्वनि के सादृश्य के आधार पर और कभी-कभी सिद्धान्तो तथा व्यवहारो के सादृश्य के आधार पर की जाती है। उदाहरणार्थ ध्वनि के सादृश्य के आधार पर, कुछ लोगो का मत है कि अरवी शब्द "जिन" (अर्थात् एक प्रकार का प्रेत) और भारतीय शब्द, "जैन" दोनो एक ही प्रकार के है। दिगम्बर सम्प्रदाय के कुछ अतिशयवादी सन्त जो वैराग्य की मस्ती मे स्वच्छन्दता पूर्वक नगे बदन, शरीर पर धूल की परवाह न करते हुए इधर-उधर विचरते थे, उनके विकराल रूपो मे प्रेतो के रूपो से विदेशियो को सादृश्य मिला, इसलिए वे लोग प्रेतो को "जिन" कहने लगे।

अब सिद्धान्तो तथा व्यवहारो के सादृश्य को लीजिए। इस सादृश्य के आधार पर डा० हीरालाल जैन अपनी पुस्तक "**भारतीय सस्कृति मे जैन-धर्म का योगदान**" मे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि ऋग्वेद मे उल्लखित केशी, वृषभ तथा वातरशना मुनि ऋषभदेव से भिन्न नही थे। वैदिक ऋषियो के विपरीत, ये "वातरशना मुनि" समस्त गृह-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि परिग्रह यहाँ तक कि वस्त्र का भी परित्याग कर, भिक्षावृत्ति से रहते थे। शरीर का "स्नानादि सस्कार न कर" मल धारण किए रहते थे। मौनवृत्ति से रहते थे। इस प्रकार वातरशना या गगनपरिधान-वृत्ति, केश-धारण, कपिश वर्ण, मलधारण, मौन, उन्माद-भाव आदि व्यवहार सम्वन्धी लक्षणो तथा देवताओ के आराधन को छोडकर, आत्मध्यान सम्वन्धी विचारो के वल पर, विद्वान लेखक यह सिद्ध करने का यत्न करते है, कि जैन धर्म, अपने प्राचीन रूप मे, ई० पूर्व १५०० मे प्रचलित था।

इन उदाहरणों से विदित हो जाएगा, कि अनेक अन्वेषणों में या तो ध्वनि के सादृश्य या सिद्धान्तों एवं व्यवहारों के सादृश्य का सहारा लेना पर्याप्त माना जाता है। इस लेख में हम इन दोनों में से किसी एक का सहारा लेने के स्थान में दोनों सादृश्यों के सम्मिलित आधारों पर इस बात पर बल देंगे कि सूक्ष्म अध्ययन द्वारा इस विषय के रहस्य का पूर्णतः उद्घाटन करने का यत्न किया जाए कि क्या देव जिनीज़ अथवा दव-जनीज़ (Diogenes) जैन थे?

मैं इनके नाम में ध्वनि के सादृश्य के विषय में अधिक न कहकर केवल इतना ही उल्लेख करूँगा कि किसी इतिहास में चन्द्रगुप्त (मौर्य वंश वाले) के नाम का यूनानी रूपान्तर सेन्ड्रोकोटस (Sandrocotus) बतलाया गया है। किसी विद्वान ने यह भी बतलाया है कि भार्गव" शब्द यूनान के भाग फ्रिजिया (Phrygia) में मिलता है। विद्वानों का कथन है कि अंग्रेजी का (या स्कॉच भाषा का) नाम फार्कर (Farquhar) संस्कृत के शब्द 'वीर-वर' ही का रूपान्तर है। इसी प्रकार सम्भव है कि देव जिनीज नाम के एक भाग में 'जिन या 'जन" की ध्वनि मिलती है।[1]

अब हम सिद्धान्तों और व्यवहारों के सादृश्य को ढूँढेंगे। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि सिकन्दर के भारत पर आक्रमण करने के पूर्व कुछ समय तक भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर ईरानी शासकों (क्षत्रपों) का अधिकार था। सिकन्दर के आक्रमण तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के यूनानियों को भारत की सीमा से खदेड़कर यूनानी सेनापति सल्यूकस (Seleucus) की पुत्री से विवाह कर लेने और अपनी राजधानी पाटलीपुत्र में यूनानी राजदूत मगस्थिनीज (Megasthenes) को रख लेने के पश्चात् भारत और यूनान का सीधा सम्पर्क स्थापित हो गया था। सिकन्दर की विजय के पश्चात् ईरान मध्य एशिया ईराक तथा पश्चिमी एशिया में यूनानी राज्य स्थापित हो गए थे। इन देशों और यूनानियों के सम्मिश्रण से नयी जातियाँ उत्पन्न हो गई थीं। इस प्रकार इस काल में भारत का पश्चिमी एशिया और यूनान से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध होने लगा था। सम्भव है, कि दोनों देशों के दार्शनिक विचारकों का—उदाहरणार्थ भारत के चार्वाकों का यूनान के सिरीनायक (Cerenaics) से सम्पर्क हुआ हो और यह भी सम्भव है कि भारत के जैन विचारकों का प्रभाव पश्चिमी एशिया तथा यूनान के विचारकों पर पड़ा हो। हम पाते हैं कि देव जिनीज नामधारी यूनान के चारों दार्शनिकों के विचार और आचार जैनों के विचारों और आचारों में बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।

चारों देव जनीज या तो सिनिक (Cynic) सम्प्रदाय के हैं या स्टाइक (Stoic) सम्प्रदाय के हैं। इन दोनों सम्प्रदायों का भेद प्राय उसी प्रकार का है जैसे जैनों में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदायों का भेद। डाक्टर दीवान चन्द के अनुसार सिनिक और स्टाइक मतों में प्रमुख भेद ये हैं —

---

[1] डायो (Dio) प्रत्यय के तीन प्रयोगों में से एक केवल उपसर्ग (Prefix) के रूप में, शब्दों के आरम्भ में होता है।

१. सिनिक विचार के अनुसार नैतिक भद्र ही मूल्यवान हैं। अन्य सारी वस्तुएँ मूल्य से शून्य हैं, और इसलिए एक ही स्तर पर हैं। स्टोइक विचारको ने भद्र और अभद्र के सम्बन्ध मे मौलिक नियम को अपनाए रखा, परन्तु अन्य पदार्थों मे भी भेद किया। भले पुरुष के लिए स्वास्थ्य, बीमारी से अच्छा है।

२ सिनिक विचार के अनुसार वृत्ति एक ही है। प्रत्येक मनुष्य नेक है या बुरा है। नेकी और बुराई दोनो एक साथ नही हो सकती।"[1] इन भेदों की विस्तृत व्याख्या न देकर हम यहाँ संक्षेप मे, यह कह सकते हैं, कि "सिनिक" अतिशयवादी दल के थे और स्टोइक संतुलित थे। पर ये दोनो मिलकर निचले स्तर पर रहने वाले और क्षणिक तृप्ति ढूढने वाले सुखवादियो अर्थात् सिरीनायको के कट्टर विरोधी थे। और दोनो ज्ञान-ध्यान के ऊँचे स्तर की प्राप्ति मे सलग्न रहते थे।

पहले हम आदि के दो देव-जिनी-ज का और फिर अन्तिम देव-जिनी-ज का परिचय देकर, अन्त मे सबसे प्रसिद्ध देव-जिनी-ज का वर्णन करेंगे।

१. देव-जिनी-ज लीर्शश (Diogenes Laertius) का समय ईसा के पूर्व की पहली शताब्दी मे माना जाता है। यह ग्रन्थकार और दर्शन के इतिहासकार थे। इन्होंने फैगागोरस (Pythagoros) के सिद्धान्तो, जैसे सर्वात्मवाद एवं पुनर्जन्म आदि का जीर्णोद्धार करके, नैतिक और धार्मिक क्षेत्र मे, स्टोइक विचार-धारा का पोषण किया।

२ बेबीलन (Babylon) या बाबुल के देव-जैनी-ज। दर्शन के प्रसिद्ध इतिहासकार, विन्डलबैन्ड (Windelband) का कथन है, कि जब स्टोइक सम्प्रदाय के विशिष्ट व्यक्तित्व पर विचार किया जाए, तब हम पाते हैं, कि उसके अधिकाश अनुयायी पश्चिमी एशिया की मिश्रित जातियों के थे।[2] यह विचारक भी प्राचीन ईराक के थे। इन्हें मुनि (Sage or savant) कहा गया है। इनका समय भी ईसा के पूर्व की प्रथम शताब्दी है। इनके मनन के विषय इतिहास, साहित्य और दर्शन थे। ये सुखवाद के विरोधी थे, और इनके विचार इस समस्या पर केन्द्रित थे, कि आदर्श व्यक्ति या मुनि (Sage) के क्या लक्षण होने चाहिए। इन विचारको ने "व्यक्ति कैसे पूर्ण बने ?"—इस समस्या पर अधिक बल दिया और "समाज कैसे सुखी हो ?"—इस प्रश्न पर कम ध्यान दिया—ऐसा इनकी आलोचना मे कहा जाता है।

---

[1] डा० दीवान चंद—पश्चिमी दर्शन (प्रकाशन ब्यूरो) लखनऊ पृ० ६२

[2] डा० विलियम विन्डिलबैन्ड का "दर्शन का इतिहास",
टफट्स (Tufts) द्वारा अंग्रेजी अनुवाद
मैकमिलन द्वितीय संस्करण पृ० १६२

आदि के दो देव-जनी-ज क बाद हम अव अन्तिम दव-जनी ज का उल्लेख करते हैं। यह ईसा के बाद की पाचवी शताब्दी मे हुए। यह एपोलानिया के निवासी बतलाए जाते हैं। इन्होने द्रव्य के एकत्व पर बल देते हुए बतलाया, कि विश्व की समस्त वस्तुएँ पारस्परिक ढग से सम्बद्ध हैं। इनका मत था कि मनुष्य तथा विश्वभर म एक ही प्राण है। मनुष्य को उतना ही ज्ञान होता है, जितना भाग विश्व-व्यापी प्रकाश का वह प्राप्त कर पाता है। इन्होने समकालीन यूनानी और रूमी सामाजिक एव नतिक जीवन मे खोखलपन की कटु आलोचना की। इन्हें मानव शरीर रचना-शास्त्र (Physiology) और सभवत आयुर्वेद और योग का अच्छा ज्ञान था। यह रमते जोगी (Wandering Teacher) थे। इनका मत अनेकान्तवाद एव समन्वयवाद (Eclecticism) बतलाया जाता है।

अब हम सबसे प्रसिद्ध एव विवादग्रस्त दव जिनी-ज का सक्षिप्त वणन करत है। इनके जीवन काल ही म लोगो ने इनके पक्ष या विपक्ष म अफमान गढने शुरू कर दिए थे और बाद म तो इनके बाबत दत कथाओ की भरमार हो गई। ये यूनान म सुकरात के बहुत बाद म हुए। कुछ लाग तो इन्ह सिकन्दर का समकालीन बतलाते हैं।

इनके वश के विषय म एक कथा म यह बतलाया जाता है, कि इनके पिता वणिक या शराफ थे जिन्हें सोने और चाँदी के सिक्को को बिगाडने के कारण कारावास का दण्ड भोगना पडा। इस पर लडक न यह कहा कि पिता ने सोने की मुहरें ही बिगाडी हैं। मैं मानव जीवन के सब मूल्यो को खोखला करके बिगाड दूगा। उसने यह कर भी दिखाया। कोई कहते हैं कि वे नाद (Tub) म रहते थे। गिल्बट मरे ने यह पता लगाया है कि उनका निवास स्थान नाद नही वरन एक बडा मटका था। ऐसे बड घड म मतकों की अस्थिया गाडी जाती थी। ये अपन पास कोई बरतन नही रखत थ। हाथो को जोडकर ही पानी पी लेते थे। इनके कुत्ते के समान जीवन व्यतीत करन क कारण लोग इनके सम्प्रदाय को कुत्तावाला सिनिक' सम्प्रदाय कहने लगे। इनके आचार और विचार म धन विलासिता, सुपियाना पन प्रसिद्धि सम्मान इन्द्रियो के समस्त सुख कला विज्ञान कौटुम्बिक और सामाजिक एव राष्ट्रीय सुख तथा उत्सव सबके सब उतने ही खोखल निरथक और निन्दनीय हैं जितनी कि कामेच्छा और निचली प्रकार की लालसा। इनके अनुसार भलाई, इच्छाओ स मुक्ति प्राप्त करन ही म है। बुद्धिमान वह है जो घटनाओ के चक्कर से स्वतन्त्र हो जाए। यह प्रचलित सभ्यता रीति रिवाज पूजा अचना—सब के विरुद्ध थ। साओ मत रासा तथा टाल्सटाय के समान य इस बात पर बल देते थे कि मानवजीवन प्रकृति के अनुकूल हो और केवल अत्यन्त अनिवाय आवश्यकताओं ही की पूर्ति की जाए। युवावस्था म इनक गुरु ने इन्हें पीट कर भगा देना चाहा। पर यह निश्चय कर चुके थ कि मैं एटिसथीनिस को ही गुरु बनाऊँगा। अत यह टस से मस न हुए। तब इन्हे दीक्षा दी गई। बर्ट्रेंडरसल का कथन है कि एक बार सिकन्दर महान् इनके पास आया और पूछने लगा कि क्या आप मुझ से किसी प्रकार की कृपा चाहते हैं तो इस साधु ने उत्तर दिया 'कृपा करके मेरी ओर आने वाल प्रकाश के बाहर चले जाइए'। सम्राटो और सेनापतियो, सेठो और साहूकारो का इनक दशन म कोई महत्व नही था। पर यह मनुष्य मात्र से ही नही वरन पशुओ से भी भाई जसा स्नेह रखते थे।

क्या देव-जनीज (Diogenes) जैन थे ?

पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकारों ने यह स्पष्ट कर दिया है, कि यह विज्ञान-विरोधी नहीं थे। पर वे विज्ञान को आत्म-संयम एवं इन्द्रिय-दमन ही का तथा मनुष्य की अत्यन्त अनिवार्य इच्छाओं की पूर्ति ही का साधन बनाना चाहते थे। भौतिक विज्ञान के अन्य मूल्यों के प्रति वे उदासीन थे। यह भी कहा गया है, कि वे बुद्धि के विकास के विरोधी नहीं थे। बुद्धि से इस संसार के सुखों की सार-हीनता समझाई जा सकती है। ऐसा यह मानते थे। एक प्रसिद्ध पुरुष ने इन्हें अपने लड़कों के शिक्षण का भार सौंपा, और अपने सिद्धांतों के अनुकूल शिक्षा देने में इन्होंने पूर्ण सफलता पाई।

इन देव-जिनो-ज के सिद्धान्तों को गरीबों ने तो अपनाया ही अमीरों के लड़कों में भी वस्त्र, भोजन आदि का निरादर करने की, इनके प्रभाव से एक प्रकार का फैशन-सा ही पड़ गया। इनकी ख्याति यूनान के बाहर, मिस्र देश के इस्कंदरिया आदि नगरों तक पहुँच गई।

पर पाश्चात्य दर्शन के इतिहासकार इनके व्यक्तित्व एवं कर्तव्य से प्रभावित नहीं पाए जाते हैं। विन्डैलबैन्ड समझते हैं, कि इनकी ख्याति पाश्चात्य, यूनान सभ्यता का मखौल उड़ाने—भोजन, वस्त्र, घर आदि का निरादर करने से हुई। बर्ट्रेंड रसेल कहते हैं कि भारतीय भिखारी (Inidan Fakir) के समान वे भिक्षावृति से गुजारा करते थे और रसेल पूछते हैं, कि इनके उपदेश किन्हें अच्छे लगे होंगे? क्या अमीरों को जो गरीबों के दुखों को काल्पनिक मानकर प्रसन्न हुए होंगे? या गरीबों को जो सफल रोजगारियों को तुच्छ बतलाए जाने पर प्रसन्न हुए होंगे या खुशामद या भिक्षा से धन प्राप्त करने वालों को! जो दान लेने के बाद दानी को तुच्छ बतलाए जाने पर, प्रसन्न हुए होंगे? या उधार लेने वालों को! जो यह देखकर प्रसन्न हुए होंगे, कि रुपया लौटाना बहुत आवश्यक नहीं है। इस प्रकार के उपदेशों और जैन धर्म के नैतिक सिद्धान्तों की इससे भी कड़ी और तीव्र आलोचना निट्शे (Nietzsche) ने की है। उसने इस प्रकारके धर्म को गुलामों का धर्म निरूपित किया है। सच तो यह है, कि ऐसे मुनियों का व्यक्तित्व, जो मल धारणा करे, या वात के वन में भस्मीभूत हो जावे, पाश्चात्य दार्शनिकों के लिए अब तक एक हेपली है।
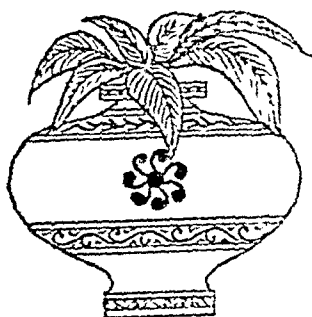
रामायण सम्बन्धी एक अज्ञात जैन रचना सीता-चरित

श्री भंवरलाल नाहटा

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र भारत के मान्य महापुरुषों में से हैं जिनके सम्बन्ध में बहुत बड़ा साहित्य भारत व भारत के बाहर विविध भाषाओं में रचा गया है। इस सम्बन्ध में डा० बुल्के का शोध प्रबन्ध बहुत ही महत्व की जानकारी देता है जिसका परिवर्द्धित नया संस्करण हाल ही में भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग से प्रकाशित हुआ है।

जैन धर्म में राम को बलदेव व लक्ष्मण को वासुदेव व रावण को प्रति वासुदेव के रूप में त्रिषष्टि शलाका महापुरुषों में सम्मिलित किया गया है। प्राचीन जैनागमों में राम का नाम पउम प्राप्त होता है। इसलिए उनकी जीवनी से सम्बन्धित ग्रन्थों का नाम पउम चरिय पद्म-चरित्र तथा पद्म पुराण रखा गया है। परवर्ती ग्रन्थों में रामायण रामचरित सीताचरित नाम भी प्राप्त होते हैं। सबसे प्राचीन विमल सूरि का पउम चरिय प्राकृत भाषा में है जो पहली शताब्दी की रचना मानी जाती है। उसी के संस्कृत अनुवाद रूप में दिगम्बराचार्य रविषेण ने पद्मचरित की रचना की। चउपन्न महापुरुष चरिय त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित और महापुराण आदि में भी राम कथा पायी जाती है। रामकथा के दो जैन रूपान्तरों के सबंध में स्वर्गीय नाथूराम जी प्रेमी ने अपने पद्मचरित शीर्षक लेख में अच्छा प्रकाश डाला है। अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू का पउम-चरिय भी प्रकाशित हो चुका है जो बहुत प्रसिद्ध है।

प्राकृत भाषा में एक और महत्त्वपूर्ण रामचरित अभी तक अप्रकाशित है जिसका नाम सीता चरित रखा गया है। यह रचना काफी प्राचीन प्रतीत होती है। यद्यपि इसमें रचयिता व रचनाकाल

सबधी उल्लेख नहीं है, पर यह रचना आठवी शताब्दी के आस-पास की मालूम देती है। इसकी एक हस्त लिखित प्रति चौदह वी शती मे लिखित हमारे अवलोकन मे आयी है, पर अभी जिस प्रति के आधार से यहाँ परिचय कराया जा रहा है—स० १६७४ मे लिखी हुई कलकत्ता के स्वर्गीय पूर्णचन्द्र जी नाहर के सग्रह मे, यह कृति है। २५०८ गाथाओ वा ३२०२ ग्रन्थाग्रथ (श्लोक) परिमित यह रचना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सतरहवी शती के महाकवि महोपाध्याय समयसुन्दर जी ने सीताराम चौ० नामक महत्त्वपूर्ण राजस्थानी महाकाव्य की रचना सम्भवत इसी सीता-चरित के आधार से की है। वे लिखते हैं—

जिन-शासन शिवशासनइ सीताराम चरित सुणीजइ रे।
भिन्न भिन्न शासन भणी का का वात भिन्न कही जइरे॥
जिन शासनिपणि जूजुजा आचारिज ना अभिप्रायो रे।
सीता कही रावण-सुता ते पदमचरित कहिवायो रे॥
पणि वीतराग देवइ कह्यो ते साचो करि सद्दहिज्यो रे।
"सीताचरित" थकी मे कह्यो माहरो छेडोमत ग्रहिज्यो रे॥

सीताचरित की रचना जैसे कि प्रारभ व अत मे ग्रथकार ने लिखा है, कि मुनि को मिथ्या अभ्याख्यान देने के कारण सीता को कष्ट उठाना पडा। इसी के उदाहरण रूप मे सीता की कथा विस्तार से कही गयी है, और अन्त मे ऐसे मिथ्याकलक मे सीता-चरित मे बचने की प्रेरणा की गई है। ग्रन्थ का आदि अन्त इस प्रकार है—

आदि

कमल नह कति जलेण वखालिय देह सुणिम्मला हुंति।
नर सुरावि सया पणया जेसि ते जिणवरे नमह॥ १॥

वर-वयण-वारिधारा नियर जस्साावियति अवियण्हा।
वप्पीहयव्व भव्वा नमामि त वीर-जिण—मेहं॥ २॥
धम्माधम्मस्स फलं जहसिट्ठ गोयमेण मुणिवयणा।

सेणिय रायस्स पुरो सुणेह तं किपि साहेमि॥ ३॥
वो चेव भासियव्वं हियच्छणा दुक्ख-कारणं वयण।
अलिय अब्भक्खाण पेसुन्न मम्म बोहाइं॥ ४॥

सतो विहुवत्तव्वो परस्स दोसो न होइ विबुहाणं।
किं पुण अविज्जमाणो पयडो छन्नो य लोयस्स॥ ५॥

वियरइ अब्भक्खाण इयरस्सवि जो जणस्स दुब्बुद्धि ।
से गरहिज्जइ लोए सहेइ दुक्खाइ तिक्खाइ ॥६॥

जो पुण जईण समियाण सुद्ध भावाण बमयारीण ।
अब्भक्खाण देई मच्छर-दोसेण दुट्ठ मई ॥ ७ ॥

निव्वत्तिऊण तिव्व पाव्व पावेइ सो दुहमणत ।
सीयाइव्व पुव्व भवे मुणि अब्भक्खाण दाणाओ ॥८॥

अह भणइ सेणिय निवो भयव साहेह सुग्गह काउ ।
कह अब्भक्खाणाओ दुक्ख सीयाए अणुभूय ॥६॥

तो भणइ इदभूई नवघण-गभीर-महुर घोसेण ।
सखेव वित्थरेण साहेमि इम निसामेह ॥१०॥

कथा प्रारभ

आसि इह भरहवासे मिणाल कुडमि पवर-नयरमि ।
सिरिभूई नामेण पुरोहिओ परहिएक्करई ॥ ११ ॥

तस्स य सरस्सई ए सरिछ बुद्धी सरस्सई भज्जा ।
तीएय कुच्छि भूया वेगवई नाम क्सि पूया ॥१२॥

तव सच्छि भूसियगो, क्याइ तत्यागओ विगय सगो ।
सतो दतो समियो सुदसणो मुणिवरो एगो ॥१३॥

नयरज्जाणे पडिमाइ सठिओ सो विसिटठ गुणकलिओ ।
दिट्ठतो विम्हाओ नायर-लोयाण मुणिवसहो ॥१४॥

भत्ति-बहुमाण पुव्व लोत पूएइ नयमाईहि ।
पइदियह थिर वरइ ममलए तेवए विहिणा ॥१५॥

अत

तत्तो चुओ नरभवमि समागओ सो तिरये सरस्स बगुदत्त जिणागम धाने ।
पाविसु चाव गणहारि पय जिगुत्त पाविसई सयल कम्म खएण मोक्ख । २५०५ ।

अब्भक्खाण विवाग सूयगमिणं संवेग संसाहगं।
सव्वेसि पि जणाण विम्हय-करं सीलप्पसंसा-परं ॥
किंचीगहव सक्करेहिं सहियं सक्काहिवेणं तहा।
सीया देवि महासईए चरियं सखेवओ साहियं। २५०६ ॥

नाऊणं परिभाविऊण हियए सम्मं इम सव्वहा।
अब्भक्खाणमसंत दुक्ख जणणं वज्जेह भव्वा जणा ॥
सीलं सव्व गुणाणं भूसण-करं निव्वाण संपायग।
खडिज्जत सकलंक विरत रक्खेह निच्चं तहा ॥ २५०७ ॥

एयं सीय-चरियं वज्जरियं से णियस्स सरवइणो।
जह गोयमेण तह सह सूरीहिं निवेइय किंचि ॥ २५०८ ॥

इति श्री शील कथाधिकारे महासती श्री सीताचरित्र धर्मकथा पवित्र सपूर्णमिति भद्र भूयात्। शुभ भवतु ॥ छ ॥ ग्रंथाग्रंथ ३२०२ । कल्याणमस्तु ।

संवत् १६७४ वर्षे फाल्गुन मासे कृष्णपक्षे ७ दिने सद्गुरु ॥ पण्डित जीवविजय गणि तत् शिष्य गोपालेन लिपिकृत ।

प्रति-परिचय

पत्र ८२ सुवाच्य सचित्र व दोनों तरफ लाल-पीले नीले रंग के फूल बने हुए हैं। प्रतिपृष्ठ में १३ पंक्तियां हैं। प्रतिपंक्ति ५० अक्षर हैं। पत्रों में हासिए पर व पंक्तियों के ऊपर यथास्थान पर्याय, अर्थ व पाठान्तर भी नोट किए हुए हैं प्रति शुद्ध मालूम देती है। अंतिम पत्र एक तरफ पूरा व दूसरी ओर केवल २ पंक्तियां हैं, बाकी रिक्त फूल आदि चित्रित है। यह प्रति स्वर्गीय श्री पूरणचंद्र जी नाहर संगृहीत गुलाबकुमारी लाइब्रेरी की प्रति बं० नं० २६ प्रति ७६४ है। किनारे में कुछ दीमकादि जीवों द्वारा भक्षित है, पर प्रति का पाठ सुरक्षित है। उक्त लाइब्रेरी में १० वीं शती की लिखित एक अन्य प्रति भी है। प्राकृत ग्रन्थ परिवार आदि के चित्र। प्रस्तुत ग्रन्थ सुसम्पादित रूप में शीघ्र ही प्रकाशन योग्य है। इसके आधार से जो समयसुन्दरजी ने सीताराम चौपाई की रचना की है, उसे हमने सम्पादित करके मुद्रित करवा भी है और शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है। इसमें हमने राम और सीता के चरित्र का संक्षिप्त सार भी दे दिया है, जिससे सुगमतापूर्वक सीता चरित्र की कथा को पाठक पढ़कर लाभ उठा सकते हैं।

---

* नाहर जी के संग्रहस्थ दूसरी प्रति में ग्रंथाग्रंथ ३३४५ है।

श्री जिनरत्नकाश के पृ० ४४२ म सीता चरित नामक कई रचनाओ का विवरण दिया है, जिनम स कुछ सस्कृत म और कुछ प्राकृत म । इस लेख म जिस सीता चरित का विवरण दिया जा रहा है, उसका प्राचीन उल्लेख बहट्टिपनिका नामक सूची म प्राप्त हाने का कहा गया है और उसका ग्रन्थ परिमाण ३१०० व ३४०० श्लोका का वतलाया है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति हंसविजय जी भडार बडौदा में भी है । खाज करन पर अन्य भडारो में भी इस ग्रन्थ की प्रतिया अवश्य मिलेंगी । पउमचरिय के साथ इसका तुलनात्मक अध्ययन हाना आवश्यक है । सीता चरित सबधी अन्य जिन रचनाओ का उल्लख जिन रत्नकोश में है उनमें स एक अनात कवि रचित सीता चरित की कई प्रतियो का उल्लख किया गया है । उनमें से एक ता प्रस्तुत सीता चरित की ही है । अन्य प्रतिया का मिलाने स मालूम हागा, कि वे भी इसी ग्रन्थ की हैं या एसी ही काई अन्य रचना भी है । पाटण भडार में सीताचरित नामक एक सस्कृत काव्य भी है इन सब ग्रन्था का आधार प्रस्तुत सीता चरित्र है या पदमचरित, यह भी अन्वेषणीय है । जन कवियो व विद्वाना ने शील धम या सती के आदर्श रूप में सीता का विशेष महत्व दिया है, पर प्रस्तुत प्राकृत सीताचरित में मुनि को मिथ्याकलक देने के दुष्परिणाम को व्यक्त करन के लिए दृष्टान्तरूप में सीता की कथा कही है जो विशेषरूप म उल्लखनीय है । वास्तव म किसी व्यक्ति को मिथ्या कलक देना उसकी चुगली करना महापाप है । इसीलिए अठारह पापस्थानको में अभ्याख्यान पशुन्य एव परपरिवाद का अलग अलग पाप स्थानक वतला कर उनसे बचने का निर्देश किया गया है ।
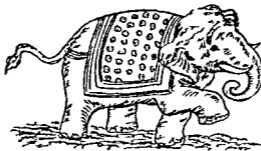
प्राकृत-भाषा का एक मात्र आलंकारिक ग्रन्थ अलंकार-दर्पण

●

श्री अगरचन्द जी नाहटा

प्राकृत-भापा भारत की प्राचीनतम भापा है। यद्यपि उपलब्ध साहित्य मे सवसे प्राचीन ग्रन्थ "वेद" माने जाते है और उनकी भापा "सस्कृत" है। पर जव हम सस्कृत और प्राकृत इन दोनो शव्दो पर विचार करते हैं, तो यह मानने को वाध्य होना पडता है कि प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक जन-साधारण की भापा और संस्कृत अर्थात् सस्कार की हुई शिष्टजनो की भापा। सस्कार तो किसी विद्यमान वस्तु का ही किया जाता है। इसलिए सवसे प्राचीन भापा का नाम प्राकृत ही हो सकता है। यद्यपि इस भापा मे रचा या लिखा हुआ साहित्य उतना पुराना नही प्राप्त होता, पर उसकी मौलिक परम्परा अवश्य ही प्राचीन रही है।

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि भापा पर वाहर से आने वाले, दूसरे प्रान्तो के तथा आस-पास के लोगो की वोली का प्रभाव पड़ता रहता है। इसलिए उसमे परिवर्तन होता रहता है। प्राकृत मे भी इसी तरह परिवर्तन होता रहा है और प्रान्तीय भेद भी उसके अनेक रहे हैं, यह प्राकृत के प्राप्त शिला-लेखो, सस्कृत नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत के उद्धरणो और प्राचीन ग्रन्थो से भली भांति स्पष्ट है। वौद्ध ग्रन्थो की पालि-भापा, अशोक के शिला-लेखो की भापा और जैन ग्रन्थो की भापा "प्राकृत" होने पर भी उनमे काफी अन्तर है। इसी तरह जैन-ग्रन्थो मे भी प्राकृत भापा के कई रूप मिलते हैं—अर्द्ध-मागधी, महाराष्ट्री और शौर-सैनी ये प्राकृत भापा के तीन भेद तो वहुत प्रसिद्ध है।

प्राकृत साहित्य भी वहुत विशाल है। ढाई हजार-वर्पो से उसमे निरन्तर साहित्य-रचना होती रही है। और प्राय जीवनोपयोगी सभी विपयो के प्राकृत-ग्रन्थ प्राप्त हें। प्राकृत-साहित्य के निर्माण मे

सबसे अधिक योग जनो का है। अब तक सस्कृत और पालि साहित्य के इतिहास की भाँति प्राकृत के साहित्य का कोई अच्छा इतिहास हिन्दी म प्रकाशित नही हुआ था। इसलिए प्राकृत-साहित्य की विशालता विविधता और महत्ता के सम्बन्ध म पूरी जानकारी नही मिल पाई थी। हर्ष का विषय है कि उस कमी की पूर्ति डा० जगदीश चन्द्र जन जसे अधिकारी विद्वान द्वारा हाल ही म हो गई है। उनका प्राकृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी स प्रकाशित हो चुका है। ६०० पृष्ठो के इस बहद् ग्रन्थ म डा० जन न जन एव जनतर प्राकृत साहित्य का बड ही अच्छे ढग से विवरण उपस्थित किया है। फिर भी अभी और छोटी बडी शताधिक ऐसी प्राकृत रचनाए मरी जानकारी म हैं, जिनका उल्लेख इस ग्रन्थ म नही हो सका और उनम स कुछ तो प्रकाशित भी हो चुकी हैं। ऐसी रचनाओं का विवरण समय-समय पर कई लेखो द्वारा प्रकाशित करन का विचार है। प्रस्तुत लेख म प्राकृत भाषा के एक मात्र अलकार ग्रन्थ अलकार-दपण' का सक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

डा० जन न अपने प्राकृत साहित्य के इतिहास क १० वें अध्याय म प्राकृत व्याकरण छन्द और कोश ग्रन्थो का विवरण देते हुए अलकार शास्त्र के ग्रन्था म प्राकृत शीर्षक के अन्तगत सस्कृत के प्रसिद्ध अलकार शास्त्रीय ग्रन्था का विवरण दिया है। पर प्राकृत भाषा के किसी भी स्वतन्त्र अलकार सम्बन्धी ग्रन्थ का उल्लेख उन्होने नही किया। जब कि सन् १९२३ म प्रकाशित 'जसलमेर जन भडा गारीय ग्रन्थानां सूचीपत्रम्" जो कि सन्ट्रल लायब्रेरी बडौदा स गायकवाड ओरियन्टल सिरीज द्वारा प्रकाशित हुआ था। पृष्ठ २४ म अलकार-दपण नामक प्राकृत ग्रन्थ का विवरण अब से ४० वष पूव प्रकाशित हो चुका है। जसलमर के बृहद् ज्ञान भण्डार का जिस ताड-पत्रीय प्रति म ग्रन्थ लिखा हुआ है उसम काव्यादश और उद्भट्टालकार लघु-वृति भी लिखी हुई है और उसमे स काव्यादश के अन्त म इस प्रति का लखन काल सवत् ११६१ भाद्र पद दिया हुआ है। इस प्रति म अलकार विषयक तीन रचनाए हैं उनम सबसे पहली रचना अलकार दपण तेरह पत्रो म लिखी हुई है और इसकी गाथाओ की सख्या १३४ है।

सन् १९५० म जब सौजन्य मूर्ति मुनि श्रीपुण्यविजयजी न जसलमेर मे चातुमास किया और वहाँ के बड भण्डार को दिन रात के कठिन परिश्रम से सुव्यवस्थित कर रहे थे तो मैं भी अपने विद्वान् मित्र प्राफेसर नरोत्तमदास स्वामी के साथ वहाँ पहुँचा। और तभी स्वामी जी ने उक्त "अलकार-दपण' की ताड-पत्रीय प्रति स अपन हाथ से नकल की थी। इस छोटे से ग्रन्थ का सस्कृत-छाया हिन्दी अनुवाद और विवचन के साथ प्रकाशित करन का विचार था। पर कहीं-कहीं पाठ अस्पष्ट और अशुद्ध-सा लगा। इसलिए प्राचीन लिपि को पढन म कहीं गलती न हो गई हो यह सोचकर रचना म रचयिता के नाम का उल्लेख नहीं है। पर प्रारम्भ म श्रुत देवता का नमस्कार किया गया है। अत रचयिता जन है एव सवत् ११६१ की लिखित प्रति होन से इसस पहल की रचना है। मूल प्रति से मिलान करने का काय मुनि पुण्य विजयजी को सौंपा गया और उन्होंने अन्य कार्यों म बहुत व्यस्त होत हुए भी अपनी सहज उदारता और सौजन्यता स उक्त काय का सम्पन्न कर दिया। फिर विदित हुआ कि डा० वलण

कर और मुनि जिनविजय जी उस ग्रन्थ को प्रकाशित कर रहे है। इसलिए संस्कृत छाया लिखने का काम जो स्वामी जी ने प्रारम्भ किया था, वह रुक गया और अब तक पाण्डुलिपियाँ ही पडी हैं।

डा० जैन से पूर्व प्राकृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास प्रोफेसर श्री हीरालाल कापड़िया ने गुजराती मे लिखा था और वह सन् १९५० मे प्रकाशित भी हो गया था। मेरे लेख का और कापड़िया के इस ग्रन्थ का उपयोग डा० जैन ने भी अपने ग्रन्थ मे किया है और सहायक ग्रन्थो मे इस ग्रन्थ का नाम दिया है। पर उक्त कापडिया के ग्रन्थ मे उल्लखित अलकार-शास्त्र के इस एक मात्र प्राकृत ग्रन्थ और इसी तरह काम शास्त्र के एक मात्र-प्राकृत ग्रन्थ "मदन-मुकुट" का भी उल्लेख डा० जैन ने अपने ग्रन्थ मे क्यो नही किया? यह विचारणीय है! "मदन-मुकुट" का सर्व प्रथम परिचय मैंने ही "भारतीय विद्या" मे प्रकाशित किया था। खैर, अब हम अलकार-दर्पण के आदि अन्त की कुछ गाथाएँ उद्धृत कर रहे हैं।

प्राकृत ग्रन्थो मे अलकारो का सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण उल्लेख अनुयोगद्वार-सूत्र मे पाया जाता है। नव रसो का सबसे पहले विवरण भी इसी प्राकृत ग्रन्थ मे मिलता है। अनुयोगद्वार सूत्र प्राकृत भाषा का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसमे अनेक उपयोगी विषयो का निरूपण हुआ है। विद्वानो का ध्यान इस ग्रंथ के महत्त्व की ओर शीघ्र ही जाना चाहिए। जैन आगमो मे जो प्राचीन भारतीय संस्कृति का सर्वांगीण विवरण मिलता है, उसकी ओर अभी तक विद्वानो का ध्यान नही गया। अत जिस प्रकार बौद्धो के पालि साहित्य का मूल्याकन देश-विदेश के विद्वानो ने विविध दृष्टियो से किया है, उसी तरह जैन आगम आदि प्राचीन ग्रथो का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

प्राकृत भाषा से ही अपभ्रंश का उद्गम हुआ और अपभ्रंश से ही उत्तर भारत की समस्त प्रान्तीय भाषाओ का विकास हुआ। हजारो प्राकृत एव देशी शब्द हमारे बोलचाल एवं साहित्य में आज भी सामान्य परिवर्तन के साथ प्रयुक्त है। अत प्राकृत-भाषा और साहित्य का अध्ययन गम्भीरता से किया जाना अपेक्षित है। अब अलकार दर्पण के कुछ पद्यो को पढ़िए—

आदि

सुन्दर पअ विण्णास विमललकार—रेहिअ-सरीर।
सुइ देविअं च कव्वं च, पण विअ पवर वण्णड्ढं ॥१॥

सव्वाइ कव्वाइं सव्वाइं जेण होंति भव्वाइ।
तमलंकारं भणिमो ऽ लकार कु-कवि कव्वाणं ॥ २ ॥

अच्चंत सुन्दर पि हु निरलंकार-जणम्मि कीरंत।
कामिणि-मुहं व कस्वं होइ पसण्ण पि विच्छाअं ॥ ३ ॥

ता जाणिऊण णिउण, लक्खिज्जह बहुविहे अलंकारे।
जेहिं अलकरि आइ, बहु मण्णिज्जंति कव्वाइं ॥ ४ ॥

उवमा रुवउ दीवअ रोहाणुप्पास अइस अ विसस।
अक्खेव जाइ वइ रेअ, रसिअ पज्जाअ भणि आओ ॥५॥

सस्कृत छाया

सुन्दर-पद विन्यास विमलालङ्कार शोभित शरीरम्।
श्रुति देवता च काव्य च प्रणम्य प्रवर-वर्णाढ्यम् ॥१॥

सर्वाणि कान्यानि श्रव्याणि चव भवन्ति भव्यानि।
तमलङ्कार भणामोऽलङ्कार कु-कवि काव्यानाम् ॥२॥

अत्यन्त—सुन्दर मपि खलु निरलङ्कार-जने।
कामिनी-मुखमिव काव्य भवति प्रसन्नमपिविच्छायम् ॥३॥

तेज ज्ञात्वा निपुण बहु विधान लङ्कारणि।
यरलङ्कतानि बहु मन्यन्ते कान्यानि ॥४॥

उपमा रूपक दीपक रोधानुप्रास अतिशय विशेष।
आक्षप जाति व्यतिरेक रसिक पर्याय भणिता ॥ ५ ॥

उपमा लक्षण की समाप्ति पर

बहुहा वि अपि उवमा जहा—
सूरम्मि दाव जल सव्व बोलिउ णहअर स व
पच्छिम सिणि अरेण व तमेण वसिणी क्य सउस (ल) ४०

उवमा लक्खण समत्त।

मध्य

वण्णाणुप्पासो जहा—
बाअन्ति सजल-जल हर जल-सय स वलणसो अलप्फसा।
फुल्ल घुअ घुअ कुसुम छलत मधु दुरा पवणा ॥५३॥

जत्य णिमित्ता हिन्तो सोआ एवक्न्त-गोअर वअण।
विरइज्जइ सो तस्स अ अइसउ णामो अलकारो ॥५४॥

अतिसालंकरो जहा—

जइ गध मिलिअ भरम ण होइ अ वग्रंस चंपन पसूअं (अ)
ता केण विभाविज्जइ कउल मिलिअं पह् तिस्सो ॥५५॥

विगए विपक्ख देसे, गुण तरेण तु सथुई जत्थ ।
कीरइ विससे पअउ णकज्जेण सो विसेसो त्ति ॥५६॥

विसेसालंकारो जहा—

णवि तह् णिसासु सोहइ पिआण तवोलरा अपव्वइओ ।
जह् पिअ अम पीओ पडुरो विअहरो पहा अम्मि ॥५७॥

जत्थाणिसे हीव्व ससी हि अ कीरइ विसेस-तण्हाए ।
सो अक्खेवो दुविहो होन्ता एक्कंत-भेएण ॥५८॥

अत

अज त्रिऊण अ ससाण हो ति समग्ग आ घिणा कव्वे ।
तेण वि अन्नो भावो पएसो चेअ दट्ठवो ॥१३४॥
इति अलकार-दर्पण समत्त ॥शुभ भवतु ॥

विदेशी सस्कृतियो मे अहिंसा

●

डा० कामता प्रसाद जन

-+-

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरजिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर, निगन्था वज्जयन्ति ण ॥"

दशवकालिक ६ १०

तीथङ्कर महावीर वद्ध मान न घोर हिंसा के वातावरण मे चिरन्तन सत्य का उद्घोष किया था कि सब ही जीवित प्राणी जीवित रहन की इच्छा करत हैं—कोई मरना नही चाहता । इसलिए निग्रन्थ—जन मनीषियो न प्राणिवध का वर्जित घोषित किया है । निस्सन्देह निग्रन्थ—श्रमणो म सव प्रथम तीथकर ऋषभ अथवा वृषभ न ही कनाग दान की शिखर स अहिंसा तत्व का निरूपण और प्रतिपादन उस समय किया था जब मानव ने कमठ और सभ्य जीवन का पहला पाठ उनस पढा था ।[1]

प्राग ऐतिहासिक काल मे अहिंसा

मानव स्वभाव शान्ति इच्छुक प्राणी है—उसके शरीर का गठन निरामिष भोजी प्राणियो के समान है—मानव के दात आंत आदि चीत शेर जस न होकर बन्दर जसे हैं ।[2] इसीलिए मानव जन्मत

---

[1] डा० कामता प्रसाद जन कृत 'आदि तीथकर ऋषभदेव" (अलीगज) देखो

[2] "वायस आव अहिंसा का शाकाहार—विशेषांक (१६५७) देखो

एक शान्ति-प्रिय निरामिष-भोजी प्राणी है। अहिंसा मानव जीवन का बुनियादी तत्व है—शाश्वत तथ्य है—एक Reality है। अत मानव स्वभावत अहिंसोपजीवी है और सदा से है।

जैन मान्यता के अनुसार इस भरत क्षेत्र मे खड-प्रलय के पश्चात् जब अवसर्पिणी काल प्रारंभ-हुआ, तो पहले के तीन कालो मे यहाँ भोगभूमि की प्रवृति रही—प्राणी मात्र प्राकृत जीवन बिताता था, शेर, चीते सदृश हिंसक पशु भी उस समय क्रूर नही थे। वे मानवो के साथ प्रेम से रहते और घास खाते थे। कल्प-वृक्षो की सम्यता थी, पाषाण का प्रयोग मानव जीवन मे मुख्यता रखता था। मानव-युगल- पुरुष स्त्री साथ साथ जन्मते और मरते थे—वृक्षो की छाया मे फलाहार करके वे आनन्द मे भोग भोगते थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन अहिंसामय था।

अलबत्ता जब कल्पवृक्षो का अभाव हुआ और मानवो की सख्या बढने मे विषमता पनपी तो मानवो मे असतोष बढा। उस समय श्रेष्ठ मानवो ने मानव-समाज को कुलो मे बाटा और प्रत्येक कुल को बराबर-बराबर वृक्षो को दिया और भूमि का वितरण किया। समाज मे समता और सतोष रखने के लिए उन्होंने कुछ समाज नियम बनाए, जिनका आधार अहिंसा था। इसी कारण वे नर पुंगव "मनु" अथवा "कुलकर" कहलाए। किन्तु कर्मभूमि का प्रारभ अतिम मनु नाभिराय के पुत्र श्री ऋषभ द्वारा हुआ। इसीलिए इस काल मे अहिंसा के आदि उपदेष्टा तीर्थङ्कर ऋषभ या वृषभ ही है। उनके पश्चात् कालक्रम से २३ तीर्थङ्कर हुए—वे भी अहिंसा धर्म के प्रचारक थे। ऋषभ से १८ तीर्थकरो पर्यन्त अहिंसा धर्म का प्राबल्य रहा। किन्तु तीर्थंकर मल्ली और मुनि सुव्रत के काल मे यहां आसुरी-वृत्ति का श्रीगणेश हुआ। असुरो ने आकर अहिंसक ब्राह्मणो को भगाकर पशु यज्ञ करने की कुप्रथा को जन्म दिया। तभी मे यहाँ हिंसा और अहिंसा का द्वन्द्व युद्ध चला। ब्राह्मणो मे दो दल हो गए, परन्तु श्रमण एक रहे और अहिंसा को सदा ही आगे बढाते रहे। उनको अहिंसक परम्परा के ब्राह्मणो का भी सहयोग मिलता रहा। यह है, जैन दृष्टि से प्राग् ऐतिहासिक काल मे अहिंसा की स्थिति की रूप-रेखा।[1]

वैदिक और बौद्ध मान्यता

जैनो के अनुरूप ही वैदिक और बौद्ध मान्यता भी अहिंसा-प्रधान है। मनु महाराज ने सर्वकार्यो मे अहिसा को ही प्रधानता दी और मानव-सस्कृति को अहिसा पर आधारित किया।[2] वेदो से स्पष्ट है, कि ऋषभ या वृषभ ने ही सर्व प्रथम महादेवत्व को प्राप्त होकर, जनता को सच्चा ज्ञान दिया था।[3] मानव-जीवन मे अहिंसातत्व की प्रतिष्ठापना करने के लिए पहले यज्ञादि भी अन्न-घी आदि से किए जाते

---

[1] 'आदि तीर्थङ्कर भ० ऋषभदेव" पृ० २९—३५—आदिपुराण त्रिलोकप्रज्ञप्ति, त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक १०९ से १२८ तक

[2] महाभारत (स्त्री० १०। २५—२८ एव शान्ति० २७१। १—१३

[3] ऋगवेद ४।५८।३ एव ३१। १७ तथा आदि तीर्थंकर भ० ऋषभदेव पृ० १२२—१२३। भागवत अ० ५

थ।[1] उपरान्त बाहरा आसुरी प्रभाव ऐसा पडा कि पशु होमन की कुप्रथा भी चल पडा 'महाभारत' (शान्तिपव अ० ३३६) म वर्णित कथा से यही प्रमाणित होता है।

बौद्धो के सुत्तनिपात (ब्राह्मण धम्मक सुत्त S B E Vo x, Pt II pp 47—52) म भी इसी बात की पुष्टि होती है कि आदिकाल का मानव अहिसोपजीवी था, इसीलिए यहाँ सुख-समद्धि थी। किन्तु जब मानव ने अहिसा का उल्लघन करके पशु होमकर माम मदिरा का सेवन किया तभी से मानवो का ह्रास हुआ और वे दुखो की भट्टी म पडे।

आधुनिक मान्यता यही है, कि बाहर से जो आय आए व अहिसा को महत्व नही दत थ। उनके कारण अहिसा और हिंसा का द्वन्द्व चला था।[2] परिणाम स्वरूप प्रागाय भारत की अहिसा प्रधान सस्कृति का प्रभाव उन पर पडा था। किन्तु बाहर म आए हुए इन लोगो के पूवजो की मान्यता भी अहिसा स रिक्त नही मिलती।

विदेशो मे अहिंसा का प्रसार

सुमर बाबुल ईरान, मिश्र आदि देशो की आदि सस्कृतिया अहिसा सिद्धान्त पर ही आधारित थी और इन दशो म अहिसा का प्रसार करन वाले भारतीय ही थे—यह तथ्य आग के विवेचन से स्पष्ट होगा। किन्तु जब उपरोक्त दशा मे असुरो के प्राबल्य के कारण आसुरी वत्ति बढी तभी अहिसा का ह्रास उपरोक्त देशो म हुआ और पशु-बलि की प्रथा चल पडी। भारत स पहले ही वहाँ हिंसा अहिसा का द्वन्द्व चला प्रतीत होता है। जो हो निस्सन्देह यह मानना पडेगा कि विश्व म अहिसा का प्रसार पहले पहल भारत स हुआ था।

सुमेर और बाबुल की सस्कृतियो मे अहिंसा

मध्य एशिया की सस्कृतिया म सुमर (Sumeria) की सभ्यता सव प्राचीन मानी गई है। विद्वानो का यह भी मत है कि सुमर सस्कृति और सभ्यता के सजक पूव स उस देश मे पहुँचे थे। एक

---

[1] अथववेद ७।५—१

[2] कौशाम्बी कृत 'भारतीय सस्कृति और अहिसा' देखिए।

[3] **"One thing however is certain & can no longer be contested civilisation did not come to India with the Aryans How this (pre Aryan) civilisation was absorted by the Aryans is not known to us That was not destroyed & did not wholly disapper is clear from the survival of the Iudus velly religions ideas in the Hinduism of to day'**

—*K M Parnikar* **'A Survey of Indian History' pp4-5**

जर्मन विद्वान ने उनको भारत के सौराष्ट्र से आया सिद्ध किया था और उनको "सु" जाति का बताया था। ये "सु" लोग जैन धर्मानुयायी थे।[1] भ० ऋषभ के साले सु-कच्छ सौराष्ट्र के थे।

उनके पुत्र-नमि-विनमि द्वारा विद्याधर-वंश की स्थापना हुई। इन सु-जातीय विद्याधरो के द्वारा भ० ऋषभ प्रणीत अहिंसा का प्रसार देश-विदेश मे हुआ था।[2] किन्तु किन्ही अन्य विद्वानो का मत है, कि सुमेर लोगो के पूर्वज सिन्धु उपत्यका मोहनजोदडो और छन्नुदडो मे वहा पहुँचे थे और द्राविड थे।[3] जो हो, ये द्राविड भी भ० ऋषभ के भक्त और अहिंसक थे।[4] इन्ही लोगो ने जलमार्ग से जाकर सुमेर को आवाद किया था। अलकृत रूप मे कहा गया है, कि ओअन्नस के नेतृत्व मे ऐसे लोग समुद्र से आए जिनका शिरोभाग मनुष्य का और अधोभाग मछली का था। ऐसे मनुष्यो को जैन शास्त्रो मे 'अन्तर्द्वीपज' कहा गया है। किन्तु विद्वज्जन उनको नाविक मानते है।

भारत से आए हुए इन 'सु' अथवा द्राविड लोगो ने अपने नये देश का नाम भी अपनी जाति और धर्म को लक्ष्य करके रक्खा। "सु" जाति की धार्मिक मान्यता मे मेरु के जिनालयो की पूजा का विशेष महत्व रहा—इसीलिए उन्होने अपने नये देश का नाम "सुमेरु" रक्खा और अपने अहिंसा धर्म के अनुसार अपने सामाजिक जीवन का निर्माण किया। वे जीवरक्षा करना परम धर्म मानते थे। जैनो की तरह उनका भी विश्वास था, कि आदि काल मे मानव और पशु साथ-साथ प्रेम से रहते, फल और घास खाते तथा तालावो का पानी पीते थे। मेसोपोटामिया से प्राप्त ई० पूर्व ३५०० के शिलालेखो मे यह विवरण उत्कीर्ण किया हुआ है।[5] सुमेर लोग वृषभदेव को कृषि का देवता कहकर पूजते थे—वृषभ का अनुवाद आजकल Bull (बैल) किया गया है, जो भ० ऋषभ का चिन्ह था। पोषधव्रत भी पालते थे, जो वाद मे Sabbath कहलाया। सुमेरु एव वाबुल के लोगो का एक धर्मशास्त्र "अर्हशम्म"

---

[1] "विशालभारत" कलकत्ता भा० १८ अक ५ पृ० ६२६ पर प्रकाशित" सुमेर सभ्यता की जन्मभूमि शीर्षक लेख देखिए

[2] आदि तीर्थङ्कर भ० ऋषभदेव, पृ० ६६-७०

[3] **"Some hold that they (People of Indus Civilisation) were the same as the Sumerians, while others hold that they were Dravidians. Some again believe that these two were identical. According to this view, the Dravidians at one time inhabited the whole of India, including the Punjab, Sind and Baluchistan, and gradually, migrated to Mesopotamia"**

—Ancient India (An Advanced History of India Pt. I) by Majumdas, Ray-chaudry & K.K. Dutta. p. 55

[4] अहिंसावाणी का भ० ऋषभदेव विशेषाक

[5] **Durant Our Oriental Heritage (the Story of Civilisation) P. 131**

बडा अथ सूचक है।[1] वह म० अहृत का प्रताक हो सकता है—शम्म का अथ प्रकाश। सुमर सस्कृति की विशेष खोज करन से और भी बातें ज्ञात हो सकती है।

सुमरो का अक्कड एव एलम (Elam) के लोगो का परास्त किया और एलमा का बबीलानिया क शाह हम्मुरबी ने जीता था। इस प्रकार सुमरा क पश्चात् बबीलानिया (Babylonia) का साम्राज्य और सस्कृति लोक में प्रसिद्ध हुए। वह अक्कड और सुमरा का सयुक्त रूप था।[2] उनका देवता बल (Bel=वृषभ) स्वग और पृथ्वी का दव था।[3] उनम हम्मुरबी नामक एक महान् सम्राट हुए थे जिन्होंने अशोक की तरह ही धम लख खुदवाए थे।[4] उनका आदश एक जन नप का आदश था—सुष्ट का सरक्षण एव दुष्ट का निग्रह करना था। प्रति वष बल (वृषभ) देव का रथ[5] निकाल कर अहिंसा का प्रचार किया जाता था।

किन्तु जिस समय अलकृत भाषा म लिखे हुए धमग्रन्थो के रहस्य अह अथ को लोग भूल गए और उस शब्दाथ म ग्रहण करने लग उसी समय से व अहिंसा-माग स बहक गए और भोगो मे आसक्त होकर आसुरी वृत्ति म लीन हो गए। यद्यपि भारत के असुर वहा जनो के कारण अहिंसा धम को ही पालते रहे थ।[6] 'लटर आँव अरिस्ट्रयस' स स्पष्ट है कि पुरातन काल म धम सिद्धान्त अलकृत भाषा और लिपि म लिखे जात थ—उनका गुरमुख से पढना आवश्यक था।[7] किन्तु समय को विशेषता न लोगा को सत्य से बन्का दिया—लोग दुराचारी और पापी हो गए—सुरा सुन्दरी के भाग मे अन्धे हो गए। मन्दिर भी भोग और वासना से अछूत न रहे। उरुकजिन (Urukgina) जसे सन्त ने इस भोग लिप्सा के विरुद्ध आन्दोलन खडा किया और लोगो को पुन अहिंसा-माग पर आने के लिए माग दशन किया।[8]

किन्तु पतन की ओर बढ़ता हुआ मानव जल्दी स माग पर नही आता—यही हाल बबीलोनिया म हुआ। लोग सम्भल तो, परन्तु सब नही। अहिंसा को पालन का ध्यान तो आया परन्तु केवल खास-खास दिनो पर। न्यू-बबीलन काल म एक प्रमाण-लेख (Document) म निम्नलिखित

---

[1] इडियन हिस्टोरीकल क्वारटरली भा० १२ प०३२४ पर उल्लेख है

[2] **Will Durant "Our Oriental Heritage (the Story of Civilisation), 1954 —pp 121 123,**

[3] **Ibid p 219**

[4] **Ibid, p 220**

[5] **Ibid, p 233**

[6] गिरिनार गौरव (अलीगज) प्रस्तावना

[7] **Addenda to Confluence of opposites** देखिए

[8] **Will Dnrant loc, cit, p 128**

उल्लेख जो प्रोषध (Sabbath) के दिनों की चर्या का निर्देश द्वितीय अनृन व अरहशम्म नामक शास्त्राधार से करता है इस प्रसंग में अर्थसूचक है—

"(प्रोषध को) अनेक कुलों के पुरोहित कोयलों पर पका मांस नहीं खाएँगे और न ही भुनी हुई रोटी। वे अपने कपड़े नहीं बदलेंगे और नए वस्त्र नहीं पहनेंगे। वह कोई भी पशु-बलि नहीं चढ़ावेंगे राजा अपने रथ पर नहीं चढ़ेगा और न राज्यादेश देगा। न्यायवाद के स्थल पर भी वह मौन रहेगा। यह दिन किसी प्रयोजित कार्य को करने के लिए उचित नहीं है।"[1]

जैन प्रोषध में भी सभी प्रकार के हिंसामय आरम्भ से दूर रहने का विधान है। वही भाव उपरोक्त लेख में भी है। बैबीलोनियन मत का नाम उरुजिन और शास्ता का नाम अर्हशम्म अर्थ-सूचक एव भारतीय प्रभाव के द्योतक है।

यहूदी-संस्कृति

सुमेर लोगो का पाटनगर "उर" (Ur) भी भारतीयता का प्रतीक है। अपभ्रंश प्राकृत मे नगर के अर्थ मे पुर "उर" कहलाता है। उसी उर नगर मे यहूदि संस्कृति के आदि पुरुष अब्राहम (Abraham) अवतरित हुए थे। ई० पूर्व २२०० के लगभग अब्राहम और उनके अनुयायी सुमेरिया से चले और फिलिस्तीन मे बस गए।[2] चालीस वर्षों तक वह मिश्र और सहारा के रेगिस्तान मे चक्कर काटते रहे थे। आखिर उनको मूसा जैसे सन्त (St. Moses) का नेतृत्व मिला।[3] मिश्र (Egypt) उस समय ऐश्वर्य के शिखर पर था। इजरायली लोग वहाँ के वासनामय जीवन मे फँस गए थे। सन्त मूसा उनको समझा बुझा कर अपने देश को लाए। उन्होंने मास मदिरा की अनुमति ले ली थी तभी वह मिश्र छोडकर चले। मार्ग मे उन्होंने मासादि जो खाया, तो उनमे विसूचिका सदृश महामारी फैली, जिससे घबडाकर उन्होंने तोबा किया और सन्त मूसा की शरण मे आकर अहिंसा के अनुयायी बने।[4] सन्त मूसा ने धर्म की जो दस आज्ञाएँ निकाली, उनमे निम्नलिखित अहिंसा को आगे बढाने वाली रही—

१. तू हत्या नही करेगा (Thou shalt not kill)
२ तू चोरी नही करेगा (Thou shalt not steal)
३. तू अपने पड़ौसी की कोई चीज नही लेगा (Thou shalt not covet anything that is thy neighbour's)

---

[1] इडियन हिस्टोरीकल क्वारटर्ली, भा० १३ (सित० १९३६) पृ० ३८४ से उद्धत
[2] **Glimpses of World Religions (Jaico). p. 146.**
[3] **H G. Wells, A short History of the World, pp. 72-73.**
[4] *A White*, **Why I do not eat Meat, pp. 69-77 (Num, 11, 19-20)**

८ तू कुशील सेवन नहीं करेगा (Thou shalt not commit adultery)

प्रोषध की तरह ये लोग सब्बथ (Sabbath) को पवित्र दिन मानते थे और उस दिन कोई भी सांसारिक काम धन्धा नहीं करते थे। स्मरण रहे कि मूल में ये लोग सुमेर के निवासी थे जो लोग भारतीय अहिंसा से प्रभावित थे। अतः सन्त मूसा का अहिंसावादी होना स्वाभाविक था। उनकी अहिंसा के कारण शाकाहार का बहुत प्रचार हुआ था—लोगों ने मांसमदिरा को छूना पाप समझा था। इसका प्रभाव बबीलोनिया आदि के देशों पर भी पड़ा था। सन्त दनियाल (St Daniels) की कथा इसकी साक्षी है।

जब बबीलोनिया में बादशाह नबुश्चडनज्जर (Nebuschadnazzar) शासनाधिकारी था तब उसके राजप्रासादीय भोज पर काम करने के लिए सुन्दर और सुशील युवक ढूंढ गए। इनमें दनियाल नामक युवक अहिंसावादी निरामिषभोजी था। ज्यों-त्यों करके वह अपने अहिंसाव्रत पर दृढ़ रहा। किन्तु एक दिन वह बादशाह की पकड़ में आ गया। बादशाह ने मांस खाने का आदेश दिया, परन्तु वीर दनियाल ने उसे नहीं माना। हठात् उसे प्राणदण्ड दिया गया। शेरों की मांद में वह फेंका गया परन्तु भूखे शेर उसके पैर चाटने लगे। यह था उसकी अहिंसा का चमत्कार।[१]

निस्सन्देह सन्त मूसा के अहिंसा प्रचार का प्रभाव जन साधारण के जीवन पर पड़ा था। नर बलि की घृणित प्रथा सर्वथा मिट गई और पशु बलि भी बहुत कम हो गई। बल्कि लोग पीठा आदि के पशु बनाकर बलि देने लगे।[२]

ऐसा प्रतीत होता है कि बादशाह नबुश्चडनज्जर पर इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा था। उसे अपने पूर्वजों का ध्यान आया—वह भारत आया और जैन तीर्थ रैवत गिरिनार की वंदना करके वहां भ० नमि का एक मन्दिर बनवाया। सौराष्ट्र में प्रभासपट्टण से इन्हीं बादशाह का एक ताम्रपत्र मिला है जिसे डा० प्राणनाथ ने निम्न प्रकार पढ़ा था—

रेवा नगर के राज्य का स्वामी सुजाति का देव, नबुश्चडनज्जर आया है। वह यदुराज के नगर (द्वारिका) में आया है। उसने मन्दिर बनवाया सूर्य देव नेमि कि जो स्वर्गमान रैवत पर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिए अर्पण किया।

साप्ताहिक जैन—भावनगर भा० ३८ अंक १ पृ० २

बादशाह नबुश्चडनज्जर के अहिंसावादी होने का प्रभाव प्रजा पर पड़ना स्वाभाविक था और यह हुआ सन्त मूसा के प्रचार से। भारत से गई भ० ऋषभ की अहिंसा उन देशों में बराबर जीवित रही!

---

१ Ibid, pp 90-107

२ H G Wells, loc, cit, p 73

इनके निकट तत्वचर्चा करके यूनानी तत्ववेत्ताओ ने जो ज्ञान सचित किया था, उसका प्रचार उन्होंने अपने देश मे जाकर किया। यही कारण है कि यूनान में प्राचीन काल मे ही तप, त्याग और सत्य, एवं अहिंसा का प्रचार जनसाधारण मे हो गया था।

स्ट्रेबो (Strabo) ने लिखा है कि ईस्वी पूर्व ७ वी—छठी शताब्दियो के लगभग जैलमोशिस (Xalmosis) और पियागोरस के अहिंसा का जो प्रचार किया, उसका परिणाम यह हुआ कि एक ऐसे धर्मवरिष्ठ लोगो का समुदाय अस्तित्व मे आया, जो पत्नियो के बिना (ब्रह्मचारी) रहते थे—उनके साथी सभिलोग भी ऐसी कोई चीज नहीं खाते थे, जिनमे जान हो (They abstained from eating anything that had life) होमर (७ वी० शती ई० पूर्व) ने उनको बहुत ही न्यायशील बताया था, जो प्राय: दूध पीकर रहते थे और सपत्ति सचय करने की ओर से बिल्कुल उदासीन थे।[1] जैलमोशिस ने जैनो के अनुरूप ही जीवात्मा को अजर-अमर माना था जो ससार मे परिभ्रमण करता है। पशुओं मे भी वह आत्मा मानते थे और कहते थे कि किसी भी प्राणी को पीडा मत पहुँचाओ।[2]

स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी का अनुमान था कि यूनानी तत्ववेत्ता पियागोरस ने तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा से शिक्षा ग्रहण की थी और जैन सघ मे वह मुनि पिहिताश्रव के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। उनकी मान्यताएँ जैनो के अनुरूप ही थीं और उनकी तपस्या भी जैन मुनि जीवन को झलकाती थी—वे मौन व्रत पर अधिक जोर देते थे।[3] उन्होंने मास-मदिरा का निषेध किया था, जिसके कारण उनको नाना प्रकार के कष्ट उठाने पडे थे। किन्तु वे अहिंसा के प्रचार करने पर दृढ रहे। यहाँ तक कि जैनो की तरह द्विदल को दही मे मिलाकर नहीं खाते थे, क्योंकि उसमे जीवाराशि उत्पन्न हो जाती है।[4] निस्सन्देह पियागोरस पर जैन-जीवन का गहरा प्रभाव पडा था, जिसका प्रचार उन्होंने यूनान मे किया था।

प्रसिद्ध यूनानी तत्ववेत्ता अरस्तू (Aristotle) का भी मत था कि भोजन (Diet) के अनुसार ही जीवन की शैली बनती है। (Diet after determines the mote of life) इसीलिए वह सयम पालना उचित ठहराते थे।

पियागोरस की अहिंसा-परम्परा को पिर्हो (Pyrrho), डियोजेनेस (Diogenes), प्लेटो (Plato) इपीक्यूरस (Epicurus) आदि तत्ववेत्ताओ ने आगे बढाया था। पिर्हो उस समय भारत आया, जब भ० महावीर का सुखद विहार हो रहा था—उसने उनके स्याद्वाद सिद्धान्त का अध्ययन किया था। यूनान लौटने पर उसने एलिस (Elis) नामक स्थान पर रहकर जैन मुनि की जीवन चर्या का अभ्यास

---

[1] **J. G R Forlong, Science of Compartive Religions (1897) p 32.**

[2] **Ibid, pp. 35-36**

[3] "वीर" भा० २, पृ० ८१

[4] **Addenda to the confluence of opposites, P. 3**

[5] **The story of philosophy (New York), P. 68**

किया था, जिसका प्रभाव जनता पर पडा था।[1] डियाजनेम ने भी अध्यात्मवाद और अहिंसा को फैलाया था।

प्लेटो (Plato) (४२७—३८७ ई० पू०) को भारतीय अफलातून कहते हैं। वह सुकरात का शिष्य था। अन्त में वह पियागोरस के संघ में सम्मिलित होकर अहिंसा का प्रचार करने लगा था। प्लेटो ने बताया था कि मानव सीधा सादा जीवन यापन करे—प्रकृति का होकर रहे। उन्होंने लोगों को शिक्षा दी कि—

"मानव जौ और गेहूँ से अपनी भूख को शमन करें—गेहूँ के आटे की रोटी और हलुआ बनावें। शाक फल और नमक खावें। इस प्रकार का आहार करके मानव दीर्घकाल तक शांति से वृद्ध-जीवन का उपभोग कर सकता है और अपनी संतान को सुखी जीवन उत्तराधिकार में देता है।[2]

इपीक्यूरस (३४२—२७० ई० पू०) पर भी अहिंसा का प्रभाव था। वह सृष्टिकर्तृत्ववाद को नहीं मानता था। अणुवाद के आधार पर सृष्टि को अनादि मानता था। जीव का अस्तित्व प्राणी मात्र में उसे स्वीकार था। उसकी भी यह मान्यता थी कि आदि काल का मानव यद्यपि मेहनती और जंगली था, परन्तु वह अपना जीवन निर्वाह वनस्पति और फल खाकर करता था—वह खुले मैदान में सोता था।[3] परिस्थिति के अनुसार वह सभ्य बना। इपीक्यूरस स्वयं शाकाहारी था वह रोटी खाता और पानी पीकर रहता था। रोटी भी वह साथियों के साथ बांटकर खाता था।[4] इस प्रकार वह शाकाहार का प्रचार सक्रिय रूप में करता था।

अपोलो और दमस नामक दो तत्ववेत्ता भी यूनान से भारत आए थे। उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणों (जैनों) से ज्ञान चर्चा की थी और अहिंसा का महत्त्व समझा था। अपने देश को वापस जाकर उन्होंने अहिंसा का प्रचार किया था। मार्ग में वह शाह फ्राउतस (Phraotes) के अतिथि रहे थे। शाह फ्राउतेस यद्यपि एक महान् समृद्धिशाली शासक था परन्तु उसका रहन-सहन सीधा-सादा था। जब अपोलो ने शाह के सीधे सादे जीवन व्यवहार की सराहना की तो शाह ने उत्तर में कहा—मैं धनवान् हूँ पर मेरे

---

[1] Encyclopaedia Britannica Vol XII P 753 एवं 'अहिंसा और उसका विश्व व्यापी प्रभाव (अलीगंज) पृ० ७२

[2] The story of philosophy (New york) p 19

[3] 'Man hardy and savage and naked he roamed over the earth like the other animals living on herbs and fruits and acorns and sleeping in open fields at night '

—Great philosophers (Bombay) p 37

[4] Epicurus had a genius for, friendship Though he lived on bread and water he always tried to break his bread in the company of a friend "

Ibid, p 40

अतर मे धन की आकाक्षा नही के बराबर है। जिस सम्पत्ति को मैं अपनी आवश्यकता से अधिक पाता हूँ, उसे अपने मित्रो को अर्पण करता हूँ। मुख्यतः मैं अपने शत्रुओ मे सम्पत्ति बाटता हूँ, जिससे वे शान्त रहे।" जब अपोलो ने उसके भोजन के विषय मे पूछा तो शाह ने बताया, कि पहले वह मद्यपान करता था, किन्तु अब नही। पहले शिकार भी खेलता था, किन्तु अब वह व्यायाम मे ही सतुष्ट है। वह भोजन मे शाकभाजी और पिडखजूर की रोटी तथा बाग के फलो पर निर्वाह करता है। कुछ शाकभाजी वह स्वय जोत बोकर उगाता है। अपोलो को इससे बडा सतोष हुआ।[1] साराश यह कि उस काल मे बडे-बडे राजा महाराजा भी अहिसा और अपरिग्रह के सिद्धान्तो को पालते थे।

जब सिकन्दर महान् भारत आया और तक्षशिला के पास दिगम्बर जैन मुनियो से मिला, तो उनकी ज्ञानचर्या और तपस्या का उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पडा था। कल्याण नामक मुनि सिकन्दर के साथ अहिसा प्रचार के लिए हो लिए थे।[2]

सन् २५ ई० पूर्व मे भृगुकच्छ के राजा ने रोम के बादशाह आगस्टस के लिए भेंट भेजी थी। उनके राजपूत के साथ भृगुकच्छ के दिगम्बर श्रमणाचार्य यूनान गए थे। उन श्रमणाचार्य ने एथेन्स (Athans) नगर मे अपने सघ की स्थापना की थी—बहुत से यूनानी उनके शिष्य होकर अहिसा और अपरिग्रह का पालन करते थे।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि यूनान की सस्कृति मे अहिसा और अपरिग्रह का सक्रिय प्रभाव रहा है—जैन मुनियो ने अपने ज्ञान से यूनानियो को प्रभावित किया था।

एस्सेन लोगों (Essens) की अहिसक-सभ्यता

फिलिस्तीन और इसरायल यहूदी सभ्यता के गढ रहे,—हजरत मूसा ने वहा अहिसा का प्रचार किया था, यह पहले दर्शा चुके है। किन्तु कालान्तर मे वहाँ अहदनामे का सही अर्थ लोगो की दृष्टि से ओझल गया था—वे वासना मे फँस गए थे। इस विषम समय मे मध्य एशिया मे प्रचार करते हुए भारतीय सन्त इस प्रदेश मे भी आए थे और अहिसा का प्रचार किया था। जर्मन विद्वान वफॉन क्रेमर (Von Kremer) के अनुसार मध्यपूर्व एशिया मे प्रचलित "समानिया" सम्प्रदाय "श्रमण" (जैन) था। जी० एफ० मूर ने लिखा है कि "ईसा की जन्म शती के पूर्व इराक, शाम और फिलिस्तीन मे जैनमुनि और बौद्धभिक्षु सैकड़ो की सख्या मे चारो ओर फैलकर अहिसा का प्रचार करते थे। पश्चिमी एशिया, मिस्र, यूनान और इथ्योपिया के पहाडो और जगलो मे उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे, जो अपने त्याग और अपनी विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्र भी नही पहनते थे।[4] मेजर जनरल जे० जी०

---

[1] "न्यू आउटलुक" (लांस ऐंजिलस U S A) दिसम्बर १६६१ मे पृ० ७३-७६ देखो

[2] अहिसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव, पृ० ७३-७४

[3] इडियन हिस्टॉरिकल क्वारटर्ली, भा० २ पृ०२६३

[4] हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४

आर० फरलाग सा० ने भी अपनी खोज में आक्सियना (Oksiana) केस्पिया (Kasipia) एव बल्ख व समरकन्द के नगरो मे जन धर्म के केन्द्र पाए जहाँ से अहिंसा का प्रचार होता था।[1] इन जन साधुओ का प्रभाव यहूदी लोगो पर इतना पडा कि उनमे 'एस्सिनी (Essenes) सम्प्रदाय का जन्म हुआ। ऐसिना लोग बस्ती से दूर जगलो या पहाडो पर कुटी बनाकर रहते थे। जन मुनियो की तरह अहिंसा को अपना खास धर्म मानते थे। मास खाने से उनको बहुत परहेज था। वे कठोर और सयमी जीवन व्यतीत करते थे। पशुबलि का घोर विरोध करते थे। रोगियो की सेवा करने में आनन्द लेते थे। अपरिग्रह व्रती होकर सारी सम्पत्ति समाज की मानते थे।[2] इन्हीं में से आगे चलकर ईसा मसीह एव अन्य ईसाई सन्त प्रगट हुए थे जिन्होंने भी अहिंसा का प्रचार किया। नये अहदनामे में भी शाक और फलाहार को मानव का प्राकृत भोजन बताया और जीवदया का उपदेश दिया गया है (Genesis, I 29)।

अरब और ईरान की संस्कृतियों मे अहिंसा

प्राचीन काल में अफगानिस्तान तो भारत का ही एक अग था और वहा जन एव बौद्ध धर्मों का प्रचार होने से अहिंसा का अच्छा प्रचार था। ई० ६ वी ७ वी शताब्दी में चीनी यात्री हुएनत्साग को वहाँ अनेक दिगम्बर जन मुनि मिले थे।[3]

अफगानिस्तान से मिला हुआ इरान था। अरब भी दूर न था। इन दोनो देशो का सम्पर्क भारत से प्राचीन काल से था। दोनो देशो ने भारत से बहुत कुछ सीखा था जिसका प्रभाव उनकी संस्कृतियो पर पडा था। भारतीय विद्वान ईरान को पारस्य कहते थे।

अरब का उल्लेख जन आगम में मिलता है। भारत से अरब का व्यापार चलता था। जादिस अरब का एक बडा व्यापारी था—भारत से उसका व्यापार खूब होता था। भारतीय व्यापारी भी अरब जाते थे। जादिस का मित्र एक भारतीय वणिक था। वह ध्यानी योगी की मूर्ति भी अपने साथ अरब लाया और उसकी पूजा करता। जादिस भी प्रभावित हो पूजा करने लगा। इस प्रकार वणिकों द्वारा धर्म का प्रचार हुआ। उपरान्त मौर्य सम्राट सम्प्रति ने जन श्रमणो भिक्षुओ के विहार की व्यवस्था अरब और ईरान में की, जिन्होंने वहाँ अहिंसा का प्रचार किया।[4] बहुत से अरब जनी हो गए।[5] किन्तु पारस्य नरेश का आक्रमण होने पर जन भिक्षु और श्रावक भारत चले आए। ये लोग दक्षिण भारत में बसे और सोलक अरबी जन कहलाए।[6]

---

[1] Science of Comparative Religions, (1897) Intro PP 8-33

[2] हुकुमचद अभिनन्दन ग्रंथ, पृ० ३७४

[3] हुएनत्सांग का भारत भ्रमण (प्रयाग), पृ० ३७

[4] परिशिष्टपर्व भा० २ पृ० ११५ १२४

[5] Formerly Jains were very numerous in Arabia

—Asiatic Researches, Vol IX P 284

[6] जन सिद्धांत भास्कर भा० १७, पृ० ८५ फुटनोट

किन्तु जैनो ने अपनी प्रचार लगन को भुलाया नही। सन् ९९८ ई० के लगभग भारत मे करीब बीस साधु सन्यासियो का दल पश्चिम एशिया के देशो मे प्रचार करने के लिए गया। उनके साथ जैन त्यागी भी गए, जो चिकित्सक भी थे। इन्होने अहिंसा का खासा प्रचार उन देशो मे किया। तत्पश्चात् वे वापस स्वदेश लौटे। किन्तु वे अपने पीछे इतने भक्त छोड आए थे कि वे उनको भुला न सके। सन् १०२४ के लगभग यह दल पुन शान्ति का सन्देश लेकर विदेश गया और दूर-दूर की जनता को अहिंसक बनाया। जब यह दल स्वदेश लौट रहा था तो इसे अरब के तत्वज्ञानी कवि अबुल अला अल-मआरी से भेंट हुई।[1] जर्मन विद्वान फान क्रेमर ने अबुल-अला को सर्व श्रेष्ठ सदाचारी शास्त्री और सत कहा है। वह गुरु की खोज मे घूमते घामते जब बगदाद पहुँचे, तो बगदाद के जैन दार्शनिको के साथ उनका समागम हुआ था और उन्होने जैन शिक्षा ग्रहण की थी। इनका परिणाम यह हुआ कि अबुल अला पूरे अहिंसा-वादी योगी हो गए।[2]

अबुलअला केवल अन्नाहार करते थे। दूध भी नही लेते थे, क्योकि बछडे के दूध को लेना वह पाप समझते थे। बहुधा वह निराहार रहकर उपवास करते थे। मधु (शहद) व अडा भी नही खाते थे। पगरखी लकडी की पहनते थे। चमडे का प्रयोग नही करते थे। नगे रहने की सराहना करते थे। सचमुच यह दया की मूर्ति थे।

अरब मे ही उपरान्त इस्लाम के महान् प्रवर्तक हजरत मुहम्मद सा० हुए। उन्होने भी अहिंसक जीवन को अपनाया और रहम (दया) करना धर्म बताया। वह कहते थे कि "मूक पशुओ की खातिर अल्लाह से डरो और उनके प्रति नेकी का व्यवहार करो। इस भूमडल पर कोई भी पशु या पक्षी ऐसा नही है, जो कि तुम्हारे समान ही अपने प्राणो से—प्यार न करता हो।[3] इसलिए कहा है कि खुदा ने तुम लोगो के रज्क के लिए मेवा व फल अता किया है।" (अलशमरात जकालम्) हजरत मुहम्मद सा० स्वय शाकाहारी थे और उनका व्यवहार जीवमात्र के प्रति दयामय था। एक बार वह वन से गुजर रहे थे कि उनको एक शिकारी मिला, जिसने एक हिरनी को पकड रखा था। पैगम्बर सा० मानव की क्रूरता देख कर दग रह गए। उन्होने कहा, "यह बुरा है, मानव पशु बने। इससे ज्यादा उसका पतन क्या होगा ?" और शिकारी को हिरणी को छोडने के लिए कहा, जिससे वह अपने बच्चो को दूध पिला आवे। शिकारी तैयार न हुआ तो पैगम्बर सा० ने अपने को जामिन बनाया और हिरणी को छोड दिया। हिरणी गई, बच्चो को दूध पिलाया और लौट आई। शिकारी यह देखकर हैरान था। हैवान भी इतने सच्चे होते है और इन्सान इतना बेवफा। बस, रहम का सोता शिकारी के दिल मे फूटा—उसने शिकार न करने के लिए तोबा की। वह सच्चा मानव बना—

---

[1] हुकुमचद अभिनन्दन ग्रथ, पृ० ३७४-३७५

[2] **Der jainismus.**

[3] कुरान ६।३८

गो जा से हुआ मोतिकद साहिब दीनदार,
बोला वह कदम पाव में गिरकर कई बार ।
बरिसल नहीं रहता जो दिखाता है असरहक
बशक है खुदा एक रसूल आप हैं बरहक ।
ला मैं अब मुसलमान हूँ मुंह कुफ्र से मोडा
मैं छूट गया कुफ्र से, हिरनी को भी छोडा । [1]

इस प्रकार हजरत मुहम्मद सा० की जात पाक में दयाधर्म का विकास होता था ।

भारत और पारस्य का सांस्कृतिक आदान प्रदान बहुत पुराना है । पडौसी होने के कारण भारत का व्यापार पारस्य से बहुत होता था । दोनों देशों के निवासी एक दूसरे के आचार विचार से प्रभावित थे ।[2] जब अन्तिम तीर्थङ्कर भ० महावीर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी होने की खबर पारस्य में पहुँची तो उनके दर्शन करने के लिए कई ईरानी भारत आए । मगध सम्राट श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र राजकुमार अभय के मित्र ईरान के शाहजादे आदराक थे । उन्होंने सुना तो वह भी भारत आए और भगवान् के दर्शन किए । भ० महावीर के उपदेश का प्रभाव उन पर ऐसा पडा कि वह जैन मुनि हो गए और अहिंसा धर्म का प्रचार भारत एवं ईरान में करते रहे ।[3]

उपरान्त सम्राट अशोक और सम्राट सम्प्रति ने भी अपने धर्म रज्जुक और भिक्षुक वहां अहिंसा का प्रचार करने के लिए भेजे थे । ईरानी जन जीवन में एक नई लहर आई थी । म० जरदस्त ने पहले ही अहिंसा का प्राण प्रतिष्ठा ईरान में पशुबलि का विरोध करके की थी । ईरान के शाह दारा(Darius) ने अपनी प्रजा को लक्ष्य कर अशोक की तरह पाषाणों पर अहिंसा पालन का आदेश अंकित कराया था । तख्तजमशेद नामक स्थान पर एक ऐसा लेख आज भी मौजूद है ।[4]

मध्यकाल में जैन दार्शनिकों का एक संघ बगदाद में जम गया था जिसके सदस्यों ने वहीं करुणा और दया त्याग और वैराग्य की गंगा बहा दी थी । सियाहत नामए नासिर के लेखक की मान्यता थी कि इस्लाम धर्म के कलन्दर तबके पर जैन धर्म का काफी प्रभाव पडा था ।[5] कलन्दर लोग अपने प्राणों की बाजी लगाकर अहिंसा और दया का पालते थे ऐसे अनेक उदाहरण भी मिलते हैं । अलविया फिर्के के लोग हजरत अली की औलाद से थे—वे भी मांस नहीं खाते थे और जीव दया को पालते थे । ई० ६ वीं—१० वीं शताब्दी में अब्बासी खलीफाओं के दरबार में भारतीय पंडितों और साधुओं का बड़ा

[1] हिरनीनामा देखो
[2] कृष्णदत्त वाजपेयी कृत "भारतीय व्यापार का इतिहास" पृ० ४८–५२
[3] जैनसिद्धांत भास्कर (आरा), भा० १७ पृ० १४–१६
[4] अहिंसा और उसका विश्वव्यापी प्रभाव पृ० ५३ ५४
[5] हुकुमचंद अभिनंदन ग्रंथ (दिल्ली), पृ० ३७४ व ३७५

आदर से निमंत्रित किया जाता था। इन मे जैन और बौद्ध साधु भी होते थे।[1] इस सास्कृतिक सम्पर्क का सुफल यह हुआ कि ईरान मे अध्यातमवाद जगा और जीवदया की धारा वही। सूफी कवियो ने आवाज वुलन्द की कि—

"ता न गरदद नफ्स तावे रुहरा,
कंद वा यावी दिले मजरूहरा।
मुर्गे जा अज हव्से तन यावद रिहा,
गर वतेग लकुशी ई अजदहा।"

अर्थात्—"जब तक कि नफ्स (इन्द्रिया) आत्मा के वश मे नही होती, तब तक हृदय का आताप-सताप दूर नही हो सकता, शरीर सम्बन्ध से आत्मा मुक्त हो जाए, यदि इस अजदहे (नफ्स) को वैराग्य के खड्ग से मार डाला जाए।"

अध्यात्मवाद ने लोगो के हृदयो को दयालु वना दिया। सूफी कवियो ने अहिंसा के गीत गाए, एक कवि ने जीव-रक्षा के लिए अपने देशवासियो से कहा—

"अहिंसा खेरम वल्कि मा खेरम,
जेरे कदम तो हजार जा अस्त।"

अहिंसा से चलो, वल्कि चलो ही नही तो और भी अच्छा है, क्यो कि तेरे पैर के नीचे हजारो जानदार प्राणी है।"

भ० महावीर ने ईर्यापथ के उपदेश मे यही कहा था। एक अन्य सूफी अहिंसा धर्म को पालने की महत्ता को वताने के लिए एक वकरी के माध्यम से बडी सूझ-बूझ की वात कहता है। जिह्वालम्पटता के कारण हिंसा मे फंसने का परिणाम कष्टदायक ही होता हे। यही वकरी कहती है—

'शुनीदा अम कि कस्साव गोसफदे गुफ्त,
दारा जमा कि गिलुयश-व-तेग तेज बुरीद।
सजाए हर खास-ओ-खरे कि खुरद दाद,
कसे कि पहलुए चरव खुरद ने खुरीद॥"

कवि कहता है कि एक दफा मैने सुना, "एक वकरी की गरदन पर जव कसाई ने तेज छुरी का वार करना चाहा, तो वकरी ने उससे कहा—भाई, मैं तो देख रही हूँ कि हरी घास और हरे पौधे खाने की सजा मुझे क्या मिल रही है ? अरे, मेरी गरदन ही काटी जा रही है। अव कस्साव भाई, जरा सोचो तो उस व्यक्ति का क्या हाल होगा, जो मेरा मास खावेगा ?"

---

[1] हुकुमचद अभिनन्दन ग्रन्थ (दिल्ली) पृ० ३७४ व ३७५

यह शिक्षा जनधम के रग म रगी हुई है। क्योंकि जन धम म वनस्पति म भी जाव माना है। इसीलिए जनी हरित वनस्पति को खान का भी ध्यान रखत हैं। बकरा न जानदार हरा घास खाई अर्थात जानदार वनस्पति की हिंसा का—मानो उसी का कटु फल उस कसाई के हाथ स मिलता है। फिर जो लाग उसकी हिंसा करेंगे, उनका क्या फल हागा ? यह उल्लेख ईरानी जनजीवन पर अहिंसा की गहरी छाप को प्रगट करता है।

साराशत ईरान की संस्कृति पर भारतीय सता का गहन प्रभाव पडा था—जन अहिंसा ईरान के कान कोन में फली थी। काश आज का ईरान भी अहिंसा क इस महत्व को पहिचान।

अमेरिका की प्राचीन संस्कृतियो मे अहिंसा

प्राचीन अमेरिका का सास्कृतिक सम्पर्क भारत से रहा प्रतीत होता है। भारतीय मध्य एशिया स दक्षिण एशिया होत हुए प्राचीन अमेरिका म पहुँचे थ यह अनुमान किया जाता है। आधुनिक शोध मे बताया है कि प्राचीन अमरिका म क्रमश तीन संस्कृतिया का अस्तित्व मिलता है—(१) मय संस्कृति (२) इका-संस्कृति और (३) अजतक संस्कृति (Ajtecs) मय-संस्कृति का सम्बन्ध मयलोगो स था। मयलोग जनपुराणो के अनुसार विद्याधर वश के अहिंसक वीर थ जा ससार क विभिन्न भागो म फले थे। श्री चिमनलाल जी न अपनी पुस्तक हिन्दू अमरिका' म यह सिद्ध किया है कि मक्सीको आदि म बसे मय लोग भारतीय थे। उनके रीति रिवाज भी भारताय हिन्दू और जना क समान थे। वे जीव दया के प्रतिपालक थे। बरन हम्बोल्ट न अमरिका के पुरातत्व म भारतीय अवशष ढूढ निकाल थ। मक्सीको म क्वत्जल कोट्ल (Cuetzal coatle) की मूर्ति को देखत हा तीथङ्कर ऋषभ की मूर्ति का स्मरण हा उठता है। मक्सीको के यह पुरान दवता थ।[1] श्री एम० जुनियन एडम के मतानुसार क्वत्जल कोट्ल गौर वण और लम्बे कद के आय थे जिनका विशाल माथा बडी आखें और लम्ब काल बाल थ। वह धीर और क्षान्ति क आगार थ। उनका नरबलि अथवा पशु-बलि ग्राह्य नहा थी—उनकी पूजा नवद्य पुष्प और गध स की जाती थी। उन्होंने सभी प्रकार का हिंसा और युद्धो का निषध किया था। यह वणन भ० ऋषभ स मिलता जुलता है—लम्ब काल बाल उनकी खास विशेषता थी जिनके कारण वह केशी कहलात थ और उनका मूर्तिया पर यह बाल कधो तक दर्शाए जात रह। अहिंसा क वह आदि प्रवत्तक थ हा—पुष्पादि स उनका पूजा की जाती है।

भ० ऋषभ के निर्वाणस्थान कलाश पवत पर इन्द्र न पचाश स्तूप बनाया था यह जना की मान्यता है। निस्सन्देह बौद्धा स पहल पहल ही जना न स्तूप बनाना प्रारभ कर दिए थे—बौद्ध स्तूपो म प्राचीन जन स्तूपों का पता भी चला है। मध्य अमरिका क पुरातत्त्व म भी ऐस स्तूप मिल हैं। स्पेंस

[1] 'Voice of Ahinsa'—Indo-American Cultural Special Number, December 1959, PP 439—410

[2] The Golden lotus August, 1963 P 127

हार्डी ने लिखा है कि चिचेन (Chichen) मे जो प्राचीन स्मारक है उनका साम्य भारतीय स्तूपों से बहुत ज्यादा है।[1] स्क्वीयर (Squier) ने भी यही लिखा है कि "भारत में ठीक वैसे ही धार्मिक स्मारक मिलते है, जैसे कि "मध्य अमेरिका" मे है, जिनसे स्पष्ट है कि अमरीकी सभ्यता का उद्गम दक्षिण एशिया से हुआ।[2]

स्टीफेंस सा० (Stephens) को पलेन्क (Palenque) (युकतान) (Yucatan) के महल मे सिंहासन पर आसीन एक ऐसी मूर्ति मिली, जो पद्मासन ध्यानमुद्रा मे बैठी है, और जिसके इधर-उधर दो सिंह बने है।[3] कुछ विद्वान इसे बुद्ध की मूर्ति अनुमान करते है, परन्तु सिंह का चिन्ह भ० महावीर का है। अत बहुत सभव है कि यह मूर्ति भ० महावीर की हो। साराशत अमेरिका के पुरातत्व से भारतीय सम्पर्क सिद्ध होता है।

सर डबल्यू० जोन्स के कथन से स्पष्ट है कि अमेरिका के मूल निवासियो मे राम और सीता की भी मान्यता थी। वे भी राम को सूर्य की सन्तति मानते थे। पेरुवियन (Peruvians) लोगो का सबसे बडा त्यौहार "रामसित्वा" कहलाता था।[4]

मय लोगो के पश्चात् इका (Inca) लोगो की सभ्यता का पता अमेरिका में चलता है। इंका लोग भी मूल मे भारत के निवासी थे। अमेरिका मे उन्होंने जो नगर बसाए उनके नाम भारतीय रखे। जैसे कोबल (Cobal) नाम दक्षिण भारत के जैनतीर्थ कोयबल की याद दिलाता है। एक बार एक इका नरेश ने अपने पुत्रो को अपने राज्य के उत्तरी भाग के लोगो को सभ्य बनाने के लिए भेजा, तो उन्होंने उस प्रदेश मे, जो राजधानी बसाई, उसका नाम उन्होंने मितला (Mitla) रखा—यह नगर आज भी मैक्सीको के ओआसका (Oaxaca) प्रदेश मे मौजूद है। यह मिथिला का अपभ्रष्ट रूप है, जो भारत मे तीर्थङ्कर नेमि की जन्म-भूमि और सम्राट जनक की राजधानी रही। इका लोग भारतीयो के अनुरूप

---

[1] The ancient edifices of Chichen in Central America bears a striking resemblance to the Stupas of INDIA" —Spence Hardy.

[2] In india are found almost the exact counter-parts of the religious structures of central America, analogies furnishing the strongest support of the hypothesis. Which places the origin of the American Semi-Civilization in South Asia—Squier.

[3] "The principal figure sits cross-legged on a couch ornamented with two leopards (lions) heads. The attitude is easy, the physiognomy the same as that of the other. Personages and the expression calm and benevolent (Nir vanic).

—Incidents Travel in Central AMERICA Vol-II, p. 318

[4] Asiatic Researches, Vol. I, P. 427

परमात्मतत्त्व के दशन अन्तर म करते थ और सभी जीवो म उसका आभास मानते थ। इसलिए ही वे सबके साथ प्रेम और करुणा का व्यवहार करत थ।[1]

इका लागा के समान ही अजटेक लाग (Aztecs) भी भारतीय सस्कृति के कायल थे। अहिंसा के तो व कट्टर अनुयायी थ। उनका सवअतिम सम्राट मोतेजुमा (Motezuma) नामक था। उसके जीवन की घटनाए हम भारतीय नरशो के जीवन व्यवहार की याद दिलाती है। सन् १५२० ई० म स्पेन के लागो न मक्सीको पर आक्रमण किया। सम्राट मोतजुमा का आत्मबल हीन नही था। वह शत्रु से मुकाबिला करन का तयार थ, किन्तु उन्होने देखा कि शत्रु का सनिक बल कही ज्यादा अधिक है और श्रष्ठ है। यह दखकर उनका अहिसा भाव और त्यागधम मचल उठा। उनके मन ने कहा कि क्या निरीह साम्राज्य के माह म फसकर अपने प्यारे सनिको के अमूल्य प्राणो को शत्रु की क्रूरता म नष्ट होन दू ? नही एसा नहीं होगा। मुझे साम्राज्य नही चाहिए—वह साम्राज्य जिसके कारण मानव मानव का खून बहाए। अहिसा ही परम धम है। अजटेक लोग सदा से जीव दया के प्रतिपादक रहे हैं। जो उन्होंने सोचा, वही उन्होंने किया। स्पेनवालो स उन्होन सधि करली और अपना राज्य खुशी से उनके अधिकार म म दे दिया। किन्तु इतने पर भी स्पन वाल क्रूर भेडिए थे—उन्होन सम्राट मोन्तेजुमा और उनके परिवार के साथ क्रूरता का व्यवहार किया उनका राजमहल भी लूट लिया। मोतेजुमा न राजसम्पत्ति गवा कर भी अपने को अमर कर लिया। ऐहिक सम्पत्ति स बढकर उन्होंन अहिसा धम की सम्पत्ति को माना और उसी पर उन्होने अपना सवस्व न्योछावर कर दिया।[2]

यद्यपि आज मय इका और अजटेक सस्कृतियो का नाम और काम केवल इतिहास म शेष है। परन्तु उनकी अहिसा और दयालु वीरता की अमर कहानी अब भी मानव को सही प्रेरणा दे रही है। अमरिका के अरिजोना (Arizona U S A) नामक प्रदेश म होपि (Hopi'es) नामक लोग हम प्राचीन अमेरिका की अहिसा सस्कृति की याद दिलाते हैं। 'होपि' का अथ है 'शातिवादी' और निस्सदेह 'हापि' शातिवादी हैं। वे सख्या म कुल ४५०० है। उनके दवता 'मासउ' (दवी महान् आत्मा Divine Great Spirit) अहिसा के अवतार थे। उन्होने जीव मात्र पर दया और करुणा करन का उपदेश लोगो को दिया था। तदनुसार हापि लागो न आज तक अपने विरोधी के ऊपर भी तलवार नही उठाई है। वे शाति के उपासक रहे हैं और अब भी है। उनके नता कटचिगवा अहिसा को ही परम धम मानते है। सत्य, सहकारिता आदि को अहिसा का ही अग समझते हैं। उनके धम की दो बातें मुख्य है (१) मासउ की उपासना करना (२) जीवहत्या नही करना। उनके पडोसी नव जो लोग उनके खेतो म भेड चरा लते है तो भी होपि उनस लडत नही।[3] कसे ही दयालु है ये लोग। प्राचीन अमेरिका की अहिसा को यही जीवित रखे हुए है।

---

[1] Voice of Ahinsa–Indo American Cultural No 1959 P 446

[2] Voice of Ahinsa Indo American Cultural SP no 1959 pp 446-447

[3] Ibid, pp 426-427

[4] भ० महावीर स्मति ग्रथ (आगरा) पृ० ३०७

इस प्रकार प्राचीन अमेरिका मे अहिंसा का बोलबाला रहा था। आज भी कुछ यूरोपीय अमेरिकन शाकाहार और जीवदया का प्रचार वहाँ कर रहे है।

चीन की सस्कृति में अहिंसा

भारत और चीन का सास्कृतिक सम्बन्ध बहुत पुराना है और वह भी अहिंसा पर आधारित।[1] किन्तु साम्यवादी नये चीन ने पुराने सम्पर्क को आज उठाकर ताक मे रख दिया है। वह पुराने जमाने की बरबरता पर उतर आया है। चीन को सदबुद्धि मिले और वह अहिंसा को पुन पहचाने यही उपादेय है।

भारत का सास्कृतिक ऋण चीन पर अत्यधिक है, क्योंकि भारत ने अहिंसा द्वारा चीन को सभ्य बनाया था। आदिकाल मे चीन एक असभ्य देश था। केस्पियन समुद्रतट पर बसे हुए मगोल जाति के लोग उपरान्त चीन मे आकर बसे और उन्ही के द्वारा सभ्यता का प्रसार चीन मे हुआ।[2] जैनशास्त्रो मे चीन की गणना अनार्य देशो मे की गई है।[3] चीन पर भ० ऋषभ के एक पुत्र ने शासन किया था। तीर्थङ्कर अभिनन्दन और शान्तिनाथ के पूर्वभव की जन्मनगरिया मगलावई देश मे थी, जो मागोलिया हो सकता है। जैन सन्तो ने चीन मे सत्य और अहिंसा का प्रचार किया था। चीनी त्रिपिटक मे जैनधर्म विषयक अनेक उल्लेख मिलते है।[4] किन्तु उनमे एक उल्लेख विलक्षण है।

इस उल्लेख मे एक जैनशास्त्र को अपनाया गया है। जिसे म० बुद्ध भी स्वीकार करते दिखाए गए हैं। भारतीय पिटक मे वह नही मिलता। सन् ५१९ ई० मे बोधिरुचि ने इसका अनुवाद चीनी भाषा मे किया था। जब जैन गुरु अपने ८८० लाख निर्ग्रन्थ शिष्यो के साथ विहार करते हुए उज्जैनी पहुँचे थे, तब उन्होने यह उपदेश सम्राट प्रद्योत को दिया था। इसमे पहले अहिंसा आदि व्रतो का उल्लेख है। उपरान्त इसमे बताया है कि एक आदर्श चक्रवर्ती सम्राट का धर्म क्या है? चक्रवर्ती नरेश लोगो के प्रति पशुबल का प्रयोग कर उनको भयभीत नही करता। सब ही देशो के लोग स्वत ही चक्रवर्ती का आदर करते है। इस सूत्र मे युद्ध का निषेध किया है। फिर भी यदि युद्ध लडना ही पडे तो उसमे अहिंसा का ध्यान रक्खा गया है।[5] सारागत इस जैनसूत्र को चीनवासियो ने अपने "त्रिपिटक" मे स्थान देकर जैन अहिंसा की महत्ता को स्वीकार किया है।

किन्तु सन् ५१९ ई० से बहुत पहले ही भारतीय सत चीन पहुँच चुके थे। जैन और बौद्ध ऋषियो ने चीन देश के प्रदेशो मे विहार करके अहिंसा को फैलाया था। परिणामस्वरूप चीन देश के महात्माओ ने भी

---

[1] हिंदी विश्वकोश (कलकत्ता), भा० ६ पृ० ४१७

[2] प्रश्न व्याकरण सूत्र (हैदराबाद) पृ० १४

[3] 'वीर महावीरजयंती वि०-भा० ४ पृ० ३५३-३५४ एव० VOA. 1958 Sp no.

[4] Voice of Ahinsa. Tirthankara Aristanemi Sp. no. vol. V, pp 79-82

अहिंसा धम का प्रचार किया था। म० कफ्यूशस न जनता को बताया था कि 'मनुष्य मुख्यत मास, मदिरा और वासनामय इद्रिय भोगो की ओर दौडता है किन्तु जो मनुष्य धम म परिपूण होना चाहता है वह एसे भोजन और आरामयम की इच्छा नही करता है।' (Analects) म० लाउत्से न भी ऐसा ही उपदेश दिया था—उन्होने कहा कि जो मनुष्य पूण होना चाहता है, वह भूमि स उपजा आहार ग्रहण करता है और ईश्वरीय आनन्द भोगता है। (चआङ्ग-त्जे)

ईस्वी सन् स ८०० वर्षों पूव चीन म मो-त्सु नाम क एक अहिंसावादी सन्त हो गए हैं। एक बार उन्होने सुना कि चीन देश का राजा सुङ्गवश क राजा पर आक्रमण करेगा तो वह अपन स्थान स बराबर बीस दिन रात चलकर चीन देश क राजा क पास पहुँच और उन्हें आक्रमण करने से रोका। उनका मत था कि प्रत्यक प्राणी प्रेम स रह युद्ध न कर।

चीनी भाषा म अहिंसा के लिए पु इह शब्द प्रयुक्त होता है जिसका अथ होता है मा-हन (किसी की हत्या न करो) धनात्मक रूप म वही मत्री" हो जाती है जिस चीनी लोग जन कहत है। चीन देश म ई चिंग' (Yi-ching) नामक ग्रन्थ वेदतुल्य मान्य रहा है। उसम मानवहित के लिए यह उपदेश दिया है कि मत्री के द्वारा ही मानव की उन्नति होती है। लोक और परलोक म जीवन सारभूत है। उसकी रक्षा करो। महात्मा का पद महान् है। उसकी रक्षा जन (मत्री) द्वारा होती है।

चीन देश म मास भोजन का प्रचलन कम रहा है। प्रो० तानयुनशान जब पहल पहल म० गाधी से मिले तो उन्होंने म० श्री जी के पूछने पर उनको यही बताया था कि 'अधिकाश चीनी बहुत कम मास खाते है। देहाती चीनी तो प्राय पक्के शाकाहारी होते है। गऊ की हत्या चीन म होती ही नही। किन्तु आज चीन अपन पूवजों क अहिंसा-माग स विमुख हो रहा है। यह दुख का विषय है।

अन्तिम शब्द

इस प्रकार सक्षप म ससार की विविध प्रमुख और प्राचीन सस्कृतियो म अहिंसा का अस्तित्व इस बात को स्पष्ट करता है कि प्राचीनकाल की मान्यता म सत्य दया मत्री आदि जीवन क बुनियादी सिद्धातो को आधारशिला माना गया था। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि मानव-सस्कृति का श्री गणश भारत क हिमालय तलहटी किंवा कलाश पवत क शिखर स भ० ऋषभ या वृषभ दव द्वारा किया गया था। प्राय सभी सस्कृतियो म भगवान् ऋषभ को किसी न किसी रूप म स्वीकार किया गया था। अत भ० ऋषभ का व्यक्तित्व इतना महान और विशाल है कि उसकी सहायता स विश्व म सांस्कृतिक एकता और सावभौम प्रम की स्थापना की जा सकती है। अत जनो का मतव्य है कि इस दिशा म एक सही कदम उठाकर शोध और प्रचार को आग बढ़ाए।

☆

भगवान् महावीर : वैशाली की दिव्य-विभूति

श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य
प्रोफेसर संस्कृत-पाली विभाग हिन्दू-विश्व-विद्यालय काशी

वैशाली युगान्तरकारिणी नगरी है। इसकी गणना भारत की ही प्रधान नगरियो मे नही की जा सकती, प्रत्युत ससार की कतिपय नगरियो मे यह प्रमुख है—उन नगरियो मे, जहाँ से धर्म की दिव्य ज्योति ने दम्भ तथा कपट के घने काले अन्धकार को दूर कर विश्व के प्राणियो के सामने मगलमय प्रभात का उदय प्रस्तुत किया, जहाँ से परस्पर विवाद करने वाले, कणमात्र के लिए अपने वन्धुजनो के प्रिय प्राणहरण करने वाले क्रूर मानवो के सामने पवित्र भ्रातृभाव की शिक्षा दी गई, जहा से "**अहिंसा परमो धर्म.**" का मन्त्र ससार के कल्याण के लिए उच्चारित किया गया। पाश्चात्य इतिहास उन नगरो की गौरव-गाथा गाने मे तनिक भी श्रान्त नही होता, जिनमे प्राणियो के रक्त की धारा पानी के समान वही और जिसे वह भाग्य फेरने वाले युद्धो का रगस्थल वतलाता है। परन्तु भारत के इस पवित्र देश मे वे नगर हमारे हृदय पट पर अपना प्रभाव जमाए हुए है, जिन्हे किसी धार्मिक नेता ने अपने जन्म से पवित्र वनाया तथा अपने उपदेशो का लीला नगर प्रस्तुत किया। वैशाली ऐसी नगरी मे अन्यतम है। इसे ही जैन धर्म के सशोधक तथा प्रचारक महावीर वर्धमान की जन्म-भूमि होने का विशेष गौरव प्राप्त है। वौद्धधर्मानुयायियो के हृदय मे कपिलवस्तु तथा रुम्मिनदेई के नाम सुनकर जो श्रद्धा और आदर का भाव जन्मता है, जैन मतावलम्बियो के हृदय मे ठीक वही भाव वैशाली तथा कुण्डग्राम के नाम सुनने से उत्पन्न होता है।

वैशाली के इतिहास मे वडे-वडे परिवर्तन हुए। उसने वडी राजनीतिक उथल-पुथल देखी। कभी वहाँ की राजसभा मे मन्त्रियो की परिषद् जुटती थी, तो कभी वहाँ के सस्थागार मे प्रजावर्ग के प्रतिनिधि राज्यकार्य के सचालन के लिए जुटते थे। कभी वशानुगत राजा प्रजाओ पर शासन करता था,

ता कभी बहुमत म चुना गया 'राजा नामधारी अध्यक्ष अपन ही भाइयो पर उन्हा की राय स उन्हीं क मगल-साधन म सचित रहता था। तात्पय यह है कि प्राचीन युग म वैशाली म राज्य-तन्त्र की प्रधानता थी। वाल्मीकि रामायण म वणित है कि जब राम-लक्ष्मण के साथ विश्वामित्र ने यहाँ पदापण किया था तब यहाँ के राजा सुमति न उनका विशेष सत्कार किया था।[1] जन सूत्रो तथा बौद्धपिटको म वैशाली प्रजातन्त्र का क्रीडास्थली क रूप म अकित की गई है। भगवान् बुद्ध न अपन अनक चातुमास्य यहाँ बिताए थे। इसम चार प्रधान चत्य थ—पूर्व म उदेन दक्षिण मे गौतमक पश्चिम म सप्ताम्रक और उत्तर म बहुपुत्रक।[2] अम्बपाली नामक गणिका जो धार्मिक श्रद्धा तथा वराग्य के कारण बौद्ध धम म विशष प्रसिद्ध है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वष्णव धम म पिगला—यहीं रहती थी। उसी का आम्रवन बुद्ध क उपदेश दन का प्रधान स्थान था। बुद्ध क समय लिच्छवि लागो को यहाँ प्रजातन्त्र क रूप म हम शासन करते पात हैं। इसम बहुत पहल हम यहाँ महावीर वधमान का जन्मत, शिक्षा ग्रहण करते तथा प्रव्रज्या लेत पात हैं। वर्द्धमान क समय म भी यहाँ गणतन्त्र राज्य हा था। वशाली क इतिहास म कोई महान परिवतन अवश्य हुआ होगा जिसम वह विशाला तथा मिथिला दानो राज्यो की राजधानी बन गई तथा उसका शासन राज्यतन्त्र हा गया। इस परिवतन क कारणो की छान बीन करना इतिहास प्रमियो का कतव्य है।

वशाली म अनक विभूतियाँ उत्पन्न हुइ। परन्तु उनम सबसे सुन्दर विभूति है—भगवान महावीर जिनकी प्रभा आज भी भारत का चमत्कृत कर रही ह। लौकिक विभूतियाँ भूतलशायिनी बन गइ परन्तु यह दिव्य विभूति आज भी अमर है और आन वाली अनेक शताब्दियो म अपनी शाभा का इसी प्रकार विस्तार करती रहगी। बौद्ध धम स जन धम बहुत पुराना है। इसका संस्थापन भगवान् ऋषभदेव न किया था जनियो की यही मान्यता है। तइसवें तीथकर पाश्वनाथ वस्तुत ऐतिहासिक पुरुष हैं। व महावीर से लगभग दो सौ वष पहल हुए थ। व काशी क रहन वाल थ। महावीर न उनके धम म सशोधन कर उस नवीन रूप प्रदान किया। भारत का प्रत्यक प्राप्त जन धम की विभूतियो स मण्डित है। एतिहासिक लाग पाश्वनाथ का जन धम का सस्थापक मानत हैं और वधमान महावीर का सशोधक। महावीर गौतम बुद्ध क समसामयिक थ परन्तु बुद्ध क निर्वाण स पहल हा उनका अवसान हो गया था। इस प्रकार वदिक धम से पृथक धर्मों के सस्थापको म महावीर वधमान ही प्रथम मान जा सकते हैं और इनका जन्म भूमि होन स वशाली की पर्याप्त प्रतिष्ठा है।

---

[1] तस्य पुत्रो महातेजा सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत्यमरप्रख्य सुमतिर्नाम दुजय ॥१८॥
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम्
श्रुत्वा नरवरश्रेष्ठ प्रत्यगच्छन्महायशा ॥१६॥ बालकाण्ड ४७ सग

[2] द्रष्टव्य दीघनिकाय महापरिनिब्बाणसुत्त —१३

वैशाली का भौगोलिक वर्णन

वैशाली तथा उसके आसपास के प्रदेशो का प्रमाणिक वर्णन जैनसूत्रो मे विशेष रूप से दिया हुआ है। इनकी विशद सूचना बौद्धग्रन्थो मे भी उपलब्ध नही होती। इन प्रदेशो का सक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है—

वैशाली के पश्चिम मे गण्डकी नदी वहती है। यह नगरी वडी समृद्धशालिनी थी। इसका भौगोलिक विस्तार भी न्यून न था। गण्डकी के पश्चिमी तट पर अनेक ग्राम थे जो वैशाली के 'शाखानगर' कहे जाते हैं। निम्नलिखित ग्रामो का परिचय मिलता है—

१. **कुण्डग्राम**—इस नाम के दो ग्राम थे। एक का नाम 'ब्राह्मकुण्डग्राम' या 'कुण्डपुर' था जिसमे ब्राह्मणो की ही विशेष रूप से वस्ती थी। दूसरे का नाम 'क्षत्रियकुण्डग्राम' था जिसमे क्षत्रियो का ही प्रधानतया निवास था। इनमे दोनो क्रमश एक दूसरे के पूर्व-पश्चिम मे थे। थे दोनो पास ही पास। दोनो के बीच मे एक वडा वगीचा था जो 'वहुसालचैत्य' के नाम से विख्यात था। दोनो नगरो के दो-दो खण्ड थे। 'ब्राह्मणकुण्डपुर' के नायक ऋषभदत्त नामक ब्राह्मण थे, जिनकी भार्या का नाम 'देवानन्दा' था। ये दोनो पार्श्वनाथ के द्वारा स्थापित जैन धर्म के मानने वाले गृहस्थ थे। 'क्षत्रिय-कुण्ड-ग्राम' के दो विभाग थे। इसमे करीव पाँच-सौ घर 'ज्ञाति' नामक क्षत्रियो के थे, जो उत्तरी भाग मे जाकर वसे हुए थे। उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। ये काश्यपगोत्रीय ज्ञाति क्षत्रिय थे तथा 'राजा' की उपाधि से मण्डित थे। वैशाली के तत्कालीन राजा का नाम था चेटक, जिनकी वहिन त्रिशला का विवाह सिद्धार्थ से हुआ था। इन्ही त्रिशला और सिद्धार्थ के कनिष्ठपुत्र 'वर्धमान' थे, जिनका जन्म इसी ग्राम मे हुआ था।

२ **कर्मारग्राम**—प्राकृत 'कम्मार' कर्मकार का अपभ्रश है। अत कर्मार का अर्थ है मजदूरो का गाव अर्थात् लोहारो का गाँव। वह गाव भी कुण्डग्राम के पास ही था। महावीर प्रव्रज्या लेकर पहली रात को यही ठहरे हुए थे।

३ **कोल्लाक सनिवेश**—यह स्थान पूर्व निर्दिष्ट ग्राम के समीप ही था। कर्मारग्राम से विहार करके महावीर ने यही पारणा किया था। उपासकदशासूत्र के प्रथमाध्ययन मे इस स्थान की स्थिति का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह नगर वाणिज्यग्राम (जिसका वर्णन नीचे है) के तथा उस वगीचे के बीच मे पडता था।

४. **वाणिज्य ग्राम**—यह जैनसूत्रो का 'वाणिज्यग्राम' वनियो का गाव है। गण्डकी नदी के दाहिने किनारे पर यह वडी भारी व्यापारी मण्डी थी। ऐसा जान पडता है, यहाँ वडे-वडे धनाढ्य महाजनो की वस्ती थी। यहाँ के एक करोडपति का नाम आनन्द गाथापति था, जो महावीर के वडे भक्त सेवक थे। आजकल की वैशाली (मुजफ्फरपुर जिले की वसाढपट्टी) के पास वनिया ग्राम है। वहुत सम्भव है कि यह गाव 'वाणिज्यग्राम' का ही प्रतिनिधि हो।

बौद्धग्र थो के वि शेपत दीघनिकाय क अनुशील न से पता चलता है कि बुद्ध के समय म वशाली बड़ी समद्धशाली नगरी थी जिसके उपनगर अनेक थे, तथा उस समय खूब प्रसिद्ध थे।

वशाली महावीर की ज मभूमि

वशाली को हमने महावीर वधमान की ज म भूमि बतलाया है परन्तु आजकल सब साधारण जनता की मा यता है कि बिहार म क्यूल स्टेशन से पश्चिम आठ कोस पर स्थित लच्छुआड गाव ही महावीर की ज म भूमि है परन्तु सूत्रों की आलोचना से यह मा यता निमूल ठहरती है। इस विषय म प० कल्याणविजयजी गणी न अपने प्रामाणिक ग्र थ श्रवण भगवान महावीर [1] म जो विचार प्रकट किए हैं वे मरी दृष्टि मे निता त युक्तियुक्त हैं—

१ पहली बात ध्यान दने योग्य यह है कि सूत्रों म महावीर विदह क निवासी माने गए हैं। कल्पसूत्र म महावीर को विदेह विदहदिन्न विदहजच्चे विदेहसूमाल। अर्थात वि दहदत्त विदेहजात्य विदेहसुकुमार लिखा है। वे वशालिक भी कह गए हैं। अत इ ह विदेह का राजधानी वशाली का निवासी मानना अनुचित नहीं है।

२ क्षत्रियकुण्डग्राम क राजपुत्र जमालि न ५०० राजपुत्रो के साथ जन धम ग्रहण किया था। इससे यह कोई बड़ा समृद्ध नगर प्रतीत होता है। महावीर का प्राय नियम-सा था कि जहाँ कोई धनाढय भक्त हो, वहाँ वर्षावास करना। अत इस क्षत्रिय कुण्डग्राम की प्रसिद्ध तथा समद्धि के अनुकूल महावीर का वर्षावास करना निता त स्वाभाविक है परन्तु यहाँ वर्षावास का बिल्कुल उल्लख नहीं मिलता। इसका कारण क्या ? उचित तो यह मालूम पड़ता है कि यह नगर वशाली के पास था। अत वशाली म वर्षावास करते समय उ होने जो उपदेश दिया था उससे कुण्डग्राम के निवासियों न लाभ उठाया। अत यहाँ पथक रूप मे वर्षावास करने का उल्लख सूत्र ग्रथो म नही मिलता।

३ प्रव्र या क अन तर महावीर न जिन स्थानो पर निवास किया उन स्थानो की भौगोलिक स्थिति पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि व सब स्थान वशाली क आसपास थ। दीक्षा लन क दूसरे दिन महावीर न कोल्लाक सनिवेश म पारणा की थी। जन सूत्रों के आधार पर कोल्लाक सनिवेश दो हैं और वे भिन्न भिन्न स्थानो पर हैं—एक तो वाणिज्यग्राम के पास और दूसरा राजगृह क पास। अब यदि वतमान ज मस्थान को ही ठीक माना जाए तो वहाँ स कोल्लाक सनिवेश बहुत ही दूर पड़ता है जहाँ एक ही दिन म पहुँच कर निवास करने की घटना युक्तियुक्त सिद्ध नहा हो सकती। राजगृह वाला स्थान चालीस मील पश्चिम की ओर पड़ेगा और दूसरा स्थान इससे भी अधिक दूर। अत महावीर को वशाली का निवासी मानना ही ठीक है, क्योंकि यहाँ से कोल्लाक सनिवेश बहुत ही समीप है।

---

[1] 'श्रमण भगवान महावीर—शास्त्र-संग्रह-समिति जालोर क द्वारा प्रकाशित स० १९९८, भूमिका (मारवाड) पष्ठ २५ २८

४ प० कल्याणविजयजी ने जैनसूत्रो के आधार पर महावीर के चातुर्मास्य के बिताने के स्थानो का बडा ही सागोपाग वर्णन किया है। महावीर ने प्रथम चातुर्मास्य अस्थिक-ग्राम मे बिताया और दूसरा राजगृह मे। राजगृह जाते समय वे 'श्वेताम्बिका' नगरी से होकर गए और तदनन्तर गगा को पार कर राजगृह मे पहुँचे। बौद्ध ग्रन्थो मे पता चलता है कि श्वेताम्बिका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय रास्ते मे पडती थी। यह प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर मे और विदेह के पश्चिम मे पडता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच मे गगा पार करनी पडती थी, यह स्थान इन भौगोलिक स्थिति के निरीक्षण से प्रतीत होता है। आधुनिक क्षत्रिय कुण्डपुर जहाँ बतलाया जाता है, वहाँ से ये दोनो बातें ठीक नहीं उतरती। वहाँ से श्वेताम्बिका नगरी न तो रास्ते मे पडती है और न राजगृह जाते समय रास्ते मे गगा को पार करने का अवसर आवेगा।

इन सब प्रमाणो पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि वैशाली ही वर्धमान महावीर की जन्मभूमि थी, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही हो सकता। महावीर की मृत्यु "पावापुर" मे मानी जाती है। बौद्ध ग्रन्थो के अनुशीलन से जान पडता है कि यह स्थान जिला गोरखपुर के पडरौना के पास 'पप-उर' ही है। सगीति परियायसुत्त (दीघनिकाय ३३ वा सुत्त) के अध्ययन से पता चलता है कि यहाँ मल्ल नामक गणतन्त्र लोगो की राजधानी थी, जिसके नये सस्थागार (सठागार) मे बुद्ध ने निवास किया। यह भी पता चलता है कि बुद्ध के आने से पहले ही 'निगठ नातपुत' का देहावसान हो चुका था और उसके भक्तो तथा अनुयायियो मे मतभेद भी होने लगा था। बौद्धग्रन्थो मे महावीर 'निगठ नातपुत' के नाम से विख्यात है। 'ज्ञातपुत' तो ज्ञातिपुत्र है। ज्ञाति नामक क्षत्रिय-वश मे उत्पन्न होने से यह नाम पडा। 'निगठ' ग्रन्थ है, जो ससार के ग्रन्थियो से युक्त होने के कारण केवल ज्ञान-सम्पन्न वर्धमान की उस समय की उपाधि प्रतीत होती है।

जैन धर्म की विपुल उन्नति के कारण ये ही वर्धमान महावीर है, जिनका क्षत्रियकुण्डग्राम मे ५९९ ई० पू० तथा तिरोधान ५२७ ई० पू० पावापुर मे हुआ। इनकी जीवन-घटनाए नितात प्रसिद्ध हैं। पार्श्वनाथ के द्वारा जिस जैन धर्म की व्यवस्था पहले की गई थी, उसमे इन्होने सशोधन कर उसे समयानुकूल बनाया। पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतो—अहिंसा, सत्य, अस्तेय तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है, पर महावीर ने 'ब्रह्मचर्य' को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतला कर उसकी भी गणना महाव्रतो मे की है। पार्श्वनाथ वस्त्रधारण करने के पक्ष-पाती थे पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियो के वास्ते वस्त्रपरिधान का बहिष्कार कर नग्नतत्त्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आजकल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायो का विभेद इस प्रकार बहुत प्राचीन काल से चला आता है।

महावीर ने व्यक्ति के लिए जो सन्देश प्रस्तुत किया है, वह सदा मनुष्यो के हृदय में आशा तथा उत्साह का सचार करता रहेगा। प्राणी अपना प्रभु स्वय है। उसे अपने कर्मो के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति पर आश्रय लेने की आवश्यकता नही है। जीव स्वावलम्बी है। जीव स्वतन्त्र है। वह अनन्त

चतुष्टय से सम्पन्न रहता है। उसमें अनन्त सामर्थ्य भरी हुई है। वह इस सामर्थ्य को नहीं जानता इसीलिए वह संसार में नाना क्लेशों को भोग रहा है सामर्थ्य अपने सच्चे स्वरूप का भान होते ही वह क्लेशमय बन्धनों से मुक्ति पा करके बली होकर विचरने लगता है। जगत् के कण कण में जीवों की सत्ता मानना उन्हें किसी प्रकार भी हिंसा न पहुँचाना मानव की सामर्थ्य की पहचान करना—आदि सुन्दर शिक्षाएँ हमें वैशाली के इस महापुरुष ने दी हैं। इस दिव्य विभूति की यह वाणी सदा स्मरण रखने योग्य है कि जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़ती जब तक इन्द्रियाँ अशक्त नहीं होती तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए बाद में कुछ होने का नहीं—

जरा जाव न पीडेइ वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायन्ति, ताव धम्मं समायरे॥

उपाध्याय श्री यशोविजय की जीवन-दृष्टि

मुनि नंदीषेण विजय 'विश्वबंधु'

जैन धर्म की समस्त परम्पराओ मे उपाध्याय श्री यशोविजय जी का स्थान अप्रतिम है। उन्होंने अपने प्रकाण्ड पाडित्य, अपूर्व प्रतिभा एवं नवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा द्वारा जैन साहित्य और जैन दर्शन को जो नवीन मोड़ दिया, उसका भारतीय दार्शनिक साहित्य मे विशेष स्थान है। वे नही होते, तो यह अंग एक प्रकार से अछूता ही रह जाता।

अन्य भारतीय विद्वानो की तरह हमे श्री उपाध्याय यशोविजयजी के बारे मे बहुत ही कम जानकारी है। पर स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने पुरुषार्थ से 'सुजस लहरी' प्राप्त की, उसी के आधार पर थोडी बहुत प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो सकी है। सुजस लहरी' के अनुसार उपाध्याय श्री का जीवन इस प्रकार था।

उपाध्याय श्री गुजरात मे कलोल के पास 'कनोड़' नामक ग्राम मे पैदा हुए। उनके पिता का नाम 'नारायणभाई' तथा माता का नाम 'सौभागदे' था। उपाध्याय श्री के एक सहोदर भी था, जिसका नाम था 'पद्मसिंह'। एक बार सम्राट् अकबर के प्रतिबोधक प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हीरविजय सूरि की शिष्य परम्परा मे होने वाले पण्डित-वर्य श्री नयविजयजी महाराज पाटण के समीपवर्ती कुणगेर' नामक ग्राम मे पधारे। उनके प्रतिबोध से दोनो बंधु अपने माता पिता की अनुमति लेकर उनके साथ हो लिए। दोनो ने स० १६८८ मे नयविजयजी महाराज के पास ही दीक्षा ग्रहण की। उसी साल आचार्य विजयदेव सूरि के हाथो उनकी बडी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा के समय उन दोनो भाइयो का मूल नाम 'जसवंत' की जगह 'यशोविजय' और 'पद्मविजय' रखा गया। उपाध्याय श्री ने अपनी प्रत्येक कृति के अंत मे अपने भाई को सहोदर के रूप मे स्मरण किया है।

एक बार अहमदाबाद शहर म यशोविजय जी न सघ के सामन आठ अवधान किए। यह सम्वत् १६६६ का बात था। उपाध्याय श्री क अवधान से प्रभावित हाकर एक धनजी सूरा नामक प्रसिद्ध व्यापारी न गुरु नयविजयजी महाराज से प्राथना की कि मुनि यशोविजयजी का काशी जस विद्या-स्थान म भेजकर अध्ययन करवाएँ तो जन-शासन की बडी उन्नति हागी। इस काय के लिए उक्त सेठ न उसी समय दो हजार चादी के दिनार का हुण्डी लिख दी। मुनि यशोविजय जी विद्या-अध्ययन के लिए काशी चल पडे और वहाँ किसी प्रसिद्ध विद्वान के पास रहकर न्याय आदि दशनो का तलस्पर्शी अध्ययन किया।

उस समय काशी म यह परिपाटी थी कि जो विद्या-बल से विद्वानो को पराजित कर देता उसे उपाध्याय या आचाय की पदवी दी जाती थी। उपाध्याय जी न वह पदवी काशी क विशिष्ट विद्वानो का अपनी प्रतिभा स पराजित करके प्राप्त की। उल्लेख तो एसा भी मिलता है कि उन्ह काशी के विद्वानों न सम्मानपूवक आचाय की पदवी प्रदान की थी। उपाध्याय श्री ने उसका उपयोग नयोपदेश जसे एकाध ग्रन्थ म ही किया है।

न्यायशास्त्र आदि के गम्भीर अध्ययन क बाद उपाध्याय श्री अहमदाबाद लौट गए। वहाँ उन्होने औरगजेब के मोहब्बत-खा नामक गुजरात के सूबे क अध्यक्ष के समक्ष १८ अवधान किए। उनकी इस चमत्कारिक प्रतिभा स आकृष्ट हाकर सघ न उन्ह उपाध्याय पद पर अधिष्ठित किया। आचाय श्री विजयदेव सूरि के शिष्य आचाय विजयप्रभ सूरि न स० १७१८ म उन्ह वाचक पद म विभूषित किया।

बडौदा स्टेट क दबाही ग्राम (डभाई) म वि० स० १७४३ म उपाध्याय श्री का स्वगवास हुआ। वि० सं० १७४५ म उसी स्थान पर उनकी पादुकाए प्रतिष्ठित की गयी जहा जाकर आज भी अनेकानेक लोग विद्या-अध्ययन की प्ररणा पाते हैं।

यह उपाध्याय श्री का बाह्य जीवन है। लकिन उनका साक्षर जीवन सारे भारतीय दशन म विशेष महत्व रखता है। जन परम्परा म होने के कारण श वे यथेष्ट प्रसिद्ध नही हो पाए। यदि व दूसरी परम्परा म हाते तो आज उनकी गणना धमकीर्ति शकराचाय रामानुज जसे विशिष्ट विद्वानो म होती।

६ वी शताब्दी क बाद उदयन तथा गगेश जस न्यायशास्त्र क विशिष्ट विद्वानो द्वारा न्यायशास्त्र न एक नवीन प्रणाली अपनाई जो नव्य न्याय क नाम स प्रसिद्ध है। इसम प्राय सभी प्रमेयो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। इस प्रणाली न भारतीय साहित्य क सभी अगों पर इतना अधिक प्रभाव डाला है कि उस प्रभाव म शून्य प्रत्येक शास्त्र एक प्रकार से अविकसित समझी जाने लगी है। सांख्ययोग कणाद दशन अन्य दशन मीमासा व्याकरण छन्द शास्त्र आदि समस्त अगो पर उसका प्रभाव परिलक्षित होता है। इधर कलिकाल-सवज्ञ आचाय हेमचन्द्र क बाद कोई ऐसा विशिष्ट विद्वान नहीं हुआ कि उस प्रणाली का विशेष रूप स अध्ययन कर जन न्यायशास्त्र को उसस मण्डित करता। आचाय हेमचन्द्र

हुए वे असमंजस में ही खड़े थे कि इतने में दूर से उपाध्याय श्री की दृष्टि उन पर पड़ी। वे उसी क्षण पट्टे से उठे और सीधे गुरु-चरणों में जाकर झुक गए। ऐसी थी उनकी विद्या-भक्ति!

उपाध्याय श्री की प्रतिभा के अनुरूप अल्प परिमाण में भी हम उनके समान गुण-ग्राहकता, विद्याभिरुचि तथा नम्रता के गुण का विकास कर सकें तो यही उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी।
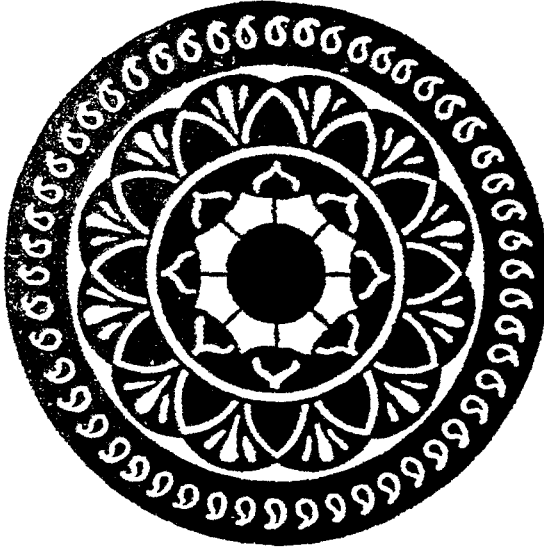
आचार्य हेमचन्द्र और सम्राट् कुमारपाल

विजयमुनि साहित्यरत्न

भारत का मानचित्र देखने पर तुम यह जान सकोगे कि गुजरात कहाँ पर है ? गुजरात पश्चिम में है। यह भारत का एक प्रसिद्ध प्रान्त है। गुजरात के उत्तर में मालवा और राजपूताना है। दक्षिण में महाराष्ट्र है। आज के गुजरात की अपेक्षा प्राचीन काल का गुजरात बहुत विस्तृत और विशाल था। इसके राज्य की सीमा अजमेर तक आ पहुँची थी। यह एक बहुत बड़ा राज्य था। इसकी राजधानी पाटण थी। पाटण उस युग के प्रसिद्ध और सुन्दर नगरों में से एक था। शिक्षा, व्यापार और कला-कौशल का यह एक मुख्य केन्द्र था। यहाँ की कला, यहाँ की संस्कृति तथा यहाँ की सभ्यता का प्रसार और प्रचार दूर-दूर तक फैल चुका था। शिक्षा पाने के लिए और व्यापार करने के लिए यहाँ पर देश विदेश के लोग आते जाते थे। आज भी पाटण अपने ज्ञान भण्डारों के लिए विख्यात है।

यहाँ के राजा का नाम था—जयसिंह। जयसिंह राजा शूरवीर और पराक्रमी था। वह शासन में कुशल और व्यवहार में चतुर था। राजनीति का वह पण्डित था। युद्ध-कला में वह प्रवीण था। अपने आस-पास के राजाओं को युद्ध में जीत कर जयसिंह ने गुजरात को विस्तृत एवं विशाल बनाया। अपने राज्य को समृद्ध और सुखी बनाने का हर प्रयत्न उसने किया था। परन्तु जयसिंह के अपना कोई सन्तान न थी। उसके बड़े भाई का पुत्र था—कुमारपाल। कुमारपाल ही जयसिंह के राज्य का अधिकारी था। परन्तु जयसिंह कुमारपाल से प्रेम नहीं करता था। अन्दर ही अन्दर वह कुमारपाल से घृणा करता था। जयसिंह के मन में कुमारपाल के प्रति क्रोध और द्वेष बढ़ता ही गया। उसने कुमारपाल को मरवाने के लिए अनेक बार प्रयत्न किए। किन्तु कुमारपाल बहुत सतर्क था और अपने चाचा जयसिंह की दूषित भावना से बहुत परिचित हो गया था। अपने प्राणों की रक्षा के लिए कुमारपाल को वर्षों तक अज्ञातवास में रहना पड़ा और इधर-उधर भटकना पड़ा। जीवन की रक्षा कोई सहज काम नहीं है।

अपने अज्ञातवास के कठिन समय में भी कुमारपाल ने अपनी धीरता का और कष्ट-सहिष्णुता का परित्याग नहीं किया, वह साधु का वेष बना कर दूर प्रान्तों में घूमता-फिरता रहा। न कहीं रहने का ठिकाना था, और न कहीं खाने-पीने का प्रबन्ध। कर्म की गति बड़ी विचित्र है। राजघराने में जन्म लेकर भी कुमारपाल दर-दर का भिखारी बना फिर रहा है। न कोई सुख-सुविधा की पूछने वाला है, और न कोई दुख-दर्द में साथी है। जिस किसी मनुष्य के हृदय में दया जगी, उसी के द्वार पर जो मिला—खा-पी लिया। जब कभी दुःख आता है, तो अकेला नहीं आता। वह अपने साथ एक लम्बी परम्परा लेकर आता है।

परन्तु इस कष्ट में भी कुमारपाल को एक प्रकार का मानसिक सन्तोष था। देश-विदेश में घूमने से उसे नए-नए अनुभव मिले। भिन्न-भिन्न देशों की रीति-नीति के अध्ययन का अवसर मिला। अनेक भाषाओं का ज्ञान उसे हो गया। विभिन्न देशों की संस्कृति, कला और सभ्यता को देखने और परखने का समय मिला। विभिन्न लोगों के शील-स्वभाव से परिचित होने का मौका मिल गया। देश की गरीबी, अज्ञान और अवस्था का परिज्ञान हो गया। अज्ञातवास में कुमारपाल को कष्ट अवश्य मिला, पर विशाल अनुभव-राशि की सम्पत्ति को पाकर वह प्रसन्न और सन्तुष्ट था। मनुष्य जो कुछ पाता है कष्ट में ही पाता है।

जयसिंह को उनकी प्रजा सिद्धराज के नाम से भी सम्बोधित करती थी। वह अपनी प्रजा को प्यार करता था, और प्रजा भी उसका आदर करती थी। सिद्धराज के पास विशाल राज्य था अपार बल था, फिर भी उनके मन में एक चिन्ता थी, कि मेरे बाद मेरे राज्य का अधिकारी कौन हो? कुमारपाल को तो वह घृणा करता ही था। अतः सिद्धराज ने चाहड़ नाम के एक क्षत्रिय पुत्र को अपना दत्तक पुत्र बना लिया और उसका उत्तराधिकारी चाहड़ ही बने इस प्रकार की व्यवस्था की।

इधर कुमारपाल के दुखों का अन्त अभी नहीं आया था। जहाँ जरा भेद खुलने जैसी आशंका होती, तो कुमारपाल वहाँ से आगे के लिए प्रस्थान कर देता। घूमता-फिरता वह खंभात जा पहुँचा। खंभात का अधिकार उस समय महामंत्री उदयन के हाथ में था। उसी अवसर पर वहाँ आचार्य हेमचन्द्र भी पधारे हुए थे। महामंत्री उदयन उपाश्रय में अनुदिन उनके दर्शन को जाता था। घुमक्कड़ कुमारपाल भी एक दिन आचार्य की सेवा में जा पहुँचा। कुमारपाल को देखने के साथ ही आचार्य हेमचन्द्र ने महामंत्री उदयन से कहा—"निकट भविष्य में ही यह व्यक्ति गुजरात का सम्राट बनेगा।" आश्चर्य हुआ। कुमारपाल के कष्ट चरम सीमा पर पहुँच चुके थे। निराशा में डूबे को आशा की एक किरण भी जीवन प्रदान कर देती है। आचार्य हेमचन्द्र की आशा-भरी वाणी को सुनकर कुमारपाल गद्गद स्वर में बोल उठा—

"आचार्य प्रवर! आपकी वाणी सिद्ध हो। यदि मुझे गुजरात का साम्राज्य मिल गया, तो वह आपका ही होगा। मैं तो आपका सेवक बन कर रहूँगा। आपके आदेश का पालन मैं उसी प्रकार करूँगा,

जिस प्रकार महामुनि वशिष्ठ के आदेश का पालन राम ने किया था और आचार्य भद्रबाहु के आदेश का पालन सम्राट चन्द्रगुप्त ने किया था। आप मेरे गुरु होंगे और मैं आपका शिष्य होकर रहूँगा।

आचार्य ने शान्त और गम्भीर वाणी में कहा— कुमारपाल! राजगुरु बनने की मेरे मन में जरा भी अभिलाषा नहीं है। तुम मेरे शिष्य बनो इसकी भी मेरे मन में कामना नहीं है। राजनीति में प्रवेश करना मेरे साधु जीवन की मर्यादा भी नहीं है। बस एक बात का ध्यान रखना कि जब तुम गुजरात के सम्राट बनो तब अपने राज्य में अहिंसा का प्रचार और प्रसार करना। तुम स्वयं भी अहिंसा का पालन करना और अपनी प्रजा में भी अहिंसा का पालन करवाना। अपने राज्य का पालन सदा अनेकान्त के आधार पर करना। सदा समन्वय बुद्धि से काम करना। आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त रहा तो तुम भी सुखी रहोगे और तुम्हारी प्रजा भी सुखी रहेगी।

महामन्त्री उदयन कुमारपाल को अपने घर ले गया। स्नान कराकर उसे भोजन कराया। कुछ मार्ग-व्यय देकर उसे अपने घर से विदा किया। कुमारपाल घूमता घूमता मालवा में पहुँचा। वहाँ पर उसे यह समाचार मिला कि सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु हो चुकी है। वह तुरन्त पाटण आया। कुमारपाल ने अपने बुद्धि-बल से और अपने पराक्रम से राज्य सिंहासन पर अधिकार कर लिया। जिस समय कुमारपाल ने राज्य पर अधिकार किया उस समय उसकी अवस्था पचास वर्ष की थी। आचार्य हेमचन्द्र की भविष्य-वाणी को सफल देख कर उसके मन में आचार्य के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा निरन्तर बढ़ने लगी। वह उन्हें अपना गुरु बनाना चाहता था।

कुमारपाल को राज्य तो मिल गया परन्तु अभी तक उसके दुर्दिनों का अन्त नहीं हो सका। जयसिंह के पुराने मन्त्रियों ने षडयन्त्र रचकर उसे मार डालने का भरसक प्रयत्न किया पर वे सफल नहीं हो सके। सिद्धराज का दत्तक पुत्र चाहड भी सेना लेकर पाटण पर चढ़ आया किन्तु कुमारपाल के पराक्रम के सामने वह टिक नहीं सका। कोकण देश का मल्लिकार्जुन भी कुमारपाल से वैर रखता था उसे भी कुमारपाल ने हराया। अजमेर के राजा अर्णोराज से भी कुमारपाल को बहुत काल तक संघर्ष करना पड़ा आखिर वह भी हार गया। लगातार दस वर्षों तक कुमारपाल को आस पास के राजाओं से युद्ध करना पड़ा। संघर्ष से मनुष्य का चित्त शान्त नहीं रहता। युद्ध के दिनों में उसे अपने प्रियजनों की स्मृति भी नहीं रहती। संघर्ष रत मनुष्य के सामने एकमात्र यही लक्ष्य रहता है कि मुझे सफलता मिले और कुमारपाल को वही मिला।

संघर्षों से विरत होने पर शान्ति के मधुर क्षणों में कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का स्मरण हो आया। उन्हें अपना गुरु बनाने की उसकी उत्कट अभिलाषा थी। कुमारपाल अभी तक शैव था। शैव धर्म में उसकी निष्ठा थी। परन्तु आचार्य के अहिंसा और अनेकान्त के उपदेश से वह जैन बन गया। पाटण में पधारने की उसने आचार्य से प्रार्थना की— कुमारपाल के सहयोग से मैं अहिंसा अनेकान्त

RELIGION
and
Philosophy

PHILOSOPHY AND RELIGION

Editor
Dr B B JAIN M. A Ph D

GURUDEVA
SHRI RATNA MUNI
SMRITI GRANTHA

English Section

Publisher
GURUDEVA
SMRITI GRANTHA SAMITI

EDITORIAL.

The basic elements of Indian Culture are penance sacrifice and renunciation These elements have been harmoniously and inseparably blended into the life of the people Renunciation rather than enjoyment lies at the root of Indian culture Our culture is basically spiritual rather than materialistic It symbolises the victory of spiritualism over materialism It marks the victory of the soul over the body of continence over indulgence It enshrines the blending of nobility of thought and intention with nobility of life conduct and action

The revered saint Shri Ratan Chand ji Maharaj was one of the greatest champions and protectors of this eternal Indian culture one of the most enlightened preceptors and interpreters a torch bearer emanating spiritual light and glory that will, for ever steer clear the barque of human soul through the dark ocean of eternity He symbolised in himself a harmonious blending of purity of thought and nobility of action Having conquered himself he rose to be the conqueror of the world He was an ocean of learning but he never prided himself over the possession of this rarest of treasures He effected unprecedented renunciation without attaching himself to renunciation He underwent rigorous penance but never propagated it He lived a life of exemplary austerity but never professed it He was a saint the like of whom is born but once in ages

Birth growth death—this is the whole story of human life But the life of this renowned preceptor was much more than this He was born with a mission in view and dedicated his entire life to achieve that mission His mission of life was service of humanity and this he accomplished to a degree rarely accomplished before Thus he lived and thus he died never to be born again and therefore never to die again

Childhood youth age—this is the history of the life of man But this revered saint gave a new turn to this conventional pattern of life He did not spend his childhood in mirth and gaiety but in the acquisition of knowledge He devoted his youth not to indulgences of any kind but to the practising of continence and penance His age was not a curse but a blessing This revered saint made an offer of his life at the shrine of the ultimate good and well being of mankind

This revered saint was born on the fourteenth day of the sixth month of the Vikrami Samvat 1850 in a small village Tatija in ajisthan At the early adolo scent age of 12 in 1862 he renounced the world and offered himself as a disciple to the most revered saint and preceptor Shri Har ji Mal Ji Maharaj His father Shri Ganga Ram ji and mother Swarupa Devi ji felt gratified in dedicating their beloved son to the great preceptor The revered Ratan Chand ji possessed an in

CONTENTS

Thus swings in cradling death and birth ;
Ay, actions good or bad
Are but of equal fate,
That doth it flow
In different worlds, in different mood
Getting the different air and food :
Easier it is to sovereignise
Over the dead external things,
And worlds—the earth, the moon, the stars,
But it is as hard nut to crack,
One's mastery over one's spirit
This is the very mask
Soul hast for itself wrought
Unwisely to be thought
The mundane pleasures and lusty task

Should be all and be end all
Of present life
But alas ! it hast forgotten,
"That within itself doth flow
A crystal cataract
With fainting but eternal tunes,
Because of confusive humbug
Is heard no more
Its clear and the sweetest cadences "

Later He unscreened and placed
The Truth within a garb divine
Not only to his own epoch
But also to advent era,
And blew in a heroic tone
At a moment of celestial expedition,
'A March To Salvation '
His presence proved a beauty laden Spring

Over the misty bosom of frozen Winter
As rosy moon in his violet car
Rises slowly on dark and pensive firmament ;
Poor night
With her brooding and sober mates
Once flies and flies far away.

Being shrunk into a corner of oblivion
Yet still reigns its fierce shadow
In barren hearts of deadlier faith
As a star of hope—
Twinkled from afar
Unbounded with the false ostentation
Expressed its immortal cravings
For something unattainable
At a long distance gone
Thou hast gone from this world of facts
And left for us
A dowry of sweet memoirs
In thy preachings of solemn thoughts
Ye never shrunk

Beholding the dark clouds of misery
But rushed to cling with hands stretching
As if acquainted long
Alas a loss is done but is resumed !
For though the Sun has gone
Yet the Moon is on her throne
In a shape of Immortal Moon

And like level of piety doth ensue in him
No more his soul sublime
Will see Jain bower s decline
In future to advent
But his snowy winged well wishes
Linger in rolling waves of Times
And hover round the Jain shrines
To watch the constant bloom
Or wide spreading gloom
Like the brightest spark of Day
Kindles the folding hearts of buds
Nodding briskly on a twig of time
To breathe content to raise fragrance
To show its different tint and sense
Producing the celestial rhyme
Unheard climb up the peak of May
Lo preaches he

'A thing which seems senses charming
Is of a matter, a container,
Impregnant with the load divine
Of Beauty but unsubstantial :
She draws a draught of sacred Love
Like cosmopolitan, fluttering dove
Cooes in each heart with mystic tone
Apparelled in rosy hue, soar ng
Till the last point of Heaven ;
But as a prey of cruel fate
Unto a heavy, mighty pressure
Of stormy Lust,
That darling Love doth fall down
On stern ground,
And taketh breathings last, expire .
That cruel lust,
Who brings up monstrous Violence ;
With his fierce eyes but darkish red
Holding a sharp edged, long, curbed, sword,
In hands blood besmeard,
Doth hew the corpse of feebleness
Though tender, sweet and chaste in form
To crush its tyrannous chaos,
From distant lofty tower of Blue
Mighty trumpet blows, mighty Truth,
Resounding deep dales of wisdom ·
Infuseth the spirit of zeal
In hearts of slumbering Non-Violence,
She w nt forward
And encountered
Her foe ;
Ah, she came out victorious glad !
Melting the stone like his heart
In a heap of low lying sand smooth.

Introduction of Syadvada

Muni Jinvijaya

Jainism is really a pluralistic doctrine called Anekantavada (अनेकान्तवाद) or Syadvada (स्याद्वाद) Anekantvada means assuming various qualities or properties in an object Syadvada means the assuming of one quality or function in an object from some particular point of view for a time not for all times The Anekant or Syadvada may therefore be called a doctrine of an unlimited variety of points of views This doctrine points to the relativity of knowledge concerning all the objects of the world The force which constitutes the specific form of an object is its reality It is in consequence of this reality that an object is called real in Jainism

According to Syadvada philosophers a thing that is real has three characteristics —production destruction and stability Every object that seems to be stable is liable to both production and destruction Take for instance a mango tree It always appears to bear leaves Do all these leaves always remain the same ? No the leaves which we see on it this year would not remain the same next year The leaves that it bore last year have died out this year and the leaves that we see this year will disappear next year Just as this mango tree always seeming to bear leaves is liable to the changes of production and destruction in so far as its leaves are concerned so this world appearing to be stable in some parts is always undergoing changes of production and dissolution in other parts The stable part of an object is called *Dravya* (Substance) and its unstable parts undergoing production and dissolution Paryaya or phenomenal changing form All objects are eternal in their aspect of Dravya or substance but non-eternal in their aspect of Prayaya or phenomenal form It may be borne in mind that a substance and its

changes are not intrinsically different One is vitally related to the other. Thus all objects are numerously inter-related to one another. According to the Jain philosophy, the specific or individual form or essence of an object cannot be established, unless the fact of its interrelations is admitted When we speak of a man, the relative knowledge of objects other than that of man, springs up of itself Similarly, when we speak of Aryans, the idea of non-Aryans springs up, when we speak of Indians, the idea of non-Indians or foreigners simultaneously springs up The idea of virtue suggests the idea of vice, the idea of justice that of injustice. Thus the knowledge of one thing unavoidably suggests the relative knowledge of other objects This doctrine of pluralism has been elaborated to show that an object has various qualities or functions from the point of view of the relativity of knowledge. Lord Mahavir, keeping it in view, said that a man who knows only one object together with all its properties, knows all things He may be said to be all-knowing.

The Jain philosophy considers all objects real unreal, and real and unreal at the same time An object is real in view of its nature, time, place etc and unreal in view of the nature, time, place etc, of other objects

Man, from the point of view of the essential qualities of man, is real and from the point of view of qualities contrary to them, unreal In this way a man is real and unreal, and real and unreal at the same time from the view point of this pluralistic argument. The world 'Siat' (may be) is used to denote the reality and unreality etc of objects. It means 'somehow' 'may be' 'perhaps', etc If you ask whether a thing exists, the answer would be 'may be' it exists, that is, it exists from some particular point of view This statement naturally leads one to think that it does not exist some from other point of view. The adoption of such an attitude in looking at things is called Syadavada or Pluralism. Its synonym is 'Anekantvada', that is, looking at a thing from a variety of view points The word 'ant' in 'Anekantvada' signifies determining or judging of a thing definitely To say definitely that a thing is real or to say that a thing is unreal, in other words, looking at a thing from only one point of view and then attempting to determine its nature definitely is called Ekantvada or monistic argument To consider a thing real from some particular point of view, to consider it unreal from some other point of view, or to consider it both real and unreal from a third point of view is Anekantvada or Pluralistic argument

The Syadvada philosophers in conformity with this pluralistic doctrine, recognize every thing to be eternal or non-eternal or having innumerable properties. This method undertakes to look at a thing in all its aspects and relations from a variety of view points and then to deduce full and complete knowledge of it. Different

philosophers and thinkers have judged of the various objects of the universe from various points of views It would be well if by resorting to the Pluralistic argument their different theories or opinions are compared and truth shifted from the un truth This should be the aim of this pluralistic dialectics

Those who have not looked minutely into the merits of Syadvada doctrine doubt (many have doubted so in the past) its soundness in as much as its mutually a conflicting characteristics or qualities such as eternal and non eternal etc existing in a thing at the same time According to it contradictory qualities as cold and heat can exist in one object at the same time This objection can well be met by the expla nation of the Syadvada doctrine as given above but it would be well to illustrate it by an example

When this doctrine recognizes in an object what would appear to be con flicting qualities it does not do so dogmatically from a determinative point of view It does so only in view of the various points of view from which a thing can be seen and judged From the points of view of family relations a man can be a father a son a grandfather a grandson an uncle a maternal uncle a great grandfather a brother a nephew a cousin a father in law a son in law a brother in law etc etc at the same time Just as these various apparently conflicting relations can be spoken of in respect to a man so mutually contradictory qualities can be attributed to all other objects of the world In this way contradictory qualities or functions can be spoken of in respect to things

The points of view in regard to the examination of objects are not more than seven according to the Syadvada doctrine They are called Bhangas or Premises Just as 3 and 4 make 7 according to the rules of Arithmetic so only seven points of view can be set forth concerning the reality and nnreality of things according to the pluralistic doctrine Answering the seven questions arising from these seven points of view is called the Saptbhangi Naya or the Pluralistic argument The seven premises are primarily these —

1st—May be it exists
2nd—May be it does not exist
3rd—May be it exists and does not exist
4th—May be it is indescribable
5th—May be it exists and is indescribable
6th—May be it does not exist and is indescribable
7th—May be it exists and does not exist and is indescribable

This philosophical doctrine is very abstruse and recondite To understand its truth thoroughly presupposes a considerable knowledge of philosophy The philoso

phers teaching this doctrine have written voluminous works to explain and expound its truth and subtlities. If this method of thinking is adopted in looking at the various religious tenets and philosophical creeds prevailing in India, which appear to be mutually conflicting, occasioning considerable differences of opinions, a perceptible change towards their reconciliation might occur.

Lala Kannomal M A. has briefly explained the subtlities and merits of this pluralistic doctrine called Saptbhangi Naya. Briefly, but very lucidly, he explains the main principles of this doctrine, and it is hoped that the lover of philosophical truth would derive benefit from it.

The following is an extract from a speech recently delivered in Gujarat by Professor Anand Shankar Dhruva, a well-known Scholar .—

"The Syadvada doctrine has been given to the world after carefully sifting out the truth of a variety of philosophical doctrines It does not originate, as some seem to think, from a vague indefinite and doubtful mental attitude in regard to things It gives a practically definite knowledge of a thing from a particular point of view Unless an object has been viewed and judged from variety of points of view, we cannot have its thorough knowledge. For gaining such a knowledge, the Syadvada doctrine is a specially fitted and useful instrument. There are people who say that this doctrine—the doctrine propounded by Lord Mahavir, is a doctrine of doubt I do not agree with them. The Syadvada doctrine is not a doctrine of doubt It enables a man to look at things from a wide and liberal view. It teaches us how and in what manner to look at the things of this universe."
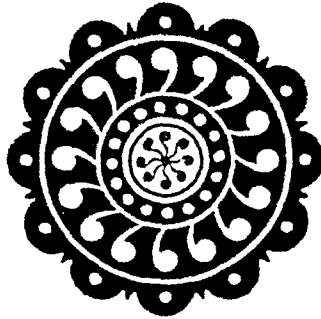
Jainism in Indian History.

Dr Bool Chand Jain

The Sramanic and Brahmanic cultures

The system known as Hinduism represents a highly composite culture Its forms of development have been many and various although there has been a certain kind of fundamental unity of ideas underlying these diverse forms of development Broadly speaking two lines of thought with their different forms beliefs and objects and methods of development have been marked in Hinduism from quite early times—the Sramanic and the Brahmanic The Brahmanic or the Vedic was the line developed by the Aryans when they came and occupied the country about 2 000 years before the birth of Christ Of this the Veda became the main vehicle Naturally the Brahmanic culture in India took its stand upon the infallibility of the Vedas and regarded the Vedic revelations as embodying eternal moral and spiritual truths These moral and spiritual truths largely centred round the performance of sacrifices and the Vedic hymns necessarily contained prayers to gods and ritualistic formulae in connection with the performance of sacrifices Personally the Aryans were very practical minded and so these sacrifices were mostly due to gods who were merely deified forces of nature But of the Brahmanic culture the character was inevitably oligarchical marked by the distinction between the Aryans and the aborigines who were called by all sorts of derisive names like Dasyus Asuras etc and by the division of the Aryan community itself into castes and classes Comparative sociology of the various branches of Aryans in ancient times reveals beyond doubt that wherever the Aryans went they set up an hierarchical structure and

followed the rule of endogamy in order to preserve their supremacy and purity against the original inhabitants of the countries

Contrasted with this, the Sramanic culture, which is presumably represented by the communal ethos and the more cosmopolitan outlook of the pre-Aryans in India, started from the denial of all authority in religion and insisted upon the efficacy of personal effort and personal experience for the realisation of truth and virtue In the place of retualistic performances, the Sramanic line laid emphasis upon the need of personal discipline and organised life, including the practice of penances, fasting etc The underlying beliefs of the Sramanic thinkers were universal presence of life, and following from it, the principles of karma and the transmigration of soul, which principles incidentally came to be accepted by the Aryans also in the course of time. But unlike the Brahmanic system, with its organisation of of castes and classes, the Sramanic system never admitted the justification of class distinctions within its spiritual beliefs Indeed, in contrast with the hierarchical foundations of Brahmanic culture, the Sramanic culture always remained intensely democratic and cosmopolitan

Jainism and Buddhism.

Of the Sramanic system in Hindu culture, the two important instances are afforded by the religions known as Jainism and Buddhism From time to time there have been other doctrines and sects also, which preached the need of personal efforts and experience for the achievement of perfection as constrasted with the ritualistic worship of the Diety and the performance of sacrifices In the Buddhist text, *Digha-Nikaya*, there are references to numerous sects of that kind But such sects had at best but a local and immediate importance, and only Buddhism and Jainism assumed the position of distinct religions Of these two Jainism was admittedly the older, the Buddhist references to the Niganthas (Jaina 'monks) show them to be quite an old and well established order.

Jaina tradition traces Jainism to a remote antiquity represented by a succession of twentyfour tirthankaras or prophets of whom the first was Rsabha, who renounced his kingdom in favour of his son Bharata and became an ascetic, and the last two were Parsva and Mahavira, both were accepted to be historical personages Parsva lived in 8th century B C. and died about 250 years before the death of Mahavira The relations between Mahavira and Parsva are indicated in an old canonical text giving an account of a meeting between Kesi, a young Sramana of the school of Parsva, and Gautam, a disciple of Mahavira Both Kesi and Gautama had a crowd of disciples, and their disciples were troubled by the following questionings

Is our law the right one or is the other Law the right one? Are our conduct and doctrines right or the other?

The Law as taught by the great sage Parsva which recognises but four vows or the law taught by Mahavira which enjoins five vows?

The Law which forbids clothes (for a monk) or that which allows an under and upper garments?

Knowing the thoughts and doubts of their disciples the two teachers decided to meet for a settlement Gautama calling on Kesi by way of courtesy due to his being a follower of the older section (of the church) Their meeting became a big one as there assembled many heretics out of curiosity and many thousands of laymen At this meeting the differences between the two ections were explained away by stating that the various outward marks of religious men introduced to distinguish them do not count towards final liberation but only towards knowledge faith and right conduct It seems that this meeting did not result in complete absorption of the two sections and that the two Orders continued to retain their distinction in the time of Mahavira for the Majjhima Nikaya mentions how Saccaka the son of a Nigantha boasts of his having vanquished in disputation the Nataputta (Mahavira)

In view of the above it is possible to argue that although the Jaina tradition insistently claims for Jainism a hoary antiquity represented by a succession of twenty four prophets the creed propounded by these prophets was not always absolutely identical and could be spoken of as Jainism merely in a rough and broad way that in fact Jainism as preached by these prophets did not refer to all the various outward marks of religious men introduced to distinguish but could be called a system merely with reference to the underlying spirit of the creed preached by them It is arguable that in the context of our analysis Jainism was a cultural pattern which flourished in various parts of the country long before the coming of the Aryans which put its emphasis upon penances and austerities which put its faith in the presence of universal life in animate as well as seemingly inanimate substances which accepted the principle of transmigration of soul and which admitted the possibility of the attainment of the highest truth by people of all sects classes races and sexes A cultural pattern like that was necessarily divergent from the practical ritualistic and the essentially exclusive and *oligarchical culture of the Aryans and possibly in speaking* of the earlier Tirthankaras often differing from each other in their complexion stature longevity and separated from each other by long stretches of time the Jaina canon was doing no more than admitting its kinship with the various indegenous practices of the country or at best appropriating to itself the many saintly orders which existed in India before the coming of the Aryans Certainly the rationalisation of the Jaina

as also of the Buddhist religion in the 6th century B C. in the province of Bihar where Aryan colonisation was about that time still going on, vitally marked the adoption by Ksatriya Aryans, in their annoyance against the Brahmanic absurdities of heirarchical and ritualistic developments of the existing pre-Aryan culture

Role of Mahavira in Jainism

Having thus come into the ken of Hindu thought in the forms of Buddhism and Jainism, this pre-Aryan Sramanic culture became a permanent feature of it. The credit for that, so far as Jainism is concerned, is due entirely to Mahavira. Although twentyfourth in the succession of Jaina tirthankaras he was fact the founder of the Jaina doctrine His parents were the worshippers of Parsva and followers of the Sramanas and he himself followed the Sramanic path of extreme self-mortification before he became an Arhat, a Jina or a Kevalin. But having attained that position, he systematically defined his system and religion. Starting with the theory of Karma, he believed that its inevitable effect was to create an endless series of births and deaths i e transmigration. He defined his aim as the annihilation of Karma, or the shutting out the influx of bad karma, by austerities and penances. He condemned the middle path of the Buddhists as also the path of pleasure and luxury, and recommended extremes of torture and mortification of flesh as a necessity for self-realisation. These doctrines he had to defend against the attacks of a number of rival sects, e g the Bauddhas, the Barhaspatyas, the Nastikas or Charvakas, the Vedantins, the Sankhyas the Adrstavadins (Fatalists), the Ajivikas, the Trairasikas (Jaina followers of the Vaisesika philosophy), and Saivas With the support of his royal followers and numerous devoted disciples, he was able to gain for his system a wide currency in the eastern regions of India and was able to have it accepted by his own kinsmen, the Aryans, as well as the indigenous people in and outside the pale of Aryan colonisation

The acceptance of this, in point of content, essentially non-Aryan system by the Aryan tribe was made possible by the special circumstances of the age. As we have seen above, ritualism was inherent in the whole structure of the Vedic religion from the very start, and ritualism brings with it inevitably the organisation of castes and classes, in which the men of learning, the Brahmanas, who officiated at sacrifices, necessarily occupied the place of highest eminence ; but the wholly absurd proportions to which ritualism had developed and the arrogant position to which the Brahman class had arisen in the Vedic system in the 6th century B C naturally turned the minds of the people against Brahmanic culture and inclined them to the acceptance of new protestant creeds It is noteworthy that asceticism of a type had already come into being within the Vedic religion and had been directly encouraged by the *Upani-*

shads The Aranyakas were the products of hermitages of the forests whither the *Upanishads* recommended retirement as essential for those who sought the highest knowledge Thus numerous individual Parivrajakas were a familar spectacle in India on the eve of the rise of Buddhism and the formulation of the Jaina creed in the 6th century B C The organisation of ascetic orders and samghas by Buddha and Maha vira appeared to be no great departures from the pre existing practice Even the Parivrajakas in the Brahmanical system were free from the obligations of performing religious ceremonies on account of their peripatetic life The prohibitions now enjoi ned by the Jaina and Buddhist organisations were as if further development on the same line

Role of Jainism in the Spread of Hindu Culture

To counteract the unsavoury developments of Brahmanical hierarchy and rituals Mahavira and Gautama had naturally turned to the pre Aryan democratic and cosmopolitan culture and rationalised it in their Stamanic systems which henceforth became constituent units of Hinduism But the role of these systems in the spread of Hindu culture in India was a highly important one

Aryan colonisation of India had so far been largely of an exterminatory character The first wave of Indo Aryan invasion was in the nature of a tribal migra tion from the side of Afghanistan when a vast horde with their women, children and cattle entered India and at once began an exterminating war with the natives of the soil Their knowledge of harder metals and horse riding and their superior physical strength gave them a great advantage over their foes although the latter often offered stout but unavailing resistance to the invaders It appears that in the first stage of Indo Aryan colonisation the invaders made a clean sweep of their foes who either died or fled to the east and south and received very little admixture of native blood In the second stage of colonisation in the Madhyadesa the Aryans were not able to pres rve their isolation to the same extent By now the Aryan conquerors had begun to fight among themselves for supremecy and anyhow the wave of fresh immi grants was not sufficiently strong to enable the effective occupation and cultivation of the conquered lands and the conquerors felt the need of labourers on their new settlements Perhaps the need of women was also felt The original ferocity and the ruthless policy of extermination was naturally to some extent modified and there was also some admixture of the native blood and native influence upon the Vedic language and religion But this admixture was not looked upon with favour by the Aryans and it was perhaps to guard against this admixture that the caste system was made rigid and hereditary in the Gangetic and eastern plains thus giving a new turn to the Aryan social organisation Aryan culture which had always been aristocratic and

oligarchical in its character, now became exclusive, and this exclusiveness it seems to have retained for ever afterwards

The exclusiveness of the Aryan culture no doubt had certain good results They became particularly manifest when India was invaded in the 12th century by the Muslims At that time it was the exclusiveness and sacredotalism of the Brahmanas that saved them from absorption by Islam, unlike the Buddhists who seem to have accepted the new faith in large numbers. But during the period of Aryan ascendancy in India the exclusiveness of the Brahmanic culture was a distinct creed in the country That in spite of that condition Hinduism spread throughout the length and breadth of the country and completely overshadowed the pre-Aryan faiths, was due to the role of Buddhism and Jainism the two Sramanic doctrines, which invariably acted as the introducers of Aryan culture in all non-Aryan regions in the country The Aryans always contented themselves by referring to non-Aryan regions as mlechha-desa and to the people living there as untouchables In the Dharma-Sutra of Baudhayana such is the description given of the countries beyond the territories between the Indus and the Yamuna occupied by the Aryans that whoever goes to these countries commits sin with his feet and must perform the Vaisvananiya Isti Regardless of such injunctions, the Jaina tirthankara Mahavira went to Kalinga, where his father's friend was ruling and preached Jainism there The Jaina tradition also speaks of Mahavira having visited the pathless country of the Radha, which was possibly the territory included in Western Bengal

Indeed, the Jainas, and the same is also true of the Buddhists, considered it as their fundamental duty to bestow upon lands deprived of the opportunities of making acquaintance with the true religion, the benefits of Jaina preachings That consideration took them to Kalinga and western Bengal in the 6th and 5th centuries B. C, and it is presumable that from Kalinga Jainism migrated to the Dravidian South, where it soon established a stronghold in Andhra, Chola, Pandya and Karnataka kingdoms. Wherever Jainism went, Brahmanism naturally followed and ultimately superseded it. Presumably the spread of Hindu culture to the overseas colonies of Champa, Siam, etc followed the same course Certainly in north west India beyond Mathura, which came in the 2nd century B. C. to be dominated by foreigners like the Bactrians, the Scythians and the Sakas, and where Aryan culture was completely annihilated as a result of their domination, that was the procedure by which the territories were reclaimed for Hinduism. The legend, Kalakacarya Kathanaka, which relates the story of Kalaka being insulted by king Gardhabhilla of Ujjain and seeking the help of Saka satraps under Sahanusahin, affords adequate insight into the establishment of Jaina influence in the region beyond Mathural ong before the Brahmanic culture trekked back to it under the aegis of the Gupta emperors.

Conclusion

It is a pity that the Brahmanas did not appreciate this role of Jainism and Buddhism in the spread of Hindu culture in India They insisted upon looking at these Sramana system as hostile creeds and therefore persecuted them as soon as they got a chance to do so The power of the Sramanic systems in India was practically shattered in the fifth and sixth centuries Buddhism was forced for its existence to leave the country of its birth and make a new home for itself in Tibet China Burma and other countries Jainism recoiled before the attacks made against it and felt it safe to continue into existence by adopting many of the retuals and other outward forms of Brahmanism These outward forms were particularly adopted by the Digambara sect of the Jainas in South India The result was that when Brahmanism emerged supreme during the Gupta period no section in Hinduism was left with a broad and cosmopolitan outlook to establish contacts with foreigners whose immigration into India continued as ever and to act as the instrument for the spread of Aryan culture among them Thus a gulf was created between the indigenous elements of the Indian population and the immigrant foreigners a gulf which in the course of time became a perpetual feature of the Indian social situation

A Survey of Jaina Religion and Philosophy.

By Dr. Nathmal Tatia, Director, Research Institute
of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali,
Muzaffarpur.

So far as the tradition preserved in the Jaina Agamas is concerned, Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin To be precise, Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable. In this respect, it is on a par with Vedic religion It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrimat Anirvanaji in his *Vedamimansa*, recently published, that there were free thinkers contemporaneously with the Rsis of the Samhitas, who did not profess allegiance to the religion of sacrifice Whatever that may be, Jainism, Budhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute. Vardhmana Mahavira was the elder contemporary of Gautama Buddha Parsvanatha, the immediately precedent Tirthankara, is admitted on all hands to have been a historical figure Mahavira's family was attached to the creed of Parsvanatha There are evidences in the Jaina Agama that Mahavira succeeded in winning over the followers of Parsvanatha to his reformed church. Mahavira consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances This explains the survival of the Jaina religion, though Buddhism disappeared from the land of its birth after the Muslim conquest in the 13th century This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy.

The division of the Jaina church into Svetambara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabahu who was a contemporary

of Chandragupta Maurya The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation moksa) and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle In philosophy and ethics there is enormous unanimity The following are the cardinal doctrines of Jainism

Soul and God

The Jaina believes in the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural forces Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spirit from matter Both of them have parallel existence The soul is bound in meshes of matter and its freedom from matter constitutes final emancipation and liberty The soul is consciousness compact intuition bliss and power, each infinite in its range The limitation of knowledge power and happiness is adventitious and accidental and not historical event In this Jainism and Vedic religion are perfectly in unison Its difference from Buddhism is fundamental The Buddhist does not believe in unitary soul But the Jainas are emphatic on the real unitary character of the self Perfection is innate to the self which will manifest itself in its true character in the state of emancipation and the self will then realize its infinite knowledge intuition bliss and power In one word the self will become God Godhood is the birthright of every self

Ethics

The Jaina is a believer in the five *mahavratas* non injury *(ahimsa)* truth *(satya)* non appropriation of what belongs to others *(asteya)* continence *(brahmacarya)* and non possession and non acquisition of surplus material goods *aparigraha* These ethical disciplines can be practised in excelsis by those who follow the life of homeless wanderers For the householder also these disciplines are compulsory but can be practised with moderation and limits due to the exigencies of human life and conditions But this is only a concession which can be transcended only in the life of complete renunciation In the code of ethics the agreement between the Jainas and Brahmanical schools is almost perfect The difference lies in emphasis on practical application and observance

The philosophy of *ahimsa* is liable to be misunderstood *Ahimsa* must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses *pramada* are manifested in the animal impulses of anger pride deceit and greed and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome mere practice of external code such as vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word

a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance. This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation. Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind.

Truthfulness is also a necessary concomitant of non-injury. Lying and deceit are resorted to by those who want to avoid the unpleasant consequences The tyrant must be disarmed not by recourse to physical violence, but by infinite forbearance. Not a word of abuse escape the lips of the saint Pride and greed are the signs of moral weakness. They are the concomitants of the fear of loss, or the desire to be feared by the less fortunate creatures This weakness must be transcended by the realization of the truth that infinite greatness in knowledge, power and self-possession are the natural heritage of the individual soul, and until this consummation is reached, one has every reason to feel humble and ashamed of the limitations. No pride of possession is legitimate and rational, because material power and wealth have their inevitable limitations Only one who has risen above greed can be really great and noble. This is in sum and substance the ethical philosophy of the Jaina.

The concept of *ahimsa* is not negative One has no right to take the life of another creature for his selfgratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the same charter of rights to live and work out their ultimate destiny. The tyrant is the worst coward, though he poses to be the boldest man The true hero is he who has mastered the animal in him The last Tirthankara was called Mahavira, the great hero, because he conquered the weaknesses of the flesh

Religion

In religion, the Jaina lays emphasis upon self-exertion One must not depend upon the grace of another for his self-upliftment Of course, the teachers of humanity, the prophets, seers and the path-finders are entitled to the respect and loyalty of all right thinking persons This is the reason why Mahavira is worshipped as God. These perfected saints show their mercy by only imparting spiritual strength to the weaker souls who are victims of their own past deeds. The very contemplation and meditation of perfect teachers of humanity vouchsafes grace and spiritual strength. Grace cannot be acquired by sinners unless turn away from the evil course of life.

It is nothing but a travesty to think that the Jainas are atheists Worship of a Personal God is not encouraged in Jaina religion, because this has the tendency

to encourage sloth and a spirit of helpless dependence However much one may speak of the infinite grace and mercy of God one cannot have the benefit of this grace unless one helps himself and prepares himself for the appropriation of the spiritual light The Jaina believes that every man is a potential God and one who does not believe in the Godhood of man is an atheist

Philosophy

In the field of philosophy which in one word is the urge to realize the ultimate destiny of the soul the Jaina thought is based upon a correct appraisal of truth and reality So far as the world of experience is concerned the doctrine of non absolutism *(anekanta)* expresses the philosophical outlook of the Jaina thinker The Jaina is not a dogmatist and seeks to shun extremism in thought and action Fanaticism is the virulent expression of extremism One believes in one s doctrine and in the truth and infallibility of one s mode of worship attached to one s parti cular faith But truth is multiform and has many facets One therefore should not condemn another for his view but try to appreciate the intellectural and moral foundation of the belief If he is wrong he must be enlightened not by physical force or tyranny of wealth and knowledge but by sympathy and demonstration of the truth in one s own life The sevenfold predication *(saptabhangi naya)* expounds the metaphysical position of the Jaina The Jaina is a believer in infinite number of *jivas* and is not willing to dismiss the plurality as false appearance Reality is infinite in its variety and this has to be accommodated in one s philosophical evaluation The Jaina therefore is not a monist He is not a subjectivist idealist who believes in the reality of his own thoughts and ideas alone He is not a nihilist He believes in all these onesided estimates only as facets of one infinite reality They must be integrated into one whole His differeuce with the Buddhist nihilist and the subjectivist is on the score of onesided partial and imperfect evaluation A thing is true in its own place and own character but is untrue and false in another This falsity *qua* another is compatible with its truth in its own sphere and nature The Jaina does not condemn thinkers as incorrigible and unregenerate souls destined to be condemned without any chance of redemption The Jaina only seeks to draw the notice of the opponents to the other side of the coin One must not put the teles-cope on the blind eye but try to develop the correct vision which is within the reach of all and can be acquired noly if one chooses *Anekantavada* in metaphysics and ethics and so also in epistemology is thus an exponent of the broad liberalism of the Jaina thinker who however is never tired of preaching the infinitude of the modes and grades of the ultimate reality

The Jaina does not believe in vicarious emancipation Every man must realize his ultimate freedom and unless he is earnest in the quest of truth he cannot

help himself out of the rut. Mahavira is merciful because he has shown us the way to truth, and not because he chooses to take the sins of erring souls on his head as their saviour He gives the saving knowledge which must be acquired and appropriated by every individual as his own Mercy is not exploited for giving an unlimited charter of a sinful career to the sluggards Every man has the power *(virya)* to achieve his perfection, and for this he has to depend on his own self. He must be grateful to the great prophets who have shown the path to be followed for working off his load of accumulated sins. The Jainas have produced a wonderful philosophy and a still more wonderful code of ethics and it is incumbent upon all seekers of truth to cultivate a deep acquaintance with this heritage left to humanity.
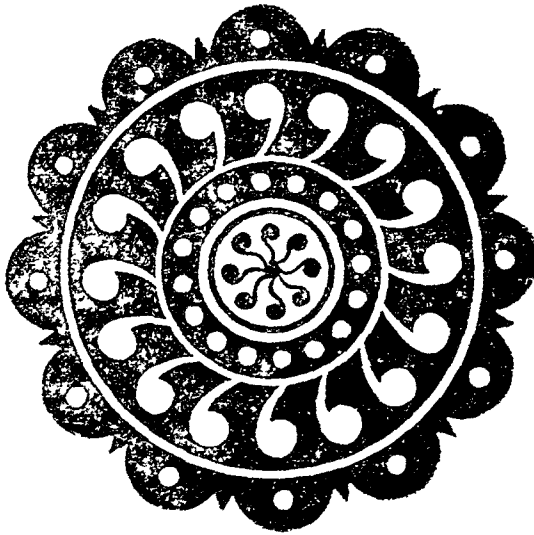
Determinism and Indeterminism in Anekanta Philosophy.

(S C Jain M A Ph D)

The theories of determinism and indeterminism have been attracting the attention of almost all the thinkers on the problems of philosophy In spite of their being so old they have not lost their bewildering nature and have been taking newer turns with the advance of time By determinism we generally mean that all the events in the world process are absolutely determined Regarding the determining factors of an event the answer takes three shapes First the events in the world process are determined by their substantial causes secondly they are determined by their helping causes and thirdly they are the joint effects of their substantial and helping causes So the general belief is that there is perfect determinism in the world On the other hand there are thinker who do not like to uphold such a theory of determinism According to them this type of determinism is extremely fatal to the ethical concept of moral accountability If an agent is not free to choose and act his actions cannot be made subject to moral judgment and he cannot be held responsible for them If the life history of jiva is totally determined then it is no use preaching him principles of Ethics and Religion as the events will turn as they are ordained to turn So in the sphere of morality freedom of will has been admitted by some as a foundational concept Not only ethically but also metaphysically indeterminism comes out to be a fundamental aspect as reality

On analysis determinism turns out to be a theory of causation Causality is a relation of determination [1] To say that there is determinism in the world

1 S *Mookerjee* Jaina Philosophy of Non absolutism p 212

means that the events in the world process are determined by their antecedent causes So the theory of determinism pre-supposes relationism ; that is, the entities in the world admit of relations If the elements in the world process are absolute discrete, the events in the world process will be absolutely different from each other, and the question of their relation of causation and hence of their determination falls to the ground Dr Mookerjee observes "Relations cannot be held between absolutely distinct or absolutely identical facts Identity and difference both are pre-suppositions of relation "[1] These relations are not purely a product of subjectivism, but have an objective status Regarding the potency of relations it is said, "Relation, whether internal or external, is integral to the terms and is the result of an internal change in the nature of terms "[2] By this we must mean that there is no absolutism of relationism , non-relationism finds an equally significant place in the structure of reality "If there is absolute relationism, both the terms in the relation stand unproved. If there is absolute non-relationism, a real loses its universality and particularity "[3] Such is the view of Samantabhadra It is this relational-cum-non-relational nature of reality on which stands the theory of causation So causation is not destructive to the independent identity of the entities that come into relation of causation Hence a valid form of determinism must imply the independence of the determinatum and its dependence on the causal factors "The effect is a modification of the cause and thus is not absolutely different or identical with the cause Qua substance the two are the same, qua qualities and modes they are numerically different."[4] This conception of causation is anekantika in spirit and well maintains the truth of the two implicates of the theory of causation

According to indeterminism what we think determination of one event by another is nothing more than a parallelism The events run parallel to each other ann there is nothing like a causal efficacy for mutual determination in them, their coincidence being a chance happening But a sober thinker must hesitate from holding the supremacy of chance in the world The universe shows so perfect a design that an inclination to hold it a divine creation is felt by some. The universe is subject to some laws, it is a cosmos not a chaos Even in the realm of morality indeterminism does not seem to be all valid. The actions which are subject to moral judgment originate from conscious beings. For this reason such actions are psychological, and there are psychologists who think that all psychological phenomena are determined. Thus morality is thought to require free actions while psychology is considered to provide actions Where to seek for the free actions ?

1. *Ibid*, p 197.
2. *Ibid*, p 208.
3. *Samantabhadra* · **Apta Mimansa, verse 73**
4. *S. Mookerjee* : **Jaina Philosophy of Non-absolutism, p 213.**

If the entities in the world have nothing in themselves except the determined elements they become non entities and there is nothing in them to be determined Following a similar chain of reasoning in case of all other entities they are found to be contentless Thus determinatum with all its determining factors vanishes and there is no occasion for any type of determinism Absolute determinism is self destructive This leads to the conclusion that the entities must have something in themselves which becomes the object of determination Such a position cannot distinguish between mechanical and theological types of determination as the principle applies equally to both of them This aspect of the entities seems to be the base for the process of determination and it smells out indeterminism inherent in it Taking another view of the situation the series of happenings connected with an entity is said to be mainly determined by its inherent nature—its attributes and powers So every entity is found to be determined by itself This type of deter minism is only gratuitously called so At the most it can be a self determinism which is not found incompatible with indeterminism If an indeterminism of the absolute type is upheld it would mean the total absence of the regulative principles in the universe which then will be reduced to a chaos Indeterminism in the form of self determinism is not contradictory to moral accountability [1]

As we have already seen the nature of reality is not only relational or non relational The relational and the non relational are the concomitant implicates of reality A real cannot be identified with its relations alone nor can it shake them off totally Relations bring about a change in the nature of the relata Hence a real must be conceived not in abstarction from its surroundings but along with its setting and field Martin Heidagger rightly remarks The essence of existence is in its existence The mode of existence of human being has a structure it is being in the-world This being in the world which constitutes human being is being of a self in a separable relations with the not self [2] Such a conception of reality presupposes its non relational side without which relationism becomes impossible Relationism combined with non relationism gives us a better picture of reality This again means that a real has its independent existence and this very existence is qualified by its setting or field Such is the anekantika conception of reality and it admits of a theory of causation When Kundakunda holds that there is no trans formation of one substance or attribute into another substance or attribute [3] he simply puts a limit to the process of a causation and does not deny it He seems to hold that with the above limitation the theory of causation can very well

1 *Rashdall* The Theory of Good and Evil p 328
2. *H J Balkhan* Six Existentialist Thinkers p 88
3 *Kundakunda* Samaynsara verses 110 and 377

flourish. Entities make use of the virtual action (upakara) done to them by other entities, and the action is called virtual on account of the limitation referred to above. This is the only manner in which the entities can help or hinder the functions of other entities. So our conclusion is this respect is that every entity has its existence (which is its non-relational side) to make relationism possible within the limit of mutual non-transformation of substances and attributes.

This prescription of a limit to the process of causation has led some thinkers to believe that the theory of virtual action among different substances is a pseudo-concept By this they mean that we perceive entities as helping or hindering the functions of other entities, but actually speaking every entity is solely responsible for its functions We must distinguish between the sets of entities, one of which shows such a relation with some entity while the other does not Let us take an example According to the Jaina conception a soul does not accept virtual action of the karma-matter lying unbound with it or bound with other souls; it accepts the virtual action of that karma-matter alone which is bound with it The same medicine given under different conditions shows different results The capacity to yield different results is something which gets transformed in different settings, or the prescription of different helping conditions for its use is futile In a similar way all entities are not seen to establish a relation of causation with an entity. Now if causation is simply a pseudo-concept, both the sets of entities must ineffective to the entity under consideration This very difference is suggestive of the efficacy and potency of virtual action. To hold that causation is possible only when there is mutual transformation of substances and attributes of the causes is a piece of unsound reasoning, as nature refuses to admit such a possibility. To view an entity as self centred *i e* as in itself and divorced from all its relations is only a way of approach to reality and can give us only its one sided picture This does not mean that such viewing of reality is false, but we must admit that it is only a partial comprehension of reality and is based on abstracted process of comprehension

This position may again be interpreted as leading to perfect determinism of entities by themselves and their setting But following the true nature of world dynamism one will not find difficulty in ascertaing the elements of determinism and indeterminism in it We have already quoted the view that self-determinism is not very much incompatible with indeterminism. The recognition of entities to bring about relationism is the undetermined aspect of the world process – To the extent to which these entities admit the virtual action done to them by other entities they are determined Determinism and indeterminism are interwoven in the very texture of a real. Every real smells out determinism and indeterminism simultaneouly It is upto the observer which smell he should prefer, but a comprehensive view of an

entity would not be inclined to one of the other side It would take cognizance of the two aspects as constituting a whole

To understand the situation better potentiality may be drawn An actuality is an actuality in relation to its potentiality it is a potentiality in relation to its future actuality If an event is held to be only actual it cannot lead to future events If an event is held to be only potential it cannot be supposed to exist without being actual Prof A N Whitehead observes This extensive continuum is real because it expresses a fact derived from the actual world This continuum is itself merely the potentiality for its division an actual entity effects this division So far as an entity is capable of atomization it is a potentiality and is undermined Its atomization turns it into an actuality Capacity for atomization and the atomized state are copresent in an entity we dot require even two distinct moments for their existence Hence every event has the power of giving out two smells of actuality and potentiality Its true identity is actuality-cum potentiality Potentiality leads to determinism while actuality is the determined state So the same entity comes out to be determined and undetermined at the same time Any absolute view in this sphere will prove unfaithful to reality For this very reason any parallelist theory about the world must come out to b invalid as the two s ries of caus s and effects cannot be held to be totally indep^ndent of each oth r Su h a modification of parallelism must not be interpreted in favour of interactionism which requires a transformation of the causal conditions into the effect The way to un^arth the secrets of the world process lies between parallelism and interactionism neither of which taken absolutely will unlock the treasure house of the world process

We have already referred to the difficulty that ethical judgments require freedom of actions while psychology provides only a series of determined actions It is in anekanta philosophy that a solution of the problem may be found Anekanta philosophy gives us a deeper type of psychology which has been designated as karma psychology [1] It admits of the freedom of the energies of the agent and their determination by the karmic energies and other conditions helping the causal process Inspite of this fact the Jaina ethical view which is termed as the pure point of view does not take cognizance of relationism in the form of causation and maintains the purity of the self all through its existence by emphasizing its indepen dence [2] Such an ethical point of view must give this picture of the ethical ideal as its aim is to remind the aspirant of the highest state attainable by him Moreover we should bear in mind that all partial truths give only abstracted views of reality

1 *S C Jain* **The Structure and Functions of the Soul in Jainism** p 259

2 *Kundakunda* **Samayasara verses 16 & 43**

in a state of frenzy and derangement, as it were These two aspects of the fact of human limitation can be gathered in the ancient pregnant expression :

What a man soweth, that
Shall he also reap.

This points, on the one hand, to something foreign, which is reaped, and on the other, to one's own self, which sows the seeds of what is later on reaped The philosophers of the Vedic School—the Naiyayikas, for example, amplified the same thing by saying that all acts are actuated by the subjective tendencies of Raga (attractive inclination), Dvesa (a spirit of repulsion) or Moha (stupefying influence) and that these acts generate in man a peculiar force, called Adrsta by them, which lead him later to the assumption of various forms of embodiment and materialisation, though foreign to his nature, yet helpful to the enjoyment of the fruit of these actions In spite of the strictly sensationist and rigidly transitory character, attributed to all phenomena or apparent reals, Buddhism recognises, nevertheless, the sombre truth that what a man is, for the time being, is but the result of his own previous activity. In Jainism the two elements in the matter of man's misery, and the reality of doth, are clearly and fully emphasised. The unhappy state of mundane existence is said to be due to Asrava or inflow of nonpsychical elements into the soul. This Asrava is studied in its two aspects of the Jivadhikarana or subjective or physical and the Ajivadhikarana or objective of non-physical The self is associated with a body (Kaya), the internal organ of mind (Manas) and the activities of speech (Vak) all of which are modifications of matter or material energy These are in continuous states of activities, somentimes naturally but often on account of the suggestive effects of outside things, such as books, pictures, etc , etc , and the various postures, mixtures, and activities of non-psychial things and phenomena These are Ajivadhikarana or conditions in non-psychical objects, resulting in the generation of peculiar activities in one's body, mind and manner of speech As regards the Jivadhikarana or the subjective aspect of the Asrava, it is pointed out that as the self is intimately associated with the Kaya, the Manas and the Vak, though they are foreign to it, is automaticallly thrown in a state of peculiar agitation, in consonance with the said activities of the body, the mind and the vocal organ This vibration in the soul is called Yoga by the Jainas and it prepares the self for an influence of extraneous upon it

The Asrava is thus ultimately due to the Yoga It would be seen that the Yoga only modifies or twists, so to say, the soul in a particular manner. In order

that the soul may be intimately or thoroughly informed by non psychical energy something more is necessary and this something is Kasaya or a group of four passions viz. anger, greed conceit and deceitfulness The unhappy state of man is thus due to a two fold cause On the objective side there are the tantalising backonings from outside maerial objects and the various organic and inorganic phenomena all tending towards a defilement of the self and correspondingly on the subjective side we have the self thrown into a state of agitation and of deviating from its essential nature on account of the Yoga and the outlandish passions The result is that foreign matters in very very fine forms or subtle energies of a materialistic nature called karma pudgala by the Jainas are introduced into the soul which although they fall off from time to time are quickly replaced by fresh ones and which thus continue to cling to it causing its bondage and its consequent all round limitations This is thus the second fact in the matter of the unification of humanity Not only does a constant form of adversity or existential misery torment all persons and make all of them strange bed fellows so to say but that the one common cause of the affliction of all these unfortunate beings is the presence of outlandish tendencies and activities in their selves

Thus if all people are in a very real sense unified in this world in respect of the patent fact of the limitation attaching to their nature and further in respect of the causes of the limitation in the form of foreign forces exercising adverse influ ences upon it we can guess about the third point serving as a principle of union among the suffering humanity This relates to the fact of diliverance from the con stant fact of the innate misery of man and we may at once say that there is but one way for all people to the attainment of the ultimate blissful state Happiness depends upon the removal of the alien influences which torment the nature of man It does not matter if what limits or ails the soul of man is called Adrsta (as in the Vedic systems or Karma) as in Jaina philosophy) or the original Sin (as in the Christian theology) It is this foreign and malign influence from which the nature of man is to be delivered

The ethical codes of all people are generally agreed about the fundamental moral rules and practices A clear direct vision of the ultimate reality a correct knowledge free from all shades of fallacy and ignorance and a system of conduc which hurts none but is helpful to all these are admitted on all hands as the way to peace But in order that knowledge vision and conduct be real diliverers o the self they must not be looked upon as something extraneous to it but should be actually felt as being grounded or involved in the very nature of the self So this is

the sole, real ultimate standard before all men, one stuborn principle for the unification of humanity, in other words, for the realisation of the 'Kingdom of God' on earth. The truth of this wisdom or intuitions expressed in the words

"KNOW THYSELF"

or,

"ATMANNAM SATATAM VIDDHI"

At no other period of the world history than the modern its people and nations were in greater need of realising the old saying and unifying moral truth There was the League of Nations and there is the U N.O, for the prevention or wars and for the protection of human rights Yet, people today live under a shadow of impending destruction and devastation. Is there any want of peace talks ? No, there is plenty of them Why, then, this apparent failure ? Because the people and the nations do not as yet feel peace to be a part of their nature but they look upon it at its best an attainable adjunct to it

In this connection, the Jaina description of the varied viewpoints about things is enlightening When, for example, a man gives up the enjoyment of the sensuous objects, his conduct is good from what is called the Vyavahara stand point When he removes from his heart all feelings of attachment and envy which prompt one to lean to sensuous enjoyments of things, his conduct is better ; it is called good from the Niscaya point of view. When, however, the person realises and is firmly established in his true nature and feels that self control (e g. avoidance of sensuous enjoyments) is an inalienable part of his essential nature, his conduct is supremely good, it is good from what is called the 'S'uddha Nis' caya' point of view In the light of this old Jaina theory, the present day fears and apprehensions of mankind about an imminent catastrophe in spite of the best efforts of the U N O. can be explained It is doubtful if the views of nations about peace, even after the lessons of the last to world wars, have as yet touched the Vyavahara stage Having recourse to arms for the settlement of their disputes, the nations have ont yet abjured the love of violence We have had actual wars in Korea, Malaya and Indo-China. It is certain that the present day people have not the Nishcaya view about peace, their hearts are not yet free from bellicose attitude

Let us, however, not be pessimistic, let us hope that some day, perhaps not very distant, people will rise above actual conflicts, above the Kasayas of anger avarice, conceit and deceitfulness and be really and firmly united by coming to their own, their own essential nature, the true self, from which peace and avoidance of all forms of internal and external conflict are inseparable

Stray Thoughts on Jainism

Birjadish Prasad M A D Phil

Jainism is an esteemed sect of Hinduism But it is so mixed up with the main current of Hindu culture today that it is difficult to know a Jain from a Hindu Nor has he the least desire to be so known because ever since the inception of his faith he has been of Hinduism Hindu of India Indian His birth marriage and death—the three chief events in a man s life—are marked by the same ceremonies as those of a Hindu Yet Jainism like Buddhism began as a protest against the Vedic religion against at any rate the corrupt practices that had crept into it While Buddhism however had to leave India Jainism not only stayed on but is a living faith even today There must have been something deeply Indian in it that has made for its continued hold on the country While it pervades every nook and corner of the country in certain parts it exerts a very powerful influence in Gujrat, for instance where Mahatma Gandhi though a Vaish came under its sway or the north western region of the Uttar Pradesh where nearly each village boasts of a Jain temple

What can be the reason of this influence ? While Buddhism it seems chose to carry on its missionary work outside India Jainism concentrated its activities within India itself As Lord Buddha and Lord Mahavir were contemporaries the former may even have thought India safe in the latter s hands and looked after the rest of the world himself For the basic tenets of both the faiths are the same—truth non violence and renunciation and both function through the agency of celibate monks and missionaries But a faith alone is not enough to win the hearts of men Not

all of them can renounce the world which has, somehow, to go on It is in this practical business of living that Jainism has held the loftiest ideals before its followers While its saints have embodied truth, non-violence, and renunciation, its philanthropists have endeavoured to make life worth living For religious contemplation they have built temples that are the marvels of architecture, and Dharamshalas, provided with all amenities, which make pilgrimage a pleasure For education, without which any faith is but blind belief, they have not only established schools, colleges, and hostels but instituted scholarships and bursaries There are numerous such Jain institutions and funds all over the country Otherwise, too, Jainism has not discouraged secular activity There are Jains in the army, Jains in the medical profession—even as anatomists and surgeons—Jains in trade and industry And all this work has benefited not only the Jain community but the nation also. The Jain faith and secularism have thus helped each other. The faith has inspired philanthropy, and philanthropy strengthened the faith

Yet there is one prejudice, which the Jains have not generally been able to get over While they allow their boys and girls to read biology or go in for a course in Anatomy or Surgery, they disfavour the study of these subjects in their own institutions, for they involve killing of life. Where an institution has a temple attached to it, this objection may have some force, but what about the rest ? India needs biologists and anatomists and surgeons, but no Jain institution is willing to do its bit Yet it has an N.C C unit, whose trade also is to kill or be killed. Jain educationists will have to do a little thinking about it
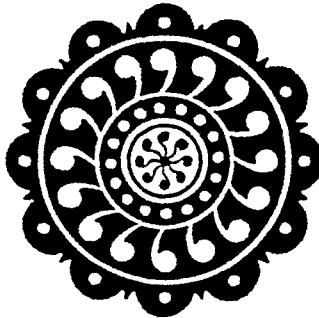
Vairagya or Renunciation in Jainism

●

By—Jyoti Prasad Jain (Retd I T O
V/P J C R Society B H U)

Renunciation or ' Vairagya is the role of spiritual salvation in Jainism It is generally misunderstood, misconstrued and misapplied in life It is the most natural and benevolent urge in man This urge in man is the index to show that man understands what he is what are his aim and object of life, his social obliga tions of life and that he rightly understands what is real happiness and his cherished freedom which are the earnest and inward desires of all men and women of the world

Social Features of Jainism

Jainism is the religion of man founded by Man after his experience for the benefit of all man kind and all living beings in the universe even of the smallest insects which are in visible by sight Non violence or Ahimsa therefore is the basic principle of man s thinking working and living which comprises in it utmost carefulness consideration and regard to life of all living beings spirit of love sacrific and service to all living beings by its votary These characteristic qualities are obviously essential in man to enable him to fulfil his social obligations to maintain harmony in society to achieve the commonly desired peace and happyness in this worldly life and the same is considered essential for the attainment of the abiding blissful life in the life hereafter It has thus embraced all the fine thoughts and practice in its tenets which are also essential for the promotion and promulgation of universal brotherhood which is the aim of all religions Without this human life is a farce and a m serable existence as we see it obviously today As above the peculiarity of the Jaina Ethics is that it is a necessity of social life and significantly enough the same is also regarded

The inflowing of the subtle Karmic matter invisibly and its conjugation with the soul, produces the so-called ignorance in man and it interferes with the real function of the soul Though the qualities or the properties of the Karmic matter can not obliterate the inherent, natural and inseparable qualities of the soul, (right perception and right knowledge, Blissful existence etc etc ,) yet it can blur the natural and pure vision of the soul for the time being, *e g* an intoxicated person Wine has its own properties of stupifying the intelligence of man. When it is kept in the bottle, it does not act as such because the bottle does not possess the quality of intelligence or consciousness But it acts, as such, as soon as it reaches the stomach of a living being. So too with soul and matter Thus matter does not destroy the qualities of soul by its contact with it The soul needs the help of the sense organs, *e. g.* eyes, ears, etc , only so long as it is bound by the karmic matter. The pure or perfected soul, free from the bondage of the Karmic matter, realises the whole vison of the object before him by mere intuition and perception The aim and object of the soul in the human garb is to be free from the bondage of this karmic matter progressively. This way to liberate the soul from the bondage of the Karma is called Sadhna or means of liberation. Its first and foremost condition is to feel and realise that one's soul is different to the material embodiment and all the material or worldly gifts and lust for these gifts are false and take the soul away from its true aim and purpose of life This whole process of liberation of soul from the karamic Bondage or of self-realisation is called renunciation and is described as hereunder

What is Renunciation or Vairagya ?

Renunciation is an art of one's thinking, living and conducting for progressive self-realisation as described above By renunciation or vairagya, in fact Jainism does never mean renunciation of the active and practical life or of the honestly earned and acquired possessions, wealth and means or of social life and the fulfilment of social obligations and performances of domestic or social duties It is non-attachment with all that is material or foreign By renuciation jainism also does never mean to be anti-physical or intent on mortifying physical powers and talents or faculties. Contrarily, it has recommended the active and social nature of human bondages and the necessity of society with fulfilment of its obligation on the path of progressive self-realisation It also teaches an aspirant to be able to make proper use of all the sensuous, physical and worldly gifts and means for the sake of soul's *emancipation* or liberation In order to be able to make proper use of these gifts one has been advised to become the master and controller of the mind, senses, and passions and not to be their slave Great, perhaps the greatest, importance has been given to developing and maintaining physical fitness, mental and intellectual ability, soundness, and illumination and moral purity. The latter is purely a concern of sound relationships and it naturally requires one to be living, conducting and behaving in accordance

with the principle of self restraint to live and let live etc etc without which no life whatsoever is possible Through the social life the Jaina seers after their own experience have also found out the path of self development or enlightenment of soul which technique is a highly logical and scientific one Renouncing of worldly gifts altogether is the last phase of spiritual development and is like the giving up of one s pair of spectacles when his eyesight is regained or leaving the car or a railway compartment when one has reached his destination It is the concentration and application of mind to nothing else except to thoughts and actions conducive to the progressive self realisation No thought of greed anger avarice etc is allowed to enter the mind All such ideas which have already found refuge there too must be pushed out leaving room for virtuous thoughts conducive to soul s progressive emancipation or salvation On this path of liberation or renunciation the aspirant s mind must be enlightened and fully disciplined or the soul must have its complete control over his mind

Conception of mind

In uttradhyana Sutra Mana (mind & heart) with all its concentration thinking and feeling faculties embodied is compared to a horse and the imperfect layman rider over it whose goal of life is to reach his home or liberation with the help of the horse and without which covering the journey or achieving the goal is not possible Mana is out of the six Prayaptis (physical attainm nts) more or less sensitive and efficient on the basis of past actions The soul is therefore advised to be well trained and disciplined enough to control the wilful horse or to be the master of the horse in order to be able to achieve the goal of his human life to achieve liberation the cherished end of life with the help of the horse So during the journey on the path of the spiritual progress the horse or the Mana is not to be killed but to be controlled for the great purpose of the soul After the soul has reached its destination its bidding good bye or renunciation to the horse and to all the remaining material epuipments by the enlightened soul or the rider is most naturally e setial and it does never mean indifference to them by the souls who are on the path of spiritual progress When the aspirant soul has achieved its perfection or own attributes of perfection and all knowledge with the removal of the causes obstructing the same why the soul after achieving perfection should care for the material or the foreign elements which serve no better purpose than its own attributes Thus all the material possessions and even physical faculties which are o essential during the aspirant s journey on the path of spiritual progress are renounced in a natural way progressively with the effective spirit of true vairagya or renunciation

Mana according to jainism is a material achievement (paryapti) and is termed as Dravya Mana (or substantial or physical mind) It also gains consciousness of its own kind termporarily as long as it is in touch with the soul s conscious

ness, just as a lump of iron becomes red-hot fire-lump by its constant touch with fire and works like fire, yet it does not lose its own wonderful properties. So the conflicting virtuous and viceous ideas always arising and subsiding in our minds are known as soul-predominating and matter predominating ideas and feelings and man is accordingly prompted to do acts. Thus if the rider is weak and untrained or not sufficiently enlightened the horse or the mana shall prevail over the rider soul and being naturally attracted by the worldly greeneries, instead of moving towards its rider's destination (Vairagya and liberation) will pass the whole life time of the rider soul in worldly pursuits Besides this Dravya Mana (of the horse) the soul's own kind (Vairagya-mai) thinking, meditating etc, is said to be the soul's Bhave-Mana (qualitative mind) in its worldly existence This formation and the relation of these two Dravya & Bhava Man as (substantial and Qualitative) in the human garb and the necessity of keeping them alive and cultivated, as the case may be, and the way how to do it and how to utilise the Dravya Mana for the right purpose of spiritual elevation, is a unique and vast description in Jainism and is generally explained and stressed by the Jaina Monks according to their study and realisation. Thus the Mana is the most essential organ along with all other physical and sense organs on the path of soul's salvation. Acharya Samat Bhadra has stressed the great utility of these physical organs in his valuable works

Process of evolution

Thus renunciation or Vairagya in jainism presents a picture of facts with regard to self and nonself substances in embodied and pure forms of soul's existence and the nature and reationships of all the worldly gifts with the self This true and and attractive picture of self and non-self, thus represented , naturally awakens in the soul its right belief, creates its right attitude and bent of mind and a strong will and determination to work for self-realisation on the prescribed ethical principles, to achieve its end of life Jainism under the principle of renunciation or Vairagya presents the whole picture of life, of the making up of the required attitude of mind, preparedness for the journey and of the skill of the aspirant soul displayed in controlling the Manas and marching successfully towards the goal overcoming the obstructions, appearing in the way of spiritual progress

Thus on and on, on the path of spiritual salvation (adhyattam) or liberation progressive simplification of wants is the most-natural trait of an aspirant's character and life To travel as much as possible in the present life, and as much light as possible, unattached to the furnishment or gifts provided in the inn on the way, is the most natural and essential desire of an aspirant soul, who is fully saturated with the true sense of renunciation according to Jainism The world is an inn on the path and not a home Naturally, therefore, as one is on and on, on the path of Sadhna the aspirant will be seen growing unmindful of worldly gifts and achievements and all its relationships. But he is growing mindful side by side to something higher and much more

valuable thing which is the source of real and lasting joy and happiness Renunciation in Jainism is thus not a particular aspect of life, but the whole life in the progressive procession and by giving up his worldly riches and possessions arising for them due to soul s contact with matter and its adverse effect over it the aspirant soul like a wise bus nessman is bartering the baser wealths with the truly richest spiritual wealths of eternal nature Initiation to Monk s order of life is only a change or order from Annwrati order of life to Mahavrati order of life after due prepare dness This change of order is not the only aspect of renunciation or Vairagya It is a progressive life long process and starts from the moment one has initiated him self as an annwrati in his heart of hearts after making up h s bent of mind and love for the journey on the path of spiritual develonment The householders (annwratis) and the Monks (Mahavratis orders of life are the two different phases or paths of life leading to the same goal of Divinity and Eternity The only difference in the two is that the householders life is a long and circuitous route while that of a monk is a short cut to the same goal of perfection Even a monk s life is a social life too But in fact his is a super social life with the least possible worldly wants and desires and these too are to be simplified one by one The test of a true monk from his very start according to Jainism is that in his living and conducting after the principles of Non violence Truth Celebacy Non Stealing and Non possession he does never do any act by which he can be involved under any criminal code of any state of the world

Universal Brother hood & Charitability

The true sense of initiation to Monk s order of life on the role of renunciation and renouncing of the family and householder s life is that by such a cultivation the aspirant has realised all living beings as his family members Just as he was charitable and generous enough to be spending his honestly earned material wealths in his householder s *lifetime for the sake of the miserable beings keeping only a little for* h mself according to his minmum need so now he is sharing all his earnings of knowledge and spiritual joy and happiness with all human beings which is their true desire and all are hankering thereafter In return to his great giving to the lay and ignorent householders the monk also gets his bare necessities of life food drink etc etc in return from them Thus whether one is a house holder or a *monk social* relationship and interdependence in every order and sphere of life has been recognised and harmony is maintained for which purpose a code of practical conduct (achar) has been prescribed by the old Jaina Seers

Renunciation or Vairagya is thus not one aspect of life (initiation into monks order of life) only but the whole life of restrain and control over thoughts emotions will and impulses in order to control his outward unworthy actions—both in the estimation of the peoples and from the point of view of Karma bandh Initiation to Manks order of life under the process of renunciation or Vairagya is thus the

right bent of mind, right inclination, capacity and fitness of the aspirant soul for the highly disciplined and strenuous life adopted after one's inner urge with complete control over all the animal instincts and desires Recunciation is thus a life-long process of good, gentlemanly, benevolently living and of super living and ultimate victory of SELF over non-self

Sri Ratan Muni Ji Maharaj, in whose revered memory this contribution is being given, displayed heroically on this role of spiritual elevation, known as Renunciation or Vairagya, did lot of good to lacs of men and women coming to his contact and achieved a great spiritual success in his life, leaving the greatest to be achieved progessively in his life on life's roles hereafter I am glad I have been able to contribute the above few words in this Commemorating work of his pious memory

May his very pious and enlightend soul achieve its Divinity and enjoy a Blissful life in eternity
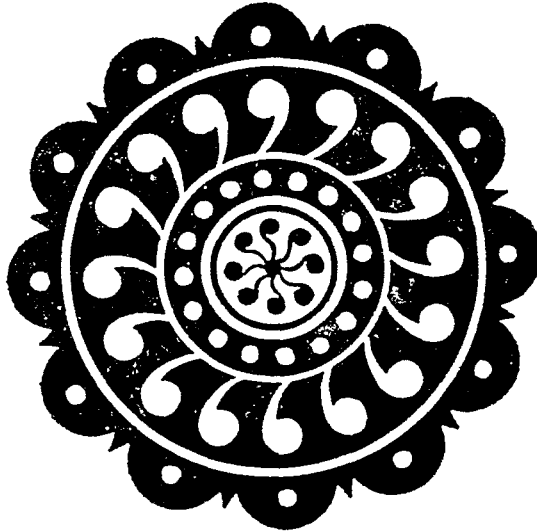
Rational Religion (I)

G C Dhariwal

A living being be it a man or a beast a bird or a plant is composed of two substances soul and matter Death means the separation of the two Body is matter and is visible to eyes while the soul is invisible Matter has got properties known to science All these properties exist in the matter composing the dead bodies Soul is non matter and therefore its properties cannot be known or investi gated in the laboratories But there are ways and means by which we can investigate the properties of the soul

It the first instance let us see what is the difference between the living and the dead We at once note that the living have got consciousness while the dead do not have it When a living being dies consciousness goes away Moreover the scientists have not found any consciousness in any particle of matter Thust consciousness is one of the properties of the soul Consciousness includes intellect knowledge, discrimination judgment etc Now look at this from another point of view From the beginning of time man has been thirsty for knowledge He has been making new discoveries and inventions in all fields pertaining to matter or soul It has broken matter into atoms and electrones and studied its properties and has put that know ledge to various and this quest for more and more knowledge will continue till eter nity There have also been peopl who have dedicated their live s to researches in the domain of soul—Tirthankaras prophets Rishis Acharya etc

This quest shows that knowledge is the quality of soul In its wordly envi ronments, that quality lies suppressed and the soul tries to assert itself to regain that quality hence the quest for knowledge The field of knowledge is so vast that

human race has not been able to acquire full knowledge It may be that the soul imprisoned in the body does not know its true goal or the correct method to reach that goal Nevertheless its quest for more and more knowledge shows that it is one of this inherent properties

You lock a man or even a child in a room ; he will resent it and will like to come out You chain a dog, it will try to break away from the chain and free itself. A dead dog or a dead man would not mind any restriction Thus every living being wants freedom What has man not done to gain that freedom, be that the individual freedom or the social or the political freedom Man has even asserted "Freedom is my birth right" and has sacrificed his all to preserve or to gain that freedom. Even now, throughout the world, nations are struggling to gain political and social freedom, freedom from despots and dictators Men have formed Governments, i e. given up part of their freedom for the common good, but there also the principle is 'that Government is best which governs least'. This shows that freedom is also a property of soul and it is struggling to regain it It may be that man does not know the full implications of that freedom or the real means to attain it, but his very urge for freedom shows that it is soul's inherent property.

Every man and for that matter of fact, every living being wants happiness and peace We can understand this better in thes case of human beings All actions of a man are guided by this sole motive No man acts with a view to get misery Man's aim is always to get happiness. Whether a man acts as a saint or a scoundrel his aim is to gain happiness Is it not peculiar that men act in contrary ways for the same aim ? The reason is that they are not clear in their minds what constitutes happiness and what are the correct means to get it Nevertheless it shows that happiness is a property of the soul and all living being aspire to get it

No living being wants to die Even birds and insects have instincts to save themselves from harm and death. Man has always been trying to conquer illhealth disease, accidents etc. which lead to death and to conquer death itself Look at the medical and surgical researches. They all go to show that man does not want to die Why ? Because immortality is also a basic property of the soul.

We thus find that knowledge, freedom, happiness and immortality are the inherent properties of the soul. We can in the same way investigate other basic properties Basic properties of a substance are constant They cannot vary from unit to unit A number of samples of pure gold will all possess the same property Their colour, touch, feel, specific gravity will be the same If a sample is different from a standard sample it shows that it contains some alloy, i e. foreign matter or impurities All souls must similarly have constant properties. No two pure can

differ from each other If they differ they can do so only if they have got some *foreign matter mixed up with them they are then not pure*

We *see in the world that even among* mankind different people have different degrees of happiness and misery intellect and stupidity health and sickness etc i e the inherent qualities of soul are found in different degrees We also see that animal kingdom and the plant kingdom possess the good qualities in a less r degree This means that the embodied souls have got different properties of foreign matter attached to them and the less the quantity of foreign matter the purer the inherent qualities of soul i e the inherent qualities of soul are covered by foreign matter in different degrees in different souls

The natural aim of a living being can only be to remove the foreign matter *and attain purity The activities and actions of living beings show that the soul—* itself a living being—is exerting to that end to get rid of *all foreign matter and to* attain the Pure State But owing to the influence of foreign matter the embodied soul does not know the right way It is so to say groping in the dark and follows the path of trial and error There have been souls in the past who have been successful in their experiments fully or almost fully and they have shown the path for *others to follow They have enlightened the path for others But every* body is not capable of taking advantage of the results of their experiments But people do take advantage in different degrees according to their capacities Those who have no faith in those experiments and their results naturally get no advantage Others who have got faith get benefit to the extent of the strength of their faith and conviction Even though some have faith they are incapable of acting upto it and so do not get the full advantage Even man the most intellectual among living beings has got certain weak nesses due to the bondage of foreign matter attached to his soul which does not allow him to act even according to his faith People know that to get intoxicated is bad and yet we find people becoming repeatedly mad with intoxicants The same applies to other acts

The whole universe is governed by definite laws the laws of nature There are laws which concern matter similarly there are laws which concern the soul Modern science is busy with the former and has neglected the latter It has enabled man to send satellites thousands of miles away from the earth It has enabled man to break the atom It has shown man what a tremendous energy is releas d by breaking an atom and thus man s researches in the domain of matter continue

There have been likewise man who have made researches in the domain of soul They have shown that soul and its combination with matter and also its dis association are governed by certain definite laws of nature They have also discovered

the infinite power of the Soul This science concerning the soul is called Religion It is a pity that modern man has been neglecting this most important branch of knowledge, which shows him the way to happiness in this life and the next The orthodox have degraded it to a mass of superstitions and rituals, having no bearing on the purification of the soul and have even made it a means to exploit the ignorant masses Religion has thus lost its appeal in modern times

Matter is indestructible, it only changes forms So is the soul indestructible and it only changes its form Both are governed by certain definite laws. Religion deals with laws relating to soul In accordance with these laws the soul assumes the form of a human being, which is comparatively in a higher stage of purification or evolution, or it assumes the form of an animal or other lower forms If for no other reason, at least to make us strive for higher evolution of the soul or to make us cautious against the still power degradation of the soul, we may assume the higher stage of heaven and the lowest stage of hell Thus we may divide the living beings or the embodied souls under four categories viz. Heavenly, Human, Subhuman and Hellish according to the degree of evolution of the soul When the soul has evolved to perfection, *i. e* got rid of matter, it can no longer remain in a body (which is matter) but becomes emancipated, perfect, possessing its inherent qualities of purity That is the stage of Godhood, Parmatman, Nirvana or Moksha

We have said thal the embodied soul is groping in the dark and follows the path of trial and error Man runs after happiness and in this he clashes against the happiness of others and a conflict starts and instead of happiness he gets unhappiness and a vicoius circle starts creating an atmosphere of callousness No one can be happy in an atmosphere of callousness Sometimes he takes intoxicants to forget misery but thereby he does not get rid of it but adoption of this method makes matter worse and all people know what happens when a person becomes addicted to drinks Again sometimes he comes under the influence of anger, pride, avarice and the like and thereby loses the balance of mind and the power of judgment and discrimination This means the basic properties of the soul viz knowledge and consciousness become blurred and the soul gathers more of foreign matter which is against the desired end. Moreover in the practical world we see these things create enemies and a chain of reactions start making everybody unhappy Thus in his pursuit of happiness, he gets unhappiness. Then what is his guide ? We see in this world that one runs after luxuries, while the other sacrifices his wealth, his power and his everything, the aim of both is happiness. One practises continence and the other adultery, the ultimate aim being the same But contrary acts cannot bring the same result The question arises, which is the right way and what is the guide Religion was always believed to be the guide and the Seers ordained certain

rules for the purpose These were the moral laws or rules of morality Different seers made different rules for different categories of people Some said the Fear of God was the beginning of wisdom Some described the joys of heaven and the good things for the man in this world as the reward for good deeds and the torture in hell as the punishment for evil deeds All these sayings or proverbs and rules based on these sayings kept men on the right path But today faith in God and the seers and their sayings has gone Nobody believes in the reward of Heaven or the punishment of hell In the mad pursuit of supposed happiness he disdains religion and says a bird in hand is worth two in the bush Why should I restrain myself from doing any act which gives me pleasure simply because somebody says it will lead to disaster ? The talk about soul its evolution or degradation God and Religion is regarded as non sensical Happiness is regarded as consisting of the ever rising standard of living This needs money Money has to be obtained by establishing colossal industries and exploiting the undeveloped world by forcing the products of these industries on them Competition starts among the various manufacturing countries to produce cheaper goods by exploiting labour and to capture markets by threat or force of arms Wars start and spread ruin and then wars start to prevent wars and the world is pushed towards its doom The mad pursuit of materialism has thrown to the four winds all standards of morality and decency Corruption and crimes are increasing in the world Neither capitalism nor socialism or communism can stop this rot

The only way to stop this rot is to change the trend of human thought Matter should not monopolise human thought The existence of the soul and its inherent qualities must be accepted The reasons why those qualities get corroded must be studied how the corrosion can be minimised or avoided and got rid of must be found out Man must be taught to act on the principles so established

It must not be thought that all this talk about soul and religion concerns only the life after death that the preaching for purification of soul is only for Nirvana or Moksha or Godhood Moksha is the ultimate aim or the Ideal In reaching that stage a soil has to pass through different stages of purity or evolution and at every stage he feels and enjoys more and more of the inherent qualities If we look to mankind some are more fortunate than others because of higher evolu tion of soul But in the flush of fortune if they forget the truth and attract impurities to their soul by their actions not only the evolution stops but degradation sets in A human being must therefore never neglect this alertness and always keep the ideal before himelf It is only if man wakes up to the reality the world can be saved from the doom that is threatening it

---

Note —Comment criticism and suggestions are invited It should be considered whether essays like this can form a basis of non-sectarian religious books fit to be introduced in schools without prejudicing the Secular policy of the State

Rational Religion (II)

●

G. C. Dhariwal

Man cares for the health of his body, but man is not body alone It is something plus the body That something is soul Man is an embodied soul. Therefore, the care of the health of soul is no less important than that of the body On a man's death, the embodied soul leaves the body which is then consigned to fire or earth, while the soul cannot thus be got rid of It travels to another body, in the condition in which it is at the moment, in ill-health or good health, and so the health of the soul is more important than that of the body As in the case of body so in the case of soul 'Prevention is better than cure'. Medical science prescribes the rules of living to keep the body fit and healthy. Religion prescribes the rules of living to keep the soul fit and healthy. If you fall sick, medical science prescribes the cure and so does religion if your soul fails sick But there is one difference Your indiscretion in rules of living affecting the health of your body shows its result quickly and that acts as a warning to you, while the indiscretion in rules regarding the health of your soul does not show the results so quickly and so the ancient sages established certain dogmas, to encourage man to keep his soul healthy. The existence of an All-Powerful God, sitting in judgment on all actions, and punishing and rewarding the living beings according to their actions, even sending them to Hell or Heaven and so on, kept him away from actions prejudicial to the health of soul Rules of conduct and traditions were established and the fear of God began to be regarded as the beginning of wisdom. Stories of miracles created Faith and Devotion, Shradha and Bhakti, and a sort of strong public opinion in favour of the moral laws and traditions was formed This was Dharma or Religion which decame a very powerful force in support of the health of soul Even in wars Dharma was not forgotten

But man has been continually advancing in intellect He is going to become an intellectual giant. He denies the very existence of God, because his rockets have

not been able to locate Him He does not believe in the miracles and when he sees the religious teachers themselves do not practise what they preach but on the other hand exploit the people in the name of religion the roots of faith and devotion become loose The industrial revolution in the West and the theory of competition changed the whole outlook Exploiting the backward nations and amassing of wealth and concentration of power in a few hands made Mamon usurp the throne of God The old values changed What were regarded as virtues came to be looked upon as vices and vice versa In this mad rush and competition to leave the other fellow behind man has no time to think of soul and its heolth What to sao of soul he has no time to th nk of the health of his body even We see new diseases spreading mainly due to this mad rush—blood pressure h^art diseases mental diseases cancer and so on

By denying the sun the sun cannot become non existent Similarly by deny ing or forgetting the soul it does not become non existent and the natural laws relating to soul like all natural laws cannot be cheated They are inexorable and neither prayers nor bribes can stop them from functioning The old sanctions—the fear of God and the punishment in hell or the reward in heaven traditions and public opinion and the religious commandments, have all lost their force They can no longer keep men on the right path On the other hand they have o-come objects of scorn and ridicule The only occupations of the people now arel ove and war (Raga and Dwesh) and every thing is fair in love and war We see the result of this philosophy or want of philosophy in the individual as well as the collective lives of men Dishonesty corruption and crimes are increasing everywhere laws and law courts are failing to arrest crime in spite of promulgation of new laws almost everyday about every thing and the fear of fines and corporal punishment is vanishing Man is becoming more and more selfish callous and cruel and the exploiter of his fellow beings Perhaps beasts today are not more debased than what their predecessors of a hundred years ago were But that cannot be said of man In the collective or the international sphere there is the worldwide tension the cold war the opposing blocks the threats and counter threas of war the competition in the descovery of weapons of total anihilation

Man has been trying to forge new sanctions in place of the old ones but with no result In the international field he created the league of nations which is long dead and the U N O which has succeeded only in demonstrating its impotency In the individual sphere the enactment of laws about everything has reduced the san ctity of moral sanctions and obligations and has created a class of intellectuals whose only job is to specialize in making all such laws infructuous What is going to be the fate of mankind ?

Water takes the lower level and so does human habit. It is easier to adopt evil habits but it is difficult to get over them Diseases are infectious, good health is not Evil thoughts and evil habits spread and gather momentum and then they become a normal feature of life and the public conscience becomes deadened Not only that, but even sound principles are but to unsound uses The principle of equality of sexes meant to prevent the exploitation of women by men, has resulted in doubling the consumption of wine and cigarettes. The freedom of women from slavery of the husband has thrown them into the slavery of the capitalist to supply him with cheap labour Perhaps there is not aprinciple which has not been misapplied in some way or other, because the application depends on man's tendency and man's tendency as we have said above, takes easily to lower levels Man cannot rise above his weaknesses and so naturally justifies all his actions Then there is not an evil in the world, in support of which intellectuals cannot find an argument Common people follow the intellectuals and thus the lower lever of behaviours becomes the general standard Then came another group of intellectuals—the philosophers who preach the theory of Realism Anybody who preaches against his, any body who preaches about raising the moral level by self-control, a spirit of self-sacrifice and similar things which were regarded as the foundation of character is called amania having some psychological defects All the ancient sages and saints and religious teachers are placed in that category and their teachings are charged with thwarting the personality of a human being

Thus no incentive is left for the development of those qualities which were called noble and were regarded the foundation of character, individual and national and which were prized and guided human behaviour Those qualities are no longer the ideal now The ideal is more and more physical comforts and enjoyment with no limits The natural consequences of this ideal cannot be other than what have been described above

If man has to survive, he must change his ideal He must appreciate that he is not only matter-body, but is a combination of body and soul and that soul has got certain basic properties and his ideal should be in consonance with those qualities and not antagonistic to them In usual parlance, we say, man should have a healthy mind in a healthy body This means nothing more nor less than, that man should aim at a healthy body and a healthy soul For keeping the body healthy, you must know how to tend it, you must know the laws of keeping it healthy and you must know what is a healthy body. Similarly for keeping your soul healthy you must know how to tent it, you must know the laws of keeping it healthy and saving it from epidemics and disease and above all you must know what is an ideally healthy soul For your body you know that foreign matter spoils its health is to purge your body of the foretgn matter Similarly, in case of your soul it is the foreign matter that mars its inherent qualities and your aim should be to cleanse your

soul of that foreign matter Mere knowledge of the laws of health of body cannot make it healthy and so mere knowlodge of the laws of health of soul cannot make it healthy but in both cases you have to act according to those laws just as man is prone to temptations and the enjoyment of senses yielding to which ruins his body so does the yielding to temptations break his will power to resist the attachment of foreign matter which spoils the health of his soul

Man must therefore try to understand the basic properties of soul the various influences that ruin its basic properties and other connected subjects his knowledge must be backed by strong living faith or conviction which alone will encourage him to act according to the laws of soul There lies the salvation of mankind This is what true religion teaches

This does not mean that he should neglect his body because body is the vessel that contains the soul and he must also appreciate that rules relating to the health of body and soul are not contradictory but complimentary

The present trend is towards materialism at the cost of spiritualism worship of matter at the cost of soul and this is taking the world to its doom Man must not sheepishly or blindly follow this trend but must rise against it Only then man can survive as a man It has happened in the past—both mythological and historical Great souls have arisen in all climes and at all times who have raised the banner of revolt against the then current trends and saved humanity Mahavira and Buddha were such souls If the world exists today as a civilized world it is due to such great souls and not due to Alexander the Great or Changezkhan or due to Rockfellers or Fords or even to the army of great scientists and discoverers of atom or hydrogen or nuclear bombs All of them have been instrumental only in degradingt he man

True religion—the science of soul must get its due recognition and religion should not be regarded as a separate compartment of life to be looked into at leisure or at certain periods or places only or in the observance of rituals and ceremonies without understanding their purpose Religion is to be lived every moment of our life just as rules of health are to be observed throughout our lives and there is no need of introducing anything mysterious or mystic in it Even the rituals and ceremon es that go in the name of religion are of any use only if they fulfil the purpose of reminding the man that besides his body he has also a soul to care for and that he should take care that the qualities of soul are not ruined

If man is taught to take care of of his soul along with his body there will be no ill will no exploitation and no war and Peace will reign in the world

Note —Sir Robert watson watt the British Scientist said that Chemists have developed a toxic substance weighing only eight ounces that could kill every human being on our planet and this is only one of the biochemi ts chamber of horror Profe sor Mikhail Dubinin of the Institute of physical Chemistry in Moscow said It is well known to us scientists that by now even more lethal Chemical and bacteriological weapons have been created which in case of a new war might be used as a means of annihilation (Amrita Bazar Patrica 27th Agust 1959)

Samadhi in Buddhism

Kamla Jain, M A, Delhi

"Samadhi" is a term of decisive importance in Buddhist literature. A study of practical philosophy of Buddhism is incomplete without having a clear conception of Samadhi It is not exclusively a Buddhistic term : it is prevalent in almost all the schools of Indian Philosophy and religion. It is meaningful from the spiritual point of view in all the different schools, and forms a very important step in the path for annihilation of suffering or Dukkha—the ground of all spiritual effort From the Vedas to the Tipitakas of the Buddhists and the Agamas of Jainas, the desirability of the spiritual growth is pronounced because the life is full of suffering, and there is definitely a stage, where final emancipation from all suffering is reached, where there is extinction of Dukkha—Adhyatmika, Adhidevika and Adhibhautika (Spiritual, mental and physical). Hence Buddha talks of a fixed path leading to that stage of Moksa Kaivelya or Nirvana It is this fixed path which has been called by Buddha *Sila* (virtue or morality), *Samadni* (meditation or concentration) and *Panna* (knowledge of the ultimete Truth) These include in themselves the so called Astangika Marga (the eightfold path)

Sila means good conduct, morality or physical discipline This includes Ahimsa (non-killing) Satya (speaking truth) Asteya (non-stealing) Kama mithyacara Virati (continence) and Sura Maireya Madya Pramadasthana Virati (abstaining from intoxicants). This physical discipline forms the first step in Buddha's sasana (doctrine). By Samadhi is meant the mental discipline or purification of Citta (mind) through concentration or meditational practices. These meditational practices from the very core of Buddhism Panna is the final stage, which is attained as the end of

all sila and samadhi—the ultimate knowledge of truth These are the threefold teachings of Buddha which are comprehensive enough to include the eightfold path In verse after verse and in passage after passage in Nikayas and Dhammapada the glory of the threefold teaching has been sung Top priority is given to these teachings because it is only through these three means that the Jiva can get rid of the entanglement of Tanha (attachment) which is entangling him from time immemorial The following verses of Samyukta Nikaya can give a glimpse of the importance given to them by Buddha when Buddha was asked by a deva

श्रन्तो जटा बहि जटा
जटाय जटिता पजा ।
त त गोतम पुच्छामि,
क्यो इम विजटय जटति ?

The reply which Buddha gives immediately

सोले पतिट्ठयो नरो सपञ्ञो
चित्त पञ्ञाय च भावय ।
आतापी निपको भिक्खु
सो इम विजटये जट ।

This small reply given by Buddha indicates the relevance of sila samadhi and Panna for the removal of embroilment of Tanha The threefold teachings together constitute the path of purity The importance of this had not been overlooked by later thinkers too These two verses of Samyukta Nikaya were given to Buddhaghosa for explanation to test his knowledge and Buddhaghosa beyond the expectation of his enquirers gave a superb presentation of his knowledge in his famous work Visuddhimagga (The path of Purity) which almost has no parallel In the three parts of his visuddhimaggo he deals separately with the threefold teachings of Buddha (Trisiksa)

In the second part of Visuddhimagga he has very elaborately and distinctly discussed Samadhi or concentration its meaning its implications classification etc in great detail Having established oneself in morality or good conduct cleansed by qualities such as limiting of desires and detachment with life one should develop concentration or Samadhi—the discipline of mind

Discipline of mind is of supreme imporatnc It is important from the spiritual point of view but it is no less important from the worldly standpoint too We behold in our everyday life that it is because of our fickle mindedness that the numberless problems arise We are socially and politically disturbed because we are mentally disturbed It is because of our disturbed mind that the external world

is disturbed ; the social and political set-up is disturbed If the mental make up in general is sound, the external world will necessarily have a trend towards improvement All these disturbances have their seeds in the mind Hence the importance of the discipline of mind, and the wide implications of concentration of mind

In the everyday life concentration is of great psychological worth Without concentration one's normal life is impossible In its simplest form concentration is the narrowing of the field of attention in a manner and for the time determined by the will The "mind is made one pointed and does not waver and does not scatter itself like the flame of the lamp in the absence of the wind". Everything changes every moment however slight the change may be, but it s concentration which provides some stability in this perpetual flux enabling mind to stand on the object without distraction for more than one moment "In addition a synthesising activity (Sam-a-dhi-Syn-thesis) binds together a number of mental states which arise at the same time as water binds the later of soap" (Comze) Such is the importance of concentration from psychological to spiritual growth

But the spiritual concentration is very much ahead of Psychological concentration, which need good training of mind with great effort "Spiritual or transic concentration results less from intellectual effort than from a rebirth of whole personality including body emotion and will"

The term Samadhi or concentration means firmly placing—the act of putting or placing the mind and mental functions evenly and properly ·

समाधानट्ठेन समाधि, एकारम्मेण चित्त चैतसिकं सम सम्मा च ग्राधारं थापन ति वुत्तम होति ।
(Visuddhimaggo Buddhaghosa)

Buddhaghaghosa has brought out various characteristic features of samadhi as to what are the characteristic function, manifestation and proximate cause of concentration Concentration has non-distraction as its characterstic Its function is to eliminate distraction It is manifest as non-wavering and its proximate cause is bliss This in a nutshell is the summery of his grand research on concentration—as a means to spiritual development

He classifies Samadhi as Upacara and Appana (Arpan) In the attempt for concentration of mind, upacara is said to be that mental state which immediately proceeds the fixation of mind on a certain point, the fixation is termed as Appana Hence this classification indicates the preparatory attempts for developing concentration of mind

Another classification which he makes is that of Laukiya Samadhi and Lokuttara Samadhi Laukiya Samadhi is connected with good thoughts "Kusalacitta-

Ekaggata, while Lokuttara Samadhi is associated with the fruits of Sanctification This is the stage which is very near to Panna Buddhaghosa has also made some other classifications of Samadhi like hina (lower) majjhima (middle) and panita (higher) Then again there is an important classification (i) Savitakka—Savicara (ii) Avitakka—Savicara and (iii) Avit kka—Avicara means (i) concentration with discursive and discriminatory thoughts (ii) Concentration with discrimination but without discursive thought and last without discrimination and discursive thoughts

Then he classifies concentration as piti Sahagata (with joy) Sukha Sahagata (with happy state of mind) and Upekkha Sahagata (with equanimity of mind) these are the important classifications Buddhaghosa has also made some other classifications but all of them cannot be discussed at this place

These classifications help one to comprehend the various mental states accompanying the different kinds of concentration but they are unable to give us an idea as to how the adept should start the meditational practices and how to advance concentration So Buddhaghosa has also discussed the processes to enchance meditation gradually The processes towards meditation also indicate to the obstacles or hindrances which are to be overcome for getting established in meditation

These hindrances according to Buddhaghosa are 1 Avasa (dwelling) 2 Kula (family) 3 Labha (Gain of good) 4 Gana (members of congregation) 5 Kamma (works) 6 Addhana (wayfaring) 7 Nati (relatives) 8 Abadha (one s own sickness) 9 Gantha (scriptiues) 10 Iddhi (Miraculous powers) These ten obstacles are called palibodhas which are to be overcome to start the meditational practices but these ten impediments are not objective on the other hand they are subject ve to one s own tastes and temperaments etc For one Avasa is an impedim nt but for the other palibodha Kula for example may serve as an impediment Buddhaghosa also discusses forty Kammathanas or subjects of meditation which are of help rather than hindrance in meditation On these forty subjects the adept concentrates to start with the meditation These subjects are tenkasinas ten Asubhas Ten Anussatis four Brahmavi haras four Aruppas one Sanna and one Vavathane

Out of the forty subjects ten Kasikas come first In Buddist meditational practices the term is applied to those subjects of meditation which oc upy the entire mind (the word Kasina means entire and as such it does not give scope to the rising of any other thought These are Pathavi Kasina (earth as the subject) likewise there are Apo Kasina (water) Tejo Kasina (fire) Vayo Kasina (wind) Nilakasina (blue colour) Pita Kasina (Yellow colour) Lohita Kasina (red colour) Odata Kasina (white) Aloka Kasina (Light) xxx Paricchinnakasa Kasina (circumscribed space) i e the op ning in a wall or a window These are the objects of maditation Buddha

ghosa has also spoken about the various miraculons powers the adept acquires by successfully practising the Kasinas

Other objects of meditation are called ten Asubhas. Here the adept, is to fix his mind on ten unpleasant objects which is something more difficult than the fixing of mind on pleasant objects these objects are for example uncared corpses, swollen corpse etc At this stage the adept should have more of patience in his meditation

Buddhaghosa then speaks of the ten Annussatis (recollections) as the objects of meditation These annusattis are the pure cognitions of the merits of Buddha, Dhama Samgha, S la Caga (charity) etc Here one finds that there is a direct shift from concrete objects to abstract ones, which are made by adept as concepts for concentration, which is a sign of making the meditation purer and purer In the final stage of Samadhi as we know the adept has the most abstract object before him.

Another group of Kammathanas is known as Brahmaviharas which are four in number These Brahmaviharas are very important Kammathanas. The very word Brahmavihara suggests its importance by itself (Brahmavihara—Divine-Abidings) the adept reaches the divine states at this stage These are Metta (amity), Karuna (Compassion) Mudita (Sympethtic joy) and upekkha (equanimity) The adept at this stage concentrates on these higher qualities, after reaching these higher qualities one almost conquers over his fickle mind These Brahmaviharas are also found in the same order in Patanjali Yoga Sutras

तत्र सर्वं-प्राणिषु सुख-सम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत् ।
दुखितेषु करुणां पुण्यात्मकेषु मुदितां अपुण्यात्मकेषु उपेक्षां ।
एवमस्य भावयत. शुक्लो धर्म उपजायेन ।
ततश्च चित्तं प्रसीदति प्रसन्नमेकाग्रं स्थिति-पदं लभते ।

The doctrine of friendliness (metta, should be cultivated and should be started from one's own self but care should be taken, lest this friendliness may change into roga or attachment Karuna (Compassion) is the practice one starts with those who already deserve it, but ultimately the adept should extend it even towards the enemies In the practice of Mudita the adept is having sympathetic appreciation towards all This practice should not be limited to a selected few but the range of it must be as wide as possible The last Brahmavihara is *Upekkha* (equanimity) this step is taken up by an adept who has perfected himself in the previous three stages. The adept at this stage should be neutral to his friends as well as enemies

Then Buddhaghosa mentions the name of four Aruppas which also form important Kammathana the Chief Characteristic of these Aruppas-Kammathanas is

that at this stage the adept fixes his mind on Anantas (infinite) the adept goes beyond the Rupaloka (the world of forms) and his mind is severed from all con ception of distinction These Anantas—infinites (objects of meditation) are I) Ananta—Akasayatana (the object of meditation as space is unlimited) (II) Ananta Vinnanayatana (the object here is consciousness is unlimited The third subject of meditation is Akinanayatana (nothingness voidness) that too is unlimited and the last subject of meditation according to Buddhaghosa is neither perception nor non perception Nevasannayatana Nasanna Yatana But this seems to be derived from the third Aruppa—Akincahayatana which indicates to the absence of a concept

In the last two Kammathanas (i) Aharepatikula Sanna bhavana (the medita tion for developing aversion to food—which is an obstacle to higher Samadhi) And the Caludhatu—Vivathana—Bhavana (the meditation on various elements in the boby (which are useless non eternal and transient) the adept now reaches the highest stage culminating in Vippassana Samadhi leading to the final stage of Panna in the threefold teachings of Buddha

This is a short summary of Kammathanas which indicates various stages of Samadhi reached by an adept How the adept fi st starts with concentration on very concrete objects *e a* earth air water etc and then later on advances to objects becoming more and more abstract And ultimately the object becomes most abstract of all in the final stage of meditation One overcomes now all the mental leanings such as Raga (attachment) dosa (hatred) and moha (infatuation) Hence such is the highest stage of Vipasana or lokuttara Samadhi of Buddha

In all these states of gradual development of one s self the importance of a spiritual preceptor (Kalyanamitta) cannot be overlooked Buddhaghosa has also given indication to it (in Visuddhi Magga) and really in the beginning a compe- tent guide is of utter importance It is he who can help the adept what type of Kammathanas are to b adopted by the adept and what palibodhas (hindrances) to be given up after studying nicely the nature taste and temp rament of th ad pt

This is a brief sketch of the Buddhist Samadhi—an important part of the path leading to liberation but as we know that the term Samadhi and its implica tions are not new to other schools of Indian thought In Jaina scriptures the term Samadhi is not unknown It is found in Agamas quite frequently and in number of places But in order to give a correct parrallel to Buddhist Samadhi we are to call up the name of Dhyana of Jainas and more particularly *Dharma and Sukla Dhyana* The term Samadhi is also taken sometimes in a broad sense meaning thereby Darshana and Jnana and caritra taken together But we should keep in mind that the implications of Samadhi in Buddhism and Dhyana in Jainism can

tion Patanjali calls it Yoga,. By yoga he means the cessation of mental modifications

योगश्चित्त वृत्ति निरोध :

(Yoga Sutras) when there is a cessation of mental modifications, liberation would automatically come. These mental modifications are five according to Patanjali i e. Ksipta (restlessness), Mudha (blinded State) Viksipta (distracted Ekagra (single pointed) Nirodha (restricted) Out of these the first three states are the hindrances to Samadhi like the palibodhas of Buddhism, whereas the last two modifications of the mind form the starting point in Yoga, because at the stage of Ekagra only the constant flow of mental modifications is arrested and the citta (mind) is made adepted to one single point, though of course in the biginning object of concentration is very much concrete, just like the Kasinas of Buddhism The Yoga psychologists admit that concentration is the general characteristic of all states of mind Though it is found in its intensest form in Samadhi, the last stage of Yoga The hindrances are overcome through various Yogangas, i e yama (ahimsa, Satya, Asteya etc) —the silla of Buddhism, and Niyama, asana etc and after getting eatablished in these yogangas which are the external aids to Samadhi. the person becomes fit for Samadhy which in its broader sense includes Dharana Dyana and Samadhi proper What we can compare to Samadhi of Buddhism, and the Dhyana (Dharma & Sukla of Jainism is not only Samadhi, the final stage of yoga but Dharana, Dhyana and Samadhi taken together, thus Dharana and Dhyana and Samadhi constitute the internal aids to Nirvana or Kaivelya *Samadhi* in Yoga is thus the name of the adjacent condition to Nirvana It is the end of Yoga discipline, since it makes the soul highest of all these temporal changing and fluctuating conditions of this imperfect life It is the state when the soul realizes its own true nature—the Vippasana or lokuttara Samadhi of Buddhism, and the last Stage of Sukla Dhyana of Jainism

Hene to get a comparative view of Buddhist Samandhi we are to get acquainted with Dharana, Dhyana and Samadhi of Yoga.

Dharana is the fixing of citta (mind) on a particular object or spot, it is the steadfastness of mind In our daily life, we see ideas come and go and do not stay long, so Dharana is the making up of the mind to fix it on a certain object, just as the adept starts his concentration from concentrating on 'Kasinas'. It is only later on that the concentration becomes objectless Dharana is the preceeding condition to Dhyana (meditation) which means an undisturbed state of an even current of thought This has the effect of giving us a clear and distinct representation of the object first by its aspects, but later on the representation of the object changes into a full and lively presentation of it Thu s Dhyana makes a disclosure of the reality of the contemplated object. Dhyana culminates into Samadhi It is

a state when body and mind become dead to all impressions and the mind gets adsorbed in all contemplation and only the object (Dhyeya) is everything for the adept and nothing else Dhyeya and Dhyana almost coincide now

'तदेवार्थनिर्भासि स्वरूपशून्यमिव समाधि '

Even this Samadhi has two different stages as we know *Samprajnata Samadhi in which the consciousnpss of the object is still left over So it is called the salambana* Samadhi It is that state where citta is single in intent and fully illumines the real object and removes the bonds of Karma and has the capability of restraining all mental modification It is a state from which no downward fall is possible This state is accompanied by Vitarka (deliberation) Vicara (reflection) Ananda (joy) and Asmita (sense of personality) In fact these are the four ways in which this higher concentration develops

At this stage there is a direct knowledge of all but one point we should bear in mind that the knowledge one attains is not through inference as most learned scholars may have even today but the knowledge at the stage of samprajuate Samadhi is direct and without any error and not through inference

Asamprajuata Samadhi on the other hand is that stage where even the con sciosciousness of the object has ceased to be No Chitvrttis are left the self attains its purest intrinsic state thus finally ending in to Nirvana or Deliverance The culmination point of all efforts for spiritual upliftment

It is a short introduction to Samadhi in Buddhism which is given no less importance in various schools of Indian Philosophy particularly Jaina and Yoga systems

Science And The Universities

By—D S Kothari

Scientific Policy Resolution

Science has developed at an ever-increasing pace since the beginning of the century, so that the gap between the advanced and backward countries has widened more and more. It is only by adopting the most vigorous measures and by putting forward our utmost effort into the development of science that we can bridge the gap It is an inherent obligation of a great country like India, with its traditions of scholarship and original thinking and its great cultural heritage, to participate full in the march of science which is probably mankind's greatest enterprise to-day.

And the statement continues .

The Government of India have accordingly decided that the aims of their scientific policy will be :

(i) to foster, promote, and sustain, by all appropriate means, the cultivation of science, and scientific research in all its aspects—pure, applied and educational ,

(ii) to ensure an adequate supply, within the country of research scientists of the highest quality, and to recognise their work as an important component of the strength of the nation ;

(iii) to encourage, and initiate, wite all possible speed, programmes for the training of scientific and technical personnel, on a scale adequate to fulfil the country's needs in science and education, agriculture and industry, and defence ;

(iv) to ensure that the creative talent of men and women is dissemination of knowledge, and for the discovery of new knowledge, in an atmosphere of academic freedom ;

(v) to encourage individual initiative for the acquisition and dissemination of knowledge and for discovery of new knowledge in an atmosphere of academic freedom

(vi) and in general to secure for the people of the country all the benefits that can accrue from the acquisition and application of scientific knowledge

The Government of India have decided to pursue and accomplish these aims by offering good conditions of service to scientists and according them an honoured position by associating scientists with the formulation of policies and by taking such other measures as may be deemed necessary from time to time

This is a most heartening and welcome policy statement giving explicit recognition to the role and importance of science and technology in the affairs and progress of the country To give concrete shape to this policy is no easy thing no royal road It requires relentless effort and vigorous action by the Government the scientific community and the public generally There is no doubt that a great beginning has been made We have taken the first steps and in this venture the first steps are paricularly difficult As science grows in the country its influence and effectiveness increase extremely rapidly The interaction between science and society is a dynamic and an evolving thing

The Scientific Revolution

It needs no reminding these days that in a historical sense the most conspicuous feature of the modern world is science We do not quite understand why the Scientific—the term is used here in its broad sense—was not realised by the great civilisations of antiquity why and how it originated in Western Europe only a few centuries ago and then spread all over the world ? May be to start with it was in the nature of a spontaneous fluctuation which because of a peculiar combination of socio economic factors aided by colonial expansion revival of ancient learning and an atmosphere of religious ferment gathered momentum rapidly instead of evaporating away as probably happened with somewhat similar events in earlier times We do not understand why the growth of science during the preceding two years or so has occurred at an almost terrific pace—the *doubling period* of science is around 15 years Much study and research in the history of science and social sciences would be necessary before we could hope to understand these things

Let us for a moment see the Scientific Revolution against the backdrop of history—the evolution of the universe It is meaningful to assign to the universe an age of 20 30 billion years (1 billion— 1 000 million) The sun is 10 billion years old and it has about the same length of time ahead of it As against this the highly luminous B type star has a lifetime of a few million years only Incidentally the

sun is a second, or even. a later generation star as revealed by its chemical constitution The first generation stars were originally of pure hydrogen which was transformed in their extremely hot interiors into different element ranging from helium. Some of these stars exploded in the course of their career, and scattered into space the elements synthesised in their deep interiors. These later found their way into new stars under formation—the second generation stars One of them is our sun The earth in present form is about 5 billion years old. The most primitive forms of living organisms appeared on the earth perhaps 2 billion years ago ; the first birds and mammals are about 200 million years old. Man appeared between 1-2 million years ago. Agriculture seems to be no more then 10,000 years old , and the first writing was invented some 6,000 years ago Science, as an important element in determining man's economic, cultural and spiritual 'climate' has been in operation for less than two centuries Man is now harnessing, under controlled conditions, a source of energy million times more powerful than chemical energy. Harnessing nuclear energy demands deep insight and considerable progress in fundamental science, as distinct from empirical arts and crafts. It seems that man is now truly entering the '*age of homo sapiens*' when he can aspire to a citizen not only of the One World in the making, but a citizen of the universe And it is no mean universe. We do not know whether the universe is *finite* or *infinite*, but progress in radio astronomy is likely to provide an answer to this question within the next few years The explored part of the universe is populated by some ten billion *galaxies*, and each galaxy contains some hundred billion stars A typical galaxy has a diameter of hundred-thousand light years; Inter-stellar gas makes one to ten per cent of its total mass During recent years planetary systems other than belonging to our sun have been discovered (It is easy to show that for a planet the maximum size (radius) cannot be larger than about that of Jupiter) It is almost certain that intelligent life is no monopoly of the earth. May be, at no distant date man succeed in linking himself to a 'cosmic telephone network'.

Science Stresses Cooperation

The real strength of science lies in its relentless, vigorous and fearless pursuit of truth Scientific laboratories which less than a hundred years ago were a curiosity and a rarity are now studded all over the globe (Science teaching in India first started in the Calcutta Hindu College (which later became the Presidency College) founded in 1817 under the leadership of Raja Rammohun Roy) Any discovery made anywhere soon becomes the common property of all The language of science is a common language, and its achievements the heritage of all--the only truly common heritage. The world of science is an open one, and this has not altered essentially despite certain it aberrations has suffered because of its close connection with the apparatus of

war An example of cumulative effort that at once comes to our mind is that all particles in nature be those electrons antiprotons neutrinos or what not must belong to one of two classes One class of particles are called *femins* after Enrico Fermi (who first realised the nuclear fission chain reaction in December 1942) and the other class is called *bosons* after Professor Satyen Bose Bose and Fermi were the first to study about 1924 the relevant quantum statistics Science gives first place to cooperation and not competition and its roots lie deep in man s highest capabilities and aspirations With the growth of science further research generally becomes increasingly complex and costly In some highly specialised and sophisticated fields coop rative effort on a more or less world wide basis becomes almost a necessity e g manned flight to the moon or even the 1 000 billion electron volt accelerator required for investigating the interactions betwe n elementary particles (including such fundamental probl ms as whether in el mentary processes the direction of the flow of time can be experimentally determined)

As a direct contribution of science the average span of human life (expectation of life at birth) has increased everywhere and in some countries it is three times of what it was a few years ago Whatever the conflicts and bigotries that afflicts the world today there is no denying that we are witnessing for the first time cooperation in science and other fields on a scale and extent never attained before Less than two years ago the U N General Assembly adopted a proposal that through concerted effort of the rich countries the less developed countries be assisted to achieve by the end of the present decade an annual rate of growth of at least 5 per cent in their national economy (that is about 2 5 per cent yearly increase in per capita incom) A five per cent rate of growth corresponds to a doubling period of 15 years The growth rate of the national economy during recent years has been about 4 per cent for the USA and abovt twice this for the USSR To attain the above target the countries concerned would need probably an economic aid of the order of $ 10 billion on a long term basis this is about one per cent of the yearly national incomes of the rich countries Incidentally $10 billion is about one tenth of the yearly expenditure of defence by them One cannot be wholly rational in these matters, but it seems that world prosperity would be much easier to realise if there we e world disarmament

Science Introduces Unpredictability in the March of Events

The overwhelming impact of science on society has for the first time in human history introduced an element of unpredictability and uncertainty not present in earlier times. It arises from the basic fact that in the very nature of things fundamental discoveries in science are inherently unpredictable When in 1905 Einstein established as a direct consequence of the theory of relativity the

equivalence between mass and energy - the famous equation $E=mc^2$—who could have even imagined that within half a century it would constitute the basis of nuclear weapons of colossal power of destruction making nonsence of the classical concept of war The abstract, the so called 'useless', is often the shortest road to the concrete and the 'useful' but the road is not known in advance Broadly speaking, we can only plan for science but we cannot plan science

In passing, one may mention that the above reference to the unpredictability in history has no relation with the ultimate question of freedom and creativity *versus* necessity and determinism of historical events do men direct and control the stream of history or is it that the stream carries man, like floating straw in a river, along a predestined course ? This is an unanswered question, but is it a valid question to ask, or is it a *pseudo-question* which we ask because we do not have knowledge enough not to ask it—we do not quite know We may recall the observation of Einstein :

> I do not at all believe in human freedom in the philosophical sense Everybody acts not only under external compulsion but also in accordance with inner necessity Schopenhauer's saying, "A man can do what he wants, but not want what he wants," has been a very real inspiration to me since my youth , it has been a continual consolation in the face of life's hardships, my own and others', and an unfailing wellspring of tolerance This realization mercifully mitigates the easily paralysing sense of responsibility and prevents us from taking ourselves and other people all too seriously , it is conducive to a view of life, which, in particular, gives humour its due

Freud held that our conviction about freedom of choice is illusory Where we feel we have exercised free choice "we actually leave the matter to be decided by our unconscious mind and then claim the credit for the outcome It unconscious mind is taken into account, therefore, the rule of determinism is of general validity "

Apart from the element of unpredictability injected by science in the march of events, the other two important characteristics of the Scientific Revolution are the rate of growth of science and the new role and significance of the universities

Growth Rate of Science

Consider the rate of growth The total achievement to date in science and technology is indeed remarkable, but even more striking is the rate or peace of progress A number of different indices indicate, as brought out clearly in the pioneering study of de S Price that over the last 200 years or so, scientific knowledge and things directly related to science have been growing at an *average rate* of 5-7 per cent a year This corresponds to a doubling time of 10-15 years As an illustration, take the case of science journals, a key innovation of the Scientific Revolution Beginning with a handful of journals about 1750 A. D., the number rose to

about 1,000 in 1850 A D and is now nearing 100 000 Probably it would reach a million by the end of the century In the case of papers notified to be read at our Science Congress the number was 35 at the first session of the Congress in 1914 (The Congress during the first year had an income of Rs 833/ and an expenditure of Rs 504/) The number of papers rose to 900 at the Silver Jubilee Session in 1938 and it was 1 300 for the 1962 Session These figures show an average doubling time of somewhat less than 10 years [Curiously enough even the number of elementary particles discovered during the last few decades show a doubling period of 10 years] The number of scientists has been rapidly increasing at about the same rate It has been said that the number of Scientists at any time is roughly one third of the number of papers published upto that time This applies to the number and also to the extent and depth of knowledge but of course not to the quality of mind We do not expect an Archimedes or an Aryabhatta of today to have a really superior mind than his predecessor (The situation in this respect is somewhat similar to that of the lifespan The mean life span as a consequence of science has increased considerably but the *maximum* life span has remained about the same)

Notice that a doubling period of 15 years means that about 90 per cent of the scientists who ever lived are with us now Frankly we do not understand why the doubling time of science should be around 10 15 years Of course this exponential rate of growth cannot continue indefinitely If the present rate of increase in the number of scientists were to continue for another hundred years or so the number of scientists would exceed the total world population—an obvious impossibility Sooner or later therefore the growth rate of science would come down and perhaps level off eventually with he growth rate of population In fact the first signs of an onset of saturation are visible today in the countries which are in the vanguard of science A consequence of the exponentially expanding science is that the time gap between basic discovery and its application is continually diminishing It was a few decades in the last century It is now less than a decade as vividly illustrated by transistor and now by laser So rapid is the pace of scientific progress that a scientific paper is often out of date by the time it is in print a graduate is almost adolescent on the day of his graduation a weapon system already obsolete by the time it is in production

Rich Countries and Poor Countries

In the contemporary world rich countries are those which are rich in science and poor are those which are poor in science This division of humanity into rich and poor is relatively a new thing and has arisen because some countries have been fortunate to exploit science more fully than others it is an unfortunate by product of the Scientific Revolution In the rich countries the economy is dynamic and in most of the poor it is almost static This implies that the gap between the rich and poor

humanity is not only large but widening rapidly with time Often the price of agricultul products in the poor countries remains constant, whereas the price of industrial goodsmanufactured by rich countries rises continually. This makes it all the more difficult for the developing countries to import the much needed capital equipment and machinery to raise their production. For instance (as Paul Hoffman pointed out), the under-developed part of the world received in 1958 a total of $ 2 4 billion in aid, but at the same time it lost $2 billon in import capacity to pay more for manufactured goods and getting less for its agricultural produce Such things tend to a dilute, to a considerable extent, the impact of aid given to developing countries It should be possible, of course, to devise ways which would overcome this and related difficulties, but this will require great vision and courageous statesmanship. The wide gap between the developed and underdeveloped world is detrimental to the real interests of both The earnings of a proportion of our population equal to that of the total population of U.K. are no more than what the people of U K. spend on cigarettes and tobacco It is now established that smoking raises considerably the incidence of lung cancer If what is spent on smoking by the rich world were passed on to the newly developing countries to assist their food production, it would benefit both In this connection it is good to remember that the prosperity of the rich countries is due in no small measure to the contribution in material resources, craftsmanship and brains made by other countries As an example of the uncommonly high level of handicrafts in India, we may recall Helley's (Secretary to the Royal Society) letter of 1686 "I have seen a great curiosity viz. a calicoe shirt brought from India, which is woven without a seam all of one piece, which I should have thought impossible had I not seen it It explains the Scripture relation of our Saviour's coat which was without seam"

'Seeding Nuclei' for Exponential Growth

In former times when one country helped another, or was forced to assist another bp political pressure or war, the "donor country" lost what was gained by the 'recipient country'. If it was a transfer of land or other material resources, one country could only gain it at the expense of the other But in the contemporary world as progress and prosperity depend mainly upon harnessing science and technology, the situation is very different. By imparting scientific knowledge and techniques to a less developed country, a donor country loses nothing this is, of course, an over simplification It is of some importance to recogise that an exponential growth rate of science (with a doubling period much less than the population doubling period) fortunately makes it *possible* for an "advanced country" if it so desires, to make a major contribution towards the rapid development of a

newly developing country it could supply an adequate number of technical men material resources etc to serve as seeding nuclei for the operation of the exponential growth process in the recipient country without sensibly affecting its own economy or rate of progress Of course aid is no substitute for local initiative and effort In a sense aid is deserved only if one could do also wi hout it but the pace would be slower This is not the place to pursue the subject further but it is apparent that the main obstacles to rapid progress are now largely social and p ychological there is no lack of resources

A country which has newly taken off in science can with determination achieve a growth rate higher than that achieved by the early starters Some countries have done it It seems that the early starters and the late starters would after time join together and have a growth rate corresponding to the stage of saturation

Science and Agriculture

In countries where agri ulture has been modernised the output has increased rapidly Where agriculture has not been linked to science the output has remained almost stationary Thus as Lord Rutherford pointed out in his Address to the Silver Jubilee Session of the Indian Science Congress in 1938 the annual production of wheat in India had risen since 1914 from 8 3 million tons to no more than 9 5 million tons while the exports in the same period had fallen from over a million tons to 10 000 tons The present yield of wheat is adout 11 million tons Rutherford said In view of these facts it would seem clear that in any national scheme of research research on foodstuffs has a primary claim on India s attention Quite apart from improvements in the systems of agriculture used in India there is a vast field of scientific knowledge to the improvement of crops for example by seeking for improved strains suitable for local conditions by research on fertilizers an din many other directions And all this is no less true today

R and D Expenditure and Scientific Manpower

Money spent on research and development is not an entirely satisfactory index of the development of science in a country Much would depend upon the efficiency with which the resources are utilised All the same within limits this is an index of considerable significance The U S A Government currently sp nds somewhat more than 2 8 der cent of the Gross National Product (GNP) on research and development and testing of new defence equipment The amount is more than $ 15 billion that is Rs 7 500 crores per year (Industry contributes an additional $ 5 *billion or so)* *More than three fourths of* the amount goeg *to work* related to defence The current level of research and development expenditure in our country is some 0 2 per cent of the GNP In this context it is important to recognise that

the research and development expenditure in countries which have passed the 'take-off' stage in science has been increasing very rapidly during recent decades : the doubling period is less than 10 years About 20 years ago the USA, Government and Industry, spent about 0 5 per cent of GNP on research and development—it was 0.1 per cent in 1920 (In 1940 the Government spent $ 74 million, and $ 2 billion in 1953, on R and D)

The UK Government in 1939 spent on scientific research £ 3.5 million ,the current figure is £ 45 million, representing a four-fold increase in real terms The total expenditure by government and industry on research and development was £ 300 million in 1956 and £ 630 million in 1962—a rise from 1 7 per cent of the GNP to 2.7 per cent The present research and development budget exceeds the total government budget of some decades ago—In 1909 the total budget was about £ 150 million.

We can have more research only when there are more men to do it. In the USA the number of professionally qualified scientists and engineers constitute about 1 5 per cent of the population (In 1940 the percentage was 0 6 only By 1970 it is expected to be 2 per cent) *There is a close and direct connection between the percentage of national income spent on research and development and the number of scientists and technologists expressed as a percentage of the total population* We cannot have one high and the other low without leading ot inefficiency and wastage. To do more science we need more scientlsts Investment on science and investment on man go together (Figure I) This brings us to the third major characteristic of the Scientific Revolution

Science and Humanism

In the early days of the Scientific Revolution science had hardly any place in the universities though there were some individual contributions of the highest rank Science was often sneered at and its votaries held to ridicule. Steele wrote in *The Tatler* commenting on a paper on a brainless child, published in the *Transactions of the Royal Society*, that it was a pity the child did not live long enough for, otherwise, he would have made a fit President of the Royal Society. To believe in magic and sorcery was an index of progressive views Medical astrology was regarded as the crown of medical science Objective and verifiable knowledge of nature which could liberate man's mind from superstition, fear and shackles of authority was lacking The reigning subjects in the universities at the time were theology, grammar, rhetoric and astrology With the progress of the Scientific Revolution science found its way into the universities, but it had to meet with opposition and it was admitted reluc-

tantly The situation now of course is entirely different and if anything the pendulum tends to swing a little too much on the other side Incidentally what happened once with science is to some extent happening today with technology Our Association can play an important role in bringing about an adequate recognition of the humanistic side of science and technology Properly taught, science and technology have as much (if not more) humanising influence as any other combination of subjects Our Association should also give serious attention towards creating a public awareness of the basic and needs requirements of science—support of science eventually depends upon enlightened public interest in science

Barometer of Science

In the modern world the universities make by far the largest contribution to fundamental science This has given a new status and a new significance to the place and role of universities in national economy In fact the level of science and technology in the universities provides a reasonably good barometer to the standard and health of science and technology in the country In a developing country the strengthening of the universities is fundamental to everything else

Combination of Teaching and Research

The experience of more than a century beginning with the great German Universities has clearly shown that teaching and research flourish best in combination in isolation they both wither The best of either is achieved in an environment where both are culitvated In this combination of teaching and research education and discovery lies the real strength of the universities

In the UK abuot 50 per cent of the expenditure in the universities as also the time of the teaching staff is spent on research The US Government in 1962 spent nearly $ one billion (Rs 500 crores) on rerearch and development in the universities This was seventy times larger than the amount spent in 1940 A recent Report on Meeting Manpower Needs in Science and Technology by the US President s Science Advisory Committee has strongly urged that in order to meet the nation s urgent needs the output of first degree holders in engineering mathematics and physical sciences as also the output of doctorates be double by 1970 This would require a yearly expenditure of $ 8 billion ($ 2 7 billion research as against the present figure of $ 3 billion In 1961 about 645 000 students were enrolled in the USA for degrees in science and engineering and the number of teachers was about 100 000

There was a time about a hundred years ago when a gifted individual could encompass the whole of science This is no longer true today Science and techno

logy are now divided into some 100-150 subjects The division is often arbitrary. It is hardly possible for any person today to master even one subject The fragmentation of science, if it is not to become a self-defeating process, has to be supplemented by cross communications cutting across subject-barriers There must be a continuing re-shuffling of boundaries between subjects Fragmentation is artificial . science, in a sense, is a unity

Revolution in Curriculum

Let us for a moment turn to physics How are students and teachers to keep pace with the subject growing bigger every day at an exponential rate ? There is so much to learn to-day , and there is so much more to learn with every passing year It is apparent that if we are to cope with the explosion of knowledge we need a veritable revolution in curriculum, in methods of teaching and in methods of learning Anything which is of a passing interest, which has only a limited relevance, which does not help to broaden and strehgthen understanding can have no place in a high school or undergraduate course Also, we need greater stress on mathematics as the basic tool for understanding physics To bring about this desperately needed revolution in syllabus and nothing short of a revolution will do—we require the combined effort of top university researcher-teachers and the school teachers We need chahnnels of communication between the school and the universities The PSSC book produced by a band of outstanding US physicists and teachers from universities and schools is a magnificient of example of cooperative effort The book has been successfully tried in hundreds of school in the USA Even more important than the contents of the book is its highly commendable, novel and bold approach. Preparation of similar text books in science subjects suited to our secondary schools is in hand If the programme of the production of first-rate text book and other work is to succeed, the writing of such books should be given recognition (by learned societies etc) same as to first-rate research This has been also stressed by the Weinberg Report on 'Science-Government, and Information' (1963) Scientific and technical books are generally very expensive It is most important to arrange for the production of cheap editions and paper backs to bring them within easy reach of our students

Climate of Free Enquiry and Scientific Tradition

Progress in science requires a 'climate' of free enquiry, frank and vigorous criticism and fearless expression of opinion This becomes easier to organise, promote and foster if there are strong universities with front rank schools of post-graduate studies and research. It is important that a substantial proportion of the

best men and leaders of science in the country should be in the universities in contact with and inspiring young minds and sharing in their joys and difficulties Also every endeavour should be made to increase the proportion of men at the working bench to those at the administration desk to raise the proportion of small and modest laboratories doing big work to big laboratories doing small work

To establish scientific traditions in a developing country needs deliberate effort and it also takes time To quote Michael Polyani Those who have visited the parts of the world where scientific life is just beginning know the back breaking struggle that the lack of scientific tradition imposes on the pioneers Here research work stagnates for lack of stimulus there it runs wild in absence of any proper directive influence Unsound reputation grows like mushrooms based on nothing but commonplace achievements or even on mere empty boasts However rich the fund of local genius may be such environments will fail to bring it to fruition

It is generally true that creativity of an individual continues longer in a university environment than elsewhere because of the continuing challenge of youth A recent editorial in *Science* said—the path to new discovery for a scientist who has already made his reputation is often blocked by too much equipment too much money and too much seeking after status and security There is relatively little danger of this happening in a university

It has been said that as a recipe for slowing down the progress of science there is perhaps hardly any better than to provide a big n twork of committees give them great prestige and put on them the best men the most active scientists from the laboratories

Team Work in Science

Scientific work is now increasingly becoming more and more of a team effort In a sense this is inherent and instrumental in bringing about a rapid progress of science Problems have become increasingly complex needing increasingly elaborate equipment The importance of team work in science was particularly brought out during World War II It paid rich dividends The most successful laboratories functioned almost like large families where the members shared together the joys and disappointments of work

In developing and promoting this spirit of team work the contribution of the universities is of special value As Frederick Seitz President of the U S National Academy of Sciences observed in a recent address What is emphasized here is that in the main the concept of teamwork in science has evolved most rapidly and most effectively through university channels during the past forty years

Balance in Allocation of Resources

It is apparent that if good results in education are to be achieved there must be a reasonable balance and coordination between resources allocated to teaching in science, engineering, agriculture and other subjects There has to be a proper distribution of resources over the whole educational spectrum To unduly concentrate on one sector at the expense of others may put the machine out-of-gear and result in a waste of resources

If research institutions outside the universities expand at too rapid a pace this would result in depleting the universities of their men and, may be, also of the money which should go to them. In the long run weak universities would inevitably weaken the research institutions In this context the report by the (U.K) Institute of Physics and the Physical Society, just issued, is of considerable interest Commenting on it *The Economist* (*London*) has said :

> The two learned bodies are alarmed at the way good physicists are absorbed into government establishments, lured by salaries and by research facilities that they could never hope to find outside them (few organisations pay scientists as well as, for example, the Atomic Energy Authority). Once there, they are lost forever to the universities, to teaching and to science generally. The univer sities see their own teaching standards in danger because good scientists will stay to teach only if they have facilities for research, and the universities are denied the right to provide those facilities because they have already been installed behind some government security fence
>
> Underlying this complaint is the brutal fact that many of these government establishments have turned to university-type pure research because they are no longer required for their original purpose. Much of the work now done by the Atomic Energy Authority is of highly academic nature So is the work done by the Ministry of Aviation's radar research at Malvern. They are openly poaching on the universities' preserves, but what would one have them do, leave their equipment idle and their skilled staff underemployed ? The problem of providing for the free exchange of research staff between universities and government establishments is one that has exercised several committees of investigation and none has come up with any apparently workable solution, not least because, as the report stresses, the difference in salaries paid presents insuperable difficulties to all but the most unworldly (*The Economist, 31 August, 1963*)

When there is a deficiency of competent men, it is wiser to invest them generally in the universities, thus combining teaching and research If the investment

and effort exceed a certain critical size (and with proper feedback) it would generate a sort of chain process providing many more of more able men

Cost of Education

It is an interesting fact that over a wide range of countries the cost per student on university education excluding board and lodging is comparable to the per capita national income Thus the expenditure per university student is roughly Rs 400 in India as against £ 600 in the UK and $ 3 000 in USA The USA figures facultywise are Humanities —$ 3 200 Education—$ 3 300 Social Sciences—$ 3 250 Biological Sciences—$ 3 374 Physical Sciences and Mathematics—$ 3 380 Engineering—$ 4 020 (*The P esident s Science Advisory Committee Report on Meeting Manpower Needs and Technology*) A University lecturer s salary in the UK is about twice the per capita income In India it is more than fifteen times the per capita income

Centres of Advanced Study and Research

At the level of research and postgraduate work expenditure even in newly developing countries has to be roughly comparable to that in more advanced countries With limited resources of developing countries this can only be brought about by concentration of resources By coordination amongst the universities and by careful selection it should be possible to develop a modest number of centres of excellence In other words one should aim at establishing high peaks— centres of advanced study in carefully selected subjects and universities These centres would serve as breeders for new centres of excellence Concentration of effort in the initial stages is a vital thing for developing countries Also there must be close cooperation between universities national laboratories and other research organisation so that in the establishment of the centres fullest use is made of all available resources

Also as Lord Hailsham has pointed out in his recent book on *Science and Politics* 1963) a healthy relationship between government and universities is of central importance in ensuring a balanced and fruitful interaction between government and science generally

The *conclusions* are simple and apparent But often it is the obvious things which are the hardest to implement

(i) Everything possible should be done to strengthen the universities *(e g* improvement of teacher to pupil ratio library and laboratory facilities) specially at the postgraduate and research level this should be a key point in the plan and pattern of the deployment of the country s resources in talent and facilities In the context of the present meagre level of facilities the layout on the universities should at least be doubled in five years

Strong postgraduate schools are our most unrgent requirement, and to organise these effectively all available resources of the universities, national laboratories and other agencies would need to be pooled together.

(ii) In the universities, good work, good teaching and good research should be energetically and generously supported at all levels In science the output in terms of achievement is directly proportional to the input in terms of hard and honest work

(iii) Contacts (including movements and exchange of scientific staff) between the universities and national laboratories, scientific government (1960) departments, and industry should be vigorously promoted and strengthened Any one who has a real competency and willingness to participate in university work should be encouraged to do so—so great and urgent is our need that all resources need to be fully exploited.

(iv) 'Right Climate', leadership and dedication are important factors in promoting team work and in generating scientific work of high quality Able and gifted men should be given every opportunity for concentrated and sustained work free from petty worries and distractions In scientific establishments the administrative load and 'routines' should be cut down to a minimum

(v) Our resources are limited, so one has to spend more thought to get more out of our resources—spending thought is more difficult than spending money

The US President's Science Advisory Committee in its recent Report on 'Scientific Progress, the Universities and the Federal Government' (1960) (prepared under the chairmanship of Professor G T. Seaborg, now Chairman of the Atomic Energy Commission) states "Both basic research and graduate education must be supported in terms of the welfare of society as a whole It is in this large sense that the role of the Federal Government is inevitably central The truth is as simple as it is important · whether the quantity and quality of basic research and graduate education in the United States will be adequate or inadequate depends primarily upon the government of the United States From this responsibility the Federal Government has no escape Either it will find the policies—and the resoures—which permit our universities to flourish and their duties to be adequately discharged—or no one will "

These are wise and powerful words, and they apply to us no less And, there is perhaps no finer vision of a university placed before us than what Shri Nehru said at a University Convocation some years ago . "A university stands for humanism, for tolerance, for reason, for the adventure of ideas and for the search for truth It stands for the onward march of the human race towards even higher objectives If the universities discharge their duties adequately, then it is well with the nation and the people "

That Science has radically altered man s material environment needs no saying It has brought within the reach of common man (but not everywhere so far) a level of prosperity never attained before At all times great seers and sages have dreamt of such a world but till now the necessary means depending as they do not on science and technology have been lacking In the great civilisations and cultures of antiquity and as also of later times slave labour was an integral element Aristotle said slavery could only be abolished when machines could be invented to do manual work This is what has happened but it has taken more than two thousand years to do it Just as machines have now liberated man of manual drudgery so the new dev lopments in cybernetics—computation and automation—could in the near future take away from him the burden of boring work and mental rudgery Again whereas till now it has been the pressure of environment which has influenced the course of organic evolution now man using his unique faculty of mind and utilising the power that the discovery of science has given him can it appears shape in a deliberate way his own destiny

The pursuit of material affluence and power which has been till now a dominant thing is likely to give way to pursuit of higher values and fulfilment in a deeper sense— fulfilment society to use Huxley s term This is what Acharya Vinoba Bhave calls the age of science and spirituality All this would come if man can escape a nuclear holocaust There is no hiding the grim fact that man today faces an unprecedented peril in depth and extent in the shape of a possible misuse deliberate or accidental of nuclear knowledge The explosion energy released in war by man in all history totals to about 5 million tons (5 megatons) of chemical explosive say T N T The total energy released in nuclear test explosions during these years of peace is equivalent to more than 500 megatons of T N T If a full scale nuclear war breaks out the explosion energy may reach tens of thousands of megatons and hundreds of millions of fatalities in the first few hours to a few days of the outburst of war 5 500 50 000 MT are the awesome numbers of our times Atom and *ahimsa* or to put it differently man s knowledge of outer space and the space within his skull are not in balance It is this imbalance which man kind must seek to redress

Man now faces himself He faces the choice of rolling down an abyss to partial extinction or raising himself to new heights of fulfilment as yet unimagined

Outlines of Karma in Jainism

Dr. Mohan Lal Mehta, M. A. Ph. D.

All phenomena of the universe are linked together in the universal chain of couse and effect No event can occur without having a definite cause behind it To find out the cause and condition under which an effect is produced has always been the aim of the various branches of science and philosophy. Almost all branches of science and philosophy in the world unanimously declare that the law of cause and effect is the most universal of all laws It is the only law which governs all phenomena however gross or fine they may be. All the forces of nature whether physical or physical obey this law. Every action of our body, speech, or mind is the result of some force or power which is its couse At the same time, that which is an effect of some cause becomes in turn the cause of some other effect and thus, the chain goes on extending its sphere

Under the sway of the all-pervading law of cousation, there is no room left for chance or accident What we generally regard as an accidental event is really a product of some definite cause which is not known to us on account of our limited knowledge In other words, accidents are not fortuitous but they have some definite couse behind them, although we are not always aware of it on account of the limitation of our knowledge. In ancient times, when the scope of knowledge of people was extremely limited they used to explain accidental events by attributing them to some supernatural powers. Such accidental effects of unknown causes were called Providential. Really speaking, all accidents have their definite causes whether we know them or not. That which appears to be supernatural or Providential to an unscientific mind, is natural or causal and not supernatural or accidental to a scientific mind

Meaning of Karma

The Jaina thinkers do not regard this universe as a mere aggregate of the six substances set together by some supernatural authority They hold that it is a system in itself subject to some definite laws inherent in its own constitution Certain phenomena occur regularly in certain circumstances and not otherwise There is a universal law of causation operating in the universe The phenomena of life and con sciousness are not similar to the phenomena of matter or energy In pure material activity there is growth by addition in dead objects which is a product of chemical law only whereas a conscious being takes to itself particles foreign to those that are already in the body and changes their nature and assimilates them with its own body Moreover living beings reproduce themselves in their species These characteristics are not possessed by dead matter Jainism regards soul to be real and indefinite in number Each soul possesses some individual characteristics defferent from others The doctrine which gives us som explanation of our individual characteristics i e some satisfactory answer to the factors of our individuality which we have at present and tells us how these factors were produced as the result of the forces generated in the past is known as the doctrine of karma In other words the doctrine of karma is the law that interprets our actions and reactions found in the form of introspection as well as behaviour

According to Jaina philosophy every individual soul possesses infinite intui tion infinite knowledge infinite power and infinite bliss All these attributes belong by nature to every soul in its perfection Mundane sounls are not perfect because their knowledge energy etc are found to be restricted They are not perfectly free to enjoy complete knowledge and unrestricted bliss Why is it so? What rest ricts their innate faculty of knowing etc ? The answer is They are infected by something foreign which veils their natural faculties This foreign element is known as karma Jainism does not mean by karma work or deed According to Jaina conception karma is an aggregate of material particles which are very fine and are imperceptible to the senses It enters into the soul and produces changes in it It is a form of matter which produces certain conditions in the mundane souls that are suffering from the shackles of birth and death from beginningless time

The entire cosmos is full of that kind of fine matter which can bceome karma Through the actions of body mind and speech the fine matter gets into the soul and is tied to it according to the modifications of consciousness consisting of *kasayas* i e anger pride deceit and gread Therefore first of all there is an influx of karmic particles and then there occur certain activities of mind which are responsible for the actual bondage In the state of bondage soul and karma are more intimate

than milk and water. Once matter enters the soul, it causes various kinds of effect on it The bondage is of four kinds. according to its nature, duration, intensity, and quantity The activities of thought, speech, and body are responsible for the nature and quantity, the duration and intensity result from attachment and aversion Karma may remain latent in the soul for a definite period without emerging into appearance When the moment for its enjoyment arrives, it becomes apparent and releases itself.

As has already been mentioned, the soul has been eternally infected by matter, i e, its association with karma has no beginning. Moreover, it is gathering new matter every moment The liberation of soul from matter is possible by certain means. The soul must stop the influx of new karmas and eliminate the acquired ones Through this twofold method, it can attain the ultimate goal, i e, emancipation All obstacles which impede the manifestation of its true nature are then automatically overcome, because it is released from the foreign domination of karma This being the situation, when liberation is attained it can undisturbedly make manifest its own innate, i.e, infinite knowledge, etc

FOUR KINDS OF BONDAGE

The atoms that have become karma can be contemplated from four points of view.

1. According to their nature *(prakrti)*.
2. According to their duration *(sthiti)*.
3. According to their intensity *(rasa* or *anubhaga)*.
4. According ot their quantity *(pradesas)* [1]

NATURE

It has eight fundamental species *(mula prakrtis)* [2]

1. Knowledge-odscuring karma *(jnanavarana)*.
2. Intuition-obscurng karma *(darsanavarana)*,
3. Feeling-producing karma *(vedaniya)*,
4. Belief and conduct-obstructing karma *(mohaniya)*,
5. Age-determining karma *(ayus)*,
6. Personality-determining karma *(naman)*,
7. Status-determining karma *(gotra)*,
8. Power-hindering karma *(antaraya)*.

---

1 Karma-grantha, I, 2
2 idid, I, 3.

Each of these eight species is divided into a number of sub species (*uttara prakrtis*) The latter can be further classified into yet smaller sub divisions so that the entire number of karmas is exceedingly large For our present purpose only the eight chief species and the 158 sud species are of importance

KNOWLEDGE OBSCURING KARMA

That karma which obscures the knowing faculty of soul is known as knowledge obscuring karma i e *jnanavarana* karma It is divided into five sub species (*uttara prakrtis*) according to the five kinds of knowledge [1]

1 *Mati jnanavarana* karma —It causes the obscuration of the knowledge acquired through the media of senses and mind
2 *Sruta jnanavarna* karma —It produces the obscuration of the knowledge acquired by reading or hearing scriptures or by the words of an authority
3 *Avadhi jnanavarana* karma —It hinders direct knowledge of material objects
4 *Manahparyaya jnanavarana* karma —It obscures transcendental knowledge of the thoughts of others
5 *Kevala jnanavarana* karma —It hinders the faculty of omni science inherent in a soul by natural disposition

INTUITION OBSCURING KARMA

This kind of karma is called *darsanavarana* karma In Jaina philosophy the word *darsana* is used to signify two meanings First it means belief opinion or faith Secondly it has also the meaning the awareness of an object or the cognition of a thing in its general form It is the first stage of knoweldge which is known as indistinct knowledge In *darsanavarana* karma the word *darsana* is meant to signify the second meaning It can be translated as intuition indeterminate perception indis tinct knowledge undifferentiated cognition or perception in the sense of general cognition That karma which obscures the faculty of intution is called intuition obscu ring karma It is of nine subspecies according to the four species of intuition and five kinds of sleep [1]

1 *Caksurdarsanavarana* karma—It produces the obscuration of the intui tion conditional upon the eye

2 *Acak urdarsnavarana* karma—This species causes the obstruction of the intuition conditional upon the four senses (other than the eye) and mind

3 *Avadhi darsaravarana* karma—It hinders the faculty of transcendental intuition of material things

1 **Karma grantha I 4 I 9**
2 **Karma grantha I 10-12**

4 *Kevala-darsanavarana* karma—It produces the obstruction of the faculty of complete intuition.

5 *Nidra* karma—This type of karma causes a light and pleasant sleep, out of which the sleeper is aroused by the clicking of fingernails or by a slight call

6. *Nidranidra* karma—This type of karma produces a deep sleep, out of which the sleeper can be awakened by being shaken violently

7. *Pracala* karma—It causes a sourd slumber which overtakes a person while sitting or standing

8 *Pracalapracala* karma - This species of karma causes intensive sleep that overcomes a person while walking

9 *Styanagrddhi* karma—It produced somnambulism This kind of sleep is also called '*styanarddhi*' The person possessing this kind of slumber unconsciously acts in the state of sleeping but forgets what he did when he wakes

Feeling-Producing Karma

The feeling of pleasure and pain is caused by this species of karma known as *vedaniya* karma It has, therefore two subspecies .[2]

1 *Sata-vadaniya* karma —It causes a feeling of pleasure as for instance, we have the feeling of pleasure by licking something sweet like honey, etc.

2 *Asata-vedaniya* karma—It produces the feeling of pain as for example, pain is produced if one is hurt by a sword

The *sata-vedaniya* is predominant with gods and human beings, although pain can be produced with the former at the time of the downfall from the heavenly world and with the latter through cold and heat, death and accident, and the like Animal beings and beings of hell experience chiefly the *asata-vedaniya*, although on some occasions, they also experience a feeling of pleasure.[1]

Belief and Conduct-Obscuring Karma

This kind of karma obstructs true faith and right conduct It is called *mohaniya* karma It has two chief divisions . obstruction of belief and obstruction of conduct, i e', *darsana-mohaniya* and *caritra-mohaniya*

(*a*) *Darsana-mohaniya* karma—It produces an obstruction of the faith of the true nature of objects The obstruction is further divided into three sub-species .

1 *Mithyatva mohaniya*—It produces complete wrong belief or heterodoxy. The soul possessing this kind of *mohaniya* karma does not believe in the truths as proclaimed by a true authority but believes false prophets who enjoin false doctrines to be saints

1 *Ibid* , 1, 12.

2 *Samyaktva mohaniya*—It induces correct belief It is not the right faith in its completeness but only in a preliminary degree The true belief in its completeness is obtained only when the *samyaktva mohaniya* karma is entirely destroyed as for instance the sun which is covered by white clouds only shines perfectly after the clouds have been removed

3 *Misra mohaniya*—It produces a mixed belief having some degree of truth and some of falsity In other words it causes a kind of indifference between true faith and false belief It is a mixture of both *samyaktva mohaniya* and *mithyatva mohaniya* That is why it is also called *samyagmithyatva mohaniya*

(*b*) *Caritra mohaniya* karma—This kind of *mohaniya* karma obscures right conduct which is the innate property of soul It obstructs the soul from acting according to the right prescriptions of scriptures or any authoritative sources The obstruction of conduct is produced through the sixteen passions (*kasayas*) and nine quasi passions (*no kasayas*)

(i) *Kasaya*—There are four chief *kasayas* anger (*krodha*) pride (*mana*) deceit (*maya*) and greed (*lobha*)

Each of these is again classified into four sub-divisions according to the intensity of their nature The four sub divisions are

1 *Anantanubandhin*—It completely hinders right belief and conduct The soul possessing *anantanubandhin* anger etc can never have right belief and conduct It lasts for the whole of life

2 *Apratyakhyanavarana*—It hinders partial self discipline but allows the existence of true belief It lasts for one year

3 *Pratyakhyanavarana*—It obstructs the beginning of complete self discipline or renunciation but does not prevent the existence of right belief and partial self discipline It lasts for four months

4 *Sanjvalana*—It hinders the attainment of complete right conduct (*yathakhyata caritra*) Its effect lasts for one fortnight

(ii) *No kasaya*—Quasi passions are divided into nine categories

1 *Hasya*—Laughing and joking fall under this category

2. *Rati*—Proper or improper liking for a certain object is called *rati*

3 *Arati*—Proper or improper disliking for a particular thing is named *arati*

4 *Soka*—Sorrow for an object is known as *soka*

---

1 Commentary on karma grantha I 13

5 *Bhaya*—Fear is caused by *bhaya* karma
6. *Jugupsa*—It is a kind of disgust
7. *Purusa-veda*—Through this, in the male the desire for union with a female is produced.
8. *Stri-veda*—Through this, in the female the desire for union with a male is excited.
9. *Napumsaka-veda*—The third sex is produced by the rise of this karma The sexual urge with them is exceedingly strong, since it is directed towards male and female both [1]

The *caritra-mohaniya* karma has accordingly twenty five sub-species Adding the three sub-species of the *darsana-mohaniya* to is we have in all twenty-eight sub-species of the belief and conduct-obscuring (*mohaniya*) karma The following table will show the sub-species of *mohaniya* karma
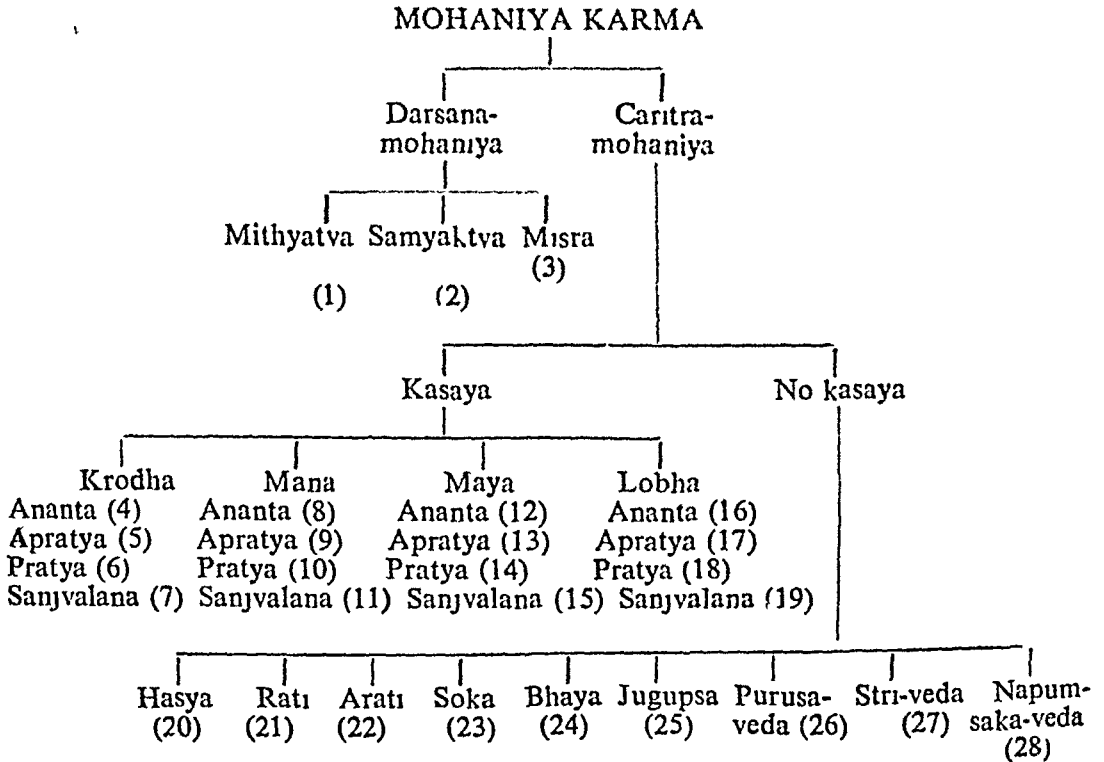
1 **Commentary on Karma-grantha, I, 14-9 , I, 21-2.**

Age Determining Karma

It confers on a being a certain quantum of life in any one of the states of existence The following are the four sub-species of *ayus* karma

1 *Deva ayus*—It determines the celestial age
2 *Manusya ayus*—The human age is determined by it
3 *Tiryag ayus*—This determines the age of animal life
4 *Naraka ayus*—The age of hellish being is determined by it

Personality Determining Karma

It causes the individual diversities of souls It is known as *nama* karma The number of its sub species is 103 These sub species are mostly quoted in a fixed succession in four groups *pinda prakrtis pratyeka prakrtis trasa dasaka* and *sthavara dasaka*[1] The names of the causes of the sub species are according to the names of the sub-species

(*a*) *Pinda prakrtis*—There are seventy five sub species in this group

4 *States of Existence*—Celestial state of existence human state of existence, animal state of existence and hellish state of existence

5 *Classes of Beings*—A being with one sense two senses three senses four senses and five senses

5 *Bodies*—Physical body of animals (including vegetable kingdom) and human beings transformable body of fine matter projectable body of pure matter, electric boby and karmic body

3 *Chief and Secondary parts of Bodies*—The chief and secondary parts of the physical body of the transformable body and of the projectable body The electric body and the karmic body have no parts

15 *Bindings*

1 The binding of physical boby with previous physical body
2 The binding of physical body with electric body
3 The binding of physical body with karmic body
4 The binding of physical body with electric and karmic bodies
5 The binding of transformable body with previous transformable body
6 The binding of transformable body with electric body
7 The binding of transformable body with karmic body
8 The binding of transformable body with electric and karmic bodies

1 Doctrine of Karma in Jain Philosophy p 11

9. The binding of projectable body with previous projectable body.
10 The binding of projectable body with electric body.
11. The binding of projectable body with karmic body.
12 The binding of projectable body with electric and karmic bodies.
13 The binding of electric boby with previous electric body
14 The binding of electric body with karmic body
15 The binding of karmic body with previous karmic body.

Ceraın types of bodies are not bound with some particular types of bodies as fcr instance, physical body has no binding with transformable body and so on Hence, the bindings are only fifteen in number

5 *Sanghatanas—Sanghatana* is a type of scraping as a rake gathers together the grass that has scattered about According to the five bodies there are five *sanghatana nama* karma The scraping of the matter of the physical body, of the transformable body, of the projectable body, of the electirıc body, and of the karmic body

6 *Firmnesses of the Joints of Physical Body—Vajra-rsabha-naraca-samhanana* is an excellent joining in which two bones are hooked into one another, *rsabha-naraca-samha-nana* is not so firm, *naraca-samhanana* is still weaker ,*ardha-naraca-samhanana* is a joining which is on one side like the preceding one, while on the other, the bones are simply pressed together and nailed, *kilika-samhanana* is a weak joining by which the bones are merely pressed together and nailed, and *sevarta-samhanana* is quite a weak joining in which the ends of the bones only touch one another

6 *Figures*—The *samsthana-nama*-karma determines the figure of a being Six types of figures have been discussed in the Jaina doctrine of karma. the entire body to be symmetrical, the upper part of the body to be symmetrical, not the lower one, the body below the navel to be symmetrical and adove it unsymmetrical, the body to be hunch-backed, the body to be dwarf-like, and the entire body to be unsymmetrical.

5 *Colours*—Black, blue, red, yellow, and white Other colours are produced by mixingonly

2 *Odours*—Pleasant odour and unpleasant odour or good smell and bad smell

5 *Tastes*—Bitter, sour, acidic, sweet, and astringent.

8 *Touches*—soft, hard, light, heavy, cold, hot, smooth, and rough

4 *Anupurvis*—When one existence of a soul is finished and it goes from the place of death to the place of its new birth this state is called *anupurvi* There are four *anupurvis* according to the four states of existence (*gati*) celestial human animal and infernal

2 *Gatis*—To move in a pleasant manner as oxen elephant etc do and to move in an ugly manner as camels asses etc do

(b) Pratyeka prakrtis—This group consists of eight sud species superiority over others capability of breathing hot boby of the sun etc cold body of the moon stars etc a body that is neither heavy nor light the body of a founder of the Holy Order (*tirthanka a*) normal formation of the body and abnormal formation of the body

(c) *Trasa dasaka*—There are ten sub species in this group a body possessing two senses etc gross body developed body individual body firmbody beautiful and lovely parts of the body gaining of sympathy without any obligation sweet voice suggestive speech and honour and glory winning personality

(d) Sthavara dasaka—This group also consists of ten sub species the body of plants etc subtle body undeveloped body a body in common body without firmness ugly parts of the body no sympathy gaining ill sounding voice unsuggestive speech and dishonour and shame giving individuality

The scheme of the sub species of the personality-determining karma is as under
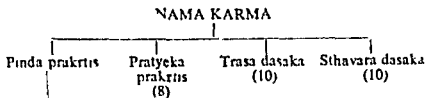
1 States of Existence (4)
2. Classes of Beings (5)
3 Bodies (5)
4 Chief and Secondary parts of Bodies (3)
5 Bindings (15)
6 *Sanghatanas* (5)
7 Firmnesses of the Joints (6)
8 Figures (6)
9 Colours (5)
10 Odours (2)
11 Tastes (5)
12 Touches (8)
13 *Anupurvis* (4)
14 Gatis (2)

Status-determining Karma

It destines the hereditary rank occupied by a person through his birth. This species is callen *gotra* karma It is divided into two sub-species [1]

1 *Uccairgotra* karma destines high family surroundings

2 *Nicairgotra* karma determines low family surroundings.

Power-hindering karma

It hinders the power (*virya*) of the soul. It is known as *antaraya* karma The power is hindered in a five-fold manner [2]

1 *Dana-antaraya* karma—It hinders dispensing alms, etc

2 *Labha-antaraya* karma—This kind of *antaraya* karma hinders receiving.

3 *Bhoga-antaraya* karma—It hinders the enjoyment of some object which can only be enjoyed once such as food, etc

4 *Upabhoga-antaraya* karma—It hinders the enjoyment of something that can be repeatedly enjoyed such as clothes, etc

5 *Virya-antaraya* karma—It hinders the freedom of will-power.

The total number of the sub-species of the eight karmas is as follows:

1.	Knowledge-obscuring karma	...	...	5
2.	Intuition-obscuring karma		...	9
3	Feeling-producing karma	..	..	2
4	Belief and conduct-obscuring karma		..	28
5.	Age-determining karma	..	...	4
6	Personality-determining karma	...		103
7.	Status-determining karma	...	...	2
8	Power-hindering karma	.	.	5
		Total	...	158

Bandha, Udaya, Udirana, and Satta

Taking into consideration the existence in *potentia* (*satta*), all the sub-species can exist in a soul. So far as the realisation (*udaya*) of the species is concerned, the entire number amounts only to 122. If the bondage (*bandha*) of new species is taken into consideration, the total number is assumed to be 120 If the premature realisation (*udirana*) is considered, the entire number amounts to 122 as in realisation [1] The following table will indicate the number of the sub-species existing in different states

1 Karma-grantha, I, 52

2 *ibid*

	Bandha	*Udaya*	*Udirana*	*Satta*
Knowledge obscuring	5	5	5	5
Intuition obscuring	9	9	9	9
Feeling producing	2	2	2	2
Belief and conduct obscuring	26	28	28	28
Age-determining	4	4	4	4
Personality-determining	67	67	67	103
Status determining	2	2	2	2
Power hindering	5	5	5	5
Total	120	122	122	158

In *satta* all the *prakrtis* exist In *udaya* the number is only 122 because the fifteen bindings and the five *sanghatanas* are not included as they are then thought to exst implicit in the five bodies The colour odour taste and touch are only reickoned as four species instead of twenty In *udirara* also the same species are counted In *bandha* the number is 120 since the two *mohaniya* karmas viz *samyaktva* and *misra* cannot be bound separately because they are purified condition of *mithyatva* Therefore they must be subtracted from the 122 species of *udaya* and *udirana* so that the total number in *bandha* is 120

Duration

After having considered the nature of karmas we now proceed to their duration First let us understand the scheme of the division of time as conceived by the Jainas 'The lowest *unit of time is the samaya Innumerable samayas form an avalika* 16 777 216 *avalikas* equal one *muhurta* (48 minutes of European time) Thirty *muhurtas* make one day Out of the days are formed weeks The number of years can be expressed in words up to a number containing 77 cyphers Beyond that it is *a ankhyeya* An innumerable quantity of years is called *palyopama* 10 *kotakoti* (1 000 000 000 000 000) of *palyopamas* are one *sagaropama* 10 *kotakoti* of

1 Sukhlal Karma vipaka p 111

7 Fidelity in belief
8 Interest in spiritual activities
The contrary causes produce pain

Causes of Belief-obstructing Karma

1 The teaching of a false faith.
2. The denial of the path of liberation.
3 The pollution of sacred objects
4 The blasphemy of liberated souls
5 The blasphemy of monks and saints
6 The blasphemy of gods
7 The disregard of Holy Order.

Causes of Conduct-obstructing Karma

1 The actions produced by the outbreak of passions cause the binding of *kasaya-mohaniya* karma

2 *No-kasaya-mohaniya* karma is bound by the mind which is confused through joking, liking, disliking, sorrow, fear, disgust, etc

3 Slight passionate desire, conjugal fidelity, inclination for right conduct etc , cause the binding of *purusa veda* (male sex) karma

4 Jealousy, deceit, great sensuality, adultery, etc., cause the binding of *stri-veda* (female sex) karma.

5 Violent love of pleasure and strong passions directed towards sexual intercourse with male and female cause the binding of *napumsak-vedaa* (third sex) karma

Causes of Age Determining Karma

Hellish age is bound by the actions of one who tortures and kills other beings and strives in an extraordinary manner after passions

2 The deceitful and fraudulent person binds animal age.

3 The humble and sincere one whose passions are slight binds human life

4. One who possesses right belief but who only partially or not at all practises self-discipline, whose passions are slight,who is chaste, who endures troubles, etc , binds celestial life

Causes of Personality Determining Karma

Honesty, gentleness, absence of desire, purity, etc , are the causes of the binding of good personality-determining karma, while the reverse that of bad.

Causes of Status-Determining Karma

The recognition of the excellence of others, modesty, reverence towards, teachers, the desire to learn and to teach are some of the causes of the binding of

high family surroundings whereas the contrary causes the binding of low family surroundings

Causes of Power hindering Karma

The withholding of food drink lodging clothing and the like causes the binding of power hindering karma

Prevention and destruction of Karma

The binding of new karma can be prevented through the means of control of the activity of body speech and mind *(gupti)*, carefulness in waking speaking lifting up and laying down a thing etc (*amiti*) moral virtues *(dharma)* reflection *(arupreksa* patient endurance of troubles *(prisaha jaya)* and conduct *(caritra)* [1]

The acquired karmas can be annihilated through suitable measures such as fasting reduction of food restriction to certain kinds of food renunciation of deli cacie a lonely resting place mortification of the body expiation modesty service study renuciation of ego identification and meditation [2]

Stages of Spritual Development

According to Jaina philosophy there are fourteen stages of development through which the soul gradually delivers itself from the state of complete dependence upon karma to the state of complete dissociation from it These stages are known as the states of virtue i e *guna thanai* Here the word virtue does not mean an ordinary moral quality but it stands for the nature of soul i e knowledge belief and conduct [3]

Through these fourteen stages of development the soul gradually frees itself first from the worst then from the less bad and finally from all kinds of karma and manifests the innate faculties of knowledg- belief and conduct in a more and more perfect form The owners of these stages are the following [4]

1 Wrong believer *(mithyadristi)*
2 One who has a slight taste of right belief (*asiadana samyag drsti)*
3 One has a mixed belief *(misradrsti)*
4 One who has true belief but has not yet self-discipline *(avirat aamya gdrsti)*

---

1 Tattvartha sutra IX 2

2 ibid IX 3 IX 19 20

3 Tatra gunah jnanadarsanacaritraratupah jivasab havavisesvah Karma-grantha II 2 (commentary)

4 idid

5 One who has partial self-control (*desavirata*).

6 One who has complete self-discipline, sometimes, however, brought into wavering through negligence (*pramatta samyata*)

7. One who has self-control without negligence (*apramatta samyata*).

8 One who practises the process called '*kapurva arana*' in whom, however, the passions are still occurring in a gross form (*nivrtti badara samparaya*)

9 One who practises the process called '*anivrtti karana*' in whom, however, the passions are still occurring (*anivrtti badara samparaya*).

10 One in whom the passions occur in a subtle from (*suksma samparaya*).

11 One who has suppressed every passion but who does not yet possess omniscience (*upasanta kasaya vitaraga chadmastha*).

12 One who has annihilated every passion but does not yet possess omniscience (*kina kasaya vitaraga chadmastha*)

13 One who possesses omniscience and engages himself in activities (*sayogi kevalin*)

14 One who is omniscient and does not perform any activity (*ayogi kevalin* .

The whole scheme of *gunasthanas* is devised in a logical order according to the principle of decreasing sinfulness and increasing purity. At the first stage all the causes of binding, viz , wrong belief, lack of self-discipline, passions, and activity are operating From the second to the fifth, only three causes are in operation, i e , wrong belief is absent From the sixth to the tenth, only passions and activity exercise their influence From the eleventh to the thirteenth, only activity is present On the last stage there is no binding of karma The number of the karmas which are in realisation (*vdaya*) and existence in *potentia* (*satta*) also decreases with every step

1 Mithyadrsti Gunasthana

The chief characteristic of this *gunasthana* is wrong delief The '*abhavyas*' (not capable of salvation as well as '*bhavyas*' (capable of salvation) are on this stage The difference between their conditions is that all the '*abhavyas*' are eternally in this *gunasthana*, whereas only those '*bhavyas*' who by reason of certain unfavourable conditions do not reach salvation do so for a certain period of time. With the other '*bhavyas*' this stage has no beginning but an end which comes sooner or later. With being who fell from a higher stage and sank into wrong belief, it has a beginning as an end.

2 Sasvadana Samyagcrsti Gunasthana

It is of very short duration lasting in the minimum one '*samaya*' and in the maximum six '*avalikas*'. Those beings that possessed right belief produced by suppre-

ssion of wrong belief during the period less than a 'muhurto but who had lost it again on account of the breaking out of passions are said to enjoy this *gunasthana* After the lapse of the settled period the qeing necessarily sinks back into the first *gunasthana*

3 Misra Gunashana

The fundamental characteristic of this stage is indifference which lasts only during the period less than forty eight minutes *(muhurta)* It is a mixed belief produced by the mingling of truth and falsity After the lapse of the time of the stay on this stage the being attains wrong or right belief according to the circumstances

4 Avirata Samyagdrsti Gunasthana

To this stage belong those beings who possess right belief and have the know ledge of truth and falsity but on account of the realisation of the *apratyakhynavarana kasayas* are not capable of practising self discipline The duration of this stage is in the minimum less than a *muhurta* and in the maximum more than thirty three *sagaropamas*

5 Desavirata Samyagdrsti Gunasthana

In this state of virtue partial self discipline exists The duration is in the minimum less than a *muhurta* and in the maximum somewhat less than a *purvakoti*

6 Pramatta Samyata Gunasthana

The being belonging to this *gunasthana* attains complete self-di cipline although he is disturbed through negligence produced by the realisation of the *sanjvalana* passions This state lasts in the minimum one *samaya* and in the maxi mum less than a *muhurta* If the person belonging to this stage degrades after one *samaya* he becomes an *avirata* (4th stage) if the d gradation is after *antarmuhurta* (less than 48 minutes) he becomes a *desavirata* (5th stage) If the *antarmuhurta* however has passed without any incident he goes into the seventh stage If he has ascended no series he comes back to the sixth stage and the operation begins anew This wavering between the sixth and seventh *gunasthanas* lasts in the maximum some what less than a *purvakoti* If the *upasama* or *ksapaka* series is ascended such a wavering does not take place

7 Apramatta Samyata Gunasthana

In this state of virtue complete self discipline without negligence exists It lasts one *samaya* till *antarmuhurta*

8 Nivrtti Badara Samparaya Gunasthana

Like the following stages, this stage is accessible only to those beings who are on a *sreni* (series) A special process known as *'apurva karana'* is performed in this stage The being who is on the *'upasama sr.ni'* remains on this stage in the minimum one *samaya* and in the maximum *antarmuhurta* , the one who is on the *'ksapaka sreni'* altogether *antarmuhurta*

9 Anivrtti Badara Samparaya Gunasthana

One who is on the *upasama* or *ksapaka sreni* and performs the process called *'anivrtti karana'* belongs to this stage The former remains in it in the minimum one *samaya*, in the maximum *antarmuhurta* the latter *antarmuhurta* altogether The passions still occur in this stage,

10 Suksma Samparaya Gunasthana

On this stage passions only occur in the most subtle form in order to be then totally suppressed or annihilated. It lasts with the *upasama sreni* one *samaya* in the minimum , *antarmuhurta* in the maximum , with the *ksapaka sreni* altogether *antarmuhurta*

11 Upasanta Kasaya Vitaraga Chadmastha Gunasthana

It is the highest stage that can be reached on the *upasama sreni* The passions on this stage are totally suppressed It lasts in the minimum ond *samaya*, in the maximum *antarmuhurta*. After ending this stage, the being belonging to it falls from the *upasama sreni* and sinks into one of lower stages

12 Ksina Kasaya Vitaraga Chadmastha Gunasthana

In the last *samaya* of the tenth stage (*suksma samparaya gunasthana*) when the last particle of greed has been annihilated, the being who is on the *ksapaka sreni* becomes a *ksina kasaya* (one with annihilated passions) He remains *antarmuhurta* on this stage and then becomes omniscient without fail

3 Sayogi Kevali Gunasthana

When the karma obscuring the knowledge, intuition, bliss, and power of the soul has completely been annihilated, the person becomes a *sayogi kevalin* He possesses omniscience and omnipotence He still possesses certain activities conditional upon matter Certain karmas are still realising themselves, but as soon as his *'ayus'* (age) is exhausted, he annihilates them also in order to be emancipated The state of virtue lasts in the minimum *antarmuhurta*, in the maximum somewhat less than a *purvakoti*

4 Ayogi Kevali Gunasthana

This last and the highest state of virtue is a transitory state which lasts *antarmuhurta* and leads to the complete emancipation from karma With the com plete annihilation of every action the omniscient enters the *sailesi* state—a state of pure meditation which only lasts as long as is necessary to pronounce five short syl lables (*a i u r l*) When the remaining karmas are completely annihilated the liberat ed soul goes to the end of the universe which is called *siddha sila* It dwells there without visible shape It possesses an immaterial dimension of two third of that which it had during its last existence (*gati*) There it enjoys infinite incomparable indestructible supernatural happiness of salvation A soul in its perfect nature is God Every being has got the innate nature of Godliness Through its right belief right knowledge and right conduct it can attain that state It is the individual effort—the personal endeavour that constitutes the path to the state of God There the soul perfectly shines with infinite knowledge infinite intuiton infinite bliss and infinite power The liberated soul does not lose its individuality Its individual existence is retained in that state as well

Upasama Sreni

At the end of the seventh stage of development the soul ascends either *upasama sreni* or *ksapaka sreni* [1] That *sreni* (series)i n which the heaped up species of *mohaniya* karma are suppressed so that they cannot manifest themselves is called *upasama sreni* The species are not totally eradicated They exist in a latent state and can break out again occasionally If the suppression takes place in a regular and systematic way in a certain succession the *upasama sreni* ends in a complete suppression of all belief and conduct obscuring karmas This s ries reaches its end in the *upasanta moha gunasthana* (11th stage) as then the suppressed passions break out again and the *jive* descends from the series The different stages of the devel opment of the *upasama sreni* consist in the following procedure [2]

First the being suppresses the life long passions Thereupon he suppresses the three sub sp cies of belief obscuring karma and throgh that reaches *aupasamika samyaktva* (right belief acquired through suppression) When this has happened the being proceeds to the suppression of the still remaining *mohaniha* karmas For this purpose he performs three processes *yathapravrtti karana apurva karana* and *anivrtti karan* If a calculable part of the *anivrtti kaarna* has passed the *jiva* performs an *antara karana* of the twenty one remaining *mohaniya*

1 Some writers start from the fourth stage also See Visesavasyaka bhasya 1291

2 Karma grantha V 98

3 Avasyaka niryukti 116 Visesasyaka bhasya 1288

karmas Then he successively suppresses, within the fraction of a *muhutra*, the third sex passion, then the female sex-passion then joking, liking, disliking sorrow, fear, and disgust ; then the male sex-passion, then simultaneously *apratya-khyanavarana* and *pratyakhyanavarana* anger, then the *sanjvalana* anger This process occurs in man The succession in woman is. third sex-passion, male sex-passion, joking, etc , in a *napumsaka*, female sexpssaion, male sex-pasion joking, etc [3] Thereupon follows the suppression of the second and third kinds of deceit and of the *sanjvalana* deceit, and then that of the second and third kinds of greed After that the *sanjvalana* greed becomes divided into three parts the first two of these, the being suppresses simultaneously, the third, again is divided into a measurable number of pieces, woich are suppressed gradually piece by piece. Through this long process he becomes *suksma samparaya* (10th stage) When the last piece of greed is suppressed, he is an *upasanta moha* 11th stage). On this stage, the *jiva* remains, in the maximum for less than 48 minutes, in the minimum for one *samaya* No sooner has this time passed than he falls down from this stage and sinks into even the second *gunasthana* under circumstances.

Ksapaka Sreni

The *ksapaka sreni* leads to the destruction of karams. The person who has ascended it, annihilates successively the different species of karma that exist in *potentia*, becomes in the end quite free from karma, and thereby achieves the highest goal—salvation.

A person exceeding eight years of age, possessing the best firmness of the joints is capable of ascending this series First of all, he annihilates the four life-long passions, then the three species of belief-obscuring karma If he has bound *auy* (age) and dies before wrong belief is completely, annihilated, in his new existence, he can eventually bind anew the four life-long passions, since wrong belief which is their germ still exists If, however, wrong belief is destroyed,t his is impossible If he has bound *ayus*, but does not die immediately after the annihilation of the seven *mohaniya* karmas, he is satisfied with what he has attained, and for the moment does not undertake any endeavour to annihilate the other karmas He experiences still three or four births before he attains liberation If he reaches the series without having bound *ayus*, he proceeds immediately to the destruction of the still remaining conduct-obscuring karmas. For this purpose, he performs three processes, of which the first falls into the seventh stage, the second into the eighth stage, and the third into the ninth stagh. During the second process (*apurva karana)* he begins simultaneously with the annihilation of the four *apratyakhyanavarana* and *pratyakhya-navaarana* passions When these have half disappeared, he meanwhile destroys

three intuition obscuring karmas and thirteen personality-determining karmas Then he annihilates what still remains of the two species of passions Thereupon follows the annihilation of the third and female sex passions of joking liking disliking sorrow fear disgust male sex passion and of *sanjvalana* anger, pride and deceit [1] After this he leaves the ninth stage (*anivrtti gunasthana* and sinks into the tenth stage (*suksma sanmparaya gunasthana*) where he successively annihilates the *sanjvalana* greed divided into pieces As soon as the last piece of greed disappears all passions are destroyed and the highest stage of the series is reached The *jiva* is now a *ksin aka aya* (12th stage) Then he annihilates the two kinds of sleep *nidra* and *pracala*) there pon the five veilings of knowledge the four veilings of intuition and five species of power hindering karma Then he becomes a *sayogi kevalin* (13th stage)[2] who still wanders for some time on the earth and thereafter attains salvation

1 **This process is for man for woman and third sex—the same change as in the** *upa a- i srena*

2 **Karma grantha \ 99**

Vasi-camdana-kappo

●

A. N. Upadhye, Kolhapur.

Very often in Prakrit, Pali and Sanskrit works we come across an idea expressed by the phrase *vasi-camdana-kappo* (in Prakrit) which qualifies a great monk who is fully balanced in his attitudes The object of this paper is to put together a few passages and to ascertain the precise meaning of this expression

(1) In the *Kalpasutra*,[1] while describing Mahavira the phrase *vasi-camdana-kappo* is used to pualify him The Sutra runs thus :

से णं भगव वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमतिए मासे गामे एगराइए नगरे पंचराइए वासीचंदण-समाणकप्पे समतिणमणिलेट्ठुकंचणे समदुक्खसुहे इहलोगपरलोगअप्पडिबद्धे जीवियमरणे य निरवकंखे ससारपारगामी कम्मसत्तुनिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिए एवं च णं विहरइ ॥११६॥

Jacobi has translated the above passage in this manner [2]

'The venerable one lived, except in the rainy season, all the eight months of summer and winter, in villages only a single night, in towns only five nights, *he was indifferent alike to the smell of ordure and of sandal* [italics mine], to straw and jewels dirt and gold, pleasure and pain, attached neither to this world nor to the beyond, desiring neither life nor death, arrived at the other shore of the *samsara* and he exerted himself for the suppression of the defilement of Karman."

(2) A similar passage occurs in the description of the immediate ascetic pupils of Mahavira in the *Aupapatikasutra* (Sutra 29) [3]

(3) While describing the characteristics of a great Muni, the *Uttaradhyayana* says (xix 92) [4]

अणिस्सिओ इह लोए परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा ॥

Jacobi translates this verse in this manner[5] He had no interest in this world and no interest in the next world he was indifferent to unpleasant and pleasant things to eating and fasting He adds a foot note on the word *vasi camdan akappo* The author of the Avacuri explains this phrase thus he did not like more a man who anoints himself with sandal that a mason Apparently he gives to *vasa* the meaning dwelling but I think that the juxtaposition of *candana* calls for a world denoting a bad smelling substance perhaps ordure J *Charpentire*[6] moves in the same groove in his Notes About *vasicamdara*° cf SBE XLV p 99 n 1 The same compound KS §119 Aupa S § 29 but the comm do not give any exhaustive explanation of *vasi* It certainly belongs to *vasa*— perfume, *vasayati* to perfume to fumigate cf *samvasita*—made fetid having an offensive smell

(4) In the *Avasyaka niryukti* we get the following *gatha* (No 1548)[7]

वासीचंदणकप्पो जो मरणे जीविए य समसण्णो ।
देहे य अपडिबद्धो काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥

Non attachment for the body or an attitude of resignation towards the body belongs to him to whom *vasi* and *candana* are alike to whom death and life mean the same, and who is not at all attached to the body The commentator suggests that the sandal tree when it is cut by the axe does not react unfavourably against the axe or the wood-cutter but spreads its fragrance Likewise a true monk is sweet even to those who do harm to him Haribhadra quotes the following gatha to explain the above verse

जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेइ ।
संथुणइ जो व निंदइ महरिसिणो तत्थ समभावा ॥

The great sages have an attitude of equality towards him who anoints the arm with sandal or who chops it with an axe and who praises or blames

(5) Haribhadra describes in his *Yogasataka*[8] an ideal Muni in this manner

वासीचंदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणी समक्खाओ ।
भवमोक्खापडिबद्धो अओ य पाएण सत्थेसु ॥

Generally, according to the scriptures a Muni is described as one for whom *vasi* (an axe) and *candana* (sandal) are alike who is equanimous in pleasure or pain and who is not attached either to *samsara* or to *moksa*

(6) Haribhadra speaks in one of his *Astaka*[9] about the great monks in this way

सामायिकं च मोक्षाङ्ग परं सर्वज्ञभाषितम् ।
वासीचंदनकल्पानामुक्तमेतन्महात्मनाम् ॥

The cultivation of the attitude of equanimity is the highest step, as preached by the omniscient Teachers, leading to Moksa and it is said (to be possible) for those magnanimous souls for whom (chopping with) the axe and (anointing with) the sandal paste are alike. The commentater Jinesvarasuri explains the expression in this way,

वासी लोहकारोपकरणविशेषः वासीव वासी अपकारकारी तां चन्दनमिव मलयजमिव दुष्कृत-तक्षण हेतुतयोपकारकत्वेन कल्पयन्ति मन्यन्ते वासीचन्दनकल्पा । यदाह-

यो मामपकरोत्येष तत्त्वेनोपकरोत्यसौ ।
शिरामोक्षाद्युपायेन कुर्वाण इव नीरुजम् ॥

अथवा वास्यामपकारिणि चन्दनस्य, कल्प इव च्छेद इव य उपकारित्वेन वर्तन्ते वासीचन्दन-कल्पाः । आह च-

अपकारपरेऽपि परे कुर्वन्त्युपकारमेव हि महान्त ।
सुरभीकरोति वासीं मलयजमपि तक्ष्यमाणमपि ॥

वास्यां वा चन्दनस्येव कल्प आचारो येषा ते तथा, अथवा वास्या चन्दनकल्पाश्चन्दनतुल्या ये ते तथा ।

The commentator's explanation does not exactly bring out the idea conveyed by the expression *vasi-candana-kalpa* That even *apakara* is to be looked upon as *upakara* is a common idea attributed to the sandal tree, and it is expressed in some Prakrit and Sanskrit Subhasitas [10]

(7) An omniscient saint is instructing a novice on his initiation into the ascetic order in the *Kuvalayamala* [11] of Uddyotanasuri, and his advice runs thus.

चइऊण घरावासं पुत्तकलत्ताइं मित्तबंधुयणं ।
वेरग्गमग्गलग्गो पव्वज्जं कुणसु आउत्तो ॥
जो चदणेण बाहुं आलिपइ वासिणा य तच्छेइ ।
सयुणइ जो य णिंदइ तत्थ तुम होसु समभावो ॥[12]

(8) The same idea is expressed in the Pali text, *Milindapanha* (9 25) in this way [13]

एकं च बाहुं वासिया तच्छेय्य कुपितमानसा ।
एक च बाहुं गन्धेन आलिपेय्य पमोदिता ॥
अमुस्सि पटिघो नत्थि रागो अस्मि न विज्जति ।
पठवीसमचित्ता ते तादिसा समणा मम ॥

Someone with angry mind may chop the arm with an axe or adze, and some one else being pleased may anoint the arm with sandal paste The Sramanas who are firm or balanced (in mind) like the earth neither get angry with the one nor are pleased with the other

(9) In the *Mahabharata* (Rajadharma chap 9, 35)[4] the same idea is thus expressed

यास्यक तक्षतो बाहु चन्दनकमुक्षत ।
नाकल्याण न कल्याण चितयन्तु मयोस्तयो ॥

He does not think ill of him who chops the arms with an adze nor does he think well of him who anoints it with sandal

From the quotations given above the meaning of the expression *va t candana* [samaana] *ka'pa* in abundantly clear The term *vasi* has nothing to do with *vasa* perfume but it stands for a typical axe an adze the cutting edge of which is at right angles to the handle It can cut like an ordinary axe but it is more handy for chopping or peeling The word *candana* means sandal (paste) The two words *saman a* and *kalpa* have a common meaning similar alike that is why in some places we get only *kalpa* The word *kalpa* means also a rule that which is allowed or prescribed When both *samana* and *kalpa* find place in the expression either it is a clarificatory doublet or the term *kalpa* implies prescribed rule Thus the expression *vasi candana kalpah* means One to whom *va t* and *candana* are alike i e a monk who has a balanced attitude and equanimity of mind Some one may chop a monk s arm with an adze and some other may anoint the other arm with sandal paste—towards both of them the great saint of balanced mind has the same attitude and feeling

---

NOTES

1 Sri Kalpasutram with the Kalpalata commentary Sri Jinadattasuri pracina pustakoddahra Fund 42 Surat 1939 p 136
2 SBE 22 pp 262
3 Ed N G Suru Poona 1931 p 19
4 Ed J Charpentier Uppsala 1922
5 SBE 45 p 99
6 Vide his Notes to his edition noted above p 352
7 See Yogasataka Ahmedabad 1959 p 36

8 Ed. I H Jhaveri, Ahmedabad 1959, p. 34.

9. Sri Astaka-prakar anam, XIX, 1, Rajanagara 1937

10. See Vajjalaggam, 729, Calcutta 1944; Subhasita-ratna-Bhandagara, Bombay 1952, p 47,110,p: 237, 48

11. E d A N Upadhye, Bombay 1959. p 80 4-5.

12 This verse is almost identical with the one quoted by Haribhadra, as noted above. Obviously they go back to some older source

13 Ed. Trenckner, London 1180 p 383

14. Dr. S. K Belvalkar kindly drew my attention to this verse and asked me to collect references from Prakrit. The present note is a result of his kind suggetion
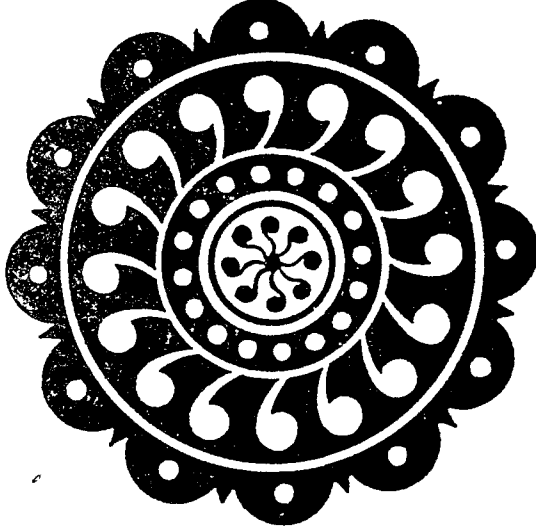
The Art of Life

U C Jain Department of Humanities
Birla College of Engineering Pilani (Rajasthan)

The building of man s true world—the living world of Truth and Beauty—is the function of art Art implies synthesis harmony or integration Art is a means of union among men joining them together is the same feelings and indispen sable for the life and progress towards wellbeing or individuals and of humanity One who comprehends the truth of everything and possesses the ability to convert the ugliness into beauty and lives every moment of life for the good of mankind can be called an artist of life An artist of life is able to synthesise the various forces of life To him poverty and prosperity defeats and victories sorrows and joys are equally joyful and significant in the drama of life To him nothing is detrimental nobody is despicable He has sterling faith in the dictum that everything in this world has some unique quality in it and every event that happens is for the sake of man s welfare His every activity is artistic He acts independently and lives gloriously and beautifully

An artist of life is a calm spectator of the drama of life enjoying everything unattached Nothing enslaves him nothing arrests him nothing uses him nothing masters him In the *Mansarover* of life he is like a lotus which is always above the surface of water in spite of having its root in deep water An artist of life is always creative He lives for creation He paves his own path of life It is he who remoulds society to a better plan It is he who propounds new philosophies and ideologies and changes the course of history of mankind It is he who produces

works of literature and blooms in the joy of creation even amidst the grim circumstances of life Nothing detracts him, nothing dejects him, his appreciation and depreciation are the gusts of the same wind coming from different directions He cares little for material possessions but opportunity for creative work he certainly prefers to every other thing The ignorant world, for the time being, may neglect him considering him miserable, whimsical, crazy, or even mad at times but in reality he is the wisest man who understands the follies and foibles of all and overlooks them with a spiteless smile on his genial face. People think him to be weak and coward as he tolerates placidly the injuries done to him by the world. People think him foolish because he does not care for the thing most coveted for by ordinary men. People regard him conservative because he is not swayed by every new change for the sake of mere change or for ostentation He is, in truth, like a deep ocean which remains unaffected in its magnitudes even when many rivers fall into it. He knows what is permanent in man, he perceives the intrinsic worth of everything, so that the externals, the shining foam or pearly bubbles tempt him not The dazzling sights of the world fail to blind him to the virtues of life.

The modern world is in lamentable want of the artists of life. It is on account of the dearth of such persons that the world is full of restless rivalry, jealousy, rife and strife, setting individuals against individuals, communities against communities, nations nations Indulged in the mad pursuit for material power and pelf, man is going down everyday from the plane of humanity. Being gove ned by the wrong notions and wrong conceptions of life, of culture, of beauty he is getting devoid of all the virtues that distinguith man from animal, and which beautify and glorify man's life Man is superior to animal only on account of his capacity to reflect and select, to be self-conscious, to be conscious of his feelings, ideas, desires and purposes It is man alone who goes beyond self consciousness towards cosmic consciousness , who looks up into the vastness of real life, perceiving things in the light of eternity Now the question is how a man can rise to such real heights and make his life artistic

One who aspires to learn the art of living or one who aspires to grow an artist of life should be physically, mentally, and spiritually healthy. He must exercise his "spiritual power" to the fullest capaisity of all his faculties, round that principle of life which is the highest in man, the Atman, the spiritual principle, the image of the God in man The first requisite of an artist of life is 'Good health', A harmonious development of all the three faculties of body, mind and spirit goes to make one truly healthy A man may be robust but if he is idle, he is mantally unhealthy A man may be skilled in his work, but if he is unable to

withstand the temptations of life he is spiritually unhealthy The symptoms of physical health are (1) freedom from diseases (2) a good capacity for work Mentat health comprises (1) power of concentration (2) the ability of right compre hension (3) the Capacity of keeping the mind free and fallow (4) intelligence or retension power (5) Consciousnes of human relations or knowledge of Truth Spiritual health which emanates from mental health presupposes self confidence — or undesisting faith in one s divinity or self realisation that makes man free fearless bold and courageous Divinity consists of love compassion and bliss while love is power compassion greatness and bliss salvation A spiritually healthy man is always found sincere dutiful peaceful and happy All good literature and true knowledge is due to the spiritually greatmen

To grow physically healthy one should lead a life of simplicity punctuality and purity Similicity means curtailment of requirements of freedom from ostentation and superfluity One who eats what his appetite not the tongue requires who wears what his body (in a particular weather not his whims requires and who does what his conscience not his animal passions dictates him to do—can be called simple A simple man is found always and everywhere unassuming He cares little for polish or show He says that he does what is expected of a conscious man Punctuality demands the doing of reuired things regulary at the right time and doing onething at a time One who takes six hours sleep gets up at the fixed time before sun rise takes his bath and morning exercises at the right time undoubtedly grows healthy Every man must cultivate the habit of taking some physical exercises e g Dand or Baithak or Asanas (Posture) Pranayam (restraint of breath) (after receiving training form some yogi) Exercises should be according to the requirements of one s constitution and nature of his vocation One should take one s food at the interval of six hours One who controls the tongue controls one s entire body Moreover moderation in all e g food sleep work coition etc must be observed to improve one s health Purity means utility based on truth One who satisfies appetic by taking things that make his violent extravagant and frequently ill or one who quenches one s thirst or talab by drinking wine or intoxicating things or stimulating things like coffee tea etc can not be called a man observing the princi ple of purity One who eats things and never allows things to eat him wears clothes never allows cothes to wear out him uses things of recreation as radio cineme or a television and never allows them to use him and one who acts as a master not as a slave (here slave stands for the slaves of habits) can maintain an ideal healh A physically healthy man is always seen free from idleness procrastination flabbiness and melancholy

Mind is the insrument and in order to keep this instrument sharp and quick one should regularly read good books and think over them deeply Calmness is the sure indication of a strong, well-trained, patiently disciplined mind "still waters run deep and the universal forces are not audible" To keep one's mind clam one should talkless and work more, and should care only for the work at hand not for future things half of the troubles in the world are imaginary For thse who are sincere and dutiful, good and bright future is secure, Good actions assurage even the evil consequences of the bad actions of the previous life or of the bad actions done out in ignorance The habit of caring only for todays duties and the belief in the dictum 'good actions always bring good results' enable one to keep the mind free from worries and anxities and ultimately develop one's power of concentration and the power of creation' Swami Vivekanand has aptly said

"The powers of mind are like rays of dissipated light, when they are concentrated, they illumine This is our only means of knowledge" No inner activity can be seriously effective and continuous until one has first reduced his house to order and then has reclarred and reassembled his herd of scattered energies All creative work I have experienced, is the product of his state of mind One who aspires to be creative artist should practise from the very beginning allowing the intellect to lie fallow or in vacuuim Every man can attain this state of mind, by practising meditation, or by concentrating or some idol, or by surrendering himself to God and keeping staunch faith in His mercy

Akin to mental health is spiritual health. For attaining spiritual health every student should read, understand and think over the rich literature of life produced by great saints, sages, philosophers and Yogies such as, Vedvyas, Patanjali, St Aurbindo, Swami, Ramdas, Tulsidas, Ram Krishna Paramhansa, Ramtirtha, Vivekananda, Kant, Heget, Lord Buddha Shankaracharya etc After attaining the true knowledge of life or of truth one should act accordingly keeping oneself physically and mentally healthy Spiritual power emanates from the right understanding of life and of various human relations Every student, must choose from the very beginning of his life one of the great books or spitually greatman, if available, as his spiritual guide He is free to choose the Gita, the Upanishads or anyother book but after choosing he should daily read it for sometime in the morning and think on the practical use of knowledge contained in the book Without bringing into use knowledge has little meaning This constant practice of the knowledge of truth without caring for difficulties leads one to peace, happiness and immortality

Even in the modern world when mankind is engrossed in materialism and man cares the least for superb ideals of human life, the necessity of something has

begun to be felt everywhere that may make mankind happy and peaceful It is in the moments of acute depression harrowing sense of loss blankness of despair suspense and utter grief that man s sleept of ignorance is disturbed and he feels the necessity of religion or Dharma or God or 'spiritual power that may beautify his life and give him everlasting Peace O Readers ! learn this art of life and bring Heaven down upon this earth so that all of you become gods

Arise Awake and stop not till the goal is reached